विश्वदृष्टि

डॉ. सम्पूर्णानन्द स्मृति ग्रन्थ

द्वितीय भाग

सम्पूर्णानन्द-ग्रन्थमाला
[१६]

विश्व-दृष्टि

डॉ. सम्पूर्णानन्द स्मृति-ग्रन्थ

[द्वितीय भाग]

प्रधान सम्पादक
प्रो. वि. वेङ्कटाचलम्
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक
प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, पालि-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

वाराणसी
२०५० वैक्रमाब्द
१९१५ शकाब्द
१९९३ खैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

◆

प्रकाशक—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२.

◆

प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२.

◆

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ
मूल्यः (प्रथम एवं द्वितीय भाग) ३५०-०० रूपये

◆

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी. २१/४२ ए. कमच्छा,
वाराणसी-२२१ ०१०.

301

SAMPŪRṆĀNANDA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 16]

VIŚVA-DṚṢṬI

DR. SAMPURNANANDA SṀṚTI-GRANTHA

[PART TWO]

CHIEF EDITOR
PROF. V. VENKATACHALAM
Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

EDITED BY
PROF. LAKSHMI NARAYAN TIWARI
Ex-Professor and Head in Pali Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

VARANASI
1993

Research Publication Supervisor–
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❑

Published by–
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❑

Available At–
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❑

First Edition, 1000 Copies
Price-(First and Second Part) Rs. 350-00

❑

Printed by–
Ratna Printing Works
B 21/42 A, Kamachha,
Varanasi-221 010.

शिवसंकल्प

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥

—भर्तृहरि, नीतिशतक

इस श्लोक की बात उस जमाने की है, जब भारत में नारीवर्ग ही नहीं पुरुषवर्ग भी अपने केश को फूलों से सजाया करते थे । अतएव उस युग के दृष्टिकोण से फूलों के गुच्छे के सम्बन्ध में यह बात सटीक बैठती है कि वह लोगों के सिर पर रहता है, अथवा यदि जंगली फूल हो, तो वह लोकदृष्टि से ओझल होकर वहीं जंगल में मिट जाता है । भर्तृहरि कहते हैं कि संसार के महापुरुषों की स्थिति भी ठीक वैसी ही होती है । यदि वे मानव समाज में कार्य करते हैं तो समाज के शिखर बिन्दु पर प्रतिष्ठित होते हैं । इसके विपरीत, जो मनस्वी महापुरुष लौकिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर अध्यात्म की ओर उन्मुख होते हैं, वे तो किसी अज्ञात जंगल में काय-क्लेश रूपी तपस्या से उस प्रकार मिट जाते हैं, जैसे जंगली पुष्प-गुच्छे ।

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के जीवन में ये दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं । अपने जीवन के पूर्वार्ध में स्वतन्त्रता संग्राम तथा राज्यशासन में तो वे सर्वोच्च शिखर पर थे ही, साथ ही, भारतीय संस्कृति के प्रतीक पुरुष के रूप में वैदुष्य, तत्त्वचिन्तन, योगसाधना आदि समस्त क्षेत्रों में भी उन्होंने विशिष्ट ऊँचाई प्राप्त की थी । उनके त्याग और तपस्यामय जीवन की सच्ची अनुभूति लोगों को तब हुई होगी जब जीवन के अंतिम चरण में मुख्यमंत्री एवं राज्यपाल का कार्य पूरा कर काशी तीर्थ में एक साधक के रूप में जीवन व्यतीत कर साधनहीन स्थिति में एक आम आदमी की तरह संसार से चल बसे ।

इस स्मृति-ग्रन्थ के 'श्रद्धाञ्जलि एवं संस्मरण' खण्ड में उनसे निकट-सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों के आलेखों में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व के इन दोनों पक्षों पर पाठकों को पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होगा । एक ओर जहाँ स्वतन्त्रता संग्राम, राज्य प्रशासन, समाज-सेवा, सारस्वत साधना, तत्त्वचिन्तन आदि लौकिक जीवन के क्षेत्रों में उनकी ऊँचाई का प्रभावी चित्र प्रस्तुत है, वहीं दूसरी ओर ऐसे भी कतिपय आलेख हैं जिनमें उनकी आध्यात्मिक ऊँचाई की झलक मिलती है । डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष था उनका विद्या-व्यसन एवं स्वतंत्र चिन्तन । संस्कृत भाषा एवं भारतीय विद्याओं—विशेषकर आध्यात्मिक साधना के पक्षों—के प्रति उनके मन में गहरी आस्था एवं निष्ठा थी और यह आस्था केवल ग्रन्थ-ज्ञान तक सीमित नहीं थी । प्राचीन ग्रन्थों में निहित तथ्यों पर गहन चिन्तन-मनन कर एक स्वतन्त्र मार्ग निर्माण करना उनकी विशिष्टता थी । साधना के सोपान-क्रम के संबंध में मनु की उक्ति—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

में उल्लिखित क्रमिक विकास का साक्षात्कार उनके जीवन में देखा जा सकता है। अपने विचारों पर दृढ़ विश्वास और उस विश्वास को व्यक्त करने में निर्भीकता भी उनका एक विशिष्ट गुण था। देश में सर्वप्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय की उत्तर-प्रदेश में स्थापना कर ऐसा उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया जो बाद में अन्य प्रदेशों के लिए अनुकरणीय बन गया। तत्कालीन राजनेताओं के विरोध के बावजूद वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना कर उन्होंने अपनी आस्था एवं निर्भीकता का स्पष्ट परिचय दिया है।

भारतीय विद्याओं के विभिन्न क्षेत्रों में उनका उल्लेखनीय योगदान था। वेद, ज्योतिष, धर्म-दर्शन, इतिहास, सामाजिक न्याय आदि विषयों में उनकी विशेष रुचि थी। उनकी स्मृति में प्रकाशित होने वाले इस स्मृति-ग्रन्थ की विषय-परिकल्पना में इन्हीं क्षेत्रों से केन्द्रित निबन्ध संकलित हैं। आशा है जिज्ञासु एवं श्रद्धालु पाठकों के लिये इन निबन्धों में पर्याप्त विचार-बीज उपलब्ध होंगे।

एक व्यक्तिगत बात। इस शताब्दी महोत्सव के आयोजन का तथा इस स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन का 'श्रीगणेश' मेरे पूर्व कुलपतित्व काल में सन् 1989 में हुआ था। मैं तो अपना सौभाग्य समझता हूँ कि वर्षों के अंतराल के पश्चात् इस महान् कार्य की "इतिश्री" भी मेरे इस द्वितीय कार्यकाल में हो रही है।

विश्वविद्यालय के पालि एवं थेरवाद विभाग के पूर्व अध्यक्ष **प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी** ने जिस तत्परता एवं अध्यवसाय से विद्वानों के आलेखों का संग्रह किया है उसका बोध ग्रन्थ के विशालकाय स्वरूप से ही हो सकता है। अत्यन्त श्रमसाध्य लेख-संग्रह कार्य के लिये तथा लेखों के सम्पादन में सहयोग के लिये हम उनके आभारी हैं।

सम्पादन कार्य में साहित्य-विभागाध्यक्ष **डॉ. कैलासपति त्रिपाठी** एवं वेद-विभागाध्यक्ष **डॉ. युगलकिशोर मिश्र** का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा है। जिन विद्वानों ने अपने आलेख भेजकर इस ग्रन्थ का वर्तमान स्वरूप निष्पादित किया है, उन सबके प्रति विश्वविद्यालय ऋणी हैं।

इतने बड़े ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन का कार्य केवल श्रमसाध्य ही नहीं, समय-साध्य भी है। इस कार्य में विशेष रूप से सिद्धहस्त हमारे अध्यापक पालि-विभाग के **डॉ. ब्रह्मदेवनारायण शर्मा** एवं व्याकरण-विभाग के **डॉ. गिरिजेश कुमार दीक्षित** तथा सहायक कुलसचिव **श्री शालिग्राम यादव** एवं प्रकाशन विभाग के कर्मचारी **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** ने मिलकर इस भार का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

कतिपय अप्रत्याशित विषम परिस्थितियों के कारण ग्रन्थ का मुद्रण कार्य अत्यल्प समय में पूरा करना अनिवार्य हो गया था। एक मास की अवधि में इतने बड़े ग्रन्थ का मुद्रण कार्य सम्पादित कर विश्वविद्यालय के कर्मठ प्रकाशनाधिकारी **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** एवं उनके विभागीय सहयोगियों ने वास्तव में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। साथ ही इस कार्य में हमको रत्ना प्रिंटिंग प्रेस के **श्री विपुलशंकर पण्ड्या** का सहज सहयोग मिला, जिसके विना ऐसा चुनौती भरा कार्य कभी सम्भव नहीं होता। जैकेट के आकर्षक नव्य कलात्मक डिजाइन के लिये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के **प्रो. अर्जुन कुमार पी. गज्जर** का भी आभारी हूँ।

अन्त में महापुरुषों के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन करने वाले भर्तृहरि के ही पद्य से स्व. सम्पूर्णानन्द जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना चाहता हूँ। यह भी एक संयोग ही कहलायेगा कि डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व में इस पद्य में परिगणित समस्त गुणों का अद्‌भुत समन्वय था—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

वि. वेङ्कटाचलम्
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी
पौष-कृष्ण-तृतीया,
वि. सं. 2050
दिसम्बर 31, 1993

अनुक्रमणी

ज्यौतिष एवं विज्ञान **531-548**

65. भारतीयज्यौतिषे जगत्सृष्टिकल्पना —पं. व्रजकिशोरझाः 532-537
66. जलेन भूसमताकरणरीतेर्युक्तायुक्तत्वविवेचनम् —श्रीसाम्बराजाचार्यः 538-541
67. भारतीयज्यौतिषसंहितायां केतूनां विमर्शः —डॉ. सच्चिदानन्दमिश्रः 542-562
68. अयनचलनम् —डॉ. राधाकान्तठक्कुरः 563-565
69. ज्यौतिष और मनुष्य —पं. चन्द्रभानु पाण्डेय 566-570
70. भारतीय पंचांग का विकास एवं धर्मशास्त्र —प्रो. कृष्णा दामोदर अभ्यंकर 571-591
71. भारतीय ज्योतिष —श्री चंद्रिका प्रसाद 592-597
72. सापेक्षवाद के संस्थापक भारतीय आचार्य —डॉ. गङ्गेश ठाकुर 598-602
73. सूरज एक परिचय —डॉ. महेशचन्द्र पाण्डेय 603-617
74. भारत के प्राचीन कृषि वैज्ञानिक एवं कृषि पत्रकार —डॉ. रामकृष्ण पाराशर 618-627
75. प्राच्य तकनीकी विज्ञान —श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्त-बन्धु' 628–633
76. प्राचीन भारत में वनस्पति विज्ञान —डॉ. रमेश दत्त शर्मा 634-642
77. Knowledge of wind and cloud movements during the 5th and 6th centuries A.D. OR B C. ? In ancient India a historical background —Dr. S. V. Sohoni 643–648

इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति **649-834**

78. भारतीया संस्कृतिस्तस्या विश्वव्यापी प्रभावश्च —श्रीनवलकिशोरकाङ्करः 651-655
79. भारतीया संस्कृति —श्रीसत्यदेवो वर्मा 656-664
80. सिन्धु-मुद्राओं की लिपि के वाचन की नयी दिशा —डॉ. नटवर झा 665-682
81. भारतीय विद्या —पं. विश्वनाथ शास्त्री दातार 683-690
82. भारतीय-संस्कृति : समन्वय तीर्थ —डॉ. रामजी सिंह 691-698
83. सुवर्णद्वीप में भारतीय पंडित —स्व. डॉ. उपेन्द्र ठाकुर 699-715
84. अशोक के अभिलेखों में धर्म तथा बुद्ध-वचन —डॉ. कृष्णदेव 716-719
85. आर्यों का आदि देश भारत —डॉ. ठाकुर प्रसाद वर्मा 720-732
86. आर्यों का मूल-स्थान —डॉ. हर्षनारायण 733-743
87. प्राचीन भारत में मनका निर्माण कला —डॉ. पुरुषोत्तम सिंह 744-753
88. भारतीय जन-सन्निवेश का आदिम स्वरूप : संचरणशील निवास से ध्रुवाक्षित तक —डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र 754-774

89. प्राचीन भारत में लौहयुग —डॉ. विभा त्रिपाठी 775-788
90. ताम्र-प्रस्तर युग का धातु शिल्प —डॉ. पृथिवीकुमार अग्रवाल 789-796
91. अरब देश में प्राचीन भारतीयों की बस्ती —प्रो. मायाप्रसाद त्रिपाठी 797-801
92. सम्राट् अशोक का लोककल्याणकारी धर्म —डॉ. अमिताभ तिवारी 802-811
93. Some Underlying Concepts of the Indian Cultural Heritage —Dr. Kapila Vatsyayan 812–818
94. The Śaiva Art of Madhya Pradesh with Reference to Kālidāsa and Bāṇabhaṭṭa —Lale Prof. K. D. Bajpai 819–823
95. Role of Buddhism in the development of Indian Culture —Prof. C. S. Upasak 824–834

संस्कृत : भाषा, व्याकरण, साहित्य एवं शिक्षा **835-908**

96. भारते संस्कृतभाषा संस्कृतविद्या च 837-842
97. व्यवहारसंस्कृतम् —प्रो. कृष्णशास्त्री कानिटकरः 843-853
98. संस्कृतवाङ्मयं विश्वसर्वस्वम् —श्रीसिद्धिनाथगौतमः 854-858
99. अष्टाध्यायीस्थानां कारकसूत्राणां क्रमे विमर्शः —डॉ. के. रा. जोशी 859-862
100. विश्वैक्य-सन्धायिनी संस्कृतशिक्षा —डॉ. नारायणशास्त्री काङ्करः 863-870
101. संस्कृत-शिक्षा-माहात्म्यम् —श्रीकुमारनाथभट्टाचार्यः 871-873
102. संस्कृत-पत्रकारिता —श्रीचितरंजनदयालसिंहकौशलः 874-882
103. "त्रिभाषा फार्मूले में संस्कृत का स्थान गुरुदक्षिणा के रूप में मुझे दे दो" झोली पसार कर डॉ. सम्पूर्णानन्द जी की श्री शास्त्री जी से माँग —डॉ. मण्डन मिश्र 883-887
104. भारतीय शिक्षा की पुनर्रचना —डॉ. सरजू प्रसाद चौबे 888-890
105. प्राचीन भारत में वैदिक-युगीन उच्च-शिक्षा —डॉ. बिन्देश्वरी प्रसाद सिन्हा 891-900
106. राष्ट्रीय एकता का मूलाधारः संस्कृत-भाषा —श्री कलानाथ शास्त्री 901-907

प्रकीर्ण—राजनीतिशास्त्र एवं समाजवाद **909-1021**

107. महाभारते राजधर्मानुशासनम् —आचार्यश्रीकुबेरनाथशुक्लः 911-915
108. सप्ताङ्गराज्यविषये वैदिकमतसमीक्षणम् —डॉ. ऋषिरामः पोखरेलः 916-921
109. सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता —डॉ. देवाशरण श्रीवास्तव 922-929
110. राजनीतिशास्त्र और श्रेयशास्त्र —डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा 930-960
110. लोक-साधन —श्री यशदेव शल्य 961-967
112. समाज, समाजवाद और अनात्मवाद —डॉ. पारसनाथ द्विवेदी 968-976

113. समाजवाद —डॉ. युगेश्वर 977-982
114. भारतीय राज्य : विकास, स्वरूप और संभावनाएँ—डॉ. महेन्द्रप्रसाद सिंह 983-989
115. डॉ. सम्पूर्णानन्द और समाजवाद —श्री श्याम शंकर सिंह 990-998
116. सम्पूर्णानन्द के समाजवाद की आधुनिक पृष्ठभूमि —डॉ. इन्दीवर 999-1005
117. सम्पूर्णानन्द-साहित्य —डॉ. विजय नारायण मिश्र 1006-1021

ज्यौतिष एवं विज्ञान

भारतीयज्यौतिषे जगत्सृष्टिकल्पना

पं. व्रजकिशोरझाः

सृष्ट्यादिविषये भास्करकमलाकरयोः सिद्धान्तयोर्महान् विवादो दृश्यते । तत्र भास्करमतेन स्वयं स्वयम्भूर्भवन्नेव तत्क्षणं भगणादिसंस्थितैर्ग्रहैः सह भचक्रं सृष्ट्वा शश्वद्भ्रमणशीले प्रवहवायौ निवेशितम् । तेन युगपद् ब्रह्मादिसृष्ट्याद्ये सिद्धे भवतः ।

तदुक्तं भास्कराचार्येण स्वकीये सिद्धान्तशिरोमणावादावेव–

"सृष्ट्वा भचक्रं कमलोद्भवेन ग्रहैः सहैतद् भगणादिसंस्थैः ।
शश्वद् भ्रमे विश्वसृजा नियुक्तं तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्वे ॥" इति ।

एवं कल्पपरिमितकालपर्यन्तं सृष्टिं संचार्य तदन्ते ब्रह्मा सृष्टिं संहृत्य कल्पपरिमितकालं स्वपिति । तथोक्तं तेन–"कल्पान्ते दिनान्ते सर्वान् संहृत्य शेते विधिः ।"

एवञ्च–

"यतः सृष्टिरेषां दिनादौ दिनान्ते लयस्तेषु सत्स्वेव तच्चारचिन्ता ।
अतो युज्यते कुर्वते तां पुनर्येऽप्यसत्स्वेषु तेभ्यो महद्भ्यो नमोऽस्तु" ॥

तथा च भास्करेण सृष्टिप्रारम्भकालो लङ्कासूर्योदये कथितः, तथा हि–

"लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोः तस्यैव वारे प्रथमं बभूव ।
मधोः सितादेर्दिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः ॥"

अथ कमलाकरेण तु "ब्रह्माद्यनन्तरं शतघ्नैः कृताद्रिवेदमितैर्दिव्यवर्षैः सृष्ट्यादिरभूत्" इत्युक्तं स्वकीये सिद्धान्ततत्त्वविवेके तेन, यथा–

"स सृष्टिकालः कमलोद्भवस्य जनेः शतघ्नाब्धिनगाब्धिवर्षैः । दिव्यै" रिति ।

एतस्य मूलं सूर्यसिद्धान्त एव, यत उक्तं सूर्यसिद्धान्ते–

"ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम् ।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः ॥"

तत्र तावद् दिव्याब्दमानं कल्पप्रमाणं चोक्तं भास्करेण सिद्धान्त-शिरोमणौ कालमानाध्याये मध्यमाधिकारे–

"खखाभ्रदन्तसागरैर्युगाग्नियुग्मभूगुणैः ।
क्रमेण सूर्यवत्सरैः कृतादयो युगाङ्घ्रयः ॥
स्वसन्ध्यका तदंशकैर्निजार्कभागसंमितैः ।
युताश्च तद्युतौ युगं रदाब्धयोऽयुता हताः ॥
मनुः क्षमानगैर्युगैर्युगेन्दुभिश्च तैर्भवेत् ।
दिनं सरोजजन्मनो निशा च तत्प्रमाणिका ॥
सन्धयः स्युर्मनूनां कृताब्दैः समा आदिमध्यावसानेषु तैर्मिश्रितैः ।
स्याद्युगानां सहस्रं दिनं वेधसः सोऽपि कल्पो द्युरात्रं तु कल्पद्वयम् ॥
शतायुः शतानन्द एवं प्रदिष्टः तदायुर्महाकल्प इत्युक्तमाद्यैः ॥
यतोऽनादिमानेष कालस्ततोऽहं न वेद्म्यत्र पद्मोद्भवा ये गतास्तान् ॥" इति ।

एतदुक्त्या—अष्टाविंशतिसहस्रयुतसप्तदशलक्षसौरवर्षाणि कृतयुगमानं भवति, षण्णवतिसहस्रयुतद्वादशलक्षसौरवर्षाणि त्रेतायुगमानम्, चतुःषष्टिसहस्रयुताष्टलक्षसौरवर्षाणि द्वापरयुगमानं तथा द्वात्रिंशत् सहस्रयुतचतुर्लक्षसौरवर्षाणि कलियुगमानं संभवति ।

एतेषां योगो विंशतिसहस्रयुतत्रिचत्वारिंशल्लक्षसौरवर्षाणि महायुगमानं जायते । महायुगानामेकसप्ततिरेको मनुर्भवति । तत्परिमाणं त्रिंशत्कोटि-सप्तषष्टिलक्षाणि विंशतिसहस्राणि सौरवर्षाणि ।

अथ च चतुर्दशमनूनामेकः कल्पस्तेनैतच्चतुर्दशगुणं सच्चतुरर्बुदैकोनत्रिंशत्कोट्यश्चत्वारिंशल्लक्षाणि अशीतिसहस्राणि सौरवर्षाणि सन्धिरहितकल्पवर्षप्रमाणं भवति । तच्च षडूनसहस्रमहायुगतुल्यम् । किन्तु चतुर्दशमनूनामादिमध्यावसानेषु पञ्चदशसन्धयः कृतयुगप्रमाणा भवन्ति, तेषां योगश्च षण्महायुगसमास्तैर्युतं पूर्वोक्तशुद्धचतुर्दशमनुयोगः सहस्रमहायुगतुल्य एकः कल्पो ब्रह्मदिनं वा भवति । तत्तुल्यैव ब्रह्मरात्रिरतः कल्पद्वयं ब्रह्मणोऽहोरात्रमानं जायते । एतन्मिताहोरात्राणां षष्ट्यधिकशतत्रयेणैकं ब्राह्म्यवर्षम् । तादृशवर्षशतैरेको महाकल्पस्तन्मितमेव ब्रह्मण आयुः । तदनन्तरमन्यो ब्रह्मा जायते । तत्र निशाकल्पे ग्रहनक्षत्रबिम्बानामभावो भास्कराचार्यमते भवति । तथा विध्यन्ते सृष्ट्यन्तश्चेति ।

भट्टकमलाकरसृष्टिलक्षणमुक्तं सिद्धान्ततत्त्वविवेके, यथा—

"लङ्कार्धरात्रे चलिता ग्रहोच्चपातादयः स्युर्युगपच्च सर्वे ।
नाड्याह्वयेऽजादियुतास्तदैव सृष्ट्याह्वयं कालमुदाहरन्ति ॥
कालेन येनैति पुनः स योगस्तं सृष्टिकल्पं प्रवदन्ति सन्तः ।
मानानि सौरेन्दवसावनार्क्षपूर्वाणि यद्वा युगपच्च सर्वम् ॥

सम्पूर्णमुक्तं परिपूर्तिमेति कालेन येनेत्युदितः स्वसृष्टेः।
तं सृष्टिकल्पं ग्रहगोलविज्ञा वदन्ति सूक्ष्मग्रहपूर्वसिद्ध्यै ॥
स सृष्टिकालः कमलोद्भवस्य जनेः शतघ्नाब्धिनगाब्धिवर्षैः।
दिव्यैर्भवेद् ब्रह्मसमुद्गमात्तं कल्पप्रमाणं समयं वदन्ति ॥"

अपि च तत्रैवाग्रतो वदति कमलाकरः –

"लङ्कार्धरात्रे यमकोटिजातसूर्योदये चाश्वचलांशकादौ।
मधोः सितादौ रविवासरादौ खेटोच्चपातादिसमस्तमुक्तम् ॥
चारक्रमात् कालवशाद् विभिन्नमपि स्वमेषाश्विमुखे बभूव।
सृष्ट्याद्यकाले युगपच्च पूर्वमेकत्र चेत्थं न विधेर्दिनादौ ॥"

अर्थात् सृष्टितः पूर्वं न्यूनाधिकराश्यादिगताः सर्वे ग्रहोच्चपातादयो यदा लङ्कार्धरात्रे नाडीवृत्ते अजादियुता अर्थादयनांशावसरे नाडीवृत्तक्रान्तिवृत्तसम्पातस्य निरयणमेषादौ युगपद्युता मिलिताः स्वकक्षास्थमेषादिबिन्दुगतास्तदा सृष्ट्याह्वयं कालमाचार्या उदाहरन्ति कथयन्ति।

ततोऽनन्तरं पुनस्ते स्वस्वन्यूनाधिकगत्या पृष्ठतोऽग्रतश्च भ्रमन्तो ग्रहा यदा पुनर्युगपन्मेषादौ मिलितास्तदा पुनः स योगो जातस्तत्र प्रथमयोगाद् द्वितीययोगपर्यन्तकालं सृष्टिकल्पं सन्तः प्रवदन्ति। स च सृष्ट्यारंभकालः कमलोद्भवस्य ब्रह्मणो जनेः जन्मतः सकाशात् पश्चाद् दिव्यैः चतुःशताधिकैः सप्तचत्वारिंशद्भिस्सहस्रैर्वर्षैर्घटितः ॥ इति।

अत्र कमलाकरोक्तौ यद्यप्यन्यत्सर्वं भास्करोक्तिवदेव, केवलं भास्करेण लङ्कोदये युगपदेव विध्यादि सृष्ट्याद्ये उक्ते, किन्तु कमलाकरेण तु लङ्कार्धरात्रे सृष्ट्यादिरुक्ता तथा विध्यादितः शतघ्नाब्धिनगाब्धिदिव्यवर्षानन्तरं सा सृष्टिर्जातेति पृथक्-पृथग् विध्यादिसृष्ट्याद्ये उक्ते। इदमेवोभयोर्मतयोः पार्थक्यम्। सृष्ट्यादितः सृष्ट्यन्तकालस्य समानत्वमेतयोर्मतयोः।

किञ्च, भास्करमते खस्थग्रहनक्षत्राणां बिम्बानि विधिनिर्मितान्येव सन्ति, कमलाकरमते तु तानि न विधिनिर्मितानि, यान्येव भूस्थितानि प्रतिदिनमनेकानि जायन्ते म्रियन्ते च, तान्येव केवलं विधिनिर्मितानि भवन्ति। यथोक्तं कमलाकरेण सिद्धान्ततत्त्वविवेके मध्यमाधिकारे–

"दैनन्दिनसुसृष्ट्यर्थमनिरुद्धार्कजो विधिः।
भूस्थितानाञ्च जीवानां न स्थिराम्बरवासिनाम् ॥"

तथा च भास्कराचार्येण स्वसिद्धान्तशिरोमणौ–

"यतः सृष्टिरेषां दिनादौ दिनान्ते लयस्तेषु सत्स्वेव तच्चारचिन्ता।
अतो युज्यते कुर्वते तां पुनर्येऽप्यसत्स्वेषु तेभ्यो महद्भ्यो नमोऽस्तु ॥"

इति पद्येन ब्रह्मदिनादौ खस्थानां सृष्टिः ब्रह्मदिनान्ते च तेषां लय इति यत्प्रतिपादितं तदुपर्युक्तकमलाकरोक्तपद्येन खण्डितं भवति। अर्थात् कमलाकरस्याभिप्रायोऽयं यद् यद्यद् ग्रहनक्षत्रवशेन कालमानज्ञानं जायते, तत्तन्नाशे निशाकल्पप्रमाणज्ञानं कथं सम्भवेत् ? अतस्ते खस्थाः सदैवाविनाशिनः सन्तीति।

तथा च भास्करेण ये प्रलयभेदा उक्तास्तेऽपि भट्टमते न रोचन्ते, अत उक्तं कमलाकरेण–

"अनीदृशं जगदिदं न कदापीति वाग्बलात् ।
प्रमाणात्तल्लयभ्रान्तिं त्यज मूढानिशं ध्रुवम् ॥" इति ।

अर्थाद् भूस्थितानामेव जीवानां विधिकृतौ सृष्टिलयौ भवतः । न हि स्थिराकाशसंस्थितानां ग्रहनक्षत्राणाम् ।

अहो, एवं चेद् विधिनिर्मिता नक्षत्रग्रहा नैव, तर्हि पुरस्तात्–

"सौरे तु सृष्टिवर्षोक्तौ ग्रहर्क्षस्रजनं कजम् ।
उक्तं तेन स्थिरा सृष्टिः कथं युक्तेति चेच्छृणु ॥
जपपूजनहेतोस्ते निर्मिता देवतांशकाः ।
विधिना बिम्बगोला ये तद्भिन्नास्त्वव्ययाः सदा ॥"

इति यदुक्तं तदभिप्रायोऽयम्–

सूर्यसिद्धान्ते सृष्टिवर्षोक्तौ, अर्थाद् विध्यादितः शतघ्नकृताद्रिवेददिव्याब्दैः सृष्ट्यादिर्जातेति रूपायां कजं ब्रह्मजनितं ग्रहर्क्षस्रजनं ग्रहनक्षत्रनिर्माणरूपमुक्तम् । तेन तत्पूर्वं ग्रहनक्षत्राभावात् कथं सृष्टिः स्थिरा इति युक्तेति शङ्कायां भट्टेन कथ्यते यत्–ते देवतांशका बिम्बगोलाः जपपूजनहेतोर्ब्रह्मणा विनिर्मिताः। ये च तद्भिन्नाः सूर्यचन्द्रादिबिम्बरूपास्ते सदा अव्यया अविनाशिनः सन्ति, अर्थाद् ये ब्रह्मनिर्मितास्तेषामेव प्रलयो भवतीति ।

एवं पुरतः पुनरपि कमलाकरेण भास्करमतं खण्डितम् । तद्यथा–

"यच्छिरोमणिकृता निजतन्त्रे ब्रह्मणो दिनमुखं ग्रहसृष्टेः ।
वक्त्रमुक्तमिदमार्षविरोधात् तत्तु तुच्छतरमुह्यमतिज्ञैः ॥
चेद् विष्णुधर्मोत्तरमेव मूलं ब्राह्मं पुराणं वदसीह तत्तु ।
अतान्त्रिकैर्नाशितमेव पूर्वं सन्दृश्यते सर्वजनप्रसिद्धम् ॥
अत्र तत्त्रुटितफक्किकयेदं सृष्टिवर्षवचनं तु विनैव ।
दृश्यतेऽथ तदेव हि मूलं संविधाय रचयन्ति हि शास्त्रम् ॥" इति ।

अत्रापि भट्टस्यायमःभिप्रायः, यच्छिरोमणि कृता भास्करेण निजतन्त्रे शिरोमणौ ब्रह्मदिनादिरेव सृष्ट्यादिरित्युक्तम्, तद् बुधैस्तुच्छतरं ज्ञेयम् । अहो भास्करमतमपि विष्णुधर्मोत्तरपुराणमूलकम्, तत्कथं तुच्छतरमिति शङ्कायां भट्टेनोच्यते–चेद् विष्णुधर्मोत्तरमूलमेव ब्राह्मपुराणमस्ति, तदेव मूलमङ्गीकृत्य भास्करेण सिद्धान्तशिरोमणिर्विरचितस्तत्र च विष्णुधर्मोत्तरपुराणे सृष्टिवचनमर्थाद् विध्यादितोऽनन्तरं सृष्ट्यादिर्जातेति नास्ति, तेन युगपद् विध्यादिसृष्ट्याद्ये उक्ते । किन्तु तत्र पुराणे युगपद् विध्यादिसृष्ट्यादिवचनमपि नास्ति । अतस्तर्क्यते तत्र तत्त्रुटिरस्ति । अनुमीयते अतान्त्रिकैर्जनैः पूर्वमेव तन्नाशितम् । तत्त्रुटितफक्किकया युतमिदं सृष्टिवर्षवचनं विनैव दृश्यते पुराणमिदम् । तदेव मूलं विधाय शास्त्रं रचयन्ति, तन्न युक्तम् ।

अपि च यदि विष्णुधर्मोत्तरं ब्राह्मं वा पुराणं ब्रह्मानिर्मितत्वेन महत्त्वपूर्णमङ्गीक्रियते, तदा मत्सूर्याग्रे ब्रह्मापि लघुरेव, यतो ब्रह्मलोकादुपरि सूर्यगोलस्य स्थितेर्ब्रह्मापेक्षया सूर्योऽधिकदूरद्रष्टा वर्ततेऽतः सूर्यमतमेव वास्तवम् । इति कमलाकरमतम् । अथ च सूर्यादिभिर्देवैः शाकल्यादिमुनिभिश्च यदुक्तं तस्माद् विरुद्धं ब्रह्ममतं कथमपि न स्यादित्युक्तं कमलाकरेण, यथा–

"सूर्यादिदेवैर्मुनिभिः स्वतन्त्रैः शाकल्यमुख्यैर्गदितं च तस्य ।
विरोधतः श्रीकमलोद्भवोक्तिर्न स्यात् कथंचिन्न यतोऽर्कजः सः ॥"

तथा च ब्रह्मसिद्धान्तसूर्यसिद्धान्तवसिष्ठसिद्धान्तादय एकपरंपरासिद्धा एव तेन कथमपि सूर्यमताद् ब्रह्ममतं विभिन्नं न स्यात् । यतः–

"ब्रह्मा प्राह च नारदाय हिमगुर्यच्छौनकायामलं
माण्डव्याय वसिष्ठसंज्ञकमुनिः सूर्यो मयायाह यत् ।
प्रत्यक्षागमयुक्तिशालि तदिदं शास्त्रं विहायान्यथा
यत् कुर्वन्ति नराधमास्तु तदसद्वेदोक्तिशून्याभृशम् ॥"

एवं च–

"किं चात्र सूर्योद्भव एव चोक्तो ब्रह्मा न सूर्यादधिकः कथंचित् ।
भूकर्णिका मेरुगताल्पकाच्छ्रीसूर्योऽतिदूरेऽधिक एव यस्मात् ॥"
"किं चाधमास्तद्बहुसम्मतं तु त्यक्त्वा श्लथैकाल्पमतं गृहीत्वा ।
मूलं प्रमाणं कथयन्ति लोके शास्त्रं स्वकीयं तु विचित्रमेतत् ॥"

एवं कमलाकरो भास्कराचार्यमाक्षिपति । तथा च काशीस्थराजकीयसरस्वतीभवननाम्नि पुस्तकालये कमलाकरलिखितः सिद्धान्ततत्त्वविवेकः पुस्तकमस्ति यत्र तु उपर्युक्तश्लोकानन्तरमेकः श्लोको वर्तते, यः प्रायो मुद्रणावसरे प्रमादान्नोपवेशितः, तस्य कमलाकरेण स्वार्थपुष्टिकरोऽर्थः कृतः सोऽतितरां रमणीयः । यथा–सृष्ट्वेत्यनेन तु पदार्थत एव सिद्धः सृष्ट्यादितः प्रथमतोऽस्ति ब्रह्मदिनादिः । अस्यार्थस्तु सृष्ट्वा भचक्रं कमलोद्भवेन इत्यनेन सृष्टितः पूर्वं यदि ब्रह्मा नासीत्तदा भचक्रं सृष्ट्वा ब्रह्मणा प्रवहवायौ कथं नियुक्तम् ? इत्यत्र 'नियुक्तम्' अस्मात् 'सृष्ट्वा' इत्यस्य पूर्वकालिकक्रियारूपस्य स्वतःसिद्धत्वात् कथं युगपद् भास्करेण विध्यादावेव सृष्ट्यादिः प्रतिपादितः ?

एवं भास्करमते य एव सृष्टिकर्त्ता स एव सृष्टिसंहारकः स्वजीवनपूर्तौ भवति । युगपद् ब्रह्मसृष्ट्योः पूर्णत्वात् । कमलाकरमते तु पूर्वं ब्रह्मनाशस्ततः सृष्टेर्नाश इति वैचित्र्यं वर्तते । तत्र महाकल्पपूर्त्तौ योऽन्तिमः सृष्ट्यन्तस्ततः पूर्वमेव सृष्ट्यब्दैर्विध्यन्तसंभवाद्विध्यन्तात्परं सृष्ट्यावधि यः कालः, तत्र कः सृष्टिसंचालक इति महद् वैषम्यं जायते । तत्र विशेषः कमलाकरेण कथ्यते–

"सृष्ट्यादेः कदिनस्यान्तस्तावद् भूमिजनस्थितिः ।
तिथ्यादिव्यवहारोऽपि तद्गतोऽन्यत्र नो भुवि ॥"

तन्मतेन पूर्वब्रह्मनिर्मितसृष्टिरक्षकोऽग्रिमब्रह्मा भवतीति सिद्ध्यति, तत्र तु–

"यश्चाग्रिमारम्भ इहान्त एव पूर्वस्य सोऽस्माद्विधिसृष्टिजादिः ।
ज्ञेयस्तदन्तोऽपि तथान्तसंज्ञोऽप्यादिश्च तेऽस्मिन् समये ह्यनन्ताः ॥
कः खण्डकालात्मक एव भूस्थस्तद्भूतसृष्टेर्दिनमामनन्ति ।
तस्याथ तद्रात्रिमितिं तथा तल्लयादिति ह्यूर्ध्वमपि स्वसृष्टिः ॥"

एवं भास्करेण लङ्कासूर्योदये सृष्ट्यारंभ उक्तस्तन्मतं खण्डयन्नाह कमलाकरः –

"ग्रहाद्युक्तसृष्टिस्तु लङ्कार्धरात्रे यथार्थाऽस्ति देवर्षिब्रह्मागमोक्त्या ।
ततः सृष्टिकालान्तरे कस्य वक्त्रं कथंचिन्न लङ्कोदयोऽर्केऽर्कवारे ॥
अहो विष्णुधर्मोत्तरं चापि सम्यग् न बुद्धं स्वमूलं महद्ग्रन्थकारैः ।
यतस्तत्र सृष्टिस्तु लङ्कार्धरात्रे निरुक्ता कथं तन्मते तत् कवक्त्रम् ॥"

तथा च तद्वाक्यम्–"तत्र सूर्योच्चपातैः सममेव लङ्काधो दक्षिणोत्तररेखायां फाल्गुनान्ते सर्व एव कल्पादावर्क्कदिने मीनमेषसन्धिगा भवन्ति कल्पावसाने च ।" इति यत्कमलाकरेण तद्वाक्यमुद्धृतं तत्सन्देहकरं वर्तते, यतो विष्णुधर्मोत्तरपुराणे तु–

"लङ्काधो याम्योत्तररेखायाम्" इत्यत्र "लङ्कायाम्योत्तरं गत्वा" इत्यस्ति । एवं च "कल्पादावर्कदिने" इत्यत्र "कल्पादावर्कोदये" इत्यस्ति ।

एवं कमलाकरेण स्वमतानुकूलं पाठं कृत्वा लिखितम्; किन्तु वृद्धवसिष्ठसिद्धान्तेऽपि–

"प्रभाकरस्योद्गमनात् पुरे स्याद् वारप्रवृत्तिर्दशकन्धरस्य ॥"

एतेन भास्करमतमेव पुष्टं भवति ।

केचित् कथयन्ति यत् कोऽपि जन्मत एव कार्यक्षमो न भवति, तेन ब्रह्माऽपि स्वजन्मतोऽनन्तरं यथोक्तसृष्टिवर्षगतैः सृष्टिं प्रारब्धवान्, अतः कमलाकरमतमेव साधु; किन्तु तैरिदं ध्यातव्यं यत् सर्वसाधारणजनानामियं स्थितिर्भवति । स्वयंभुवो ब्रह्मणः कृते नैतद्युक्तिः संगच्छते । स तु जन्मकालसममेव सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः ।

◆

जलेन भूसमताकरणरीतेर्युक्तायुक्तत्वविवेचनम्

श्रीसाम्बराजाचार्यः

भगवता कात्यायनेन स्वविरचितशुल्बसूत्रे '**समे शङ्कुं निखाय शङ्कुसम्मितया रज्ज्वा मण्डलं परिलिख्य यत्र लेखयोः शङ्क्वग्रच्छाया निपतति तत्र शङ्कू निहन्ति, सा प्राची**[1]' इत्यत्र दिग्ज्ञानार्थं समे भूप्रदेशे शङ्कुं निखाय शङ्कुसम्मितया रज्ज्वा मण्डलं (वृत्तं) कार्यमिति कथितम् । भुवः समीकरणञ्च जलेन साधु भवतीत्यपि '**न जलात्समन्यत् स्यादि**'[2]ति सूत्रणात्स्वयं संसूचितमेव । परं जलेन भुवः समता कथं सम्पादनीया ? तत्र का रीतिरङ्गीकार्या इति तु कात्यायनलेखान्नैवावगन्तुं शक्यते । कात्यायनेन च स्वसमाजेऽतिप्रसिद्धायास्तस्या रीतेर्वर्णनं न कृतम् । केवलं स्वसमाजापेक्षिकं दिग्दर्शनं तत्र कृतम् ।

जलेन भूसमता सम्पादनीयेति तु आर्यभट-लल्ल-श्रीपति-भास्करादिभिर्बहुभिः शास्त्रकारैः स्वस्वरचितेषु, आर्यभटीय[3]-शिष्यधीवृद्धिद[4]-सिद्धान्तशेखर[5]-सिद्धान्तशिरोमण्यादिषु ज्यौतिषशास्त्रस्य[6] मूर्धन्येष्वाकरग्रन्थेषूपनिबन्धनात्तथा कुण्डनिर्माणार्थं रचितेषु कुण्डमण्डपसिद्धि[7]-कुण्डशिरोमण्यादिषु[8] वास्तुशिल्पशास्त्रेषु[9] च दर्शनात् तथा मानमन्दिरादिषु भूसमताकरणयन्त्रस्याद्यापि सत्त्वात्[10] कात्यायनवर्णित-भूतलसमीकरण-प्रकारस्य प्रचारः, प्रसार उपयोगश्च तत्तत्समाजेऽतीवबाहुल्येनाऽभूदिति तु बाढं सिध्यत्येव ।

परं जलेन भूसमताकरणरीतेर्वर्णनं तु बहुभिर्ग्रन्थकारैस्तेषां टीकाकारैश्च न कृतम् । अतस्तस्या रीतेर्दुर्बोधत्वमिदानीमस्माभिरनुभूयते ।

मुनीश्वरेण तु सिद्धान्तशिरोमणेर्मरीचिनामके भाष्ये '**वृत्तेऽम्भः सुसमीकृतक्षितिगते**'[11] इत्यादिप्रकारस्य व्याख्यायाम्–

'**प्रथमं मृत्क्षेपनिष्काशनैस्तदुपकरणादिभिः काप्युच्चतरशोभने निवारणेऽभीष्टप्रदेशे नोच्चानुच्चत्वभूमेः सम्पाद्यानन्तरं जलधाराप्रक्षेपकृते तज्जलं यथा सममेव सर्वत्रापि प्रसरति तथा जलेन भूमेः समत्वं परीक्ष्यम्**' इति लिखितम् ।

मुनीश्वरेणेह जलेन भूसमताकरणरीतेर्वर्णनं न कृतमपि तु समसम्पादिताया भूमेः समत्वमित्थं परीक्ष्यमिति स्पष्टं व्याख्यातम् ।

तथैवार्यभटीयस्य टीकाकारेण परमादीश्वरेणापि आर्यभटसङ्केतितजलसमताकरणरीतेर्व्याख्यानमित्थमेव कृतम्–

'**साध्या जलेन समभूः । भूमेः समत्वं जलेन साध्यम् । भूमेस्समविषमतापरिज्ञानं जलेन भवतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । चक्षुस्सूत्रेण भूमिं समतलां कृत्वा तत्रैकं वृत्तमालिख्य तद्बहिर्द्व्यङ्गुलान्तरितं त्र्यङ्गुलान्तरितं वा**

वृत्तान्तरं च विलिख्य परिध्योरन्तरालप्रदेशं समन्तात् खात्वा कुल्यां सम्पाद्य तां कुल्यामद्भिः पूरयेत् । तत्र परितो जलं भूसमं चेद् भूमिः समा भवति । यत्र जलस्य नीचत्वं तत्र भूमेरुन्नतिः स्यात् । यत्र जलस्योन्नतिस्तत्र भूमेर्नीचत्वं स्यादिति[12] ।' इति ।

आर्यभटीयस्य टीकाकारेण सूर्यदेवेन 'साध्या जलेन समभूरध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव' इत्यस्य व्याख्यानमतीव-संक्षेपेण कृतम्–

'भूसाम्यं जलेन साध्यम् । अग्रबद्धगुरुद्रव्यसूत्रमवलम्बकः । तेनोपर्यधोभावो ज्ञातव्यः' इति ।

आर्यभटीयस्यान्येन टीकाकारेण भास्करेण स्वविरचित आर्यभटतन्त्रभाष्ये 'साध्या जलेन समभूरध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव' इत्यस्य व्याख्यानमित्थं कृतम्–

'साध्या जलेन समभूः । समभूः जलेन साध्यते । तद्यथा चक्षुसूत्रसमीकृतायामवनौ त्रिकाष्ठोपरि निर्वाते जलकुम्भं निधाय अधः सुषिरं कुर्यात्, यथा तदुदकमेकरूपया धारया स्रवति । तत्प्रसृतमम्भः समन्तात् परिवर्तुलं यत्र प्रयाति सा भूः समा, यत्र तदम्भो वृत्तं भङ्क्त्वा प्रतिष्ठितस्तन्निम्नम्, यत्र नावगाहते तदुन्नतमिति । अध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव । अध उपलक्षितस्य य ऊर्ध्वप्रदेशः सोऽवलम्बकेनैव साध्यते । ऊर्ध्वप्रदेशस्य वा योऽधःप्रदेशः असावप्यवलम्बकेनैव । अवलम्बकश्च गुरुद्रव्यैकाग्रासक्तं सूत्रमिति ।' इति ।

बलदेवस्तु आर्यभटीयस्य 'साध्या जलेन समभूरध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव' एतावद्भागमेकविषयकं मत्वा व्याख्याति–

'जलेन जलपरीक्षया समभूः समा पृथिवी साध्या करणीया । समभूमौ जलप्रक्षेपेण यदि जलं स्थिरं भवति तदा भूः समेति ज्ञातव्यम् । यदि कस्यामपि दिशायां जलं प्रवहति तदा तत्र निम्नता बोध्या । पृथिव्याः समीकरणाय अमुमेव दृष्टान्तं मत्वा अन्येऽपि ग्रन्थकाराः जलवत् समीकृतायां भूमावित्यादि प्रोचुः । परन्तु जलं स्वयं गोलवस्तु न दर्पणोदरसन्निभं समं तदा तेन समत्वकरणं कथं साधु भवतीति नवीनानामाक्षेपः ।

लम्बकेन लम्बकयन्त्रद्वारा अध ऊर्ध्वमित्यस्य ज्ञानं सुगमेन भवति । समद्विबाहुकमिदं यन्त्रं[13] यस्य मध्ये अवलम्बसूत्रं मध्ये पतति तदा भूः समा । आधारस्य मध्यादन्यत्र बिन्दौ चेत् पतति तदावलम्बाग्रादल्पान्तरे अधः दूरान्तरे उच्चं स्थानं भवति ।' इति ।

परं 'साध्या जलेन समभूरध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव' इत्यस्य व्याख्यायां गार्ग्यकेरलनीलकण्ठसोमसुत्व-विरचिते आर्यभटीयस्य भाष्ये तु जलेनैव भूसमताकरणोपायो व्यावर्णितः । 'अध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव' इति यदार्यभटेन कथितं तदपि अध ऊर्ध्वं यत् क्षेत्रं (लम्बरूपकं यत् क्षेत्रं) वास्तविकलम्बरूपेऽस्ति न वेति परीक्षणाय गुरुत्वद्रव्यबद्धसूत्रेणावलम्बितेनाध ऊर्ध्वत्वं निर्णेयमिति स्पष्टं व्याख्यातम्, यथा–

".........समभूः पुनर्जलेनैव साध्या । परिलेखादौ भुवः समीकरणमवश्यं कार्यम् । विशेषतस्तु छायाकर्मणि जीवादिपरिलेखने पुनः कुतश्चिद्भागात् प्रभृति क्रमेण प्रावण्येन दोषः स्यात् । निम्नप्रतिपूरणं च तत्रावश्यं कार्यम् । छायाकर्मणि प्रवणभागाभिमुख्यां छायायां तस्या आधिक्यमुन्नताभिमुख्यां च ह्रस्वत्वमिति महान् दोष इति तत्र जलेनैव समीकरणनिर्णयः । तन्निर्णयप्रकारो गोविन्दस्वामिना भाष्ये प्रदर्शितः । यथा–चक्षुस्सूत्रसमीकृते धरातले निर्वाते(ति ? त्रि)काष्ठोप(र्य ? र्यु)त्पूतजलपूर्णं घटं निधायाधः छिद्रं कुर्याद् यथा तदुदकमेव धारं प्रस्रवति । तत्प्रस्रुतोदकवृत्तभावेन धरातलसमत्वावगतिरिति । नन्वत्र समीकरणमुक्तम् । समीकृतस्य धरातलस्य

समत्वनिर्णय एवोपायोऽयं प्रदर्शितः। साध्या जलेन समभूरिति ह्याचार्येण तत्साधनमप्युक्तम् । तत्कथम् ? यावतो भूतलस्य समीकरणं कार्यं ततो बहिः समन्तात् खात्वा तत्र जलमासिच्य तन्मध्यगतां स्थलीं तज्जलसमतया क्रकचादिरूपेण द्राघीयसा जलादुपरिगतं भागं विदार्यापनीय पुनः ऋजुकृतसूत्रेणापि कृत्स्नस्य तत्तलस्य साम्यमुत्पाद्य पुनरुक्तप्रकारेण परीक्षणमपि कार्यमिति भावः।

अध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव अध ऊर्ध्वं यत् क्षेत्रं तल्लम्बकेनैव साध्यम् ।....भूप्रदेशेषु सर्वत्रापि गुरुद्रव्यब(न्धे? द्धे)न सूत्रेणावलम्बितेनाध ऊर्ध्वत्वं निर्णेयम्" इति ।

एतद्दृष्ट्वाऽवगम्यते यद् बलदेवस्य व्याख्यानमस्माद् (व्याख्यानाद्) भिन्नम् । तथा नवीनानामाक्षेपश्च सुतरां निरर्थक इति ।

भट्टदीपिकाकारेण परमादीश्वरेणापि **'अध ऊर्ध्वं लम्बकेनैव'** इत्यस्य व्याख्या बलदेवकृतव्याख्यातो भिन्नैव कृता–

'गुरुद्रव्याबद्धाग्रमवलम्बितं सूत्रमवलम्बक इत्युच्यते । तद्वशाच्छङ्क्वादेरध ऊर्ध्वस्थितिर्ज्ञेयेत्यर्थः । शङ्कोर्हि मूलाग्रयोरध ऊर्ध्वावस्थान ऋजुस्थितिर्भवति' । इति ।

यदि परमादीश्वर-मुनीश्वर-बलदेवकृतव्याख्यानानां निष्पक्षधिया परीक्षणं विधीयते तदा तेषां व्याख्यानतोऽपि जलेन भूसमीकरणता सिध्यत्येव । यतो हि जलपरीक्षणेन यदि भूमौ समता न लभ्यते तदा भूमेरसमत्वं खननपूरणादिक्रियासञ्चारो जलेन भूसमतापरीक्षणं च वारं वारं तेषां मतेऽप्यवश्यं करणीयमेव ।

रामगङ्गाधराभ्यां तु कात्यायनशुल्बसूत्रस्य (का. शु. 1|2) व्याख्यानावसरे जलेन भूसमीकरणप्रकारो वर्णित एव । यथा शुल्बवार्तिके तद्भाष्ये च रामः –

'यस्माद् देशात्-स्रवेद्येन जलं तत्खातपूरणम् ।
कृत्वा भूसमता कार्या लेपेनाम्बुस्थिरत्वतः' ॥

'यस्माद् देशाज्जलं स्रवेत्तस्य खननम् । येन निम्नेन याति तस्य पूरणं वा एवं सुधादिलेपाज्जलस्थिरतापादनेनें)भूः समा कार्या'[14] । इति ।

शुल्बभाष्ये गङ्गाधरः –

'निम्नोन्नतप्रदेशे क्षेत्रपरिच्छेदनस्य कर्तुमशक्यत्वात्समे भूप्रदेशे समत्वं च जलेनैव सम्भाव्यम् । न जलात्सममन्यत्स्यादिति वक्ष्यमाणत्वात् । तच्च समतलाग्रजलपूरितभाजनादिपात्रे भुवि सम्यक् स्थापिते सति यत्रापः स्खलन्ति तत्र निम्ना भूरिति सम्पूरणीया'[15] । इति ।

अद्यत्वे च गृहादिनिर्माणावसरे कर्मकराः श्वेत(पारदर्शक)नलिकासु स्वच्छं जलं प्रपूर्य भित्त्यादीनां जलेनैव[16] समतां सम्पादयन्ति । प्राचीनजलसमीकरणप्रकारस्यैवायं किञ्चिद् विकसितरूप इति शम् ।

◆

---

1. कात्यायनशुल्बसूत्रे, कण्डिका 1, सूत्रम् 2 ।
2. श्लोकशुल्बे, श्लो. 4 ।

---

3. **साध्या जलेन समभूः**.....आर्यभटीये गणितपादे श्लो. 13 ।
4. (क) **गोलं समं सलिलतैलवृषाङ्कबीजैः**–शि. धी. यन्त्राध्याये श्लो. 1 ।
   (ख) **वृत्तं भ्रमात् त्रिचतुरस्रमुपैति कर्णा-**
   ल्लम्बाच्च सिद्धिमध ऊर्ध्वमिला समाद्भिः ।–तत्रैव, श्लो.21 ।
5. **तोयसिद्धवसुधावलयान्तर्न्यस्तलम्बककृतार्जवशङ्कोः** ।
   –सिद्धान्तशेखरे, त्रिप्र. श्लो. 1 ।
6. '**वृत्तेऽम्भः सुसमीकृतक्षितिगते**.....
   –सि. शि. त्रिप्र. श्लो. 8 ।
7. द्र. कुण्डमण्डपसिद्धेर्व्याख्या विट्ठलदीक्षितकृता (**ज्ञात्वा पूर्वं धरित्रीम्**.....5 श्लोकस्य) ।
8. **अम्भोभिः सुसमीकृतक्षितिगते रम्ये प्रदेशे बुधैः ।**
   स्थाप्यः शङ्कुरथ प्रभा च गणयेच्छायादिकं चिन्तयेत् ॥ 5 ॥
   –कु. शि. (हस्तलिखितस्य पुस्तकस्याधारे)
9. **एवं परीक्षितं क्षेत्रं कृत्वा दिक्साधनं ततः ।**
   सलिलेन समीकृत्य त्वथवापि शिलातले ॥
   –वास्तुप्रतिबिम्बे वसिष्ठवचनम् (हस्तलिखितपुस्तकाधारे)
10. आर्यभटीयस्य टीकाकारपरमादीश्वरकृतवर्णनानुसारि यन्त्रं तत्रास्ति । तस्य जलद्रोण्याः किञ्चिद्भागः स्फुटितोऽस्ति । तथापि जलेन भूमितलसमीकरणप्रकारस्यावबोधने यन्त्रं सहायकमेव ।
11. सि. शि. त्रिप्र. 8 श्लो. ।
12. आर्यभटीयगणितपादस्य 13 श्लोकस्य व्याख्या द्रष्टव्या ।
13. न केवलं समद्विबाहुकं त्रिभुजाकारं यन्त्रमपि तु चतुर्भुजाकारं (आयताकारं) च प्राचीनैर्वर्णितमुपयुक्तञ्चेति–
    'सुकाष्ठपट्टीं चतुरङ्गुलोच्चां हस्तायतामङ्गुलविस्तृताञ्च ।
    कृत्वान्तराङ्काल्लघुलम्बकोङ्काद्यतस्ततः पूरय सन्मृदा कुम्' ॥ इति ।

    कुण्डमण्डपसिद्धेर्व्याख्यायां (5 श्लोकस्य) विट्ठलदीक्षितकृतायां समागतवचनात्तथा कुण्डकल्पद्रुमे (नेपालराष्ट्रियाभिलेखालये (484 संख्यायां) पञ्जीकृते हस्तलिखितग्रन्थे) 4,5 पत्रयोरन्तरे क्रोडपत्ररूपेण निवेशिते पत्रे त्रिभुजाकारचतुर्भुजाकारयोश्च यन्त्रयोश्चित्रदर्शनात्तथा तत्रैव '**समभूज्ञानार्थमिमे यन्त्रे**' इति विवरणदर्शनाच्च सिध्यति ।
14. सरस्वतीभवनपुस्तकालये वाराणस्यां मुद्रितविभागे सुरक्षितपुस्तकस्य, नेपाले लक्ष्मीपतिसङ्ग्रहे सुरक्षितस्यामुद्रितस्य ग्रन्थस्या(शुल्बवार्तिकस्य तद्भाष्यस्य च)धारेऽयं पाठो मयात्र निवेशितः ।
15. शुल्बभाष्यस्यामुद्रितस्य चत्वारि पुस्तकानि मया दृष्टानि (एकम्-सरस्वतीभवनवाराणसीस्थमन्यन्नेपाले लक्ष्मीपतिसङ्ग्रहस्थम्, अन्ये द्वे च नेपालराष्ट्रियाभिलेखालये सुरक्षिते) । तेषामाधारे शुद्धतमः पाठोऽत्र मया निवेशितः ।
16. अद्यत्वे पारदेनापि भूसमतापरीक्षणं कुर्वन्तीति कर्मकराः केदारदत्तेन सिद्धान्तशिरोमणेर्व्याख्यायां (वृत्तेऽम्भः सुसमीकृत.....त्रिप्र. श्लो. 8) लिखितमस्ति ।

    लल्लेन धीवृद्धिदे (यन्त्राध्याये, श्लो. 1.) **वृषाङ्कबीजैः** (वृषाङ्कः=शिवस्तस्य बीजं=वीर्यं=पारदं तैः) भूसमतापरीक्षणं क्रियत इति सुस्पष्टं लिखितम् । एतद्दृष्ट्वाऽवगम्यते यत् प्राचीनाचार्या अपि पारदेन भूसमतापरीक्षणं चक्रुरिति प्रमाणीभवति ।

भारतीयज्यौतिषसंहितायां केतूनां विमर्शः

डॉ. सच्चिदानन्दमिश्रः

'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानुपूर्वाः विहिताश्च यज्ञाः । यस्मादिदं कालविधानशास्त्रम् ।
यो ज्यौतिषं वेत्ति स वेद यज्ञान्[1] ॥

अर्थात्-यज्ञार्थकर्मप्रवृत्ताः वेदाः । यज्ञाः हि कालानुपूर्वाः विहिताः । तस्मात् कालविधानशास्त्रमिदं ज्यौतिषं यो वेत्ति स यज्ञानपि वेत्ति ।

यज्ञः द्विविधः । प्राकृतिकः स्वयं सृष्टिचक्रानुरोधेन प्रवर्त्तितः स्वयंभूतः, तथा प्रकृतिचक्रानुरोधेन नरसम्पादितः । कालानुरोधेन सर्वं घटते । अत्र शास्त्रे कालानुरोधेन दिव्यान्तरिक्षभौमोद्भवानां प्राकृतिकयज्ञानां रहस्यज्ञानार्थं प्राचीनतमकालादेवान्वेषणानि प्रचलन्ति । इदं कालविधानात्मकं प्रत्यक्षं प्रयोगगम्यं चास्ति । वैदिकसंहिताकालादारभ्य सूत्रकालं यावत् प्रायोगिकज्ञानविज्ञानानां बहूनि प्रमाणानि प्राप्यन्ते । अत्र वृद्धगर्गपराशरदेवलादिप्राचीनानां तथा वाराहवल्लालसेनादिमध्यकालिकानां प्रमाणैः केतुविचारः क्रियते । साम्प्रतिकज्यौतिषसंहिताशास्त्रीयपरम्परायां वाराहाः स्तुत्याः सन्ति ।

मध्यकाले यन्त्राणां तादृशं सूक्ष्मत्वं नासीत् यथा वर्त्तमानाधुनिकयुगे दृश्यते । परं तदापि चुम्बकादि[2]प्रयोगेण स्फटिकादिप्रयोगेण प्रयोगपरम्परा आसीदिति ज्ञायते । सुदूरनक्षत्राणां चामत्कारिकं विवरणमेवात्र प्रमाणम् ।

शब्दशास्त्रं व्यक्ताव्यक्तगणितं शिल्पं धातुविज्ञानम् आयुर्वेदः वनस्पतिशास्त्रं भूगर्भशास्त्रं तथा भूगोलखगोलभगोलादीनां च सम्यक् ज्ञानं विना न संहिताशास्त्रं गम्यं भवतीति संहितागत-विषयाणां परिशीलनेन स्पष्टतः ज्ञायते ।

आकर्षणशास्त्रस्य प्रकाशभौतिकस्योच्चसिद्धान्ताः संहितासु प्रयुक्ताः दृश्यन्ते । परन्तु मध्यकाले वैदिककालवत् प्रयोगः समुन्नतः नासीत् । तथापि प्राचीनानामृषीणामाख्यानात्मकप्रमाणैः स्वस्वप्रयोगेण तदानीन्तनीयाः भारतीयाः विद्वांसः ज्यौतिर्वैज्ञानिकाः प्रमाणानि प्रदत्तवन्तः ।

गणितशास्त्रं समस्तज्ञानविज्ञानस्याधारः नियामकश्च वर्त्तते । अनन्तविश्वे महाकाशमहाकालयोरनन्तत्वं सुविदितमेवास्ति । गणितं विना प्रक्रियात्मकशास्त्रेषु प्रवेशोऽपि न भवितुमर्हति । विश्वे द्विविधं ज्ञानविज्ञानं च दृश्यते । ध्वन्याश्रितं गणिताश्रितं च । अनयोः परस्परसापेक्षत्वं भास्करादिपूर्वाचार्यैः वर्णितमेव । सूत्रकालादारभ्य भास्करं यावत् सर्वे ग्रन्थाः विषयाश्च सूत्रैः निबद्धाः दृश्यन्ते । सूत्रं विस्तृतविषयस्य संक्षिप्तं स्वरूपं मन्यते । सूत्रगतसंनिहितगूढार्थः प्रयोगानुरोधेन गम्यः । दिग्देश-

कालानुरोधेनापि समस्तविश्वरहस्यज्ञानं खण्डं पूर्णं वा न व्यक्तिगम्यमपितु परम्परया ज्ञानविज्ञानस्य दीर्घपरम्परया गम्यं भवतीति प्राचीन-नवीनोद्धरणैश्च सिद्ध्यति ।

प्रयोगकाले पूर्वप्रमाणानि मूलाधाररूपाणि भवन्ति । अनन्तब्रह्माण्डेषु स्वयं भूतानि चमत्काराणि प्रायशः सर्वत्र भूपृष्ठे लक्ष्यन्ते । भूकेन्द्रात् पृष्ठाद्वा सर्वत्र आकाशस्य तुल्यत्वं दृश्यते ।

खण्डाभिप्रायेण दिवस-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्षरूपेण कालचक्रमप्यनवरतं चक्रवत् परिवर्त्तते ।

भूगोलखगोलभगोलादीनां संस्थानमानप्रतिपादनं गणितगम्यं प्रयोगगम्यं च स्वीकृतमेव ।

नक्षत्राणि तारकाः ग्रहोपग्रहाः केतवश्चाकस्मात् चमत्कारकाः प्रतिभान्ति । केतवोऽपि त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः पठिताः । भूपृष्ठात् त्रीणि मण्डलानि चाक्षुषदृष्ट्यापि दृश्यन्ते । नक्षत्राणि स्वप्रकाशपिण्डानि ग्रहोपग्रहाः सूर्यरश्मिभिः दीप्ताः दृश्यन्ते । पदार्थाः द्विविधाः प्रकाशरहिताः दीप्ताश्च भवन्ति ।

नक्षत्रमण्डलानि द्युलोकं दिव्याकाशं वा मन्यते । खगोलमन्तरिक्षमेव । अत्र ग्रहोपग्रहाः सन्ति । भूगोलपृष्ठे तु वयं वसामस्तेन का कथा ।

भारतीयज्यौतिषे संहिताशास्त्रं सर्वाधिकविस्तृतप्रभागः विद्यते । अत्र प्रायः नवीनविज्ञानस्य सर्वाः शाखाः सम्प्रत्यपि प्राप्यन्ते । अत्र भूगर्भविद्यातः समारभ्य वास्तु-शिल्पं वृष्टिविज्ञानं स्वरविद्या-लक्षणशास्त्रं शुभशकुनं विश्वाभिप्रायिकब्रह्माण्डीयप्रभावसमीक्षणं युद्धकविद्या, रत्नशास्त्रं च तथा प्रयोगात्मकानि विज्ञानानि च समागच्छन्ति । यद्यपि ग्रहर्क्षाणि सुदूराणि सन्ति परं-परं परिणतान्येव चन्द्रकक्षायां दृश्यन्ते ।

चन्द्रकक्षादूर्ध्वं सूर्यादधश्चान्तरिक्षं वर्त्तते । अन्तरिक्षेण सम्बद्धाः प्रायशः चन्द्रकक्षायां भुवोर्ध्व-कक्षायामयनानुरोधेन दृश्यन्ते ।

भूमौ भवा भौमाः । भूसम्बद्धाः सर्वाः प्रक्रियाः भूसम्बन्धेन भौमाः मन्यन्ते ।

सर्वेषां दिव्यान्तरिक्षभौमानां शुभाशुभप्रभावाः त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः भवन्ति । त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः केतवोऽपि न केवलं गणितगम्याः । यथा वाराहः–

"दर्शनमस्तमयो वा न गणितविधिनास्य शक्यते ज्ञातुम् ।
दिव्यान्तरिक्षभौमास्त्रिविधाः स्युः केतवो यस्मात्" ।[3]

अर्थात् केतूनामसंख्यत्वादनियतकालसम्बन्धत्वाच्च न केवलं गणितसाध्यः व्यक्तिसाध्यो वा । यदा येन रूपेण दृश्यन्ते तदैषां स्वरूपलक्षणानि पूर्वैः प्रदत्तानि । पूर्वाचार्याणामाख्यानैः युगसाध्यव्यक्ति-साध्योपकरणैः केतूनां लक्षणानि प्रभावाश्च वर्णिताः दृश्यन्ते । **सामान्यलक्षणानि** यथा । वाराहः–

यस्मिन् प्रदेशेऽग्निरूपं खगोलीयपिण्डं दृश्यते तदेव केतुरूपं कथ्यते । दावानलं ज्वालामुखीं तथाग्नि-स्थानं च त्यक्त्वा हि केतोः स्वरूपं ज्ञेयम् ।

भू-स्थानीय-खद्योत-इन्द्रगोपकः कृमिविशेषः (यः सर्वदा प्रकाशं वितरयति परं दाहकः न भवति) पिशाचालयः यक्षस्थानं (दिव्यशक्तियुक्तजीवविशेषः) मणयः (सूर्यमणयः चन्द्रकान्ताप्रभृतयश्च) रत्नानि सुवर्णमरकतप्रभृतीनि । अन्यान्यपि काचप्रभृतीनि तेजोरूपाणि । एतानि तेजरूपपदार्थास्तथा जीव-

जन्तवः न केतुरूपाः । शेषपदार्थाः खगोलीय–अदाहकपिण्डानि केतुस्वरूपाणि मन्यन्ते[4] । उपर्युक्तानामेषां यतः स्वभावादेवानलरूपाण्यतः न केतवः मन्यन्ते ।

शस्त्रं भवनं वृक्षः गोऽश्वघोटकप्रभृतयः गजश्च । एभ्यो भिन्नाः अग्निरूपास्ते केतव आन्तरिक्षा ज्ञेयाः[5] ।

नक्षत्राणां तारकाणां मध्ये ये दृश्यन्ते ते दिव्योद्भवा नक्षत्रमण्डलस्थाः केतवः ज्ञेयाः । अतो विभिन्नाः स्वरूपादन्यथा पृथिव्यां ये दृश्यन्ते–ते भौमाः शिखिनः भवन्ति ।

अत्र भौमसंभवकेतुविचारः सुस्पष्टः नास्ति । उपर्युक्तलक्षणानि चाक्षुषदृष्ट्या गम्यानि सन्ति । नक्षत्रमण्डलस्थाः दिव्याः नाभशाः भौमाश्च-त्रिविधाः केतवः दृश्यन्ते । एषां संख्याविषये मतैक्यं न दृश्यते[6] ।

नक्षत्रमण्डलस्थाः सरूपशतकेतवः पाराशरेण पठितास्ते च[7]–

1 - 16 = मृत्युनिःश्वासजाः
2 - 12 = आदित्यसम्भवाः
3 - 10 = रुद्रक्रोधजाः
4 - 7 = पैतामहाः
5 - 15 = औद्दालकाः
6 - 17 = मरीचिकश्यपललाटजाः
7 - 18 = प्रजापतिहास्यजाः
8 - 9 = विभावसुजाः
9 - 10 = धूमोद्भवः
10 - 14 = मथ्यमानेऽमृते सोमेन सह सम्भूताः
11 - 1 = ब्रह्मकोपजः
108 केतवः द्युलोकीयाः पठिताः[8] ।

नारदमुनिना एकैव केतुः बहुरूपमिति कथितम् । प्राचीनप्रमाणैः केतूनां बहुत्वं सिद्ध्यति । उदयास्तानुरोधेन दिग्देशकालप्रभेदात् केतूनां विचारः फलपरिपाककालः शुभाशुभत्वं प्रभावित-प्रदेशश्च संहितासु वर्णितः । सत्यासत्यज्ञानं साम्प्रतिकपरीक्षयान्तर्गतमेव ।

केतोः प्रभावः कथं पृथिव्यां घटतेऽत्र प्रयोगमेव प्रमाणं परं प्राचीनमते कथितञ्च यत्–

उदयास्तमयैः स्थानैः स्पर्शैः-आधूमनैः वर्णैश्च केतोः शुभाशुभत्वं वाच्यमिति[9] ।

प्रायशः योगाभ्यासबलेन चाक्षुषदृष्ट्या दृश्यकेतोः प्रमाणः प्रत्यक्षतः पृथिव्यां घटते । अदृश्यानां विचारः मध्यकालिकग्रन्थेषु न दृश्यते ।

केतवः यावन्तो दिनानि दृश्यन्ते तावन्तो दिनानि विगण्य तावन्तः मासाः शुभाशुभानि ज्ञेयानि । मासैः वर्षाणि च । उदयात् पक्षत्रयान्तरेण फलपरिपाकः भवति । अर्थात् 45 दिवसान्तरं भूपृष्ठे शुभाशुभफलानि घटन्ते । समस्तसंहिताग्रन्थानामयं निष्कर्षः । यथा समास-संहितायां कथितञ्च–

"दिव्यग्रहर्क्षजातास्तीव्रफला मन्दफलकरा भौमाः ।
प्राणिध्वजादितुङ्गेषु चान्तरिक्षा न चान्यशुभाः ॥
उदयास्तमयाधूमनसंयोगाकारमार्गदिग्यातैः ।
फलनिर्देशो दिवसैर्मासामासैस्तु वर्षाणि ॥"

अनेन प्रभावदृष्ट्या–

दिव्योद्भवा>आन्तरिक्षाः>भौमाः सिद्ध्यन्ति । अर्थात् दिव्योद्भवा केतवः सर्वाधिक-शुभाशुभप्रदायकाः भवन्ति तत आन्तरिक्षास्ततः भौमाश्च ।

केतूनां वर्णफलानि

प्राकृतिकसप्तवर्णाः प्रसिद्धा एव । अंकपाशगणितेन वर्णानां परस्परसंमिश्रणेन 5040 वर्णभेदाः भवन्ति ।

अष्टवर्णेषु केतवः प्रायश उदयन्ति ।

श्वेतः रक्तः पीतः कृष्णश्चेति अर्चिषो धूमकेतूनामुदये तथा हरितः धूम्रवर्णः कपिलः-अग्नि-सदृशवर्णः विनाशप्रदकेतोः ज्ञेयः ।

परन्तु सूक्ष्मविचारेण विकृतश्वेतादिवर्णैरपि विनाशचक्रं प्रवर्त्तते । निम्नाङ्कितवर्णैः शुभाशुभ-फलानि–

वर्णः	फलम् केतोः दृश्यवशात्
1. श्वेतः	– बुद्धिमन्तः विनश्यन्ति । शस्त्रविघ्नम् ।
2. रक्तः	– शस्त्रधारिणां विनाशः । अग्निभयम् ।
3. पीतः	– व्यवसायरताः वणिग्वृत्तयः । क्षुधावृद्धिः दुर्भिक्षं च ।
4. कृष्णः	– श्रमिकाः, रोगवृद्धिः ।
5. अन्यवर्णैः	– राष्ट्रमुख्यः म्रियते[10] ।

अधुना खगोलभौतिकसाहाय्येन वर्णपटलद्वारा बिम्बीयसंरचनाज्ञानं सरलमेव ।

केतोराकृतिविचारः

केतोराकृतिवशादपि शुभाशुभफलानि भवन्ति ।

आकृतिः	फलम्
1. वृक्षाकृतिः	विनाशः
2. मुशलाकृतिः	सुखवृद्धिः
3. दीर्घसूक्ष्मः	विकासः
4. ह्रस्वः	सुखवृद्धिः
5. स्थूलः	विनाशकः ।

एवं भूपृष्ठेः यत्रोदयः भवेत्तत्र यदि शीतमुष्णं निर्घातः पांशुवृष्टिः नीहारः भूमिकम्पः दिग्दाहस्तथोल्का-पातश्च । स्यात्तदा तत्सर्वं केतुनिमित्तमेव ।

केतवः न सदा शुभप्रदोऽपितु शुभफलान्यपि प्रयच्छन्ति ।

यदि केतूदयानन्तरं वातावरणं ग्रहर्क्षाण्यविकृतान्येव तिष्ठन्ति तदा शुभफल ज्ञेयम्–यथा मृदुलाः स्निग्धाः शुभा वाताः, स्वच्छमविकृतं वातावरणम्, निर्मलाः सकला दिशः, शान्ताः मृगविहङ्गाः, ग्रहाः स्फुटकिरणाः, नक्षत्राणि स्वप्रकृतिगतानि तदोदितकेतुः शुभप्रदः ज्ञेयः ।

केतोरधिपतित्वम्

उच्छ्रिताः प्राकाराः शृङ्गगिरिस्थाः, प्रत्यन्तवासनिरताः परच्छिद्रविशारदाः, मूर्खाः विज्ञानहीनाः निर्मर्यादाः परम्पराचारवर्जिताः, परदाररताः नीचाः दुष्टाश्च । एतान् केतोरधिपतित्वे विनिर्दिशेदिति काश्यपः ।

पर्वताः दुर्गाणि, पह्लवा मानवाः श्वेताः, हूणाः, चौलाः चोलप्रान्तीयाः । प्रत्यन्तनिग्रहेच्छाः व्यवसाय-पराक्रमोपेताः–व्यवसायेषु शीर्षस्थाः, परदाररताः कलहप्रियाः परदोषद्रष्टारः, अभिमानिनः, मूर्खाः धार्मिकाश्च । सर्वेषां पतिः केतुरिति वाराहः । एते केतुप्रभावेण सर्वाधिकप्रभाविताः भवन्ति । सायनसौरवर्षानुरोधेन संवत्सरे 6 ऋतवः भवन्ति ।

ऋतुचक्रा[11]नुरोधेनोदितकेतोः विचारः

राशयः	मासाः	ऋतवः	उदितकेतवः
1. मीन-मेषौ	चैत्रवैशाखौ	वसन्तः	कौवेरोद्भवाः ।
2. वृषमिथुनौ	ज्येष्ठाषाढौ	ग्रीष्मः	वायुकेतवः ।
3. कर्कसिंहौ	श्रावणभाद्रौ	वर्षा	वरुणकेतवः ।
4. कन्यातुले	अश्विनकार्तिकौ	शरदः	सूर्यकेतवः ।
5. वृश्चिकधनुश्च	मृगशीर्षपौषौ	शिशिरः	अग्निकेतवः ।
6. मकरकुम्भौ	माघफाल्गुनौ	हेमन्तः	यमकेतवः ।

गोलस्तु सायनः । ऋतुचक्रं सायनाधीयम् । परं नक्षत्रपुञ्जानि राशिचक्रं च गुरुत्वसम्बन्धेनाबद्धमपि स्वपुञ्जस्य स्वतन्त्रप्रभावं रक्षति । अधुना अयनचलनेन ऋतुचक्रं किञ्चित् पृष्ठगतं वर्त्तते[12] । न क्षरतीति नक्षत्रं परमेषां स्वतन्त्रगतिरपि वेदानां परिशीलनेन ज्ञायते ।

अयं संवत्सरस्य ऋतुसन्ध्यानुरोधेन केतूदयः विद्यते । भार्गवीयोक्तप्रमाणाददद्भूतसागरे वल्लाल-सेनः : वर्णयति । कौबेरवरुणकेतू शुभौ तथा वायुसौराग्नियमकेतवः कष्टप्रदाः ज्ञेयाः ।

तैत्तिरीयशतपथादिब्राह्मणेषु ऋतुचक्रानुरोधेन संवत्सराग्निविभागः परमाश्चर्योत्पादकः[13] । म. म. मधुसूदनओझामहोदयैः ज्यौतिषपिण्डानां वैज्ञानिकान्वेषणमपि द्रष्टव्यमस्ति[14] ।

कौवेरादीनां फलानि अद्भुतसागरे वर्णितानि । अत्र विस्तारभयान्न विवेच्यते ।

पूर्वाग्निदक्षिण-नैर्ऋत्य-पश्चिमवायूत्तरेशानोर्ध्वाधरश्च दश आशाः भूपृष्ठक्षितिजानुरोधेन कल्पिताः । तदनुरोधेन खगोलीयपिण्डाण्डानामुदयास्तौ स्वस्वक्षितिजानुरोधेन सम्पद्येत ।

शुभकेतूनां लक्षणानि

लघुबिम्बं प्रसन्नः निर्मलः दीप्तिवान् स्निग्धः सरलः शीघ्रमेवोदयोऽस्तमयश्च । श्वेतवर्णः क्षितिजादूर्ध्वमागत्य सद्योऽस्तमयः बालः केतूदयेऽभिवृष्टः शुभावहः भवति[15] । सुभिक्षं नाम सर्वतोभावेनानुकूलं वातावरणम् ।

अशुभकेतूनां लक्षणानि

उपर्युक्तलक्षणेभ्यो विभिन्नलक्षणानि न शुभप्रदानि । यस्यां कस्यां दिशि समुदिताः केतवोऽपि न शुभाः । विशेषतः धूम्रवर्णः वक्रः त्रिशूल-द्विशूलाकृतिः द्वित्रिशिखः वज्रसदृशोऽप्यरिष्टोत्पादकः भवति ।

सहस्राधिकाः केतवः स्वनामसदृशफलाः भवन्ति । न जाने पुरातनकाले केन प्रकारेण योगबलेन तन्त्रशास्त्रीयाष्टसिद्धिबलेन वा यन्त्रप्रयोगेण ते विश्वरहस्यं करतलगतामलकवदजाननिति न ज्ञायते ।

अनन्तब्रह्माण्डानि सन्ति । महाकालस्यापि सीमा न पारगम्या । दृश्यपिण्डाण्डेषु द्वादशादित्यकेन्द्रेषु प्रथमादित्यः स्वसौरमण्डलस्य नियन्ता पालकोत्पादकः भानुः एव । कथितमपि-सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति ।

सहस्रेषु प्रथमतः सूर्यादिसम्भवानां केतूनां स्वरूपलक्षणानि प्रभावाश्चाकल्यन्ते ।

केतुचारोऽपि विचित्रः भवति । अत्र नियताङ्कज्ञानमतीव दुष्करमेव ।

केतुविषये देवलस्य विचारः

सायन-चल-संपातात् स्थिर-संपातस्य अश्विन्यादेरन्तरांशवशान्निरयणनक्षत्र-पुञ्जानुरोधेन विचारः करणीयः ।

अष्टोत्तर-शतसंख्याकाः केतवः कृत्तिकादिपुञ्जे चोदयन्ति ।

	नक्षत्रपुञ्जम् यत्र केतवः दृश्यन्ते	भूस्थानम् क्षितिज-दिग्विभागः	सं.	केतु-नामानि	फलानि
1	कृ.रो.सौम्यसंज्ञक मृगशिरा. 1,2,3. 1×3×13-20= $000^0+39^0+1^0-0'0$ $=40^0$ मध्यमानेन 0 to 40^0-1 भागः	भूमध्य, पूर्वस्वतिक	15	आग्नेयाः	लोकनाशः उद्वेगः राजहानिः जनमरणम् रोगभयम्

2.	आ./पुन. पुष्य 4,5,6 $(40^{0})+(13^{0}-20\times3)$ $0=80^{0}$ $41^{0}-80^{0}-2$ भागः	भुवः पूर्वभागः	21	रौद्राः	दुर्भिक्षम् मरणम् रोगपीडा व्यर्थभ्रमणम्
3.	श्ले. म. पूर्वा-फा. 7-8-9 81^{0} to 160^{0}-3भागः	दक्षिण-पूर्वः अग्निकोणः	10	उद्दालकाः	सुभिक्षम्, क्षेत्रम् आरोग्यम्, सुवृष्टिः शस्यवृद्धिः
4.	उ. फा. हस्त-चि. 10-11-12 121^{0} to 160^{0}-4 भागः	दक्षिणभागः	3+14 =17	काश्यपेयाः	अनावृष्टिः प्रजाकष्टम् उग्रं वातावरणम्
5.	स्वा. वि. अनु. 161^{0} to 200^{0} 13-14-15-5 भागः	दक्षिणपश्चिमः नैर्ऋत्यकोणः	4	मृत्युसंभवाः	विविधं भयम् दुर्भिक्षम्, महामारी अनावृष्टिः भूतोपद्रवः
6.	ज्ये. मू. पू. षा. 16,17, 18 201^{0} to 240^{0}-6भागः	पश्चिमः	×	सोमसंभवाः सोमपुत्राः	सुभिक्षम्, सर्वत्रोत्सवः, सुवृष्टिः
7.	उ.षा. श्र. ध. 19-20021 7 भागः	पश्चिमोत्तरः वायुकोणः	25	माहेयाः	लोकसंक्षयः, राष्ट्राधिपतीनां विनाशः
8.	श. पू. भा. उ. षा. 22-23-24 8 भागः	उत्तराशा	3	ऊर्मिकेतुः श्वेतकेतुः धूम्रकेतुः	जलभयम्, युद्धभयम्, दुर्भिक्षमनाचारश्च, राष्ट्रभङ्गः
9.	रे. अ. भ. सर्वेऽष्टोत्तरसंख्याकाः भवन्ति । 9 भागः	ईशानकोणः पूर्वोत्तरः	13	यमपुत्राः	लोकसंक्षयः, चराचरविनाशः, चतुर्विधानां भूतानां क्षयः

अद्भुतसागरे पृ. 152 तः 54 यावत् वल्लालसेनदेवः–

"कृतिका रोहिणी..................संक्षयो जायते तदा ॥"

बृहत्संहितायामुपर्युक्तानां फलानि वर्गीकृतानि–

आग्नेयाः, रौद्राः, उद्दालकाः, काश्यपाः, मृत्युसंभूताः, सोमसंभवाः, क्षितितनयाः (भूमिजाः), वारुणेयाः, यमकेतवश्च पठिताः। एतेषां क्रमेणोदयफलानि नृपमरणं, क्षुद्भयं, शस्यक्षेत्रे त्वनावृष्टिः, क्षुच्छस्त्रम्, अनारोग्यं शस्यमुत्तमं, नृपमरणं, क्षुद्भयं, शस्त्रभयं च।

एते केतवः द्युलोकीयाः नक्षत्रमण्डलैः सम्बद्धाः सन्ति। एते नवविधाः केतवः कृत्तिकादिपुञ्जेषु पूर्वादिदिक्क्रमेण दृश्यन्ते।

एषां परिभ्रमणकालकक्षावृतं च बृहत्तमं विद्यते। गत्यन्तरानुरोधेनाकर्षणशास्त्रेण गतिविज्ञानेन, खगोलभौतिकेन चैषां परिभ्रमणकालः मार्गः बिम्बीयसंरचनाश्च ज्ञातुं शक्यन्ते हालीप्रभृतीनां केतूनां नव्यवैज्ञानिकानामन्वेषणं नव्यशास्त्रात् ज्ञेयम्।

अत्र सूर्यादिसम्भूतानां केतूनां विचारः संक्षेपेण क्रियते। ते च सौरचन्द्रभू–यम-ब्रह्मदण्डाख्याः सरूपशतकेतवः सन्ति। तत्र प्रथमतः–

1. आदित्यपुत्राः केतवः

ते च संख्यासु 25 भवन्ति। हारमणिः मुक्ताहारः सुवर्णसदृशकान्तिः दीप्तः किरणाख्यकिरणसंज्ञकः सशिखः भूपृष्ठक्षितिजे पूर्वगोलार्धे पूर्वस्वस्तिकात् 22 $^{1}/_{2}{}^{0}$ दक्षिणोत्तरेणैक- कालावच्छेदेनैकः दृश्यो भवति। स च सूर्यकेन्द्रसम्बद्धः मन्यते। यद्यप्येते पञ्चविंशतिः परमेक- कालावच्छेदेनेक उदेति। आदित्यसम्भवाः केतवः नृपतेर्विरोधावहाः कष्टप्रदाश्च भवन्ति[16]। एषां गर्गमतेन लक्षणानि "शुद्धस्फटिकसङ्काशाः मृणालरजतप्रभाः" सन्ति[17]।

सर्वेषां केतूनामष्टवर्णाः मन्यन्ते। ते च–

1 श्वेतः 2. रक्तः 3. पीतः 4. कृष्णः 5. हरितः 6. धूम्रवर्णः 7. कपिलः 8. वह्निः इति। प्राचीन-संहितासु वर्णानुरोधेन केतूनां फलानि पठितानि।

2. अग्निपुत्राः केतवः

अग्निकोणेऽग्निरूपाः 25 अग्निपुत्राः केतवः पूर्व-दक्षिणदिशि दृश्यन्ते। तेषां स्वरूपं शुकपक्षि-विशेषो नील-पीतवर्णः। अग्नि-रूपः। बन्धुजीवकः पुष्पविशेषोऽतिलोहितः।

लाक्षावृक्षनिर्यासः क्षतजं रक्तम्। तत्तुल्यवर्णाः। बन्धुजीवकः................पुष्पविशेषः[18] लोहितः रक्तवर्णः।

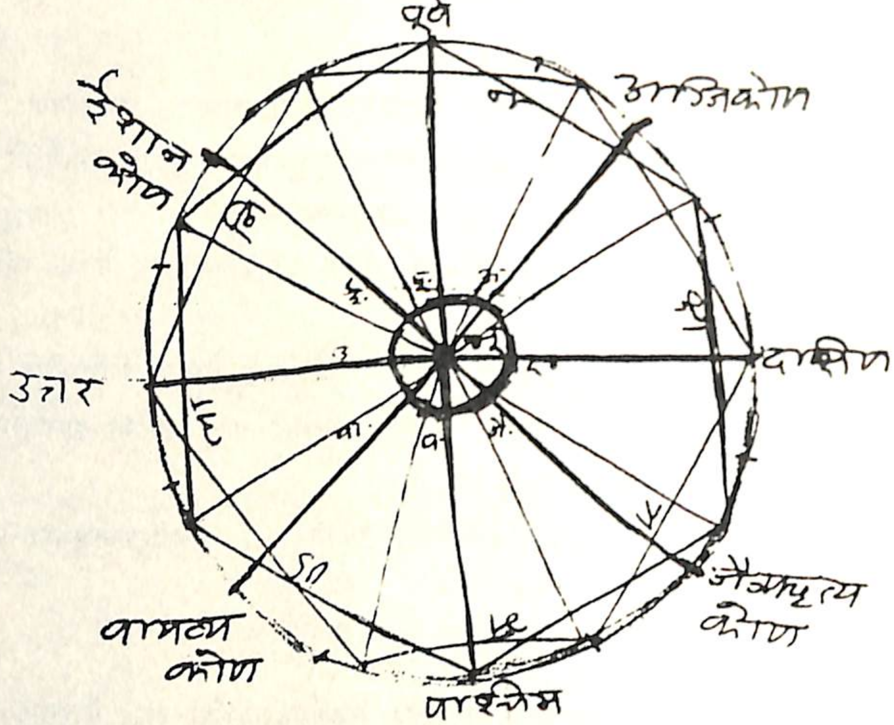

अग्निकोणे समुदिताः केतवः भयप्रदाः अग्निभयदाः भवन्ति । प्रायशः मार्गशीर्षे पौषे च वह्निपुत्राः केतव उदयन्ति । अग्निभयं, हरितपदार्थानां वनस्पतीनां विनाशः राष्ट्रेऽन्तःकलहः दुर्भिक्षस्य बाहुल्यं च ज्ञेयम् । परन्तु नहि सर्वत्र । उदितः प्रदेशः प्रभावितो भवति । कृतिका रोहिणीति मृगशिराःसंज्ञक-नक्षत्रेषु (पुञ्जेषु) अग्निपुत्राः प्रायश उदयन्ति । अग्निमण्डलाद् भूताः आग्नेयाः ज्ञेयाः[19] ।

3. यमपुत्राः केतवः

एषां पञ्चविंशतिसंख्याः पठिताः सन्ति । दक्षिणस्यां प्रायशः माघफाल्गुनमासे चोदयन्ति । वक्रशिखाः रुक्षाः ,अस्निग्धाः कृष्णवर्णाः-अश्वेतवर्णाः भवन्ति । एषामुदयैः प्रजाविनाशः दुर्भिक्षं कफजरोगाः ज्वरातिसाराश्च विशेषतः समुत्पद्यन्ते लोकेषु । अक्षिवेदना समुत्पद्यते । स्वाती-विशाखा-अनुराधा-रेवती-अश्विनी-नक्षत्र-पुञ्जेषु प्रायशः दृश्यन्त इत्याशयः[20] ।

4. भूपुत्रा द्वाविंशतिः केतवः

दर्पणवृत्ताकाराः विशिखाः सचूलाः किरणयुक्ताः अम्बुतैलनिभाः जलतैलसदृशकान्तयः द्वाविंशतिः भूमिपुत्राः केतवः भवन्ति । ईशानकोणे पूर्वोत्तरस्यामुदयन्ति । भूपुत्राणामुदयैः दुर्भिक्षं ज्ञेयम्[21] ।

5. चन्द्रसुताः केतवः

चन्द्ररश्मयः किरणाः । रजतं रूप्यम् । हिमं तुषारम् । कुमुदकुन्दकुसुमोपमाः–अर्थादतीवशुक्लो वर्णः । त्रयः केतवः चन्द्रपुत्रा उत्तरतो दृश्यन्ते । ते सुभिक्षावहाः भवन्ति[22] ।

6. ब्रह्मदण्डाख्यः केतुः

अथर्वमुनिमते 204 संख्याकाः । ब्रह्मसुतो ब्रह्मणः पुत्र एक एव । स च त्रिशिखस्त्रिचूलः त्रिशूलसदृशः । सितादित्रिभिः वर्णैरुपलक्षिताश्च शिखाः । ब्रह्मदण्डाख्यः युगान्तकरः भवति । अनियत-दिक्सम्प्रभवश्च भवति । अस्य परिभ्रमणकालः मार्गश्च सर्वाधिकं युगान्तकरः मन्यते[23] । एवं सरूपशतकेतवः मुख्यत्वेन वर्णिताः । खगोलीयदिग्विभागः, संख्या, प्रभावः उदयकालः, तत्त्वप्राधान्यं, वर्ण आकृतिश्च प्राप्यते । ते सर्वे 101 संख्याकाः भवन्ति । एवं च–

सौराः	25
आग्नेयाः	25
यमपुत्राः	25
भूपुत्राः	22
चन्द्रपुत्राः	3
ब्रह्मदण्डाख्यः	1

101 = केतवः भवन्ति ।

अतोऽग्रे नवशतानां केतूनां संक्षिप्तविचारः क्रियते । नक्षत्राणि स्वप्रकाशपिण्डानि ग्रहोपग्रहाः परप्रकाशप्रकाशिताः । भूस्थपदार्थेषु बहवोऽप्रकाशाः ।

अत्र तावत् ग्रहसम्बद्धकेतूनां विचारः क्रियते ।

1. शुक्रपुत्राः केतवः

ते चतुरशीत्याख्याः सौम्यैशान्योरुदयं यान्ति[24] । ते विपुलसिततारकाः विस्तीर्णाः शुक्लवर्णाः स्निग्धाः तीव्रफलाश्च भवन्ति[25] । एषामनिष्टफलानि ज्ञेयानि । दिग्भागः-पूर्वोत्तरः, उत्तरश्च ॥ संख्या-84, शुक्लवर्णः, पृथुलं बिम्बम् । तारात्रयविसर्पकाः वारुणनक्षत्रा एते 14 स्युरिति अथर्वणमुनिः।

2. शनैश्चरपुत्राः केतवः

संख्या–60, सर्वत्र सर्वासु दिक्षु दृश्याः । निर्मलाः दीप्तिमन्तः, द्विशिखाः कनकसंज्ञाः कनककेतवः । घोरास्तथातिकष्टप्रदाः भवन्ति । कदा उदयन्तीति न निर्दिष्टम्[26] ।

3. गुरुसुताः केतवः

संख्या-65 दक्षिणदिक्स्थाः श्वेतवर्णाः एकतारकाः, स्निग्धाः निर्मलाः विकचा नाम गुरुसुताः शिखाविहीनाः पापाः पापफलप्रदाः भवन्ति[27] ।

4. **बुधपुत्राः केतवः**

संख्या 51 यथेष्टदिक्प्रभवाः । बुधजाः । तस्करसंज्ञाः सर्वासु दिक्षु दृश्यन्ते । नातिव्यक्ता, नातिस्फुटाः, सूक्ष्मा लघुबिम्बाः, पापफलाः अनिष्टवर्धकाः पाण्डुवर्णाः सूक्ष्मरश्मयश्च ज्ञेयाः[28] ।

5. **भौमपुत्राः केतवः**

संख्या-60, कुंकुमवर्णाः अतिलोहिताः अनलरूपाः त्रिशिखाः, उत्तरसंस्थिताः उत्तरस्या दृश्यन्ते । ते कुजात्मजाः पापफलप्रदाः भवन्ति[29] ।

6. **राहुपुत्राः केतवः**

संख्या-33 रविशशिगाः सूर्यचन्द्रमण्डलस्था दृश्यन्ते[30] । तामसकीलकसज्ञाः । ते प्रायशः कष्टप्रदाः भवन्ति । सूर्यचन्द्रयोर्मण्डले च ध्वाङ्क्ष-कबन्ध-प्रहरणरूपाः दृश्यन्ते । सूर्यमण्डले पापफलाः, चन्द्रमण्डले सौम्याः । कदाचित् राहुपुत्राणां सूर्यचन्द्रमण्डलगतोदयैश्च रूपाप्यम्भः कलुषमाकाश रजोवृतम् । चण्डः मारुतः ऋतुविपरीतलक्षणानि । पर्वतानां वृक्षाणां शिखराणामग्राणि च मर्दयन्ति । अरण्यपशवः पक्षिणश्च सूर्याभिमुखदीप्तास्याः कर्कशध्वनिं कुर्वन्ति । दिग्दाहः निर्घातः भूमिकम्पादय उत्पाताः जायन्ते । उल्कापातस्याधिक्यं च जायते । नृपविरोधः ज्ञेयः ।

केतवः	संख्या
शुक्रपुत्राः	84
शनिपुत्राः	60
गुरुपुत्राः	65
बुधपुत्राः	51
भौमपुत्राः	60
राहुपुत्राः	33
केतवः	353 ग्रहगोलीयाः पठिताः ।

एवमृतुचक्रानुरोधेन खगोलीयदिग्विभागेन च अग्निपुत्राः केतवः 120 वायुपुत्राः केतवः 77 प्रजापतिसुताः केतवः 204, वरुणपुत्राः केतबः 32, कालपुत्राः केतवः 96 वर्णिताः ''अग्न्यादिमण्डलैः सम्बद्धाः सन्ति ।

अग्निपुत्राः	120
वायुपुत्राः	77
प्रजापतिसुताः	204
वरुणपुत्राः	32
कालपुत्राः	96
केतवः	529

यथा वाराहः[31]–

1. अग्निपुत्राः केतवः

संख्या 120 विश्वरूपसंज्ञाः ज्वालामालाभिराकुला मूर्तयः नानावर्णाः सशिखाः घोरास्तथाग्नि-भयप्रदायकाः ।

2. वायुपुत्राः केतवः

संख्या 77 अरुणसंज्ञाः श्यामलोहितवर्णाः तारकवर्जिताः चामररूपाः व्याक्षिप्तरश्मयः रूक्षाः पापफलाः दिङ्नियमरहिता अर्थात् सर्वासु दिक्षु दृश्याः भवन्ति[32] । अथर्वमुनिमते 60 संख्याकाः वायुपुत्राः पाण्डुवर्णाः सशिखाः शीतरश्मयः ।

3. प्रजापतिपुत्राः केतवः

संख्या 208 गणकनामका नक्षत्रपुञ्जसदृशाः चतुरस्राकाराः श्वेतरश्मयः सशिखाः ब्रह्मजाः केतवः भयदाः स्युः[33] ।

4. वरुणपुत्राः केतवः

संख्या 32 वंशगुल्माकृतयः पृथुला महान्तः पूर्णरश्मयः कंकाख्याः चन्द्रकान्तयः अनियतदिक्-सम्प्रभावाः सुस्निग्धाः सौम्यदर्शनाः कष्टफलाश्च भवन्ति[34] ।

5. कालपुत्राः केतवः

संख्या 96 कबन्धसंज्ञाः कबन्धसस्थानाः छिन्नशिरः पुरुषाकृतिः विरूपताराः सशिखाः अनियत-दिक्सम्प्रभवाः घोराः लोके मृत्युकराः पुण्ड्राणामभयदाश्च सन्तिऽ[35] । सहस्रकेतूनां एवं लक्षणानि प्राप्यन्ते ।अतोऽग्रे विशेषलक्षणं कथ्यते–

1. वसाकेतुलक्षणम्

एषु केचित् दृश्यन्ते न सर्व एव । उत्तरस्थः, आयतो दीर्घः । महत् बिम्बम् । स्निग्धः पश्चिमायां दिशि उदयं याति । स च नाम्ना वसाकेतुः सद्य एव मारकं करोति । शुभलक्षणैः सद्यः सुभिक्षं कुरुते[36] ।

2. अस्थिकेतुः

वसाकेतुवल्लक्षणानि । पृथुलः रुक्षः दुष्टश्च क्षुद्भयावहः दुर्भिक्षप्रदः । स्निग्धः प्राच्यामुदयं याति । शस्त्राख्यः शस्त्रकलहं मरणं च करोति[37] । संख्या 26 उदयैः फलमावेदयन्ति । तत्र वसाकेतुः स्निग्धो महानुदगायतशिखस्त्रिंशतवर्षशतं प्रोष्य संप्लवे युगे पश्चिमोदितः सद्यः मारकफलः सौभिक्षकस्तु । इति पराशरः ।

3. कपालकेतुः

अमावस्यायां पूर्वस्यां दिशि उदेति । स धूम्ररश्मिशिखः । धूम्रवर्णः । आकाशस्यार्धं यावत् गच्छति । दुर्भिक्षं रोगमनावृष्टिं च करोति[38] । पराशरमतेऽयमादित्यजः नभसोऽर्धचरो दृश्यते । 2500

वर्षात्मकः चारः । पञ्चविंशवर्षशतं प्रोष्य त्रींश्च पक्षानमृतजस्य कुमुदकेतोश्चारान्ते स दृष्ट एव दुर्भिक्षानावृष्टिव्याधिभयमरणोपद्रवान् सृजति ।

4. रौद्रकेतुः

अयं पूर्वस्यां दिशि वैश्वानरमार्गे दहनवीथ्यां दृश्यते । पूर्वाषाढोत्तराषाढ़योः समीपे शूलाग्रः त्रिशिखः ताम्रवर्णः रुक्षः । आकाशस्य तृतीयांशमतिक्रामति । अस्य फलं कपालकेतुसदृशम् । अयं रुद्रक्रोधसम्भूतरुद्रकेन्द्रसम्बद्धः । मणिकेतोश्चारान्ते 300 वर्षाणि 9 मासान् प्रोष्योदयते पूर्वेण इति पराशरः[39] । ज्येष्ठामूलमनुराधापुञ्जस्य मार्गे दक्षिणाभिनतां शिखां घोरां भयङ्करीं शूलाग्रसदृशीं तीक्ष्णां ताम्रारुणप्रभां कृत्वा चरति । त्रयोदशे मासे दुर्भिक्षमेव फलमिति वृद्धगर्गः[40] । अर्थात् 300 वर्षानन्तरमुदेति रौद्रकेतुः ।

5. चलकेतुः

अस्य पश्चिमोदयः । याम्यदिशिनता शिखा स्वल्पदीर्घा भवति । यथा-यथा उत्तरस्यां गच्छति तथा-तथा शिखा दीर्घतामेति । अयं सप्तर्षियावत् गत्वा ध्रुवं तथाभिजितं नक्षत्रं च संस्पृश्य ततः प्रतिनिवृत्तोऽकाशस्यार्धभागमतिक्रम्य दक्षिणस्यां दिशि अस्तंगतो भवति ।

प्रयागादारभ्य अवन्तीं चोज्जयिनीं तथा पुष्करारण्यं यावत् क्षेत्रं तथोत्तरस्यां देविकां नदीं मध्यदेशं च नाशयति । अन्यान् देशानपि दुर्भिक्षैः नाशयति न सर्वत्र । अस्य दशमासान् यावत् परिपाकः । तदनन्तरं फलं घटते । अयं चलकेतुः पैतामहः पञ्चदशवर्षशतं 1500 प्रोष्योदितः पश्चिमेन, शिखां दक्षिणाभिगतां कृत्वा जलकेतोश्चारान्ते नभसस्त्रिभागमनुचरन् यथा-यथा चोत्तरेण व्रजति[41], तथा-तथा शूलाग्रकारां शिखां दर्शयन् ब्रह्मनक्षत्रमुपसृत्य ध्रुवं, ब्रह्मराशिं सप्तर्षीन् स्पृशन्-आकाशस्यार्धमात्रं दक्षिणमनुक्रम्यास्तं व्रजतीति पराशरः । भूमिकम्पः भूयिष्ठं जनपदमनवशेषं कुरुते[42] । 1500 शतवर्षानन्तरमुदेति चलकेतुः ।

6. श्वेतकेतुः

अयं केतुः प्राक् पूर्वस्यां दिशि अर्धरात्रदृश्यः । दक्षिणदिक्शिखः । अन्यश्च कनामा केतुः । अपरे पश्चिमायां दृश्यते, तौ च द्वावपि युगपत्तौ सप्त दिनानि दृश्येते । द्वावपि स्निग्धौ दृष्टौ च सुभिक्षशिवदौ भवतः । यः कनामा स च यदि सप्तेभ्यो दिनेभ्योऽधिकं दृश्यते तदा दशवर्षाणि शस्त्रप्रकोपमुत्पातं च जनयति[43] । पराशरमतेन[44] अथौद्दालकः श्वेतकेतुः दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य भटकेतोश्चारान्ते पूर्वस्यां दिशि दक्षिणाभिशिखोऽर्द्धरात्रकाले दृश्यः । शेषं पूर्ववत् ।

7. श्वेतकेतुः[45]

काश्यपः श्वेतकेतुः जटाकारः रुक्षः कृष्णवर्णः आकाशे भागत्रयं गत्वा ततो वामभागे विनिवर्तते । प्रजानां तृतीयांशं संहारयति । अस्यापि पूर्वोदयः ।

अथ काश्यपः श्वेतकेतुः 1500 वर्षाणि प्रोष्यैन्द्रांशः सहजस्य पद्मकेतोश्चारान्ते श्यामवर्णः रुक्षः आकाशस्य त्रिभागमतिक्रम्य ततो वामभागे निवृत्योर्ध्वं प्रदक्षिणः जटाकारशिखः । स यावन् मासान्

दृश्यते तावद्वर्षाणि सुभिक्षमावर्हति मध्यप्रदेश-आर्यगणानामौदीयैश्च भूयिष्ठं बहुशस्त्रिभागशेषां प्रजामवशेषयतीति पराशरः[46]।

अस्य आवृत्तिकालः 1500 वर्षाणि।

8. रश्मिकेतुः

अधूम्रवर्णः शिखयायुक्तः कृतिकानक्षत्रपुञ्जसंस्थितः स च श्वेतसमानं फलं ददाति[47]। वर्षशतानन्तरमावर्तकेतोश्चारान्ते कृतिकापुञ्जसन्निधौ धूम्रशिखः रश्मिकेतुरुदेति। इति पराशरः[48]।

9. अथ ध्रुवकेतुः

अनियतगतिः प्रमाणं स्थूलसूक्ष्ममध्यमं वर्णः शुक्लकृष्णादिः सर्वासु दिक्षु उदेति। स च दिव्यान्तरिक्षभौमस्त्रिकारकः नानाकारः स्निग्धः शुभफलप्रदायकश्चेति वराहः[49]।

अथानियतदिक्कालरूपवर्णप्रमाणसंस्थानो ध्रुवकेतुः पराभवमिष्यतां देशानां राज्ञां जनपदानां वृक्षपुरपर्वतवेश्मध्वंजपताकाशस्त्रवर्मायुधवरणरथनागोष्ट्रपुरुषशयनासनभाण्डेषु वा दृश्यते। स च स्निग्धः दक्षिणशिखः गोगजाजनागवीथीश्चोत्तरेण व्रजन् सुभिक्षं करोति। दशैकविंशतिद्विषष्टिशतधा वा मुनयो ध्रुवकेतोः दर्शनमिच्छन्ति। तस्य प्रागुदयनिमित्तानि। अवनिचलनम्। अग्नेः प्रभामान्धम्। प्रधूपनं दिशाम्। शीतोष्णविपर्णयः। अतिरूक्षवायुसम्भवश्चेति पराशरः[50]। एते नक्षत्रमण्डलैः सम्बद्धाः सन्ति। पठितलक्षणानुरोधेनैषां ज्ञानं नव्यखगोलभौतिकशास्त्रेण कर्त्तुं शक्यते। पूर्व-ऋषिभिः कथमेतेऽन्वेषिताः न ज्ञायन्ते।

1. अथ कुमुदकेतुः

स च कुमुदकान्तिः श्वेतवर्णः पश्चिमायां दिशि प्राक्शिखः रात्रिमेकां दृश्यते। स तु दृष्टो दशवर्षाण्यतुलं सुभिक्षं करोतीति वाराहः[51]।

अथामृतजाः केतवः

कुमुदो मणिः, जलोद्भवः पद्मः, आवर्तः ऊर्मिः, शंङ्खः। हिमः, रक्तः, कुक्षिः, विसर्पणः शीतश्चेति। तत्र कुमुदकेतुर्वसाकेतोश्चारान्ते वारुण्यां दर्शनं याति। धवलश्वेतः स्निग्धः पूर्वेणाभिनतशिखः रात्र्यैकचरः। स दृष्ट एव दशवर्षाणि सुभिक्षमुत्पादयति। पश्चिमस्थानां च मुखरोगारोचकप्रतिश्यायपाण्डुरोगजननैः प्रजा बाधत इति पराशरः[52]।

2. मणिकेतुः

पश्चिमायां दिशि सुसूक्ष्मतारा एकवारं चतुर्थयामे रात्र्यन्ते प्रायः दृश्यते। स्पष्टा शिखा श्वेतवर्णः। उदयमात्रेण 5 1/2 मासान् क्षेमं करोति। क्षुद्रजन्तूनां नकुलादीनां प्रादुर्भावं करोतीति वाराहः[53]। मणिकेतुरपि कपालकेतोश्चारावसाने पश्चिमायामुदेति। अरुन्धतीतारकमात्रमेव प्रमाणः श्वेतवर्णः पूर्वाभिनतस्निग्धशिखः रात्रौ त्वेकप्रहरं दृश्यः। मणिकेतुफलं वराहवत्। इति पराशरः[54]।

3. अथ जलकेतुः

पश्चिमायां दृश्यः स्निग्धः पश्चिमोन्नतशिखः । स च दृष्टः नव मासान् सुभिक्षं करोति[55] । अयं पैतामहजः । उदिते √ मासानन्तरं सुभिक्षं करोति । पश्चिमोदितः स्निग्धः सुजातोऽनुपश्चिमाभिनतशिखः । अयमन्येषां ग्रहाणामरिष्टफलानि नाशयतीति पाराशरः[56] ।

4. भवकेतुः

एकस्यां रात्रौ पूर्वक्षितिजे सूक्ष्मतारकः स्निग्धः क्वचित् सशिखः सिंहपुच्छसदृशः । प्रदक्षिणावर्त्तः–क्षणं यावत् दृश्यः । क्षणमितमासान् सुभिक्षं कुरुते । रुक्षे तु प्राणान्तिकान् रोगान् प्रयच्छति[57] । अयं सुदूरः बृहत्तमोऽपि लघुपरिमाणेन क्षणं यावत् दृश्यः भवति ।

अथ जलकेतोः कर्मसमाप्तावूर्म्यादयः शीतान्ता अष्टौ प्रादुर्भूता भवन्ति । ते 13-14-18 वर्षान्तरिता दृश्यन्ते । स्निग्धाः सुभिक्षक्षेम्या विपरीताः क्षुद्रजन्तूनां वधाय । एषामष्टानां चारान्ते भवकेतुः दृश्यते । कृतिकापुञ्जारम्भस्थाने तत्प्रमाणेन स्निग्धः सिंहपुच्छसंस्थानेन प्रदक्षिणनताग्रः सशिखः मुहूर्त्तं यावत् दृश्यः । रुक्षे पूर्ववदनिष्टं फलमिति पाराशरः[58] ।

5. अथ पद्मकेतुः

पश्चिमायां दिशि निशामेकां दृश्यते । मृणालगौरवर्णः तद्वत् श्वेतः । स दृष्टः 7 वर्षाणि हर्षयुक्तं सुभिक्षं करोति[59] । पद्मकेतुः श्वेतकेतुचारान्ते पश्चिमक्षितिजे श्वेतवर्णः–सशिखः रात्रिमात्रं दृश्यः सप्तवर्षाण्यतिसुभिक्षकरश्चेति[60] ।

6. आवर्त्तकेतुः

पश्चिमक्षीतिजे दक्षिणाग्रशिखः । अरूपवर्णः स्निग्धः क्षणं यावत् दृश्यः । क्षणमितमासान् सुभिक्षमावहति[61] । श्वेतकेतुचारान्ते रक्तवर्णः प्रदक्षिणयाग्रशिखः दृश्यते[62] ।

7. संवर्त्तकेतुः

पश्चिमक्षितिजे सन्ध्यासमये धूम्रताम्रवर्णः सशिखः स्वल्पकालं यावत् दृश्यते । आकाशस्य त्रिभागमतिक्रामति । शूलाग्रशिखश्च रौद्रः भयावहः । यावत्[63] दृश्यक्षणमितवर्षाणि दुर्भिक्षं राष्ट्रविप्लवः राजनाशश्चेति । अस्यावृत्तिकालः।1008 वर्षाणि। यानि नक्षत्राणि धूपयति यत्रोदेति तदाश्रित-देशान् दारुणतरं पीडयति[64] । धूम्रकेतुः संवर्त्तकेतुश्च युगपदुदितौ भवतः केतुमालकेतोश्चारान्ते । दारुणफले पश्चिमदिशि सूर्यास्तानन्तरं दक्षिणाभिनया दीर्घशिखया भीमरूपे प्रदोषार्ध दृश्येते । महर्घं राजध्वंशादिफलं पूर्ववत्[65] ।

धूम्रकेतवः–101 कृष्ण लोहितश्च वर्णः घोराः ।

व्यालकेतवः–67 पथुलाः-उत्तरगोलार्धे दृश्यः दीप्तः सर्वदिक्विकचसंज्ञः ।

ब्रह्मराशिपुत्राः केतवः–1,2,5 सूक्ष्मरश्मयः सर्वदिक् पुरुषनाशकाः आनुरेयाः केतवः 60 कनकवर्णा; दीप्ताः मध्यरात्रौ दृश्याः कष्टप्रदाः । एषां लक्षणानि विस्तारभयान्न विवेच्यंते[66] ।

मृत्युकालसूर्यब्रह्मरौद्रभौमराहवाग्निवायुपुत्राः केतवः–प्रायशः दारुणाः कष्टप्रदाश्च भवन्ति ।

प्रजापतिरधर्मस्य सोमवरुणदिशां (पूर्वादिः) विदिशां (अग्निकोणादि) च पुत्राः केतवः मिश्रित-फलदायकाः ।

कश्यपमरीचेरुद्दालकपुत्राः केतवः सौम्याः शुभफलदायकाश्चेति वल्लालसेनदेवः[67] ।

एकोत्तरशतानां केतूनां चैकादश जातयः पाराशरेण पठिताः[68] । प्रत्येकानां नामान्यपि वृद्धगर्गेण प्रदत्तानि[69] ।

अथाग्निकेतुः—पद्मकिञ्जल्कवर्णः ज्येष्ठापुञ्जे चोदगयनेऽग्निकोणे 15 दिनानि दृश्यते । अस्या-वृत्तिकालः 6 वर्षाणि । $5^1/_2$ वर्षाणि दुर्भिक्षं करोति । अयं दीप्तः भवति[70] ।

अथ गदाकेतुः—गदासन्निभः मार्गशीर्षदर्शे चोदयः । आदित्यरौद्रसार्पाणि बार्हस्पत्यं च नक्षत्रपुञ्जम् । कोष्ठागारशिखः—धूमयनाग्निवर्णः । दृश्यदिनैरशुभानि ज्ञेयानि । गान्धारकाशीचीनशकदारदशवरपुलिन्द-सूर्पकर्णादयः प्रदेशा अन्त्यजाश्च विशेषतः प्रभाविताः भवन्ति[71] ।

अपरेऽपि केतवः दिव्यान्तरिक्षभौमाः गणनाशक्यत्वात् न प्रदर्शिताः[72] ।

प्रजापतेश्चत्वारः पुत्राः न दृश्यन्ते । एवं बहवः सुदूरत्वान्न दृश्यन्ते तेऽत्र न वर्णिताः । इति वृद्धगर्गः ।

दिव्यानां केतूनामावर्त्तकालः सर्वाधिकस्तत आन्तरिक्षानां ततः भौमानां च भवन्ति । अन्तरिक्षे धूमो ज्वाला च सम्पद्यते तदा दिव्यस्ताराश्रितः स आन्तरिक्षकेतुस्स्मृतः । भौमोद्भवानां लक्षणानि संहितासु सम्यक् वर्णितानि[73] । नक्षत्रचक्रपरिवर्त्तनात् केतूनामुदयाः ज्ञेयाः[74] । अत्र नक्षत्रचक्रस्य नैसर्गिकगतिः मन्दोच्चगतिरयनगतिश्च कारणम् ।

नक्षत्रकूर्मपृष्ठविभागे भूपृष्ठदेशानामधिपतित्वं प्राचीनप्रदेशानां नामानि च वर्णितानि । एषां नवीननामान्यन्वेषणगम्यानि सन्ति । संहितासु कूर्मपृष्ठविभागः देशाभिप्रायेण फलनिरूपणं दृश्यते ।

अथ केतूनामशुभत्वे किंचित् विचार्यते

अशुभकेतूनामुदयैः क्षुधारोगमृत्युशस्त्राग्नितस्करैः पशुशस्योपघातैः दुर्भिक्षं ज्ञेयम् । धूपनात्-स्पर्शनात्-उदयास्तात्-स्थानविशेषात् केतूनां फलानि ज्ञेयानि । उल्काभिः ताडितशिखः केतुः चोलावगाणसितहूणचीनानामशुभाय[75] ।

यस्मिन्नक्षत्रपुञ्जासन्ने समुदितः रुक्षः स ज्वाललोहितः बहुमूर्त्तिः यं नक्षत्रं धूपयेद्वा स्पृशेत्तदा तदा-श्रयान् देशान् तन्नक्षत्राश्रयान् जनान् हन्यादिति पराशरः[76] ।

व्यक्तिनक्षत्रं चान्द्रं ज्ञेयम् । विश्वाभिप्रायिकविचारे सौरं ग्राह्यम् ।

अत्र नक्षत्राश्रितदेशानुरोधेन केतूदयफलानि वराहमतेन दीयन्ते—अशुभकेतूनामुदयैः तद्देशस्थाः मानवाः नृपतिः चराचराणि च विनश्यन्ति । यथा—[77]

नक्षत्रम्	प्रदेशः	नक्षत्रम्	प्रदेशः
1. अ.	अश्मकः	2 भ.	किरातः
3. कृ.	कलिङ्गः	4 रो.	शूरसेनः
5. मृ.	औशीनरः	6 आ.	जलजाः
7. पुन.	अश्मकः	8 पु.	मगधः
9. श्ले.	असिकेशः	10 म.	अङ्गः
11. पू. फा.	उज्जैनः	12 .उ.फा.	दण्डकारण्यम्
13. ह.	सर्वाणि क्षेत्राणि	14. चि.	कुरुक्षेत्रम्
	कश्मीरः		
15. स्वा.	कम्बोजः	16. वि.	इक्ष्वाकुकुलम्
17. अनु.	पुण्ड्रः	18. ज्ये.	अलकाप्रदेशः
19. मू.	आन्ध्रः-मद्रः	20 पू. षा.	काशीप्रदेशः
21. उ.षा.	यौधेयकाः-अर्जुनायनम्	22 श्र.	केकयः
	शिविः	24. श.	सिंहलः
23, ध.	पाञ्चनदः पाञ्चालः	26. उ.भा.	नैमिषारण्यम्
25. पू.भा.	वङ्गः		
27. रे.	किरातः		

अत्र प्राचीनभारतान्तर्गतसर्वे प्रदेशाः समागच्छन्ति । कूर्मपृष्ठविभागात् समस्तविश्वस्य भौगोलिकं विवरणमन्वेषणगम्यम् । पौराणिकभूगोलस्य प्रचलितभूगोलेन सह तुलनया नवीननामानि ज्ञायन्ते ।

मृदुध्रुवोग्रक्षिप्रसाधारणदारुणसंज्ञकनक्षत्रेषु तत् सदृशं शुभाशुभं यथासंज्ञं यथा देशं यथा वर्णं यथा वर्गं परिग्रहं च सर्व एवोदिताः सन्तः केतूनां फलानि ज्ञेयानि[78] ।

गर्गेणापि नक्षत्रदेशसम्बन्धानुरोधेन केतूदयवशात्–फलानि प्रदत्तानि[79] । अभिजितं ध्रुवं शतभिषां श्लेषां च यदि स्पृशेत्तदा दुर्भिक्षं वृष्टिनाशश्च[80] ।

यस्मिन् देशे शिरस्तत्र पीडयते । मध्ये मध्ये पीडा पुच्छे जयश्च[81] । 'यत्र केतोः शिखा दीप्ता तद्देशं नृपतिरभियुञ्जीत्[82] ।

यतो धूमस्तत उद्वेगः यत्र ज्योतिस्तत्र जयः । यतः स्थानं तत्र कष्टम् । यां दिशं धूपयेत् तत्राभिमुखो व्रजेत् युद्धे यात्रायां च । यस्यां दिशं प्रतिष्ठेत् तां स हन्ति विशेषतः[83] । एवं बृ. सं. अद्‌भुतसागर, मयूरचित्रक, समाससंहिता-वटकर्णिका-उत्पात-तरङ्गिणी-महाभारत-पुराणादिषु केतुचारानुरोधेनानेकानि प्रमाणान्याख्यानानि च प्रतिपादितानि सन्ति ।

केतोः शुभाशुभफलानि पक्षत्रयान्तरमुदितक्षणदिवसमासानुरोधेन ज्ञेयानि ।

अथर्ववेदे केतोः शान्त्यर्थं निमित्तानि विधानानि प्राप्यन्ते । मयूरचित्रकेऽपि शान्तेः वचनानि सन्ति । अश्वत्थवृक्षस्य समिधा तथा 'विष्णोरराटमसि' मन्त्रेणापि शान्तिः क्रियते[84] ।

अभिषेकनक्षत्रं जन्मनक्षत्रं कर्मनक्षत्रं देशनक्षत्रं च ज्ञात्वा केतुप्रभावितनक्षत्रानुरोधेन शान्तिः कार्येति पराशरः[85] ।

यद्यपि प्राचीनप्रयोगशास्त्राणि ज्यौतिषायुर्वेदयोगतन्त्रकल्पशास्त्राणि च विशिष्टानि सन्ति परं प्रयोगात्मकानि विधानानि कालप्रभावैः लुप्तासन्नगतानि । यानि विधानानि गम्यानि सन्ति तैः पुनः; प्राचीनप्रमाणानां क्रमशः परीक्षणं कर्त्तुं शक्यते ।

नव्यखगोलभौतिकशास्त्रेण बिम्बीयसंरचना ज्ञायते । परं जैवप्रभावः नाकल्यते । जीवनपोषक-विनाशकतत्वानां च ज्ञानं विना कथं समन्वयः । खगोलीयपिण्डानां जैवीयप्रमाणः वनस्पतिगतप्रभावः पदार्थगतप्रभावश्च प्राचीननवीनक्रमयोः सम्मेलनेन प्रक्रियात्मकज्ञानेन तथा प्रयोगद्वारा सिद्ध-निष्कर्षानुरोधेन पुनः परीक्षणीय एव । प्राचीनानामाख्यानानि सिद्धनिष्कर्षश्च विज्ञानस्योच्चाधारेण सम्बद्धः वर्त्तते । विश्वस्य बहवः वैज्ञानिकाः सत्यमिदं स्वीकुर्वन्ति । बिम्बपरिमाणं, दूरत्वं बिम्बीय-संरचना आवृत्तिकालः सर्वं खलु परम्परागतप्रयोगेण ज्ञायते । महदावृत्तिकालः न व्यक्तिगम्यः ।

प्राचीनाख्यानानुरोधेन गुरुत्वाकर्षणप्रकाशनित्या च खगोलभौतिकसाहाय्येन संस्थानमानप्रतिपादनं बिम्बीयसंरचनाज्ञानं रसायन-जीव-वनस्पतिविज्ञानेन च जैवप्रभावज्ञानं भूगर्भादिविज्ञानेन भौमगत-परिवर्त्तनं प्रयोगगम्यं विद्यते । नवीनकालेऽपि सर्वविधविकासस्य मूलं गणितं खगोलं खगोलभौतिकं हि विद्यते । आधुनिकतमयन्त्रैः प्राकृतिकचक्रमवलोक्य नवीनविधानात्मकं शास्त्रं पल्वितं भवति ।

प्राचीनकालेऽपि योगतन्त्रध्वन्याश्रित- (Radio Astronomy) गुरुत्वाश्रित- (Gravitational Astronomy) ज्यौतिषशास्त्रादिभिः गणिताधारेण च पिण्डाण्डानां प्रभावाः पठिताः । अन्यथा विश्वरहस्यं कथं दृष्टं निर्धारितमिति विचारणीयः प्रश्नः । 'समस्तवैदिकसाहित्यमत्यद्भुतमपि समष्टि-गतान्वेषणाभावादाख्यानात्मकं संजायते । तद्गतविशिष्टविधानं कल्पनात्मकं विभाति । परं तन्न सत्यमुभयशास्त्रमर्मज्ञेभ्यः । भास्करात् परं जयसिंहः सामान्तचन्द्रशेखरः म. म. मधुसूदनओझा, वल्लालसेनदेवः प. दीनानाथशास्त्री-प्रभृतयः प्राचीनशास्त्राणां प्रयोगात्मकविधानान्यन्वेषितवन्तः । परं सा धारा पुनरवरुद्धा जाता ।

स्वतन्त्रभारते पुनः प्रयासः प्रचलति परं खण्डाभिप्रायेण न तु समष्टिरूपेण । नवीनयन्त्राण्यपि न्यूनान्येव । प्रायशः नवीनान्वेषकाः संस्कृतशास्त्रानभिज्ञाः सन्ति । प्राचीनशास्त्रज्ञाः यन्त्रप्रयोगानभिज्ञाः वर्त्तमानपरिप्रेक्ष्ये दृश्यन्ते । फलतः समन्वयकपक्षः न स्थाप्यते । डॉ. जगदीशचन्द्रवसुः मेघनाथसाहा-प्रभृतिभिः या परम्परा संस्थापिता साऽपि नाग्रे प्रसरति । समन्वयात्मकमन्वेषणं विना पूर्वप्रमाणानां साम्प्रतिकत्वं न साध्यमिति विस्तृतप्राचीननवीनशास्त्राणि च दृष्ट्वा स्वयमेव ज्ञायते । विशेषतः प्राचीनभारतीयज्यौतिषे विस्तृतं संहिताशास्त्रं वैज्ञानिकमत्यद्भुतं प्रयोगगम्यं परं न व्यक्तिसाध्यम् ।

प्राच्यविद्यामर्मज्ञराजनीतिशास्त्रविशारदज्योतिर्वैज्ञानिकानां डॉ. सम्पूर्णानन्दमहोदयानां जन्मशताब्दी-समारोहावसरे तेषां चरणकमलयोः स्वाल्पप्रयासं समर्पयन् कालशास्त्रस्य समन्वयात्मकविकासाय निवेदयामि । अलं विस्तरेण ।

●

1. वेदाङ्गज्यौतिषम्-लगधः ।
2. कोणार्कस्य सूर्यमन्दिरम् । लौरीयास्थितधातुस्तम्भः । शतपथब्राह्मणस्य विवरणानि प्रमाणानि सन्ति ।
3. बृ.सं. के. चा., आ. 11 श्लोक. 2
4. अहुताशेऽनलरूपं.........मणिरत्नादीन् परित्यज्य ॥ 3 ॥
5. ध्वजभवनतरु.............. स्युरतोऽन्यथा बृ.सं. अ. 11 पृ. 3 वाराहः ॥ शिखिनः ॥ बृ. स. अ. 11 पृ. 4.
6. शतमेकाधिकमेके सहस्रमपरे............नारदः केतुम् ।

बृ. स. आ 11 पृ 5 वाराहः

7. बृ. सं. अ. 11 पृ. 10 तः 15मा, अद्भुतसागरे पृ. 166-67 वल्लालसेनः ।
8. द्वादशादित्या एकादशरुद्रा-अष्ट वसवः द्वौ-अश्विनौ । एवं त्रयत्रिंशत् देवकेन्द्राणि त्रयत्रिशत्कोटिपु विभक्तानि नक्षत्राणि वै देव गृहाणि-इति तैत्तिरीयसंहिता ।
   देवता । विशेषविवरणानि संहितासु द्रष्टव्यानि ।
9. बृ. सं. अ. 11 पृ. 6-7 वाराहः प. 241-42 ॥
10. अद्भुतसागरे पृ. 149 तः 50 या. बल्लालसेनदेवः ।
11. अ. सा. के. अ. आ. पृ. 151 तः 52 या. व. से. दे. ॥
12. अयनांशक्रान्तिमन्दोच्चचलनांशवशादत्रान्तरज्ञानं करणीयम् ।
13. वैदिकविज्ञानम् गि. ला. शर्मा चतुर्वेदी द्रष्टव्यम् ।
14. ब्रह्मविज्ञानशास्त्रमहोरात्रवादश्च द्रष्टव्यग्रन्थः ।
15. ह्रस्वतनुः प्रसन्नः ....सुभिक्षसौख्यावहः केतुः ॥ बृ. सं. आ. 11 पृ. 8 वाराहः ॥
16. अद्भुतसागरे केत्वद्भुतावर्त्ते पृ. 150 ।
17. बृहत्संहिता अ. 11 पृ. 11 तत्रैव वृद्धगर्गः ।
18. अ. सा. के अ. आ. पृ. 152 मार्गवीयोद्धरणात् ।
19. बृ. सं. अ. 11 श्लो. 11 वाराहः । तत्रैव वृद्धगर्गः ।
20. ·–·–·–11 श्लो. 12-13 वाराहः ।
21. बृ. स. अ. 11 श्लो.
22. तत्रैव, श्लो. 13.
23. तत्रैव.
24. तत्रैव, श्लोक. 15' बृ. सं. अ. 11, श्लो. 17' तथा अद्भुतसागरे पृ. 155 वल्लालसेनः बृ. सं. अ. 3 श्लो. 6 तः 20 या. वराहः' 18 पराशरः ॥
25. बृ. सं. अं. 11 श्लो. 16 वराह-गर्गः पृ. 247 ।
26. बृ. सं. अं. 11 श्लो. 18 वराह-गर्गः पृ. 247 ।
27. बृ. सं. अं. 11 श्लो. 19 वराह-गर्गः पृ. 248 ।
28. बृ. सं. अं. 11 श्लो. 20 वराह-गर्गः पृ. 248 । अ. सा. पृ. 156, वल्लालसेनः ।
29. बृ. सं. अं. 11 श्लो. 21 वराह-गर्गः पृ. 249 ।
30. बृ. सं. अं. 11 श्लो. 22 वराह-गर्गः पृ. 249 ।
31. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 23 ।
32. तत्रैव, अ. 11 श्लो. 24 ।
33. तत्रैव, अ..1,1 श्लो. 25 ।
34. तत्रैव, अ. 11, श्लो. 26 ।

35. तत्रैव, अ. 11, श्लो. 27 ।
36. तत्रैव, अ. 11, श्लो. 28 ।
37. तत्रैव, अ. 11, श्लो. 30 ।
38. तत्रैव, अ. 11, श्लो. 31 ।
39. तत्रैव, अ. 11, श्लो. 37-38 ।
40. अद्भुतसागरे, पृ. 184, पराशरः, 183, वृद्धगर्गः ।
41. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 39 ।
42. अद्भुतसागरे, पृ. 186-187 ।
43. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 37-38 ।
44. अद्भुतसागरे, पृ. 184; पराशरः, वृद्धगर्गः ।
45. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 39 ।
46. अद्भुतसागरे, पृ. 186-187 ।
47. तत्रैव, पृ. 188 ।
48. तत्रैव ।
49. बृ. सं., श्लो. 41-42 ।
50. अद्भुतसागरे, पृ. 172 ।
51. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 41-42 ।
52. अद्भुतसागरे, पृ. 172-173 ।
53. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 44-45 ।
54. अद्भुतसागरे, पृ. 174-175 ।
55. बृ. सं., अ. 11, श्लो. 46 ।
56. अ. सा. के. अ.आ., पृ. 180-81, पराशरः ।
57. बृ. सं. अ. 11, श्लो. 47-48, वाराहः ।
58. अ. सा. के. अ. आ., पृ. 182-83, पराशरः ।
59. बृ. सं. अ. 11, श्लो. 49, वाराहः ।
60. अ. सा. के. अ. आ., पृ. 185-86, पराशरः ।
61. बृ. सं., अ. 11 श्लो. 50, वाराहः ।
62. अद्भुतसागरे, पृ. 188, पराशरः ।
63. बृ. सं. अ. 11 श्लो. 51-52 वाराहः ।
64. तत्रैव श. 53-54-।
65. अ. सा. के. अ. आ., पृ. 190-91, वृद्धगर्गः ।
66. अ.सा. के. अ. आ., पृ. 162 वल्लालसेनदेवः ।
67. तत्रैव, पृ. 166 वल्लालसेनदेवः ।
68. तत्रैव, पृ. 167 वल्लालसेनदेवः ।
69. तत्रैव, पृ. 167-60 वल्लालसेनदेवः ।
70. तत्रैव, पृ. 189 वृद्धगर्गः ।
71. तत्रैव, पृ. 190 वृद्धगर्गः ।
72. तत्रैव, पृ. 193 गीर्गीये गर्गः ।

73. तत्रैव, पृ. 193 वृद्धगर्गः ।
74. अ. सा. पृ. 190 गर्गः ।
75. बृ. सं. अ. 11 श्लो. 61 वाराहः ।
76. के. अ. आ. अ. सा., पृ. 195 वल्लालसेनदेवः ।
77. तत्रैव, पृ. 196-190 ।
78. तत्रैव, पृ. 196 ।
79. तत्रैव, पृ. 198-200 ।
80. बृ. सं. अ. 11 श्लो. 53-70 वाराहः ।
81. अ.सा. के. अ. आ., पृ. 196 अथर्वमुनिः ।
82. तत्रैव पृ. 198 मार्गवीयोक्तम् ।
83. तत्रैव, पृ. 200 गर्गः ।
84. तत्रैव, पृ. 199 वल्लालसेन्देवः ।
85. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् ।

अयनचलनम्

डॉ. राधाकान्तठक्कुरः

क्रान्तिवृत्तीयः कोऽपि बिन्दुरयनारम्भे स्थिरः सन्नैव तिष्ठत्यतोऽयनबिन्दोश्चलत्वादयनचलनमित्युच्यते । तत्रायनबिन्दोश्चलत्वाद्यदा कदाचिद् यस्मिन् नक्षत्रेऽयनारम्भो दृश्यते कालान्तरे तस्मिन् नक्षत्रे न भवति । परन्तु तत्र न केवलं क्रान्तिवृत्तस्यैकस्य बिन्दोश्चलनं भवत्यपि तु सम्पूर्णक्रान्तिवृत्तस्यैव भ्रमणं भवति । तद्भ्रमणं कथमनुमितमिति जिज्ञासायामयनारम्भयोः क्रान्तिसम्पातयोश्च चत्वारो बिन्दवः क्रान्तिवृत्तीयास्तथानियामकत्वेन वर्तन्ते येष्वेकतमस्यापि वेधेनायनचलनस्य प्रतीतिर्भवति । आचार्यैरयनारम्भबिन्दोरेव चलनमवगत्यायनभगणा उक्ताः । अतो येऽयनचलनभगणास्त एव क्रान्तिपातभगणाः ।

अयनचलनस्य सर्वप्रथममाविष्कारो वराहमिहिरेण वेदाङ्गकालिकायनारम्भबिन्दू अभिलक्ष्य कृतः । किन्तु तेनायनचलनभगणा नोक्ताः । प्रायस्तदानीमयनांशानामभावादेवायनचलनं भवतीति केवलं तेन प्रत्यपादि । तदनु 854 शके मुञ्जालेनायनभगणाः प्रतिपादिताः । भास्कराचार्येणापि मुञ्जालस्यैव मतमङ्गीकृतम् । तत्र मुञ्जालमतेनायनभगणा 199669 इति कल्पे सन्ति । मुञ्जालमतेनायनगतिः 59.9" तथा तत्कालेऽयनांशाः 6°–59'–18" इति सिद्ध्यन्ति वेधेन क्रान्तिपातज्ञानं सुलभमतो भास्करेण निर्दिष्टम्-

"ये वा ते वा भगणा भवन्तु यदा येंऽशा निपुणैरुपलभ्यन्ते तदा स एव क्रान्तिपातः । (सि. शि. छे. अ. वा. भा.) ।

अतोऽलमत्र पूर्वाचार्याणां भगणाः सूक्ष्मा न वेति मीमांसया ।

अथ क्रान्तिसम्पातस्य कथङ्कारं भ्रमणं भवतीति विचार्यमाणे प्राचीनाचार्याणां मतं वर्तते यत्क्रान्तिवृत्तस्य दोलायमानं भ्रमणं भवति येन क्रान्तिसम्पातोऽपि चलति । तत्र केषाञ्चिन्मतेन क्रान्तिसम्पातः मेषादितः सप्तविंशत्यंशपर्यन्तमेव पूर्वस्यां पश्चिमस्याञ्च व्रजति । कथं तत्र सप्तविंशत्यंशपर्यन्तमेव गच्छति क्रान्तिसम्पात इत्यत्र नोपलभ्यते काप्युपपत्तिः । नव्यास्तु सम्पूर्णचक्रे क्रान्तिपातस्य भ्रमणमङ्गीकुर्वन्ति । तन्मतेन क्रान्तिवृत्तं स्थिरं नाडीवृत्तमेव चलम् ।

भास्करमतेन सम्पूर्णचक्रे क्रान्तिपातस्य भ्रमणं भवति । यथान्येषां पातानां सम्पूर्णचक्रे विलोमं भ्रमणं भवति तन्मतेन तथैवास्यापि क्रान्तिपातस्य भवति । यथा तदुक्तिः–

"तस्यापि चलनमस्ति । येऽयनचलनभागाः प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य" इति । (सि. शि. छे. अ. वा. भा.) ।

मुञ्जालमतेनापि सम्पूर्णचक्रे क्रान्तिपातस्य भ्रमणं सिद्ध्यति । चक्रं प्राक् परिलम्बत इति सौरवचनादपि क्रान्तिपातस्य विलोमं भ्रमणमेव सिद्ध्यति । किन्तु तत्र 'तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्ताशा' इति सौरवचनेन सौरायनभगणैश्च क्रान्तिपातस्य सप्तविंशत्यंशपर्यन्तमेव भ्रमणं सिद्ध्यति ।

नव्यविदुषामभिमतेन नाडीवृत्तस्य चलनात्क्रान्तिपातस्य भ्रमणं भवति । अतो नव्यैरेतच्चलनं विषुवचलमित्यभिधीयते । नाडीवृत्तस्य कथं भ्रमणं भवतीति विषये तेषामभिमतं वर्तते यद् भुवः स्वाक्षरेखामुद्दिश्यातिवेगेन भ्रमणं भवति येन भुवोऽक्षरेखा एकत्र न तिष्ठति । भुवोऽक्षरेखा ध्रुवयष्टिर्वा बालक्रीडाचक्रमिव किमपि केन्द्रमधिकृत्य सविलासं भ्रमति । तत्र ध्रुवयष्टिः कदम्बं परितो भ्रमत्यतः क्रान्तपातस्य सम्पूर्णचक्रे भ्रमणं भवति । ध्रुवयष्टेश्चलनादाकाशे ध्रुवस्थानं चलमतो हि आचार्यैर्ध्रुवस्थानान्नवत्यंशैर्विहितवृत्तमेव नाडीवृत्तमित्युच्यते । अन्यथा नाडीवृत्तधरातलं निरक्षदेशगतं न स्यादिति तेऽपि जानन्तः आसन् । तथापि तैः कण्ठोक्त्या भूभ्रमणं नाङ्गीकृतम् । भुवं स्थिरां प्रकल्प्य तद्गत्या रविरेव क्रान्तिवृत्ते गच्छतीति कल्पनाया अनुसारिणी एव ध्रुवस्थानाज्जिनांशवृत्ते कदम्बभ्रमणमिति तेषां कल्पना ।

ध्रुवस्थानस्य चलनान्नक्षत्रबिम्बध्रुवस्थानयोरन्तररूपस्य चलांशस्य वृद्धिह्रासौ भवत इति वेधबलेन प्रतिपादितं कमलाकरेण । भुवो वास्तविकीं गतिं जानन्नेव स उपहसति तान् विदुषो ये तु ध्रुवर्क्षं स्थिरं मन्यन्ते । सोऽपि कण्ठोक्त्या नाङ्गीकरोत्यार्षमतविरुद्धं भूभ्रमणम् । उदयादन्तरस्य खण्डनावसरे तु सः क्रान्तिपातस्य दोलाभ्रमणमेवाङ्गीकरोति । तत्र कमलाकरस्य खण्डनयुक्तिरियं वर्तते यन्नाडीवृत्तस्यैकस्मिन्नेव क्रान्तिवृत्तं चलति । तत्रापि तच्चलनं सम्पाततः सप्तविंशत्यंशपर्यन्तमेवाग्रतः पृष्ठतश्च भवति येन नाडीक्रान्तिवृत्तीययोर्भुजांशयोरन्तरं परमायनांशकाले सप्तविंशत्यंशतुल्यं भवितुमर्हति । परमोदयान्तरञ्च घटीचतुष्टयात्मकं भविष्यति । परन्तु यथोदयान्तरं खण्डितं स्यात्तथायनस्य भ्रमणं स्वीकृतं कमलाकारेण वस्तुतस्तु ध्रुवयष्टेः कदम्बं परितो भ्रमणं भवतीति यन्नव्यैर्गवेषितं तत्तु कमलाकरेण वेधबलेन प्रागेव प्रत्यपादि ।

वैदिकसूक्तीनां पर्यालोचनेनापि क्रान्तिपातस्य सम्पूर्णचक्रे भ्रमणं प्रतिभाति । सम्पातस्य सम्पूर्णचक्रे भ्रमणादेव वैदिककालान्नक्षत्रगणनाक्रमो विभिन्ननक्षत्रेभ्यो दृश्यते । लोकमान्यबालगंगाधरतिलकेन प्रतिपादितं यद् वैदिककाले मृगशीर्षनक्षत्रेऽप्ययं सम्पातः आसीत् । अत एव चामरकोषे मार्गशीर्षस्य नाम आग्रहायण इत्युक्तं, मृगशीर्षनक्षत्रे या पौर्णमासी तस्याश्च नाम आग्रहायणीति प्रोक्तम् । तत्राग्रे हायनं वर्षं वर्तते अस्या इत्यर्थः अस्ति । वसन्तसम्पातो मृगशीर्षे शकारम्भतः 1000 वर्षेभ्यः पूर्वमासीत् । निरयणसौरवर्षात् सायनसौरवर्षस्य मानं पञ्चाशत्पलैर्न्यूनं वर्तते । ऋतूनां प्रारम्भस्तु सायनवर्षमधिकृत्य भवति[1] । अतो यदा यस्मिन् नक्षत्रे यस्यर्तोः प्रारम्भो भवति ततः 1300 वर्षानन्तरं तस्मिन्नक्षत्रे तदग्रिमवर्तिनः ऋतोः प्रारम्भः भवति । यतस्तु सम्पातस्य सम्पूर्णचक्रे एकं प्रदक्षिणं 26000 वर्षेषु भवति ।

अथ वेदेषु आर्तववर्षमेव वर्णितमस्ति तर्हि कथं पूर्वाचार्यैः निरयणं सौरवर्षमङ्गीकृतमित्युच्यते। यदि सायनं वर्षं स्वीक्रियते तदा गणिते बहुत्र क्लेशो जायते। यथा नक्षत्राणि सायनानि स्वीकर्तव्यानि। यत्र सम्पातः स्यात्तत्रैव अश्विन्यादिर्मेषादिश्च। मासा अपि नक्षत्रनामभिः स्वीकृता अतस्तेऽपि चलाः। तथैव ऋतूनां प्रारम्भोऽपि प्रत्येकस्मिन् मासे सम्भवति। सम्पातस्य सम्पूर्णचक्रे भ्रमणस्वीकरणान्मधुमाधवयोर्मासयोः कदाचिद् वर्षर्तुरपि समागमिष्यति येन मधुमाधवयोर्वसन्त इति वेदवचनं न सेत्स्यतीति मनसि कृत्य वेदवचनस्य सिद्ध्यै एव कैश्चिदाचार्यैः सम्पातस्य 27 अंशपर्यन्तमेव भ्रमणं स्वीकृतम्। इति।

●

---

1. ऋतुभिः संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्। (श. ब्रा. 6/7/1/18)।
पञ्च वा ऋववः संवत्सरः (तै. ब्रा. 2/7/10)।

ज्यौतिष और मनुष्य

पं. चन्द्रभानु पाण्डेय

यस्योदयास्तसमये सुरमुकुटनिघृष्टचरणकमलोऽपि।
कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः॥

ज्यौतिषशास्त्र से मनुष्य का शाश्वत सम्बन्ध है। सच तो यह है कि जन्म से ही ज्यौतिष मनुष्य का साथी हो जाता है तथा जन्म जन्मान्तर तक सदा साथ लगा रहता है।

जातक के धरती पर आते ही उसके जन्म का समय तथा दिनादि का विवरण स्मरणार्थ लिखा जाता है। यह काल गणना के लिये ही होता है। तथा भूत भविष्य फल ज्ञात करने के लिये ही तो लिखते हैं। यही कालशास्त्र है। ज्यौतिष को कालशास्त्र भी कहते हैं।

ज्यौतिष का आविर्भाव अपौरुषेय वेदों से है, तथा वेद के 6 अंगों में नेत्र रूप से प्रसिद्ध ज्यौतिषशास्त्र प्रमुख अंग है। यथा–

शब्दशास्त्रं मुखं ज्यौतिषं चक्षुषी श्रोत्रमुक्तं निरुक्तं च कल्पः करौ।
या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः॥

(**भास्कराचार्यः**)

जैसे नेत्र के द्वारा सारा जगत् दृश्यमान रहता है, उसी प्रकार ज्यौतिष ज्ञान से सारा जगत् करतलकलितामलकवत् भासमान होने लगता है।

इस महत्वपूर्ण ज्यौतिषशास्त्र को समृद्ध करने में महर्षि कश्यप के अनुसार 18 मतान्तर से 19 महर्षियों का योगदान अब तक प्रकाश में आया है।

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरंगिराः॥
लोमशपौलिशश्चैव च्यवनो चवनो भृगुः।
शौनकोऽष्टादशाश्चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः॥

मतान्तर से मनु भी हैं। इस प्रकार 19 महिर्षियों का योगदान हो जाता है।

पराशर के मत से यह दिव्यज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से पृथ्वीतल पर अवतरित हुआ है। यथा–

नारदाय यथा ब्रह्मा शौनकाय सुधाकरः।
माण्डव्यवामदेवाभ्यां वसिष्ठो यत्पुरातनम्॥ इत्यादि।

इस दिव्यज्ञान ज्योतिष के सिद्धान्त, गणित, फलित या सिद्धान्त संहिता होरा 3 स्कन्ध हैं। प्रत्येक का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते।
नूनं लग्नबलाश्रितः पुनरयं स्पष्टखेराश्रयः॥
ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोऽपि न ज्ञायते।
तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति॥
(भास्करः)

सिद्धान्त–वादिप्रतिवादिभिः निर्णीतसत्ता यस्य असौ सिद्धान्तः। इसमें सब प्रकार के शंका-समाधान के बाद निर्णीत विषय होते हैं। सिद्धान्त में त्रुटिकाल से लेकर प्रलय तक काल गणना होती है। इसमें सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र मासों का भेद है। ग्रहों के संचार का ज्ञान है, व्यक्त अव्यक्त दो प्रकार का गणित है। भू, ग्रह, नक्षत्र की स्थिति का वर्णन है साथ ही यन्त्रादिकों (गोलयन्त्र, तुरीययन्त्र, कुक्कुटयन्त्र आदि) का वर्णन है।

सिद्धान्त का क्रमिक विकास हुआ है। सूर्य तथा चन्द्र को मुख्य आधार मानकर इस पर प्राचीन काल में वैदिक युग में भी अनुसन्धान होता रहा। ई. पू. 1400 वर्ष के आसपास का ज्योतिष, वेदांग ज्यौतिष के नाम से हमें प्रथम ज्यौतिष ग्रन्थ प्राप्त होता है। उसमें काल गणना के लिये 5 वर्षों का 1 युग माना गया है। परन्तु कालान्तर में इससे अजात ग्रह तथा आकाशस्थ ग्रहों में अधिक अन्तर आने पर युगमान को बढ़ाकर 4320000, सौरवर्ष का एक महायुग माना गया, इसमें चार पाद कलि, द्वापर, त्रेता, कृतयुग कहलाये, कलि का मान 432,000 वर्ष तथा इससे द्विगुणित द्वापर, त्रिगुणित त्रेता, चतुर्गुणित कृतयुग हुआ। वेदांग-ज्यौतिष में सूर्य-चन्द्रमा की स्थिति का ही विचार हुआ इसी पर गणित किया गया। इससे पहले का कोई ज्योतिष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। केवल वेदों में ब्राह्मणों में यत्र तत्र ज्यौतिष ज्ञान बिखरा हुआ है। इसके बाद कुछ फलित अंश भी जुटकर प्रथम संहिता ग्रन्थ गर्गसंहिता प्रकाश में आयी।

सूर्य को ज्यौतिषशास्त्र में प्रमुख स्थान प्राप्त है, समस्ताधार सूर्य ही है। इसी पर विशेष ध्यान दिया गया।

वेदों की मान्यता है कि सूर्य द्युलोक के अत्यन्त उच्च प्रदेश में सञ्चार करता है। यह हृदय रोग नाशक भी है।

आज पृथ्वी से सूर्य की दूरी का पता लगाया जा चुका है। इसकी दूरी पृथ्वी से 1 करोड़ 30 लाख मील तथा मतान्तर से 9 करोड़ 59 लाख मील मानी जाती है। इसका व्यास पृथ्वी से 1091/2 गुणा (86500 मील) तथा मतान्तर से 9200 मील मानते हैं।

सम्पूर्ण आकाशीय राशिचक्रपरिभ्रमण में इसे 365 दिन 6 घंटे का समय लगता है। यह पुरुष जाति रक्तवर्ण पित्तप्रकृति वाला है।

यह शारीरिक गठन, आरोग्य, शक्ति, प्रभार, तेज, राज्य, शासनाधिकार, राजकीय अनुग्रह, प्रताप, लक्ष्मी, देवालय का कारण माना जाता है। सूर्य के द्वारा जातक के वैयक्तिक आचरण, बौद्धिक विकास, व्यक्तित्व, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, आत्मविश्वास, पराक्रम, प्रसिद्धि, कीर्ति, यश, उदासी, शोक, कलह, अपमान, तिरस्कार, आदि का विचार किया जाता है।

मानव शरीर के मेरुदण्ड पर सूर्य का विशेष प्रभाव रहता है।

सूर्य अपना प्रभाव, हृदय, कलेजा, फुफ्फुस, मस्तिष्क, शिर, स्नायु, नेत्र, रक्त, अस्थि पर भी रखता है।

अजीर्ण, पाण्डु रोग, विसूचिका, ज्वर, मधुमेह, अपेण्डिसाइटिस, भगन्दर, सिरदर्द, मन्दाग्नि, अतिसार, क्षय, स्त्रीविकार, मानसिक रोगों में भी सूर्य के द्वारा विचार होता है।

यह, राजा, राज्याधिकारी, कुलीन, प्रतिष्ठितव्यक्ति, सैनिक, जौहरी, नाट्य कलाकार, स्वर्णकार, औषध विक्रेता, वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। स्वर्ण, मूंगफली, बादाम, नारियल, गरी गोला, सरसो, बीज, पुष्प, धान्य, तृण, ऊन, पशमीना, लाल पुष्प तथा रक्तवर्ण के जानवरों का भी प्रतिनिधित्व कारक स्वामी है।

(रत्न-ज्यौतिष-विज्ञान)

इस प्रकार सब भुवनों का आधार सूर्य को ही माना गया है।

मित्रों जनान् यातयति प्रजानन् मित्रोराधार पृथिवीमुत धाम्
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे (तै. सं. 3/4/11)

मित्र अर्थात् सूर्य प्रत्येक की योग्यता जानकर मनुष्यों को प्रेरित करता है। मित्र मनुष्य और देवताओं को देखता है। मित्र द्युलोक तथा पृथ्वी को धारण करता है।

ऋतुओं का कारण भी सूर्य को ही मानते हैं।

पूर्वामनुप्रदिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु।
(ऋ. सं. 1/95/3)

सूर्य ही ऋतुओं का नियमन करके क्रमशः पृथिवी के पूर्वादिदिशाओं का निर्माण करता है। वायु का कारण भी ऐतरेय ब्राह्मण 2/7 में सूर्य को ही माना गया है।

ग्रहण जो कि सामान्य जनों के लिये चमत्कार, धार्मिक कृत्यों के लिये अन्य अवसर तथा ज्यौतिष की सच्चाई की कसौटी माना जाता है उसमें भी मुख्यतः सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्र इन्हीं तीन ग्रहपिण्डों का योगदान है। सूर्य के उदयास्त पर काल-विभाग की पद्धति ई. पू. 1400 में प्रचलित हो गयी थी उसके अनुसार 60 पल=1 घटी, 60 घटी = 1 दिन, 30 दिन = 1 मास, 12 मास =1 वर्ष। 60 विकला = 1 कला, 60 कला = 1 अंश, 30 अंश=1 राशि, 12 राशि 360° = वृत्त परिधि।

सूर्यसिद्धान्त नामक ग्रन्थ में भी यही साम्य देखने में आता है। आज से 7000 वर्ष पूर्व नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त हो गया था तथा ग्रहों में गति भी है यह भी जानकारी हो गयी थी परन्तु,

निश्चय रूप से गति पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में कुछ समय लगा। पृथ्वी में गति का ज्ञान आर्यभट्ट को प्राप्त हो गया था। आज जो मासों के नाम प्रचलित हैं उससे नक्षत्रों का गहरा सम्बन्ध है। यथा मधु = चैत्र (चित्रायुता पूर्णिमा चैत्री पूर्णिमा सैव चैत्रो मासः) इसी प्रकार प्रत्येक मास नाम का नक्षत्र पूर्णिमा को मिल जाता है कभी-कभी एक दिन आगे पीछे भी हो जाता है।

सौर-सावन-चान्द्र-नाक्षत्र मास ज्ञान के आधार पर अधिमास, क्षयमास का ज्ञान, अधिमास होने का निश्चित समय आदि भी आज के विज्ञान युग से पहले ही भारत में प्रचलित था।

सिद्धान्त की ही शाखा करण भी है। यह सिद्धान्त ग्रन्थों की अपेक्षा स्थूल फल प्रदान करते हैं परन्तु गणित में आसानी होती है। तथा कुछ बीज देकर सिद्धान्त तुल्य ग्रह स्पष्ट बन जाते हैं।

यथा–सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमंककलिकोनोब्जः इत्यादि–

(गणेशदैवज्ञः)

सिद्धान्त ग्रन्थों के निर्माण में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, लल्ल, ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, श्रीधर, भास्कर, कमलाकर, आदि आचार्यों ने अपना योगदान देकर इसे समृद्ध बनाया है। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में बताया है।

भारत की अंक पद्धति इतनी वैज्ञानिक है कि आज सारा संसार इसी का अनुसरण करता है। एक ओर दश गुणोत्तर वृद्धि दूसरी ओर दशमलव पद्धति में दश गुणोत्तर ह्रास की स्थिति पर सारा गणित विज्ञान टिका है। अंक संकेत पद्धति भी यहाँ की अनुकरणीय है।

यथा भू=1, नेत्र=2, अग्नि या राम = 3, युग या समुद्र = 4, शर = 5, रिपु = 6, मुनि =7, नग=9, नाग = 8, अंक = 9, दिग् = 10 इत्यादि। अंकानां वामतो गतिः, अंकानां दक्षिणतो गतिः दोनों ही यहाँ प्रचलित हैं। देखिये कश्यपपद्धति–

सिद्धान्त के बाद संहिता में विचारणीय विषय व्यक्ति नहीं बल्कि समष्टि होता है। सूर्य या किसी नक्षत्र के पास सब या कुछ ग्रहों के इकट्ठा होने पर जो आकृति बनती है उसके फल का वर्णन संहिता में देखने को मिलता है। पर्जन्य गर्भलक्षण से वस्त्र का विचार, पानी कितना बरसा इसे नापने की विधि, वृक्षायुर्वेद, प्रासाद लक्षण, वज्रलेप. बनाने की विधि, देव प्रतिमा विचार, वास्तु प्रतिष्ठा, जानवरों की परीक्षा, इनकी बोली से शुभाशुभ विचार, मुहूर्त विचार आदि का वर्णन संहिता में रहता है। संहितान्तर्गत मुहूर्त विषय बाद में अलग से स्वतन्त्र स्थान ले लिया। संहिता में ही भृगुसंहिता भी है जो कि केवल जन्म चक्रसे भूत भविष्य वर्तमान का फल विना गणित किये ही बताती है।

गर्गसंहिता, बृहत्संहिता, संहिता के मुख्य ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। होरा या फलित शाखा मनुष्य जीवन के शुभाशुभ फलों की जानकारी के लिये अद्भुत शाखा है इसमें जन्मकालिक ग्रहों की स्थिति, से जीवन पर्यन्त शुभाशुभ फल, आयु आदि का विचार किया जाता है।

सूर्य ही सभी ग्रहों को प्रकाशित करता है और सभी ग्रहों के किरणों का हमारे शरीर से सीधा सम्बन्ध होता है अतः सभी ग्रहों के सम्बन्ध से उत्पन्न शारीरिक परिस्थिति का ज्ञान तथा कष्टों की शान्ति के लिये रत्न, मन्त्र, जपादि, यज्ञ-यागादि का निर्देश इस शाखा में दिखाई देता है।

इसी फलित ज्यौतिष की शाखा सामुद्रिक तथा रमल भी है। सामुद्रिक में केवल शरीर के चिह्नों से फल बताया जाता है। रमल का प्रचार अब कम हो गया है परन्तु कहीं-कहीं इसका प्रचार अभी भी है।

इसी प्रकार फलित ज्यौतिष की शाखा में ही मूकप्रश्न, मुष्टिप्रश्न, प्रश्नविचार, शकुन विचार, स्वर विचार आदि भी हैं। इस प्रकार ज्यौतिष का विशाल भण्डार मनुष्य से शाश्वत सम्बन्ध रखते हुए आगे ही बढ़ रहा है तथा मानव जाति को लाभ पहुँचा रहा है। आज का मानव चन्द्रग्रह पर पहुँच गया है। अन्य ग्रहों पर मानवनिर्मित यान उन ग्रहों का अनुसन्धान कर रहे हैं। वर्षा-वायु-मौसम के लिये आकाश में मानवनिर्मित उपग्रह विचरण कर रहे हैं। अब वह दिन दूर नहीं है जबकि महर्षियों, ऋषियों की कही वाणीः जो ज्यौतिष शास्त्र में है जनसामान्य को भी सत्य होकर प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देने लगेगी। इस प्रकार देखा जाय तो यज्ञ-यागादि शुभकार्यों मे स्पष्ट ग्रहस्थिति ज्ञान में सिद्धान्तज्यौतिष रात्रि आदि के विषय में संहिता, फलाफल निर्देश में फलित शाखा (जातक, ताजक आदि भेद से) मानव से शाश्वत सम्बन्ध बनाये हुए है।

प्रत्यक्षं ज्यौतिषशास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ ।
॥ तमसो मा ज्योतिर्गमय ॥

भारतीय पंचांग का विकास एवं धर्मशास्त्र*

प्रो. कृष्णा दामोदर अभ्यंकर

1. प्रस्तावना

भारत की ज्योतिष परंपरा अतिप्राचीन है। उसका प्रारंभ कब हुआ तथा उसमें परिवर्तनों के साथ कैसे-कैसे विकास हुआ यह जानना उपयुक्त एवं आवश्यक है। इसके लिये क्रमशः इतिहास उपलब्ध नहीं होने से कठिनाई का सामना करना पड़ता है। फिर भी वाङ्मयीन संदर्भों का तर्क बुद्धि से योग्य अर्थ लगाना संभव है। इस पद्धति से विचार करके भारतीय पंचांग का विकास कैसे हुआ होगा इस विषय के बारे में मेरी कतिपय धारणायें बनी हैं। उनको इस लेख के माध्यम से मैं विद्वज्जनों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

हमारा धर्मशास्त्र पंचांग से बहुत हद तक जुड़ा है। इसलिये पंचांग के साथ-साथ धर्मशास्त्र में भी परिवर्तन होते आये हैं यह भी पाठकों के सामने लाना है। कुछ राजकीय घटनाओं के कारण गत हजार वर्षों में हमारे धर्मशास्त्र एक प्रकार से अपरिवर्तनीय बन गये हैं। उदाहरण के लिये 14-15 जनवरी को आने वाले सूर्य के मकरसंक्रमण के साथ उत्तरायण आरंभ होता है ऐसा अभी भी कई धर्मशास्त्रियों का निर्णय है। यह वास्तविकता से जरा भी मेल नहीं खाता। क्योंकि 22 दिसम्बर को ही सूर्य उत्तर दिशा में चलने लगता है यह प्रत्यक्ष अवलोकन से ज्ञात होता है। पूर्व काल में प्रकृति के नियमानुसार धर्मशास्त्र बदले जाते थे। उसी पद्धति को अपनाकर पुनः धर्मशास्त्रों में कैसा परिवर्तन लाना चाहिये इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा भी यहाँ की गई है।

2. भारतीय पंचांग के मूल आधारस्तंभ

कृषिप्रधान देश होने से भारत की कालगणना प्रारंभ से ही 'ऋतवः संवत्सरः' अर्थात् 'ऋतुएँ ही संवत्सर बनाते हैं' इस वाक्य पर आधारित है। ऋतुएँ सूर्य की आकाशस्थ स्थिति से उत्पन्न होती हैं यह सर्वविदित है। सूर्य की स्थिति पूरे वर्ष में उदयकाल के समय पूर्व क्षितिज पर तथा मध्यान्तकाल में खस्वस्तिक सापेक्ष बदलती है इसका हमें स्पष्ट दर्शन होता है। विशेषतः छह मास तक सूर्य दक्षिण से उत्तर की ओर, तथा बाकी छह मास में उत्तर से दक्षिण की ओर जाता है। इसी से

---

* इस विषय पर एक विस्तृत लेख लिखने का मेरा कई दिनों से विचार चल रहा था। डॉ. सम्पूर्णानंद जी की पुण्यस्मृति में प्रकाशित होने वाले इस ग्रन्थ में योगदान देने का सुअवसर प्राप्त होने पर उसको कार्यरूप देने की प्रेरणा मिली। और इस लेख के द्वारा नैनिताल की आधुनिक वेधशाला प्रस्थापित करने वाले उस महान् व्यक्तित्व को मैं श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

उत्तरायण एवं दक्षिणायन ये संवत्सर के दो स्वाभाविक विभाग आरंभ से ही प्रचलित है। भारत में शीत काल में आकाश निरभ्र होता है इस कारण उत्तरायण का आरंभ निश्चित करना अधिक सरल होता है। इसीलिये संवत्सर का प्रारंभ उत्तरायण तथा शिशिर ऋतु के आरंभ से ही माना जाता था। और उसी कालविशेष से संवत्सर सत्र का आरंभ करते थे। वेदांगज्योतिष में इसका वाङ्मयीन प्रमाण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण 18.18 तथा 18.22 से विषुव का वर्णन है। उससे यह भावार्थ निकलता है कि संवत्सर के मध्य में आने वाले विषुव के दिन सूर्य सबसे ऊँचा और संवत्सर के शिरोभाग में पहुँचता है। अतः संवत्सर-मध्य विषुव दक्षिणायन के प्रारंभ पर पड़ता था, और संवत्सर उत्तरायणारंभ पर करते थे यह स्पष्ट होता है।

संवत्सर को तीन चातुर्मास्य ऋतु या प्रत्येक अयन को तीन द्विमासीय ऋतु में विभागना भारत की विशेषता है। एक वर्ष के बारह महिने होते हैं यह सर्वविदित है। उसी प्रकार दोनों अयनारंभ के मध्य में समान दिनरात्री वाले दो संपात–वसंतसंपात तथा शरदसंपात–आते हैं। उनको घटिकापात्र के प्रयोग से निश्चित करने की विधि भी सर्वमान्य है।

सूर्य व चंद्र के अयनवृत्त को 27 या 28 निरयन नक्षत्रों में विभाजित करके उनकी तथा ग्रहों की स्थिति का निर्देशन करने के लिये इन नक्षत्रों का उपयोग करना यह भारतीय पंचांग का दूसरा मूलाधार है। सब नक्षत्रों के नाम तथा देवता वेदों में मिलते हैं। दिन का चंद्रनक्षत्र से संबोधन तथा चांद्रमास का पूर्णमासी के चंद्रनक्षत्र से नामकरण यह भी भारत की प्राचीन परंपरा है। सर्वप्रथम नक्षत्र कतिपय तेजस्वी योगतारों से पहचाने जाते थे। बाद में उनके समान अंश वाले विभाग बनाये गये। पूर्ववर्ती काल में स्थूलतः 13 अंश के 28 नक्षत्र होते थे। परन्तु वेदांगज्योतिष काल से और आज भी $13\,^1/_3$ अंश के 27 नक्षत्रों का उपयोग होता है। फिर भी जिन तारों से नक्षत्र सर्वप्रथम पहचाने गये थे वही कुछ छोटे परिवर्तनों के साथ आज भी उपयोग में लाये जाते हैं। इससे एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उनके आधार पर हम किसी भी पूर्ववर्ती घटना का ऐतिहासिक काल निर्णय कर सकते हैं।

पृथ्वी का वलनाक्ष उसके कक्षाप्रतल याने कदंबवृत्त से $66\,^1/_2$ अंश का तिर्यक्कोण करता है। सूर्य एवं चंद्रमा के गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित होकर वलनाक्ष कदंबाक्ष को धीमे गति से उलटी दिशा में चक्कर लगाता है। इस परांचन (Precession) के कारण अयनों को तथा संपातों को अयनवृत्त में साधारण $71\,^1/_2$ वर्षों में एक अंश की विलोमगति प्राप्त है। अतः अयन तथा संपात नक्षत्रों में स्थिर नहीं रहते। स्थूलतः 950 वर्षों में एक नक्षत्र अथवा 2150 वर्षों में एक चंद्रमास इस अनुपात से वे पीछे हटते जाते हैं। परिणामतः चंद्रस्थिति पर आधारित महिनों के नाम तथा ऋतु इनमें अंतर पड़ता जाता है। हमारे पूर्वजों को भी इसका अनुभव था। इसी कारण वे संवत्सर के प्रारंभमास को बदल कर धर्मशास्त्रों में उचित परिवर्तन करते थे। आज भी हम उनके पदचिह्नों पर चलकर वैसा ही परिवर्तन लाने के लिये उत्तरदायी हैं। यह किस प्रकार किया जा सकता है यह सूचित करने के पहिले प्राचीन काल से अब तक हुये कालगणना के विकास पर प्रकाश डालना उचित होगा।

3. अतिप्राथमिक वैदिक कालगणना

द्वादशारं नहितज्जराय वर्वर्तिचक्रं परिद्यामृतस्य ।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥

ऋ. 1-164-11

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क इतत्विकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलास ॥

ऋ. 1-164-48

ऋग्वेद की इन ऋचाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम 360 सावन दिनों का संवत्सर माना जाता था और उसमें 30-30 दिन के 12 मास, तथा तीन चातुर्मासीय ऋतु अंतर्भूत थे। परंतु अयनिक संवत्सरमें 360 से अधिक दिन होने के कारण चार, पांच या छह दिनों के अतिरात्र यज्ञ करके संवत्सर सत्र को पूरा किया जाता था। तैत्तिरीय संहिता 7-1-8 में इस संदर्भ में कहा है कि चार अतिरात्रों से वर्ष अपूर्ण रह जाता है, और छह अतिरात्रों से वह फूल जाता है। इसलिये पाँच अतिरात्र ही ऋतुओं से सामंजस्य प्रस्थापित करते हैं। इस प्रकार संवत्सर में करीब 365 दिन होते हैं यह ज्ञात होने पर 360 दिन वाले छः साल बाद 30 दिन का एक अधिक मास मानने की प्रथा निश्चित हुई, और छः साल का युग प्रस्थापित हुआ। इसी अधिक मास का धृतव्रत को ज्ञान होने का ऋ. 1-25-8 में, तथा मामतेय दीर्घतमा दसवें युग में अर्थात् आयु के 60वें वर्ष में वृद्ध होने का ऋ. 1-158-6 में उद्धरण है।

प्रथम वर्ष तथा युग का आरंभ उत्तरायण के साथ होता था। तारकीय अश्विनी नक्षत्र (α, β Avi) का सूर्योदय के पूर्व उदय होना उस समय उत्तरायण के आरंभ का द्योतक था। इस नक्षत्र के देवता अश्विनीकुमार हैं। वे ही संभवतः अश्विनी नक्षत्र का उत्तरायण से संबंध होने का आविष्कार करने वाले प्रथम खगोलविद् थे। अश्विनीकुमार प्रातः समय में ही हविर्भाग स्वीकार करते थे यह बात इस ऋचा में विदित है।

प्रातर्यावाणा प्रथमा यजध्वं पुरा गृध्रादररुषः पिबातः ।
प्रातर्हि यज्ञमश्विना दधाते प्रशसन्ति कवयः पूर्वभाजः ॥

ऋ. 5-77-1

इसी से अश्विनी नक्षत्र का सूर्योदय के पूर्व उदय होने का संकेत मिलता है। अश्विनीकुमार अँध को आँखें, पंगू को लोहे के पैर, निर्बल को बल, नपुंसक को वीर्य तथा वृद्ध को यौवन देने वाले निपुण वैद्य थे। यह उनकी ख्याति ऋग्वेद के कई सूक्तों (1-112, 1-116 से 1-120) में वर्णित है। यह उनके आगमन के बाद सूर्य का उत्तर दिशा में जाना आरंभ होने से उसे पुनः तेज प्राप्त होने लगता है। इस ज्योतिषीय घटना का परिचायक है। अयनचलन के गणित से इसका काल 3.5.7000 का आता है। उस समय से नक्षत्रचक्र का आविष्कार नहीं हुआ था। परन्तु आज के संज्ञानुसार वर्ष उत्तरायण के साथ औसतन वैशाख शु. 1 से आरंभ होता था।

इस कालगणना का वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण 3-10-1 में मिलता है। उसमें युग के छः वर्षों के संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, इद्वत्सर एवं वत्सर ये नाम दिये हैं। इनमे क्रमशः पहिले, छठे, ग्यारहवे, सोलहवे, एक्कीसवें एवं छब्बीसवें दिन अश्विनी नक्षत्र का उदय होता था। उसी प्रकार बारह महिनों के नाम अरुण, अरुणरज, पुंडरीक, विश्वजित्, अभिजित्, आर्द्र, पिन्वमान्, उन्नवान्, रसवान्, इरावान्, सर्वौषधः और संभर तथा अधिकमास का नाम महस्वान् है। छे वर्ष नंतर आने वाले जिस प्रथम मास में अश्विनी नक्षत्र का सूर्योदय के पूर्व उदय नहीं होता था उसीको महस्वान् कहते थे। और उसके बाद दूसरा युग फिर अरुण मास से आरंभ करते थे। महिनों के यह नाम ऋतुओं से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करते हैं। उसी ब्राह्मण में चातुर्मास्य ऋतुओं के नाम अग्नि ऋतु, सूर्यऋतु तथा चंद्रमाऋतु दिये हैं। उत्तरायणारंभ से पहिले चार महिनों में उत्तर भारत में शीतकाल होता है, इस कारण उनको अग्निऋतु कहना सार्थक सिद्ध होता है। उसके बाद के चार महिनों में सूर्य का प्रभाव प्रथम प्रखर ऊष्णता से और तदनंतर भारी वर्षा से दृग्गोचर होता है। इसलिये इस काल का सूर्यऋतु नाम योग्य है। आखरी चार महिनों में चंद्रपौर्णिमायें अतिसुंदर होती हैं, अतः उनको चंद्रऋतु नाम से पुकारना उचित ही है।

4. नक्षत्रचक्र का आविष्कार

अश्विनी नक्षत्र के सूर्योदयपूर्व उदय से उत्तरायणारंभ का संबंध ई. पू. 7000-500 इस काल में रहा था। उसके 1000 साल बाद अयनचलन के कारण उत्तरायण बिंदू पीछे हटकर आधुनिक रेवती नक्षत्र में आ गया था। रेवती नक्षत्र मंदतेज होने से उसका सूर्योदय पूर्व उदय दृग्गोचर होना कठिन था। परन्तु उसी समय सूर्यास्त के पश्चात् चित्रा (α, Vir) तारे का पूर्व में उदय होना उत्तरायण सूचित करने लगा था। इसलिये उसके माध्यम से छे वर्ष के युग का मापन होने लगा। और इसी के साथ संवत्सरसत्र का भी आरंभ होने लगा। यह हमारे धर्मशास्त्र में पहिला परिवर्तन था। उस युग में कई बार उत्तरायणारंभ पर चित्रा नक्षत्र के साथ पूर्ण चंद्र का उदय होता था। इसलिये चित्रायुक्त पूर्णमासी से वर्षारंभ करने की दूसरी पद्धति सामने आई। तैत्तिरीय संहिता 7-4-8 का चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन् मुखं वा एतत्संवत्सरस्य' यह वाक्य इसी का निर्देशक है।

यहाँ जिस पौर्णिमा के 15 दिन अगलबगल में चित्रा का सूर्यास्त पश्चात् उदय होगा उसी को चित्रायुक्त या चैत्री पौर्णिमा कहना उचित होगा। इस प्रकार ऐसे चैत्री पौर्णिमा से युगारंभ तथा पौर्णिमांत चांद्रमास का उपयोग होने लगा। परन्तु 12 चांद्रमासों के नाम पूर्ववत् अरुणादि ही रहे। जब भी 13वें मास की पौर्णिमा उपरिनिर्दिष्ट व्याख्यानुसार चैत्री पौर्णिमा नहीं होती थी उसी को महस्वान् करते थे। महस्वान् कब आयगा इसंका ज्ञान प्रथम शुनःशेप को प्राप्त हुआ। यह वैदिक शुनः शेप की कथा का तात्पर्य है। ऐसी नागपुर के श्री होलेजी की धारणा है, वह योग्य प्रतीत होता है। इसी समय बारह दिन के अतिरात्र यहां की प्रथा कायम हुई होगी।

इस प्रकार साधारणतः हर 3,6,9 तथा 11 वर्ष बाद महस्वान् आता था। इसमें हर 12वें वर्ष में वत्सर नाम वर्ष का क्षय करना पड़ता होगा। इस नये पद्धति में वर्षमान 365 दिन के बजाय

365,1 दिन का होने से अधिक शुद्ध था। फिर भी इसमें साधारण 200 वर्ष के उपरांत एक अतिरिक्त अधिकमास की आवश्यकता पड़ेगी जो की प्रत्यक्ष अवलोकन से निश्चित की जाती होगी। यह चांद्रमास पद्धति एवं पहिले की सावनमास पद्धति सैकड़ों वर्ष एक साथ चलती रही होगी।

चांद्रमास के प्रचार के बाद ज्योतिर्विद् चंद्रमा की आकाशस्थ स्थिति को अच्छी प्रकार निहारने लगे। उनका एक वेधावलोकन महाभारत (5-108-14,15) में उद्धृत है। गरुड गालव को पश्चिम दिशा का महत्त्व बता रहे हैं।

अतः प्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिम्।
अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ॥ 14 ॥
अष्टाविंशतिरात्रं च चङ्क्रम्य सह भानुना।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात्सोमसंयोगयोगतः ॥ 15 ॥

अर्थात् यही (इसी पश्चिम दिशा में) सूर्यदेव की तिरछी (उलटी) गति फिर से प्रारंभ होती है। यहाँ पर सब ज्योतींषि (तारे, नक्षत्र) सूर्यमण्डल में प्रवेश करते हैं। अट्ठाईस रात्रि सूर्य के साथ चक्कर लगाकर चन्द्रमा से संयोग होते ही सूर्यदेव से अलग होते हैं। अब हर चांद्रमास का पहिला चंद्रदर्शन शुद्ध द्वितीया को पश्चिम में होता है। उसके सन्निधि में जो तारे (नक्षत्र) दिखते हैं वे दूसरे दिन से सूर्य में विलीन होकर अस्त होते हैं, और 28 दिन तक अस्तंगत रहते हैं। 29वें दिन शिवरात्री के पश्चात् कृ. 14 को प्रातःकाल में चंद्रमा का अंतिम दर्शन होता है। उस समय चंद्रमा के साथ वही नक्षत्र पुनः पूर्व में उदित हुये दिखाई देते हैं। बीच के 28 दिनों में चन्द्रमा जिन-जिन तारों के साथ पाया जाता है उनको ही नक्षत्र का नाम दिया गया। इन 28 नक्षत्रों में अभिजित् नक्षत्र का समावेश था। ये नक्षत्र चित्र क्र. 1 (अ) और (आ) में ऊपर के भाग में दिखाये हैं। इसमें आधुनिक श्रवण को अभिजित्, आधुनिक धनिष्ठा को श्रवण, β Agr तारे को धनिष्ठा और α Psa तारे को शतभिषक् नक्षत्र की संज्ञा दी है। यही पूर्ववर्ती 28 नक्षत्र थे, और नक्षत्रों की संख्या 28 से 27 की गई तब उनके नामों में परिवर्तन हुआ इसके कुछ ठोस प्रमाण हैं। उनमें से एक यह की इस विभाजन से सब योगतारे अपने-अपने विभाग में ही ठीक बैठते हैं।

नक्षत्र निश्चित होने के उपरांत चंद्रनक्षत्र पर दिन का नाम रखने लगे। परन्तु कालगणना संवत्सरारंभ छोड़कर, जो कि चैत्र शु. 15 को होने लगा था, पहिले जैसी ही रही। इस परिवर्तन का काल ई. पू. 6000 का आता है (सारिणी क्र. 1 देखिये) तब अश्विनी से चित्रा तक के 14 नक्षत्र उत्तरायण में तथा स्वाती से रेवती तक के 14 नक्षत्र दक्षिणायन में आते थे। वसंतसंपात पुनर्वसू (β Gem) नक्षत्र के सूर्योदयपूर्व उदय से ज्ञात होता था और शरदसंपात उत्तराषाढा नक्षत्र के सूर्योदयपूर्व उदय से जान पड़ता था। अतः पुनर्वसू से पूर्वाषाढा तक के 14 उत्तरीय नक्षत्रों को देवयान, तथा उत्तराषाढा से आर्द्रा तक के 14 दक्षिणीय नक्षत्रों को पितृयान यह संज्ञा दी गई। क्योंकि सूर्य जब देवयान में होता था तब वो अधिक तेजस्वी रहता था, और सूर्य जब पितृयान में रहता था तब पितृलोकरूप पूर्णचंद्र अधिक तेज़स्वी तथा सुहावना होता था। उसी समय पुनर्वसू

नक्षत्र की अदिति देवता निश्चित हुई। क्योंकि उसकी एक तरफ उसके देव संतान (उत्तरीय नक्षत्र) तथा दूसरी तरफ दैत्य संतान (दक्षिणीय नक्षत्र) थे।

सारिणी क्र. 1—वर्षारंभ में परिवर्तन

काल	वर्षारंभ	उत्तरायण का सूर्यनक्षत्र	वसंतसंपात का सूर्यनक्षत्र	टिप्पणियाँ
ई.पू. 7225≠500	वैशाख शु. 1	अश्विनी (L,β.Ari)	पुष्य (δ (nc)	अश्विनीकुमार सूक्तो की रचना, अरुणादि मास, छः वर्ष का युग
ई.पू. 6150≠500	चौत्र शु. 15	रेवती (α And)	पुनर्वसु (β Gem)	2 (नक्षत्रों का चयन, देवयान-पितृयान कल्पना अदिति कथा, तैतिरीय-सहिता
ई. पू.5075≠500	चैत्र शु.1	उ. भाद्रपदा (γ Peg)	आर्द्र (α Gem)	अगस्त्य कथा, रामायण काल
ई. पू. 4000≠500	फाल्गुन श. 15	पू. भाद्रपदा (γ Peg)	मृगशीर्ष (α Ori)	अगस्त्य कथा, रामायण काल
ई. पू.2900≠500	फाल्गुन शु. 1	शतभिषक् (α Agr)	रोहिणी (α Tau)	शतपथ ब्राह्मण चांद्रमासों के नाम.
ई. पू. 2400≠500	माघ शु. 15	पूर्ववर्ती धनिष्ठा अंत (Σ Peg)		रुद्र कथा, महाशिवारत्रि पूर्व,.
ई. पू. 1300≠500	माघ.शु. 1.	नवधनिष्ठा आरंभ (β Del)	कृत्तिका (ηTau)	नक्षत्र देवता नाम कृत्तिकादि नक्षत्र गणना
ई. पू. 800≠500	पौष शु. 15	श्रवण (α Agl)	भरणी (35 Ari)	वेदांग ज्योतिष
ई. स. 285≠500	चैत्र शु. 1	उत्तराषाढ़ा (मकरसक्रांति)	अश्विनी (β Ari) मेषादि	मधुमाधवादि मास जैन ज्योतिष
ई. स. 1355≠500	फाल्गुन शु. 15	पूर्वाषढा		सिद्धान्त काल वसंतसंपात से वर्षारंभ
ई. स. 2435≠500	फाल्गुन शु. 1	मूल	उ.भाद्रपदा	उत्तर भारतीय पंचांग
भविष्यकाल	मित्र शु. 1	स्वपरिवर्तित	पू. भाद्रपदा स्वपरिवर्तित	आधुनिक काल सारिणी क्र. 4 और 5

5. रामायण काल

भारतीय विद्वानों के मत से रामायण काल ई. पू. 5000 के आसपास का है। इसका खगोल वैज्ञानिक प्रमाण हमें अगस्त्य की कथा में मिलता है। प्रथम इसी बात का स्पष्टीकरण देना उचित होगा।

पुराणों के अनुसार विंध्य पर्वत ऊँचा होकर हिमालय से स्पर्धा करने लगा। इस करणं सूर्य का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा, ऐसा लोगों में भय उत्पन्न होने लगा। तब वे विंध्य के गुरु अगस्त्य ऋषि के पास गये और उनसे सहायता माँगी। अगस्त्य ऋषि दक्षिण दिशा में चल पड़े, और जब वे विंध्य के पास आये तब उसने गिरकर साष्टांग प्रणिपात किया। अगस्त्य उस को लांघ कर दक्षिण में जाने लगे तब उन्होंने विंध्य से कहा कि जब तक वो वापिस नहीं आते तबतक उसे प्रणिपात की स्थिति में ही रहना होगा। अगस्त्य ऋषि दक्षिण से कभी लौटे ही नहीं। अतः विंध्य पर्वत हमेशा के लिए आड़ा हो गया। उत्तर भारत के निवासियों के दक्षिण में प्रवेश करने की घटना पर यह एक रूपक है। प्राचीन काल में नौका द्वारा समुद्र को लांघना उतना कठिन नहीं था जितना कि जंगली श्वापदों से भरे अरण्ययुक्त पर्वतों को पार करना होता था। इसी कारण अगस्त्य के विंध्य पर्वत पार करने की धैर्ययुक्त कार्य को एक सुंदर रूपक में परिणित किया गया। आगे जाकर अगस्त्य ऋषि ने सुदूर दक्षिण में जाकर कावेरी नदी के क्षेत्र में स्थित उन्नत तामिल संस्कृति की खोज की। इसीलिये उनको कावेरी नदी तथा तामिल भाषा का प्रदाता माना जाता है। गंगा-सिंधु-सरस्वति के क्षेत्र में उत्पन्न वैदिक आर्य संस्कृति और उतनी ही पुरातन तथा उन्नत कावेरी क्षेत्र की द्रविड संस्कृति को मिलाकर एक विशाल अखिल भारतीय हिंदू संस्कृति को जन्म देने वाले अगस्त्य ऋषि वास्तविकतः हमरी राष्ट्रीय एकात्मता प्रस्थापित करने वाले पहिले व्यक्ति थे। इसीलिये अगस्त्य तारे (Canopus) के रूप में उनको आकाश में स्थायी स्थान दिया गया है। परंतु इसी तेजस्वी तारे को ये श्रेय क्यों दिया गया इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें खगोलविज्ञान का आधार लेना पड़ता है, और उसी से अगस्त्य ऋषि तथा रामायण का काल निश्चित होता है।

अगस्त्य तारा कंदबीय दक्षिण ध्रुव से केवल 14^0 दूरीपर स्थित है अतः परांचन के कारण वो सहस्रों वर्षों तक पृथ्वी की उत्तरी गोलार्ध से दिखता ही नहीं। किसी तारे को अच्छी प्रकार देखने के लिए उस का क्षितिज से 5^0 ऊपर आना आवश्यक है ऐसा माना जाय तो अगस्त्य का तारा ई. पू. 10000 के पहिले भारत के किसी भाग से दृगगोचर नहीं होता था। ई. पू. १0000 में वो कन्याकुमारी से दिखने लगा। इसके बाद क्रमशः ई. पू. 8500 में मद्रास से, ई.पू. 7200 में हैदराबाद से, ई. पू. 5000 में विंध्यप्रांत से, ई. पू. 3100 में दिल्ली से तथा ई. पू. 1400 में जम्मू से दिखने लगा। भविष्य काल में वो ई. स.3400 में जम्मू से अदृश्य होगा। इसी प्रकार दिल्ली से ई. स. 5300 में, विंध्यप्रांत से ई. स. 7400 में, हैदराबाद से ई. स. 8400 में, मद्रास से ई. स. 10500 में, तथा कन्याकुमारी से ई. स. 11400 में अदृश्य हो जायगा। अतः ई. पू. 5000 के समय में अगस्त्य का तारा विंध्य के उत्तर में याने उत्तरभारत में अदृश्य था और विंध्य

के दक्षिण में याने दक्षिण भारत में दिखता था। अगस्त्य ऋषि ने विंध्य पर्वत पार करने पर उनको ये तारा पहिली बार दिखा। इसीलिए उस को अगस्त्य का नाम दिया गया। ऐसा ही एक उदाहरण आधुनिक काल में मिलता है। प्रसिद्ध नाविक मॅगेलन जब दक्षिण गोलार्ध में पहुँचा तब उसे आकाश में दो अभ्रिकामय तारामंडल दृग्गोचर हुए। इसी से उन को 'मॅगेलन के मेघ' यह नामाभिधान प्राप्त हुआ।

इस प्रकार ई. पू. ५००० यह अगस्त्य के काल का अनुमान लगाया जा सकता है। अगस्त्य ऋषि श्रीराम के समकालीन होने से यही रामायण काल निश्चित होता है। उस समय अयनचलन से उत्तरायणारंभ सूर्य के उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र में, वसंतसंपाद आर्द्रा नक्षत्र में, दक्षिणायनारंभ हस्त नक्षत्र में, तथा शरदसंपात पूर्वाषाढा नक्षत्र में होता था। इसलिये संवत्सर औसतन चैत्र शु. को आरंभ होने लगा था और उसी को अपनाकर नयी कालगणना शुरु की गई। यह हमारे धर्मशास्त्र में दूसरा परिवर्तन या। श्रीराम का जन्म चैत्र शु. 9 को बताया गया है। उसका संभवतः उत्तरायण से संबंध है।

6. मृगशीर्ष काल

हमने पहिले ही देखा है कि पृथ्वी के वलनाक्ष के परांचन से अयन तथा संपात साधारणतः 950 वर्षों में एक नक्षत्र इस अनुपात से पीछे हटते जाते है। ई. पू. 4000 मं उत्तरायणारंभ सूर्य के पूर्वाभाद्रपदा (α Peg) नक्षत्र पर, वसंतसंपात मृगशीर्ष (λ Ori) नक्षत्र पर, दक्षिणायनारंभ उत्तराफाल्गुनी (βleo) नक्षत्र पर और शरदसंपात मूल (λ Sco) नक्षत्र पर होने लगा था। अतः युगारंभ तथा संवत्सरारंभ फाल्गुनी पौर्णिमा पर करने लगे थे। यह धर्मशास्त्र में एक और परिवर्तन था। ब्राह्मण ग्रंथों में इसका उल्लेख है। जैसे–

एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनी पूर्णमासी।

–शतपथ ब्रा. 6.2.2

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चतुर्मास्यानि प्रयुंजति। मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुनी पौर्णमासी।

गोपथ- ब्रा. 6.19

इस समय के कतिपय और संकेत मिलते हैं।

मृग नक्षत्र का सूर्योदय पूर्व उदय वसंत संपात तथा गोधूमादि धान्यों की उत्पादन की तरफ संकेत करता था। इसलिये उसको प्रजापति मानने लगे। इसी कालविषेश से संवत्सर प्रारंभ करने की एक दूसरी प्रणाली भी चालू हुई। 'प्रजापति वै संवत्सरः' उस वाक्य में उसका प्रमाण मिलता है। परंतु उत्तरायणारंभ से संवत्सर का आरंभ करने की पद्धति में अंतर नहीं आया।

उस समय शरद संपात मार्गशीर्ष पौर्णिमा से जुड़ा हुआ था। शरद ऋतु का चंद्रमा अर्थात् मास सबसे सुंदर होता है यह सर्वज्ञात है। अतः श्रीकृष्ण की 'मासानां मार्गशीर्षोहं' यह उक्ती उसी काल का द्योतक है। उसी काल में दक्षिणायनारंभ भाद्रपदी पौर्णिमा से सम्बद्ध था, और तभी से भाद्रपदी पौर्णिमा के तत्काल बाद आने वाले कृष्णपक्ष को पितृपक्ष मानने की प्रथा चालू हुई। क्योंकि वहाँ से पितृयान् आरंभ होता था.। इसी काल पर बालगंगाधर तिलक ने अपने 'ओरायन' ग्रंथ में प्रकाश डाला है।

मृगशीर्ष काल में ही चांद्र मासों के नाम निश्चित हुए ऐसा जान पड़ता है। नक्षत्र 28 और मास 12 होने के कारण महिनों के लिये 12 नक्षत्रों का चयन आवश्यक था। उसके लिये जिन तेजस्वी तारों का उपयोग किया गया वे सारणी क्र. 2 में दिये हैं। प्रत्येक मास के पौर्णिमा की स्थिति भी उसमें दी है तथा चित्र क्र. (अ) और (आ) में प्रदर्शित की है। तब से उन्हीं के माध्यम से चान्द्रमास के नाम निश्चित किये जाने लगे।

सारिणी क्र. 2-28 नक्षत्रों के परिप्रेक्ष में पर्वों की चंद्रस्थिति*

मास	पूर्व चंद्र के निरयन भोगांश	पूर्णमासी की चन्द्रस्थिति	पौर्णिमा नक्षत्र	अमांत अमावस्या नक्षत्र
आश्विन	345-015	4 Peg से α Ari	उ. भा.-रेवती-अश्विनी	हस्त-चित्रा-स्वाती
कार्तिक	015-045	α Ari से α Tau	भरणी-कृत्तिका-रोहिणी	विशाखा-अनुराधा-ज्येष्ठा
मार्गशीर्ष	045-075	α Tau से 4 Gem	रोहिणी-मृगशीर्ष-आर्द्रा	ज्येष्ठा-मूल-पूर्वाषाढा
पौष	075-105	γ Gem से δ Cnc	आर्द्रा-पुनर्वसू-पुष्य	पू. आषाढा-अभिषित्
माघ	105-135	δ Cnc से δ Leo	आश्लेषा-मघा-पू. फा.	श्रवण-धनिष्ठा-शत.
फाल्गुन	135-165	δ Leo से r Cor	पू. फा. उ. फा.-हस्त	शत. पू. भा. उ. भा.
चैत्र	165-195	α Viv $\neq 15^0$	हस्त-चित्रा-स्वाती	उ. भा.रेवती-अश्विनी
वैशाख	195-225	α Sco से पश्चिम के 30^0	विशाखा-अनुराधा-ज्येष्ठा	भरणी-कृत्तिका-रोहिणी
ज्येष्ठ	225-255	α Sco से पूर्व के 30^0	ज्येष्ठा-मूल-पू. आ.	रोहिणी-मृग.-आर्द्रा
आषाढ़	255-285	λ-6 Sgr मध्य से पूर्व के 30^0	पू. आ. उ. आ. अभिजित्	आर्द्रा-पुनर्वसु-पुष्य
श्रावण	285-315	δ Agr से पश्चिम के 30^0	श्रवण-धनिष्ठा-शत.	आश्लेषा-मघा-पू. फा.
भाद्रपद	315-345	δ Agr से γ Peg	शत.-पू. भा. उ. भा.	पू. फा.-उ. फा.-हस्त

चंद्र की स्थिति दर्शानेवाले नक्षत्रों का उपयोग सूर्य के लिये भी कर सकते हैं। परंतु चंद्रनक्षत्र जैसा प्रत्यक्ष अवलोकन से ज्ञात होता है वैसा सूर्य के लिये संभव नहीं। क्योंकि सूर्योदय होने पर

---

* इसमें आधुनिक श्रवण को अभिजित्, आधुनिक धनिष्ठा को श्रवण, p Agr को धनिष्ठा और α PSA को शतभिषक् माना है।

नक्षत्र अदृश्य हो जाते हैं। अतः सूर्य नक्षत्र जानने की एक सुलभ पद्धति का आविष्कार हुआ। यह वेदांगज्योतिष के ऋक्पाठ श्लोक 34 में वर्णित है। अमावस्या के समय चंद्र व सूर्य का एक ही नक्षत्र होता है। अतः शिवरात्री के पश्चात् कृष्ण 14 के आखरी चंद्रदर्शन पर उसका नक्षत्र, तथा शुद्ध 2 के पहिले चंद्रदर्शन पर उस का नक्षत्र अवलोकन करने से उनके मध्य का सूर्यनक्षत्र निश्चित होगा। प्रत्येक अमांत चांद्रमास के अमावास्या का सूर्यनक्षत्र भी सारिणी क्र. 2 में दिया है।

7. रुद्र काल एवं महाशिवरात्रिव्रत

पुराणों में ऋग्वेद के 10-61-5 से 9 ऋचाओं पर आधारित एक कथा है। प्रजापति अपनी कन्या पर कामातुर हुए। इसलिये वो मृगी बन कर आकाश में गई। प्रजापति भी मृग रूप धारण कर आकाश में गए। उनका यह श्लाघ्य कृत्य देखकर धनुष्यधारी रुद्र ने उन्हें बाण से मारा। यही तीन व्यक्ति आकाश में रोहिणी (कन्या), मृग (प्रजापति) तथा व्याध (रुद्र) नक्षत्रों के रूप में दिखाई देते हैं। रुद्र का त्रिकाण्ड बाण भी मृग के शरीर में दृश्य है। यह कथा परांचन से वसंतसंपात सूर्यनक्षत्र मृगशीर्ष से सूर्यनक्षत्र रोहिणी में आ जाने के खगोल वैज्ञानिक तथ्यपर आधारित एक सुंदर रूपक है यह स्पष्ट है। इस घटना का काल ई. पू. 3000 का आता है। उस समय उत्तरायणारंभ सूर्य के शतभिषक् (λ Agr) नक्षत्र पर, वसंतसंपात रोहिणी (α Tau) नक्षत्र पर, दक्षिणायनारंभ पूर्वा फाल्गुनी (δ Leo) नक्षत्र पर तथा शरदसंपात ज्येष्ठा (α Sco) नक्षत्र पर होता था। अतः संवत्सर का आरंभ फाल्गुन शु.-1 से करते थे। इस रुद्रकाल में कई महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, पंचांगसंबंधी तथा धर्मशास्त्रीय परिवर्तन हुए।

रुद्र अर्थात् शिव ज्योतिर्मय देवता माने जाते हैं। वह आकाश में सूर्य तथा पृथ्वी पर यज्ञज्वाला के रूप में पाये जाते हैं। घृताहुति ग्रहण करनेवाली यज्ञज्वाला ही यज्ञप्रथा लुप्त होने पर आगे जाकर जलधाराप्रिय शिवलिंग में परिणित हुई। हर चंद्रमास की कृष्ण13 के उपरान्त कृष्ण 14 को प्रातःकाल में प्रथम बालचंद्र का उदय और उसके पश्चात् सूर्य का उदय होता है। मानो चंद्रमा को भाल पर रख कर सूर्यदेव शिव उदित हुये हैं। यह दृश्य हर महिने में केवल इसी तिथी को दिखता है। इसी से भालचन्द्र शिव की कल्पना उत्पन्न हुई, तथा कृष्ण 13 की रात्री को शिवरात्रि कहने लगे। शिवरात्रि का खगोलवैज्ञानिक महत्व उसके पश्चात् होनेवाले आखरी चंद्रदर्शन के समय उसका नक्षत्र तथा शुद्ध द्वितीया के पहिले चंद्रदर्शन के समय उसका नक्षत्र अवलोकन कर के उनके मध्य का सूर्यनक्षत्र निश्चित करना था यह हम पहिले ही देख चुके हैं।

हर महीने में आनेवाली शिवरात्रि का खगोलवैज्ञानिक महत्त्व समझने पर अमांत माघ मास के अंत में आनेवाली महाशिवरात्रि का महत्त्व भी समझ में आता है। महाशिवरात्रि वर्ष की सब से लंबी शिवरात्रि होना चाहिये। अतः वह उत्तरायण के आरंभ की द्योतक माननी पड़ेगी। इस से यह स्पष्ट होता है कि यह व्रत (त्यौहार) शुरू हुआ तब फाल्गुन शु. 1 को संवत्संर का आरंभ होता था। यह काल ई. पू. 3000/500 का याने सिंधुसंस्कृति का काल माना जाता है। अतः इस संस्कृति के अवशेषों में शिवलिंग तथा पशुपति शिव की मुद्रा मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसी रुद्रकाल में सावन मासों की प्रथा पूर्णतः लुप्त होकर केवल चान्द्रमासों का उपयोग होने लगा । 61 सावनमास के 1830 दिन होते हैं, और 62 चान्द्रमासों में 1831 दिन होते हैं । अतः 62 चांद्रमासों का पंचवर्षीय युग प्रचलित हुआ । इस में पहिले के 6 नामों में से आखरी नाम वत्सर त्याग कर बाकी 4 नाम वैसे ही रखे गये । और तीसरे तथा पाँचवें वर्ष के अंत में एक अधिकमास डाल कर उसे संसर्प नाम दिया गया । चांद्रमास को 30 तिथियों में बाँट कर हर 61 वीं तिथि के बाद एक तिथि का क्षय करने लगे । केवल पंचवर्षीय युग की आखरी अमावास्या का क्षय नहीं करते थे । इस प्रकार वर्षमान 366.2 दिन का हुआ जो कि वास्तविक मान से स्थूलतः एक दिन अधिक था । इस कारण साधारण 30 वर्ष बाद एक क्षयमास मानना पड़ता था । उसका अम्हरचति नाम रखा गया । क्षयमास कब होगा यह जानने के लिये शतपथ- ब्राह्मण में वर्णित 30 वर्ष का दाक्षायणीय यज्ञ करते थे । इसमें प्रत्यक्ष अवलोकन से महाशिवरात्रि के पश्चात् चंद्रनक्षत्रों की सहायता से सूर्यनक्षत्र मालूम करना आवश्यक था । इसीलिये महाशिवरात्रि व्रत की स्थापना की गई होगी । इस पद्धति से अधिकमास-क्षयमास निर्णय कैसे किया जा सकता है इसका स्पष्टीकरण देना उचित होगा ।

महाशिवरात्रि के पश्चात् आने वाली अमावास्या माघी अमावास्या होना चाहिये । अतः सारिणी क्र. 2 के अनुसार उसका चंद्रसूर्यनक्षत्र श्रवण-धनिष्ठा-शतभिषक् होना चाहिये । परंतु वो इस से पहिले का याने पूर्वाषाढा-उत्तराषाढा-अभिजित् आया तो अगला महिना अधिक अर्थात् संसर्प होगा । ऐसा साधारणतः हर तीसरे और पांचवें वर्ष के अंत में होगा । परंतु 30 वर्ष के उपरान्त जिसको संसर्प कहा वो मास फाल्गुन था, ऐसा जान पड़ेगा । उस मास की पौर्णिमा का चंद्रनक्षत्र फाल्गुन का अर्थात् पूर्वाफाल्गुनी उत्तराफाल्गुनी-हस्त या यह भी प्रत्यक्ष अवलोकन से ज्ञात होगा । अतः अगला महीना चैत्र होना चाहिये । परंतु उसको फाल्गुन कहा गया था । इसलिये उसको क्षयमास मानकर आजकल की परिपाटी के अनुसार ही उसके पहिले पक्ष को फाल्गुन तथा दूसरे पक्ष को चैत्र कहा जायगा । इस प्रकार 30 वर्ष बाद पंचांग सुव्यवस्थित हो जायगा । प्रत्यक्ष अवलोकन पर अधारित होने से इस कालगणना में ऋतुओं से सामंज्यस्य स्थापित करना संभव था ।

महाशिवरात्रि के 16 दिन बाद होली आती है । अतः उस युग में होलिका महोत्सव शीतकाल में पड़ता था । शीत काल में बड़ा अग्नि प्रज्वलित कर के ठंड से बचाव करना स्वाभाविक क्रिया है । अतः होलिकादहन की प्रथा भी रुद्रकाल में प्रारंभ हुई ऐसा जान पड़ता है । इसी का एक रूप अभी भी हमको पाश्चात्य देशों में ख्रिस्मस के समय यूल लॉग जलाने की प्रथा में मिलता है, जो कि यहाँ से निर्वासित लोग अपने साथ ले गये होंगे ।

चांद्रमासों का महत्त्व बढ़ जाने से अब ऋतुनिर्देश भी पौर्णिमा के चंद्रनक्षत्र से करने लगे थे । शततारका नक्षत्र में पूर्णचन्द्र होने पर दक्षिणायन का तथा वर्षा ऋतु का आरंभ होता था । इसलिये शततारका नक्षत्र का वरुण देवता निश्चित किया गया । आमांत भाद्रपद्, अश्विन, कार्तिक तथा मार्गशीर्ष महिनों में वर्षा होती थी । इस कारण इनमें से कई नक्षत्र जल से सम्बद्ध पाये जाते हैं ।

जैसे भरणी अथवा आपभरणी, कृत्तिका के 7 तारों के नाम (अंबा, दुला, नितनि, अभ्रयंति, मेघयंति, वर्षयंति तथा चुपुणिका), एवं आर्द्रा नक्षत्र। आजकल जैसे मृगशीर्ष से चित्रा तक के 10 नक्षत्र पर्जन्य नक्षत्र माने जाते हैं, उसी प्रकार उस समय शतभिषक् से आर्द्रा तक के 10 पूर्णचंद्र नक्षत्र पर्जन्य काल से जुड़े थे।

रुद्र काल में वसंतसंपात जेष्ठी पौर्णिमा से सम्बद्ध था। जेष्ठी पौर्णिमा के बाद सूर्य देवयान में प्रविष्ट होता था, इसलिये देवों के अगुवा ब्रह्मणस्पति को ज्येष्ठराज कहकर उनके नाम पर ऋग्वेद 2, 23 से 26 ये सूक्त रचे गये। यही ब्रह्मणस्पति आगे जाकर गणपति नाम से प्रसिद्ध हुए। गणपति को गजानन की संज्ञा क्यों प्राप्त हुई यह अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल नक्षत्रों पर दृष्टिपात करने पर सहज समझ में आता है।

8. कृत्तिकायुग से वेदाङ्गज्योतिष तक का काल

अब हम एक महत्त्वपूर्ण काल में प्रवेश करते हैं। ई. पू. 2300 में सूर्य के कृत्तिका नक्षत्र (γ Tau) पर वसंतसंपात होने लगा था। तथा सूर्य मघा (α Leo) के ठीक सामने (α Psa) के पास आने पर उत्तरायण का आरंभ होता था। इसलिये माघी पौर्णिमा को वर्षारंभ करने लगे थे। अधिक मासों के कारण उत्तरायण माघ मास में शु. 1 से अमावास्या तक कभी भी होता था। महाभारत का संभवतः यही काल था। क्योंकि उसमें भीष्मपितामह का देहावसान, जो कि उत्तरायणारंभ पर हुआ था, माघ शु. 8 का कहा गया है।

कृत्तिका युग में पंचांग में कई परिवर्तन हुए।

(1) वसंतसंपातीय कृत्तिका से नक्षत्रगणना आरंभ हुई। यह नक्षत्र तथा उनकी देवता इनकी सूची वेदों में पाई जाती है।

(2) गणनसुविधा के लिये नक्षत्रों की संख्या 28 से घटा कर 27 कर दी गयी। अभिजित् नक्षत्र को त्याग कर उसीको श्रवण तथा श्रवण को घनिष्ठा कहने लगे। यही नक्षत्रपद्धति आजतक चालू है, जो कि चित्र क्र. 1 (अ) और (आ) में निचले भाग में दर्शायी है।

(3) वर्षारंभ में परिवर्तन किया गया। संवत्सरयाग का वर्ष उत्तरायणारंभ तथा शिशिरऋतु से ही होता था। परंतु व्यावहारिक वर्ष वसंतऋतु से आरंभ करने लगे। अधिक मास के कारण माघी पौर्णिमा उत्तरायणारंभ के 15 दिन अगलबगल में आती थी। इसलिये औसतन् माघी पौर्णिमा को उत्तरायणारंभ लाने के लिये माघ शु. 1 को संवत्सरारंभ मानकर आमांत माघ को संवत्सर का पहिला महीना निश्चित किया गया। अतः वसंत ऋतु चैत्र शु. 1 को चालू करके चैत्र-वैशाखादि मासों को मधुमाधवादि नाम दिये गये (वाजसेनीय सं. 22-30 और 31)

(4) पंचवर्षीय युग में अधिक मास वर्ष के अंत में न रख कर हर 30 मास बाद उत्तरायण और दक्षिणायन के आरंभ के पहिले रखने लगे। वर्ष के अंत में आने वाले अधिकमास को संसर्प तथा मध्य में आने वाले अधिकमास को मलिम्लुच्य नाम दिया गया। क्षयमास को अम्हस्पति ये नाम पहिले ही मिला था।

(5) गणित की सुविधा के लिये वर्ष में 366 सावन दिन और 372 तिथियां रखकर 61 दिनों का एक ऋतु बनाया गया। प्रत्येक नक्षत्र को 184 भागों में तथा एक दिन को 603 कलाओं में बांटा गया।

इन सब परिवर्तनों को एकत्रित करके वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना हुई। परंतु सूर्य के धनिष्ठा नक्षत्र में प्रवेश करने पर उत्तरायण आरंभ होता है ऐसा उसमें लिखा है। अतः उसका काल कृत्तिकायुग के अंत में ई. पू. 1300 का आता है। वेदांग ज्योतिष में पंचवार्षिक युग के स्थान पर 19 वर्षीय युग (मेटॉनिक सायकल) का प्रतिपादन है ऐसा नागपुर के श्रीहोले का विचार है। इस विषय पर उन्होंने अपनी Vedic Astronomy पुस्तक में विस्तृत विवेचन किया है, वह उचित जान पड़ता है। कैसा भी हो हमारे पंचांग में समयोचित परिवर्तन होते आये हैं यह निर्विवाद सत्य है। आगे जाकर उत्तरायण सूर्य के आधुनिक श्रवण नक्षत्र पर होने लगा, तथा पंचांग में फिर से परिवर्तन हुआ यह जैन ज्योतिषग्रंथों से ज्ञात होता है।

9. सिद्धान्तग्रन्थ एवं आधुनिक काल

प्रथम आर्यभट (ई. स. 476) से लेकर द्वितीय भास्कराचार्य (ई. स. 1150) तक के काल में सिद्धान्तों का उदय हुआ। उस समय भारतीय ज्योतिष विश्व में चरम सीमापर पहुँचा था। सूर्य एवं चंद्र की गतिस्थिति के अतिरिक्त ग्रहों की मध्यम एवं स्पष्ट स्थिति, उनके उदयास्त, सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, छाया, लग्न, श्रृंगोन्नति इत्यादि विषयों पर तथा उनमें उपयुक्त रेखागणित और बीजगणित का उन में समावेश है। सिद्धान्तग्रन्थों का भारत में चारों तरफ प्रसार हुआ है तथा उन में अन्तर्भूत ज्ञानभंडार सर्वविदित है। आज भी कई पंचांग उन्हीं के नियमपर बनाये जाते हैं। अतः सिद्धान्तकाल की सीमा वर्तमान काल तक बढ़ाई जा सकती है। अब सिद्धान्तों में पंचांग की दृष्टि से क्या परिवर्तन किये गये उन का विचार करेंगे।

(1) एक कालविशिष्ट वसंतसंपात, (बहुमत से ई. 285 के याने चित्रापक्षीय वसंतसंपात), को मूलबिंदु मानकर कदंबवृत्त के 360 अंशों को 30 अंशीय मेषादि 12 राशियों में, तथा 13 1/3 अंशीय अश्विन्यादि 27 नक्षत्रों में विभाजित करके इन निरयन भोगांश-नक्षत्र-राशियों का उपयोग होने लगा।

(2) राशिसंक्रमण के आधार पर चैत्रादि चांद्रमासों के नाम, तथा अधिक एवं क्षयमास, निश्चित किये जाने लगे। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। परंतु उसके कारण वर्ष पूर्णतः नाक्षत्रवर्ष हो गया।

(3) सौर वर्ष का प्रारंभ मेषसंक्रांति से-उद्देशतः वसंतसंपात से-तथा चांद्रवर्ष चैत्र शु. 1 से प्रारंभ होने लगा। इसलिये वर्ष वसंतऋतु के आरंभ के बदले उसके मध्य से प्रारंभ होने लगा। यह वर्षारंभ में दूसरा बड़ा परिवर्तन था। (सारिणी क्र. 1 देखिये)।

(4) निरयन चांद्रमास तथा निरयन चंद्र-सूर्य-ग्रह स्थिति पर आधारित नये धर्मशास्त्र का उदय हुआ। यही धर्मशास्त्र आज भी प्रचलित है। ई. स. 285 में वसंतसंपात मेष संक्रान्ति पर,

दक्षिणायनारंभ कर्कसंक्राति पर शरदसंपात तुलासंक्राति पर तथा उत्तरायणारंभ मकरसंक्रांति पर होता था । धर्मशास्त्र उन्हीं से जुड़े होने के कारण पिछले 1700 वर्षों में करीब 24° अयनचलन होने के बावजूद आज भी धर्मशास्त्री उन्हीं को प्रमाण मानते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बात हमारे प्राचीन परंपरा के अत्यधिक विपरीत है । अतः पंचांग में तथा धर्मशास्त्रों में क्या परिवर्तन आवश्यक है इसका विचार करना होगा ।

यहाँ हमे सर्वप्रथम सिद्धान्तग्रन्थों के त्रुटियों पर नजर डालना चाहिये । इसमें दो मुद्दे सामने आते हैं । पहला यह की सिद्धान्तग्रंथों की गणितपद्धतियाँ न्यूटनीय गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त जैसे परखे हुए प्राकृतिक नियमों पर आधारित न होने से उनके फलित असूक्ष्म रह जाते हैं । दूसरा यह कि सिद्धान्तग्रन्थों में दिये हुए भगणादि अंक अब काफी परिष्कृत हो गये हैं । अतः पुराने अंकों के उपयोग से किये गये गणित का प्रत्यक्ष ग्रहस्थिति से मेल नहीं बैठता । इस कारण आधुनिक खगोलीय यामिकी के नियमानुसार तथा परिष्कृत अंकों पर आधारित पंचांग का ही उपयोग उचित होगा यह निःसंदेह मानना पड़ेगा । यह काम कलकत्ता के खगोलविज्ञान केंद्र (पोजिशनल ॲस्ट्रॉनॉमी सेंटर) में हो रहा है । भारत के सभी पंचागकर्त्ता उनके एकेमेरिस का ही उपयोग करेंगे यह उनसे अपेक्षित है । इससे वे पुराने सिद्धान्तग्रन्थों के बारे में लोगों के मन में जो भ्रम तथा गलत धारणायें हैं वे निश्चिततः दूर कर सकते हैं ।

10. पंचांग सुधार

ऊपर के विवेचनानुसार हमारा पंचांग हर 1000 वर्ष के कालांतर से बदला जाता रहा है । सिद्धान्तयुग आरंभ हुआ तब से 1700 वर्ष बीत चुके है । अतः पंचांग में सुधार की अत्यंत आवश्यकता है । क्योंकि पंचांग और ऋतु इनमें 24 दिन का अंतर पड़ गया है । अयनचलन के नियम अब पूर्णतः ज्ञात होने से नाम परिवर्तन चिरस्थायी बनाया जा सकता है । यहाँ इस लेख के दूसरे विभाग में चर्चित दो मुद्दों को अवश्यमेव ध्यान में रखना होगा । एक पारंपरिक निरयन नक्षत्रों का उपयोग, और दूसरा 'ऋतवः संवत्सरः' यह ध्येयवाक्य ।

भारतीय पंचांग के सुधार के विषय में पिछले सौ वर्षों में कई विद्वानों ने विचार किया है । उनके दो पक्ष हैं, जिन्होंने दो विभिन्न मार्गों का प्रतिपादन किया है । एक पक्ष के मत में प्रचलित निरयन पंचांग को ही चालू रखना चाहिये । ऋतुओं से उसका मेल अंत हो जाय तो भी पर्वाह नहीं । यह पक्ष मुस्लिम कॅलेंडर का हवाला दे कर यह कहता है कि उनके त्यौहार जैसे सब ऋतुओं में चक्कर लगाते हैं वैसे ही हमारे भी फिरते रहे तो क्या आपत्ति है ? परंतु यह हमारे परंपरा के विपरीत भी है, और उसके अतिरिक्त हमारा पंचांग कृषिप्रधान देश का पंचांग है यह दावा भी गलत साबित होगा ।

दूसरे पक्ष के मत में सायन नक्षत्रों तथा सायन राशियों का उपयोग करके पंचांग का ऋतुओं से सामञ्जस्य प्रस्थापित करना चाहिये । इस से धर्मशास्त्रों में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होगी । यह पद्धति भी परंपरा के विरुद्ध है । उसके अतिरिक्त नक्षत्र तथा महीनों का उनके

नामसंबंधित तारों से संपर्क पूर्णतः टूट जायगा। वास्तव में सायन (चल) नक्षत्र (अचल तारे) यह एक वदतोव्याघात है। और उनको अपनाकर हमारे पूर्ववर्ती इतिहास से विच्छेद करना बुद्धिमानी नहीं होगी।

मेघनाद साहा समिति ने स्वीकृत किया हुआ राष्ट्रीय पंचांग इसी दूसरी प्रणाली में बैठता है। इसीलिये वह सर्वपंचांगकर्ताओं को अमान्य है। राष्ट्रीय पंचांग को सर्वमान्य करना हो तो सर्वप्रथम उसका नक्षत्रों के बजाय ऋतुओं से प्रत्यक्ष संबंध प्रस्थापित करना पड़ेगा। अतः चैत्रवैशाखादि नक्षत्रों पर आधारित महिनों के नाम बदलकर ऋत्वाधारित नाम रखने होंगे। ऐसे नामों के कुछ पर्याय सारिणी क्र. 3 मे दिये है। उनमें से एक को अपना के वर्ष को वास्तव में ऋतुसंवत्सर बनाना पड़ेगा।

सारिणी क्र. 3-राष्ट्रीय पंचांग के मासों के नये नाम

ग्रेगरियन तारीख	साहा समिति का	अतीत का नाम	परिवर्तित ऋतुमास नाम
22 मार्च से 20 अप्रैल	चैत्र	अभिजित्	माधव अथवा वसंतमास
21 अप्रैल से 21 मई	वैशाख	विश्वजित्	शुक्र अथवा आतपमास
22 मई से 21 जून	ज्येष्ठ	आर्द्र	शुचि अथवा ग्रीष्ममास
22 जून से 22 जुलाई	आषाढ़	पिन्वमान्	नभ अथवा अभ्रमास
23 जुलाई से 22 अगस्त	श्रावण	उन्नवान्	नभस्य अथवा वर्षामास
23 अगस्त से 22 सितंबर	भाद्रपद	रसवान्	ईश अथवा निर्मलमास
23 सितंबर से 22 अक्टूबर	आश्विन	इरावान्	ऊर्जा अथवा शरदमास
23 अक्टूबर से 21 नवम्बर	कार्तिक	सर्वोषध	सहस अथवा सस्यमास
22 नवम्बर से 21 दिसम्बर	मार्गशीर्ष	संभर	सरस्य अथवा हेमन्तमास
22 दिसम्बर से 20 जनवरी	पौष	अरुण	तपस् अथवा शीतमास
21 जनवरी से 19 फरवरी	माघ	अरुणरज	तपस्य अथवा शिशिरमास
20 फरवरी से 21 मार्च	फाल्गुन	पुंडरीक	मधु अथवा मधुमास

इसके साथ ही राष्ट्रीय पंचांग को सर्वमान्य करने के लिये उसका रोज के व्यवहार में उपयोग होगा ऐसे कुछ कदम उठाने होंगे। उनमें वित्तीय वर्ष राष्ट्रीय पंचांग वर्ष के पहले दिन से याने 22 मार्च से आरंभ करना, तथा मासिक वेतन राष्ट्रीय पंचांग के हर पहिले तारीख को वितरित करना ये दो प्रमुख व्यावहारिक कदम होंगे। इससे प्रचलित अर्थव्यवस्था में कुछ ज्यादा परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है।

दैनिक व्यवहार के लिये राष्ट्रीय पंचांग अपनाने के उपरांत भी त्यौहारों के दिन निश्चित करने के लिये चांद्रसौर पंचांग की आवश्यकता फिर भी बनी रहेगी। इसके लिये एक नया पर्याय प्रस्तुत करने का ढाढ़स करना चाहता हूँ। इससे जिन त्यौहारों का अब ऋतुओं से संबंध नहीं रहा है उनके लिये प्रचलित निरयन पंचांग का उपयोग होता रहेगा। परन्तु ऋतुओं से संबंध रखने वाले त्यौहारों के दिन निश्चित करने के लिये दूसरी पद्धति अपनाई जायगी। इस नयी पद्धति को 'आदित्य पचांग' नाम देकर उसका विवरण अब प्रस्तुत करता हूँ।

11. नया आदित्य पंचांग

इसमें प्रचलित आमांत चांद्रमासों का उपयोग होगा। परन्तु जिस आमांत चांद्रमास में वसंतसंपात समाविष्ट होगा उसको वर्ष का पहिला महिना निश्चित किया जायगा। इस प्रकार कतिपय शकाब्दों के प्रचलित तथा परिवर्तित वर्षारंभ (युगादि) सारिणी क्र. 4 में दिये हैं। उससे ज्ञात होगा कि वर्तमान काल में 80% वर्ष फाल्गुन शु. 1 को एवं 20% वर्ष चैत्र शु. 1 को आरंभ होते हैं। अयनचलन के कारण चार-पाँच सौ वर्षों बाद करीब सब वर्ष फाल्गुन शु. 1 को आरंभ होंगे। और इस प्रकार वर्षारंभ का मास अपने आप बदलता जायगा।

सारिणी क्र. 4–आदित्य पंचांग के वर्षारंभ

शकाब्द	प्रचलित युगादि	संशोधित युगादि
1913	चैत्र शु. 1 (17 मार्च 1991)	चैत्र शु. 1 (17 मार्च 1991)
1914	चैत्र शु. 1 (4 अप्रैल 1992)	फाल्गुन शु. 1 (5 मार्च 1992)
1915	चैत्र शु. 1 (24 मार्च 1993)	फाल्गुन शु. 1 (22 फरवरी 1993)
1916	चैत्र शु. 1 (12 अप्रैल 1994)	फाल्गुन शु. 1 (13 मार्च 1994)
1917	चैत्र शु. 1 (1 अप्रैल 1995)	फाल्गुन शु. 1 (2 मार्च 1995)
1918	चैत्र शु. 1 (20 मार्च 1996)	चैत्र शु. 1 (20 मार्च 1996)

अब वर्षारंभ के मास बदलने से लोक असमंजस में पड़ सकते हैं। अतः वर्ष के 1 से 12 चांद्रमासों को चैत्रादि के अतिरिक्त मित्र, धाता, विवस्वान्, अर्यमा, इंद्र, वरुण, त्वष्टा, भग, अंशु, मार्तंड, दक्ष एवं सविता ये 12 आदित्यों के नाम दिये जायेंगे। इन 12 नामों का चयन क्यों और कैसे किया इसका स्पष्टीकरण परिशिष्ट क्र. 1 में दिया है। आदित्य पंचांग चांद्रसौर होने से उसमें अधिकमास आना अनिवार्य है। उसका निर्णय बहुत सरल है। सविता मास के तुरंत बाद आने वाले आमांत चांद्रमास में वसंतसंपात होगा तो वह व्याख्यानुसार मित्र मास होगा। नहीं होगा तो वो अधिक मास होगा जिसको 'ऋतु' नाम दिया है। इस प्रकार अगले 5 वर्षों के आदित्यमास तथा निरयन मास सारिणी क्र. 5 में दिये हैं।

सारिणी क्र. 5—आगामी 6 वर्षों के आदित्य मासारंभ तथा नक्षत्रमास

आदित्य मास	शक 1913	शक 1914	शक 1915
1 मित्र	17 मार्च 1991, चैत्र	5 मार्च 1992, फाल्गुन	22 फरवरी 1993, फाल्गुन
2 धाता	15 अप्रैल 1991, वैशाख	4 अप्रैल 1992, चैत्र	24 मार्च 1993, चैत्र
3 विवस्वान्	15 मई 1991, वैशाख	3 मई 1992, वैशाख	22 अप्रैल 1993, वैशाख
4 अर्यमा	13 जून 1991, ज्येष्ठ	2 जून 1992, ज्येष्ठ	22 मई 1993, ज्येष्ठ
5 इन्द्र	12 जुलाई 1991, आषाढ़	1 जुलाई 1992, आषाढ़	21 जून 1993, आषाढ़
6 वरुण	11 अगस्त 1991, श्रावण	30 जुलाई 1992, श्रावण	20 जुलाई 1993, श्रावण
7 त्वष्टा	9 सितंबर 1991, भाद्रपद	29 अगस्त 1992, भाद्रपद	18 अगस्त 1993, भाद्रपद
8 भग	8 अक्टूबर 1991, आश्विन	27 सितंबर 1992, आश्विन	17 सितंबर 1993, आश्विन
9 अंशु	7 नवम्बर 1991, कार्तिक	26 अक्टूबर 1992, कार्तिक	16 अक्टूबर 1993, आश्विन
10 मार्तंड	7 दिसंबर 1991, मार्गशीर्ष	25 नवम्बर 1992, मार्गशीर्ष	14 नवम्बर 1993, कार्तिक
11 दक्ष	5 जनवरी 1992, पौष	25 दिसंबर 1992, पौष	14 दिसंबर 1993 मार्गशीर्ष
12 सविता	4 फरवरी 1992, माघ	23 जनवरी 1993, माघ	12 जनवरी 1994 पौष
13 ऋभु	———	———	12 फरवरी 1994 माघ

आदित्य मास	शक 1916	शक 1917	शक 1918
1 मित्र	13 मार्च 1994, फाल्गुन	2 मार्च 1995, फाल्गुन	20 मार्च 1996, चैत्र
2 धाता	12 अप्रैल 1994, चैत्र	1 अप्रैल 1995, चैत्र	18 अप्रैल 1996, वैशाख
3 विवस्वान्	11 मई 1995, वैशाख	30 अप्रैल 1995, वैशांख	18 मई 1996, ज्येष्ठ
4 अर्यमा	10 जून 1994, ज्येष्ठ	30 मई 1995, ज्येष्ठ	17 जून 1996, अ. आषाढ़
5 इन्द्र	9 जुलाई 1994, आषाढ़	29 जून 1995, आषाढ़	16 जुलाई 1996, आषाढ़
6 वरुण	8 अगस्त 1994, श्रावण	28 जुलाई 1995, श्रावण	15 अगस्त 1996, श्रावण
7 त्वष्टा	6 सितंबर 1994, भाद्रपद	27 अगस्त 1995, भाद्रपद	13 सितम्बर 1996, भाद्रपद
8 भग	6 अक्टूबर 1994, आश्विन	25 सितंबर 1995, आश्विन	13 अक्टूबर 1996, आश्विन
9 अंशु	4 नवम्बर 1994, कार्तिक	25 अक्टूबर 1995, कार्तिक	12 नवम्बर, 1996, कार्तिक
10 मार्तंड	3 दिसंबर 1994, मार्गशीर्ष	23 नवम्बर 1995, मार्गशीर्ष	11 दिसम्बर 1996, मार्गशीर्ष
11 दक्ष	2 जनवरी 1995, पौष	23 दिसम्बर 1995, पौष	10 जनवरी 1997, पौष
12 सविता	31 जनवरी 1995, माघ	21 जनवरी 1996, माघ	8 फरवरी 1997 माघ
13 ऋभु	———	19 फरवरी 1996, फाल्गुन	———

आदित्य पंचांग में मित्र-धाता वसंत ऋतु, विवस्वान्-अर्यमा ग्रीष्म ऋतु, इंद्र-वरुण वर्षा ऋतु, त्वष्टा-भग शरदृतु, अंशु-मार्तंड-हेमंत ऋतु एवं दक्ष-सविता शिशिर ऋतु यह सामंजस्य हमेशा के लिये स्थापित होगा। अतः ऋत्वाधारित त्यौहार आदित्य मासों से निश्चित किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये देवशयनी एवं प्रबोधिनी एकादशियाँ वर्षाकाल से संबंधित हैं। क्योंकि इन चार महीनों में देव याने नक्षत्र अभ्र से ढँक जाने से अदृश्य याने निद्रित रहते हैं। इस आधार पर देवशयनी

एकादशी आषाढ़ शु. 1 के स्थान पर अर्यमा शु. 1 को तथा प्रबोधिनी एकादशी कार्तिक शु. 1 के स्थान पर भग शु. 1 को माननी चाहिये।

कौन से त्यौहार निरयन चांद्रमासों पर आधारित है एवं कौन से त्यौहार आदित्य मासो पर आधारित होना चाहिये इसका निर्णय करने के लिये धर्मशास्त्रियों ने मिल बैठ कर विज्ञानाधारित नये नियम बनाने की आवश्यकता है। उसी से नये परिवर्तित एवं शुद्ध धर्मशास्त्र का निर्माण होगा। मेरे विचार से कुछ ऋत्वाधारित त्यौहारों की सूचि सारिणी क्र. 6 से दी है।

सारिणी क्र. 6—कतिपय ऋत्वाधारित त्यौहार

त्यौहार	तिथि	ग्रेगरियन तारिख
युगादि (वर्षप्रतिपदा)	मित्र शु. 1	मार्च 6±15 दिन
होली (वसंत पौर्णिमा)	मित्र शु. 15	मार्च 20±15 दिन
अक्षय तृतीया (ग्रीष्म तृतीया)	विवस्वान् शु. 3	मई 7±15 दिन
देवशयनी एकादशी	अर्यमा शु. 11	जून 12±15 दिन
दक्षिणायन पौर्णिमा	अर्यमा शु. 15	जून 16±15 दिन
नारियल पौर्णिमा (पर्जन्य पौ.)	वरुण शु. 15	अगस्त 16±15 दिन
विश्वकर्मा पौर्णिमा	त्वष्टा शु. 15	सितंबर 14±15 दिन
विजयादशमी	भग शु. 10	अक्टूबर 7±15 दिन
प्रबोधिनी एकादशी	भग शु. 11	अक्टूबर 8±15 दिन
दिवाली	भग शु. 30	अक्टूबर 27±15 दिन
उत्तरायण प्रतिपदा (पोंगल)	दक्ष शु. 1	दिसंबर 26±15 दिन
शरद, हेमंत एवं शिशिर पौर्णिमा	भग शु. 15, अंशु, शु. 15, सवित शु. 15	अक्टूबर 12, नवम्बर 12 एवं फरवरी 8

मेरा आदित्य पंचांग का प्रस्ताव क्रांतिकारी जरूर है। परंतु ऐसे ही क्रांतिकारक परिवर्तन की नितांत आवश्यकता है ऐसा समझकर मैंने उसको विनयपूर्वक प्रस्तुत किया है। पंचांग तथा धर्मशास्त्रों के अधिकारी व्यक्ति उस पर यथोचित ध्यान देंगे ऐसी आशा करते हुये यह लेख समाप्त करता हूँ।

●

परिशिष्ट 1—आदित्य मासों के नामों का चयन

वैदिक साहित्य में आदित्यों के 17 नाम पाये जाते हैं। वे हैं—मित्र, धाता, अर्यमा, वरुण, भग, विवस्वान्, अंशु, मार्तंड, सविता, सूर्य, पूषा, त्वष्टा, विष्णु, रुद्र, इंद्र, दक्ष एवं क्रतु। बारह मासों के लिये इनमें से 12 आदित्यों का चयन करना है। विष्णु और रुद्र (शिव) अब विशिष्ट देवताओं के

नाम हो गये हैं। सूर्य तो सूर्य ही है तथा क्रतु शब्द यज्ञ के लिये उपयोग में लाया जाता है। पूषा पौष से मेल खाता है। अतः इन 5 नामों को छोड़कर बाकी 12 नामों का उपयोग करना योग्य जान पड़ता है। अब कौन से महीने को कौन सा नाम देना उचित होगा इसका विचार करेंगे।

आदित्य पंचांग का पहला महीना, जो कि साधारणतः मार्च में आयगा, पहला होने से उसे पहले आदित्य 'मित्र' का नाम उचित है।

दूसरा महीना (साधारणतः अप्रैल) वसंतऋतु का मुख्य मास होने से उत्पत्तिकर्ता 'धातृ (धाता)' का नाम उसके लिये उचित है।

तीसरे महीने मे (साधारणतः मई) सूर्यका उदय जल्दी होता है, अतः उसे प्रातःकालीन सूर्य याने 'विवस्वान्' कहना योग्य है।

चौथे महीने में (साधारणतः जून) दक्षिणायनारंभ होता है, अतः उसे पितृदेवता 'अर्यमा' नाम दिया है।

पाँचवाँ महीना (साधारणतः जुलाई) बिजली की चमक तथा बादलों का गड़गड़ाहट से भरा होने से उसे वज्रधारी 'इन्द्र' कहा है।

छठाँ महीना (साधारणतः अगस्त) पर्जन्यवृष्टी का महीना होने से उसे जलदेवता 'वरुण' नाम सार्थक है।

सातवें महीने में (साधारणतः सितंबर) सूर्य पुनः दृष्टिगोचर होता है और इसी महीने में विश्वकर्मा दिवस मनाया जाता है, अतः उसे 'त्वष्टा' नाम उचित है।

आठवें महीने में (साधारणतः अक्टूबर) खरीफ धान्योत्पादन होने से उसे भाग्यदायक 'अंशु' नाम योग्य है।

नवें महीने में (साधारणतः नवम्बर) धान्य जमा करके उसका बटवारा होता है, अतः उसे वितरक 'अंशु' का नाम दिया है।

दसवें महीने में (साधारणतः दिसम्बर) सूर्य का प्रकाश मंद पड़ जाता है, अतः उसे अर्धजन्मा 'मार्तंड' कहा है।

ग्यारहवें महीने में (साधारणतः जनवरी) सूर्य फिर अपना तेज प्राप्त करने लगता है, अतः उसे सृजनशक्ति के दाता 'दक्ष' का नाम योग्य है।

बारहवें महीने में (साधारणतः फरवरी) सूर्य की बढ़ती हुई ऊर्जा मनुष्य को प्रेरणा देने लगती है, अतः उसे धीवृद्धिकारक 'सविता' कहना उचित है।

अधिक मास के लिये 'ऋभु' नाम इसलिये दिया है कि वे ही ऋतुसंवत्सर को पहचान के उसकी सूचना देते थे।

●

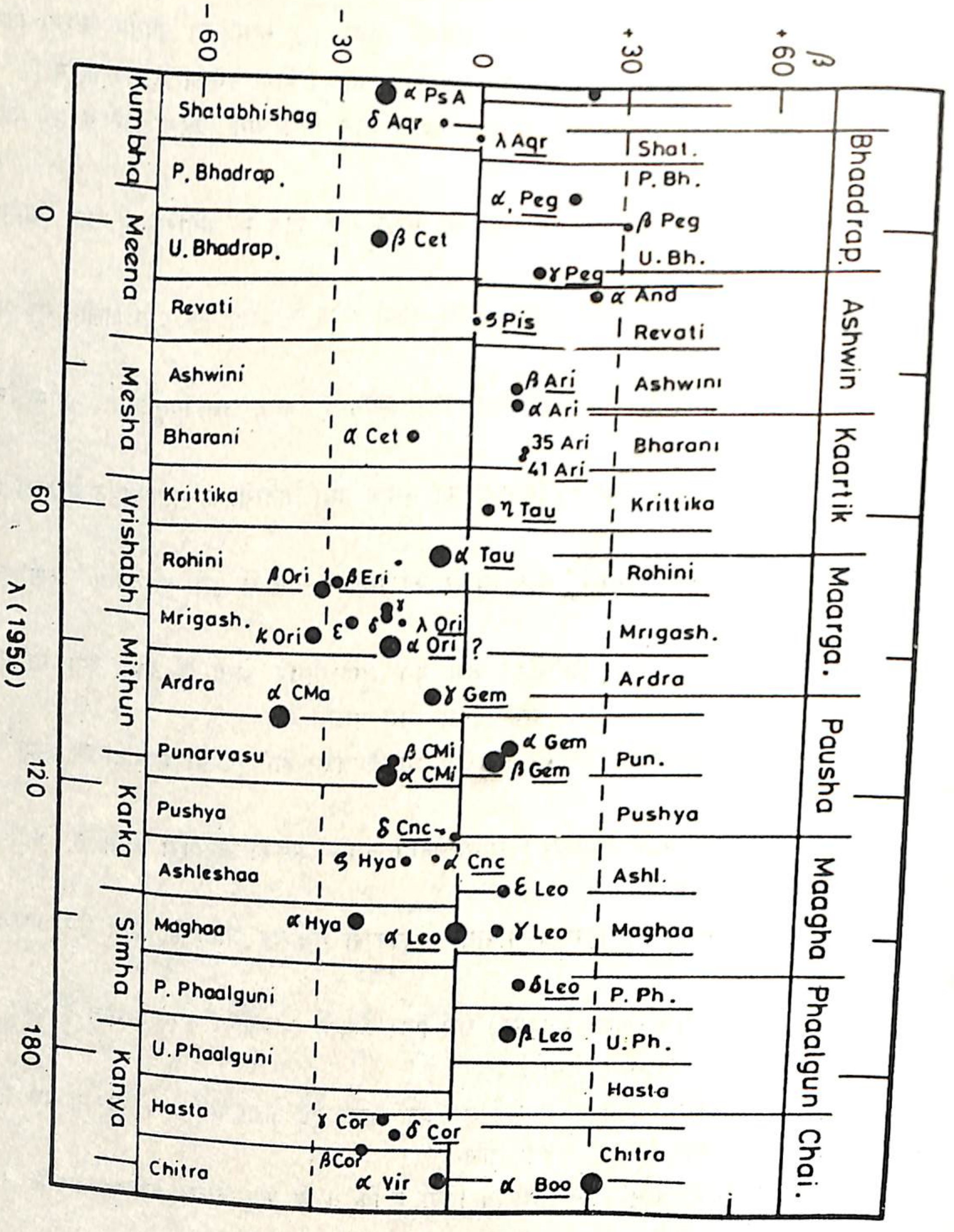

चित्र क्र. १ (अ)–शतभिषक् से चित्रा तक के नक्षत्र ।
(ऊपरी भाग में पूर्ववर्ती २८ नक्षत्र,
निचले भाग में वर्तमान २७ नक्षत्र.)

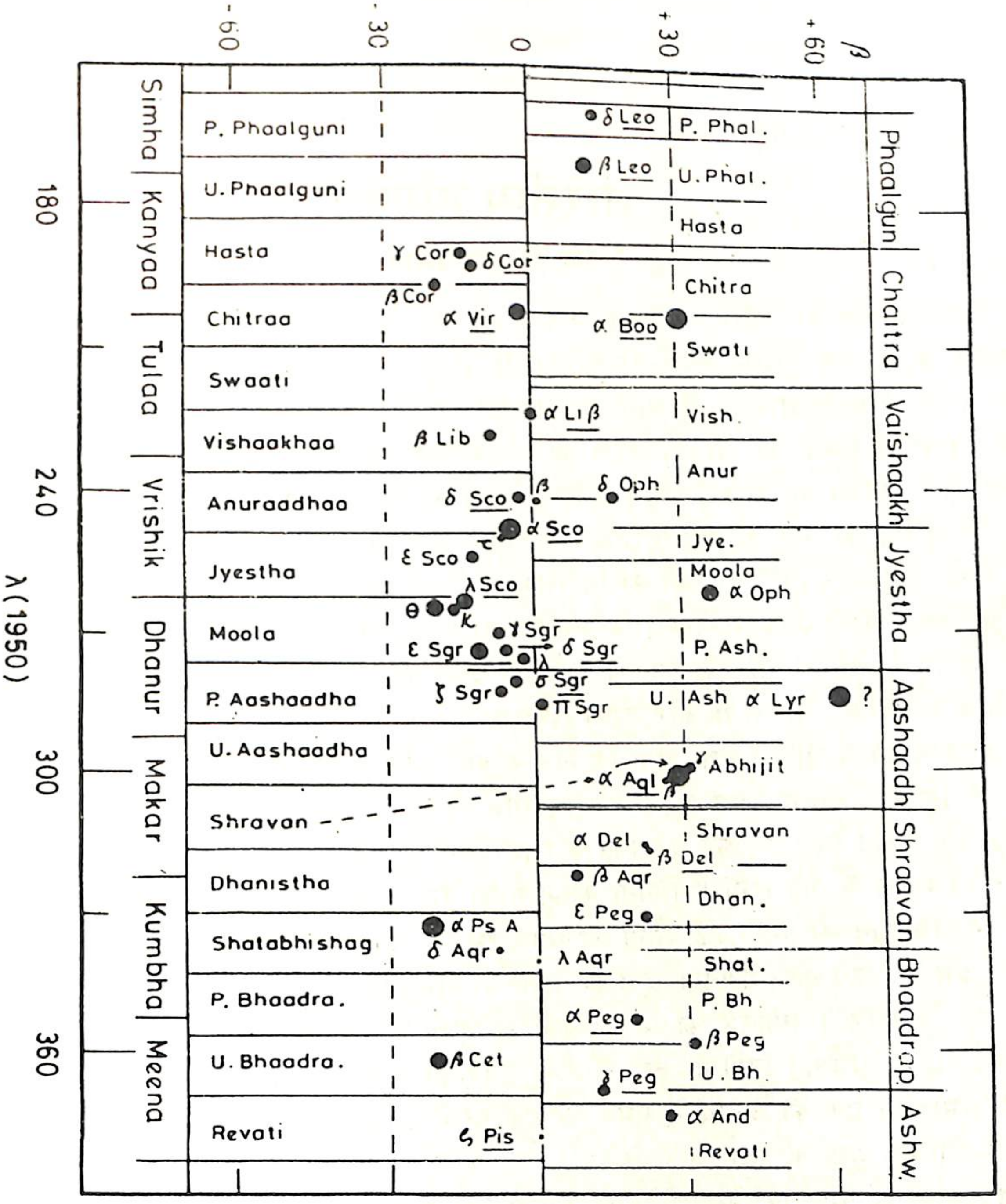

चित्र क्र. १ (आ)–पूर्वाफाल्गुनी से रेवती तक के नक्षत्र।
(ऊपरी भाग में पूर्ववर्ती २८ नक्षत्र,
निचले भाग में वर्तमान २७ नक्षत्र.)

भारतीय ज्योतिष

श्री चंद्रिका प्रसाद

आजकल जब हम तारीख का पता कैलेंडर से लगा लेते हैं, या फिर रोज आने वाले दैनिक अखबार से, तो हम पुरातन काल की कठिनाइयों की कल्पना भी नहीं कर सकते जो दिन-गणना और उनका लेखा-जोखा रखने में आती थी। प्राचीन भारत में ज्योतिष का आविर्भाव दो कारणों से हुआ। एक तो कृषक को इस जानकारी की आवश्यकता थी कि खेत में बीज कब बोये। दूसरे, पंडित और पुरोहित यह जानना चाहते थे किसी कार्यारंभ का कौन-सा मुहूर्त शुभ है।

दिन-गणना का कार्य संभवतः पुरोहितों को सौंपा गया होगा, जो इसके लिए नियमित रूप से सूर्य, चन्द्र, ग्रहों और तारों की गति का निरीक्षण करते रहे होंगे। यह स्वाभाविक है कि बिना किसी यंत्र के, केवल कोरी आँख से देखने पर ज्योतिष का पूरा ज्ञान उनके लिए संभव नहीं रहा होगा। फिर भी बिना यंत्रों के जो कुछ जानकारी उन्होंने प्राप्त की वह आश्चर्यजनक है, और इससे पता लगता है कि कितनी मेहनत से और काफ़ी लम्बे समय तक उन्होंने अपने निरीक्षण किये होंगे।

आदि मानव ने भी यह देखा होगा कि दिन के बाद रात्रि आती है और रात्रि के बाद दिन और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। दिन और रात्रि की अवधि को इकाई मानकर वह घटनाओं की गणना कर सकता था। पर कई घटनाओं के लिए यह इकाई छोटी पड़ती; जैसे किसी बच्चे की उम्र महीने, दो महीने के बाद दिनों में गिनना कठिन पड़ता रहा होगा।

जैसे-जैसे ज्ञान की प्रगति हुई, लोगों का ध्यान इस पर गया होगा कि चन्द्रमा, जो एक दिन पूरा गोल रहता है, घटते-घटते पूर्णतया लुप्त हो जाता है और फिर प्रकट होकर बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा का चाँद बन जाता है। ज्योतिष का प्रारंभ तभी से हुआ जब लोगों को यह ध्यान में आया कि अमावस्या (या पूर्णिमा) नियमित रूप से ठीक उतने ही दिन बाद आती है। एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक की अवधि ने समय की एक दूसरी इकाई दी, जो दिन की इकाई से बड़ी है, पर यह भी कई बातों के लिए छोटी थी।

इस बात का ध्यान कि ऋतुएँ नियमित रूप से एक के बाद एक आती है और लगभग एक ही अवधि के बाद आती हैं, काफ़ी समय बाद आया होगा। एक तो यह बात प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ती, फिर ऋतुएं कुछ आगे-पीछे भी आती हैं। जिन्होंने सतर्कता से निरीक्षण किया होगा और गर्मी के बाद पहली वर्षा से लेकर अगली पहली वर्षा में कितने दिन बीते, इसका लंबे समय तक

लेखा-जोखा रखा होगा, केवल उन्होंने ही देख पाया होगा कि यह अवधि लगभग एक समान रहती है। इसी से 'वर्ष' के नाम से ज्ञात समय की इकाई निकली, जो 'वर्षा' से सम्बन्धित है।

जैसा ऊपर बताया है, ऋतुएँ पूर्णतया नियमित नहीं हैं–वे अकसर कुछ आगे-पीछे आती हैं। इसलिए केवल इनके निरीक्षण से वर्ष में दिनों की संख्या ठीक-ठीक जानना कठिन होता। इसकी कहीं अधिक संभावना है, और वेद के कुछ श्लोकों से इसकी पुष्टि भी होती है, कि तारों के बीच सूर्य की गति का अध्ययन किया गया होगा। इसे समझने के लिए हम देखें कि पृथ्वी की दो गतियाँ हैं। एक तो पृथ्वी अपने अक्ष के चारों ओर चौबीस घंटे में घूम जाती है। दूसरे, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर अपनी कक्षा में एक वर्ष में पूरा चक्कर लगाती है। पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने के कारण सूर्य, चन्द्र और तारे पूर्व में उदित होते हैं और पश्चिम में अस्त हो जाते हैं, और पृथ्वी का पूरा चक्कर 24 घंटे में लगाते हुए दीखते हैं।

पृथ्वी का अपनी कक्षा में भ्रमण करने के कारण सूर्य तारों की पृष्ठभूमि के ऊपर चलता हुआ दिखाई देता है। सूर्य की तुलना में तारे हमसे बहुत दूर हैं। इसीलिए जब पृथ्वी अपनी कक्षा में चलती है तो लगता है कि सूर्य तारों के बीच एक पट्टिका में चल रहा है, और पूरा चक्कर एक वर्ष में लगाता है। इस बात का ध्यान हमारे पुरातन काल के भारतीय ज्योतिषियों ने किया होगा। अवश्य ही, जब सूर्य चमकता है तो तारे दिखाई नहीं देते हैं। पर उन्होंने इस पर ध्यान दिया होगा कि ठीक सूर्योदय के पहले पूर्व के क्षितिज पर कौन-सा तारा-समूह दिखाई दे रहा है। उन्होंने देखा होगा कि ऋतुओं के बदलने पर ये तारा-समूह भी बदलते हैं और एक वर्ष के बाद फिर वही तारे दिखाई पड़ते हैं। इससे उन्हें वर्ष का उचित अनुमान लगाने में सुविधा हुई होगी।

आरम्भ में यह स्वाभाविक ही था कि मास में 30 दिन लिये जायें (क्योंकि हमारे हाथों में 10 ऊँगलियाँ हैं), और वर्ष में 12 मास। इस प्रकार वर्ष में 360 दिन हुए। किन्तु और ठीक जाँच से पता चला होगा कि चन्द्र-मास 30 दिन का न होकर लगभग $29^1/2$ दिन का होता है। फिर वर्ष भी $365^1/4$ दिन का होता है। इसमें एक तो चन्द्रमा की गति पर निर्भर करता है और दूसरा सूर्य गति पर। इसलिए स्वाभाविक है कि दोनों में ठीकोठीक मेल न हो। यह बात तभी देखी गई होगी जब काफ़ी लंबे समय तक निरीक्षण किया गया होगा। क्योंकि भारतीय पंचांग में मास चन्द्रमा के अनुसार गिना जाता है, कुछ महीनों में दिन घटा दिये जाते हैं और कुछ में बढ़ा दिये जाते हैं। यही कारण है कि कभी कभी एक ही दिन में दो तिथियाँ पड़ती हैं। महीनों का वर्ष के साथ सामञ्जस्य करने के लिए, किसी किसी वर्ष में एक महीना और बढ़ा दिया जाता है। इसे 'अधिमास' या 'मलमास' कहते हैं। अब जो कुछ ऊपर बता चुके हैं उसके संदर्भ में हम भारतीय ज्योतिष के विकास का सर्वेक्षण करें। हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ वेद, उपनिषद् और ब्राह्मण हैं। उपनिषद् और ब्राह्मण तो वेद ही के अंग हैं। वेदों की उत्पत्ति का समय ईसा से 2500 से 3000 वर्ष पूर्व आँका जा सकता है। इसके काल-निर्णय के बारे में हम बाद में बतायेंगे। वेदों के

काल के बार में विवाद है; कुछ लेखक जैसे लोकमान्य तिलक इसे और पहले का–लगभग 1000 वर्ष ईसा पूर्व–बताते हैं, और कुछ पाश्चात्त्य लेखक इसे बहुत बाद का बताते हैं।

वेदों और उपनिषदों में साधारणतः देवताओं की स्तुति में श्लोक हैं। पर वे केवल यहीं तक सीमित नहीं हैं। वे जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों पर प्रकाश डालते हैं। इन्हीं में से कुछ श्लोकों से हमें उस समय के ज्योतिष का ज्ञान मिलता है। पर ये श्लोक केवल ज्योतिष की बातें बताने के लिए नहीं कहे गये हैं, बल्कि देवताओं की स्तुति करते समय ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी भी दे दी गयी है।

ऋग्वेद के कुछ श्लोकों से हमें पता चलता है कि सूर्य प्रकाश का उद्‌गम है, सबसे अधिक वेगवान है, दिन और रात्रि को नापता है, और तारों और रात्रि को चोरों की तरह भगा देता है। सूर्य के रथ में सात घोड़े हैं। कभी-कभी यह अंधकार से ढँक जाता है; इत्यादि। चन्द्रमा ऋतुओं का नियन्त्रण करता है और बारम्बार जन्म लेता है। सूर्य और चन्द्र बारी-बारी से ऊपर उठते हैं और एक के पीछे एक चलते हैं। वर्ष में 12 मास और 360 दिन होते हैं और यह 90 दिनों के चार भागों में बँटा है।

जैसा पहले बता चुके हैं श्लोकों में बहुत-सी इधर-उधर की बातें भी रहती हैं। एक श्लोक जिसमें वर्ष के दिनों के बारे में कहा है, यों है: सत्यरूप सूर्य देवता का पहिया, जिसमें बारह तीलियाँ हैं, आकाश में चारों ओर चक्कर लगाता है और कभी-भी पुराना नहीं होता। इस पहिये में 720 पुत्र के समान रहते हैं (अर्थात् 360 दिन और 360 रात्रि)।

ऋग्वेद में अधिमास की चर्चा है और कुछ नक्षत्रों की भी चर्चा है। मैं यहाँ नक्षत्रों की बात समझा दूँ। यह भारतीय ज्योतिष की विशेषता है और पाश्चात्य ज्योतिष में नहीं पाई जाती। हम देख चुके हैं कि पृथ्वी के सूर्य का चक्कर लगाने के कारण, सूर्य तारों की पृष्ठभूमि पर चलता दिखाई देता है। तारों की जिस पट्टिका में सूर्य चलता दिखाई देता है, उसे बारह भागों में बाँट दिया गया है। इन्हीं भागों को 'राशि' कहते हैं। पाठक संभवतः इनके नामों से (कर्क, मिथुन, सिंह, आदि से) परिचित होंगे। सूर्य प्रत्येक राशि में एक मास तक रहता है। इसी प्रकार, तारों की पृष्ठभूमि पर चन्द्रमा जिस पट्टिका से होकर जाता है उसको प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने 27 बराबर भागों में बाँट दिया था और प्रत्येक भाग को एक नक्षत्र का नाम दे दिया। नक्षत्र का नाम उस भाग में पड़ने वाले किसी चमकीले तारे के नाम से जाना जाता था। कुछ नक्षत्रों के नाम हैं: कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, आदि। चन्द्रमा को तारों की पृष्ठभूमि में पूरा चक्कर लगाने में $27^1/3$ दिन लगते हैं, और इस प्रकार चन्द्रमा प्रत्येक नक्षत्र में एक दिन रहता है। ऋग्वेद में नक्षत्रों की चर्चा से पता चलता है कि उस समय लोगों को चन्द्रमा की गति का ज्ञान था।

ऋग्वेद में (जो सबसे पहले का वेद है) कुछ नक्षत्रों की चर्चा है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में सत्ताइस नक्षत्रों की पूरी सूची है जो कृत्तिका से आरम्भ होती है। यह भी बताया है कि वर्ष का आरंभ फल्गुनी नक्षत्र की पूर्णिमा से होता है। अथर्ववेद में कई स्थानों पर ग्रहण की भी चर्चा है।

कौशीतकी ब्राह्मण में सूर्योदय के समय सूर्य की दिशा का सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया गया है। क्षितिज के जिस बिन्दु पर सूर्य उदय होता है वह पूर्व में स्थिर नहीं रहता। क्रांतिवृत्त की तिर्यकता के कारण सूर्य की क्रान्ति–$23^{1}/2^{0}$ से बढ़कर $+231/2^{0}$ तक जाती है और फिर वापस –$23^{1}/2^{0}$ तक आती है। इसलिए सूर्योदय का बिन्दु पूर्व के एक ओर से दूसरी ओर खिसकता रहता है। कौशीतकी ब्राह्मण में इसका पूरा विवरण है कि किस प्रकार यह बिन्दु पहले दक्षिण की ओर जाता है, कुछ दिनों वहाँ स्थिर रहता है, तब फिर उत्तर की ओर चलता है। यह सब बताता है कि वेद-काल में ज्योतिष उन्नत अवस्था में था और नियमित तथा सुचारु निरीक्षण पर आधारित था।

वेदों का समय निर्णय करने के लिए हमें इन्हीं ज्योतिषीय तथ्यों तथा अयन की क्रिया पर निर्भर करना पड़ता है। पृथ्वी का अक्ष, अर्थात् आकाश में उत्तरी ध्रुव की स्थिति स्थिर नहीं रहती, बल्कि एक लघु वृत्त में 100 वर्ष में लगभग $1^{1}/2^{0}$ की चाल से चलती है। अयन की क्रिया समझने के लिए हम एक नाचते हुए लट्टू को देखें। जब लट्टू का अक्ष खड़ा न होकर तिरछा होता है, तो यह अक्ष भी धीरे-धीरे खड़ी रेखा के चारो ओर घूमता है। पृथ्वी का अक्ष भी ठीक इसी प्रकार, किन्तु बहुत धीरे-धीरे घूम रहा है। अयन के कारण हजारों वर्ष के अन्तर पर आकाश में तारों का नक्शा बदली हुई स्थिति में दिखाई पड़ेगा। यह तथ्य और वेदों में चर्चित कुछ प्रसंगों से वेदों के काल का अनुमान होता है।

सबसे मुख्य प्रसंग शतपथ ब्राह्मण में है। इसमें कहा है कि कृत्तिका नक्षत्र पूर्व से हटता नहीं, जबकि और तारे हट जाते हैं। इसका अर्थ सभी विद्वानों ने यही लगाया है कि उदय के समय कृत्तिका सर्वदा क्षितिज के पूर्व बिन्दु पर रहता है। अयन के कारण कृत्तिका ठीक पूर्व में केवल कुछ ही शताब्दियों तक उदय होगा। गणना से पता लगता है कि ऐसा 2500 ईसा पूर्व में होगा। वेदों का काल इतना पहले होगा इस पर कुछ विद्वानों ने आपत्तियाँ उठाई हैं, पर उन आपत्तियों का खंडन समुचित रूप से किया जा सकता है।

इसके समर्थन में और भी प्रमाण हैं। वेदों में नक्षत्रों की जो सूची दी है वह कृत्तिका से आरम्भ होती है, जबकि बाद की सूचियाँ अश्विनी से आरम्भ होती हैं। अवश्य ही कोई कारण होगा, सूचियों का आरम्भ कृत्तिका से करने का और बाद में उसे बदल कर अश्विनी से आरम्भ करने का। कारण यही हो सकता है कि उस समय विषुव कृत्तिका पर था। बाद में जब अयन के कारण विषुव अश्विनी पर आ गया तो सूची का आरम्भ अश्विनी से होने लगा। इससे भी वेदों का वही समय 2500 ईसा पूर्व निकलता है।

एक तीसरा प्रमाण ध्रुव तारे का है। आज भी रीति है कि विवाह के समय वर वधू को ध्रुव तारा दिखाकर कहता है कि वधू उसके प्रति उतनी ही अचल रहे जैसे ध्रुव तारा अचल है। यह बड़ी पुरातन रीति है, क्योंकि इसकी चर्चा सभी गृह्यसूत्रों में की है। किन्तु अयन के कारण बीच की अवधि में कोई ध्रुव तारा नहीं था (अर्थात् पृथ्वी के अक्ष के सीधे ऊपर कोई चमकीला तारा नहीं

था)। केवल 2800 ईसा पूर्व के कुछ शताब्दी इधर-उधर एक ध्रुव तारा रहा होगा (α–ड्रेकॉनिस)। इस प्रकार इस रीति का प्रारम्भ इस वर्ष के तीन शताब्दी के भीतर ही हुआ होगा।

वैदिक ग्रन्थों के बाद भारतीय ज्योतिष की जानकारी हमें 'ज्योतिष वेदाग' नाम की एक संक्षिप्त और सुगठित पुस्तक से मिलती है। इस पुस्तक के विषयवस्तु से हम इसके समय का अनुमान 1200 ईसा पूर्व लगा सकते हैं। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह पुस्तक केवल ज्योतिष के बारे में है। इसका ध्येय धार्मिक अनुष्ठानों के लिए शुभ घड़ी का पता लगाना है। इस ग्रन्थ के दो मूल-पाठ मिलते हैं, एक में 36 श्लोक है और दूसरे में 44। दोनों में अधिकांश श्लोक एक ही हैं और विषय-वस्तु भी वही है।

इन श्लोकों का अर्थ निकालना बहुत कठिन सिद्ध हुआ। कभी-कभी उनके गलत अर्थ भी दे दिये गये। इस कठिनाई का कारण यह था कि कोई भी श्लोक किसी नियम को पूर्ण रूप से नहीं वर्णित करता था, केवल उसका संकेत भर दे देता था। दो पंक्तियों के श्लोक मे बहुत सी सामग्री भर दी गई है। एक विशिष्ट उदाहरण निम्न श्लोक का है जिसमें 27 नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं:

जौद्राग: खेश्वेहिरोषा चिन्मूषक्ण्य सूमा धान:
रेमृघास्वापोजं: कृष्योहज्येष्ठा इयृक्षालिंगे या।

श्लोक का प्रत्येक अक्षर एक नक्षत्र का नाम बताता है। उदाहरण के लिए: जौ = अश्वयुजौ = अश्विनी; द्रा = आर्द्रा; ग: = भग: (पूर्वा फाल्गुनी के देवता); इत्यादि। इस विचार से कि पूर्वा फाल्गुनी और उत्तरा फाल्गुनी जैसे नक्षत्रों के मिलते-जुलते नामों से संदिग्धता न उत्पन्न हो, इन नक्षत्रों के देवताओं के नाम के संकेत दिये हैं। साथ ही जिस क्रम में नक्षत्र इस श्लोक में दिये गये हैं, पूर्णिमा (या अमावस्या) इन नक्षत्रों में उसी क्रम में होती है। यह सचमुच ही विलक्षण बात है कि नक्षत्रों को असंदिग्धता से दर्शाने के लिए 27 अक्षर चुने जायें, उन्हें पूर्णिमा होने के क्रम में रखा जाय, और श्लोक की लय भी न टूटे।

इस पुस्तक से हम यह भी जान पाते हैं कि उस समय 5 वर्ष का चक्र मानते थे, अर्थात् सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र 5 वर्ष बाद अपनी पुरानी स्थिति पर लौट आते हैं–ऐसा समझते थे। यह चक्र जाड़े के सबसे छोटे दिन से आरम्भ होता था, जब चन्द्रमा श्रविष्ठा नक्षत्र में होता था। दर्ष में 366 (सावन) दिवस होते थे, और 5 वर्षों में 2 अधिक चन्द्र-मास होते थे। ज्योतिष वेदांग के मुख्य अंश सूर्य और चन्द्र की नक्षत्रों के सापेक्ष गति की गणना करना बताते हैं; और इसकी भी गणना कि पूर्णिमा, अमावस्या और संक्रान्ति के समय चन्द्रमा किस नक्षत्र में होगा। सूर्य और चन्द्रमा की केवल औसत गति दी है और इनके वर्तमान मानों की तुलना में ये मान काफ़ी स्थूल हैं।

वैदिक ग्रन्थों और वेदांग ज्योतिष के बाद जो ग्रन्थ हमें मिलते हैं वे गुप्त वंश के राज्य के समय के हैं। भारत के इतिहास में यह सुनहरा काल माना जाता है। इस काल में कला और विज्ञान दोनों की उन्नति हुई। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इस काल में तीन नामी ज्योतिषविद्

हुए हैं। आर्यभट ने 500 सन् के लगभग 'आर्यभटीय' लिखा; वराहमिहिर ने सन् 550 में 'पंच सिद्धान्तिका' लिखा; और ब्रह्मगुप्त ने सन् 628 में अपना 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' लिखा। इसके बाद के समय में कोई नया कार्य नहीं हुआ। केवल अंकीय मानों में कुछ सुधार किये गये। इन तीनों ज्योतिषविदों में आर्यभट अति प्रतिभावान् थे। उन्होंने सूर्य, चन्द्र और ग्रहों की औसत गतियाँ दी हैं और उनकी सही स्थिति की गणना के सूत्र भी दिये हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि पृथ्वी गोल है और अपने अक्ष पर घूमती है; तथा ग्रहण चन्द्रमा और पृथ्वी की छाया पड़ने से होते हैं, न कि राहु और केतु के ग्रसने से।

अब मैं भारतीय ज्योतिष के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' का संक्षिप्त विवरण दूँगा। इस ग्रन्थ के कई पाठ मिलते हैं, जिनके निरीक्षण से लगता है कि ग्रंथ का मूल-पाठ सन् 400 के लगभग लिखा गया। वराह मिहिर ने भी इसका एक पाठ दिया है, पर लगता है कि उसने इसमें कुछ परिवर्तन किये थे। बाद के ज्योतिषी भी इसमें कुछ सुधार करते गये, जिसके कारण आजकल का पाठ वराह मिहिर के पाठ से बहुत भिन्न है। इसमें अन्तिम सुधार सन् 1100 के लगभग किया गया लगता है।

आज के सूर्य सिद्धान्त में 500 श्लोक हैं, जिन्हें 14 अध्यायों में बाँटा गया है। पहले अध्याय में सूर्य, चन्द्र और ग्रहों के पूरे चक्कर लगाने के समय दिये हैं। यह समय बताने में भिन्न का प्रयोग नहीं किया है, वरन् इस प्रकार बताया है: 43,20,000 वर्षों में 5, 34, 33, 336 चन्द्र-मास होते हैं। इन समयों की परिशुद्धता सचमुच अद्‌भुत है। दूसरे अध्याय में माध्य स्थितियों से सही स्थिति की गणना करने के नियम बताये हैं। सूर्य, चन्द्र और ग्रह आकाश में एक समान गति से नहीं चलते। इसका कारण यह है कि सूर्य और चन्द्र की कक्षाएँ वृत्ताकार न होकर थोड़ा दीर्घ वृत्ताकार (अंडे के समान) हैं, और पृथ्वी ग्रहों की कक्षा के केन्द्र पर नहीं है। इसलिए इनकी वास्तविक स्थिति माध्य स्थिति से भिन्न होती है।

तीसरे अध्याय में दिशा, स्थान और समय निर्णय करने की विधि बताई गई है। अगले तीन अध्यायों में ग्रहण की गणना के नियम दिये गये हैं। 7 से 9 अध्याय में किसी ग्रह का दूसरे ग्रह, चन्द्रमा या नक्षत्र के सबसे निकट आने के समय की गणना करना बताया है। उन समयों को भी बताया है जब ग्रह सूर्य के साथ ही उदय या अस्त होता है। अगले अध्याय में चन्द्रोदय का समय एवं चन्द्र-कला की गणना के नियम बताये हैं। ग्यारहवाँ अध्याय सबसे लम्बा है। इसमें इसका विवेचन किया है कि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और ग्रहों की उत्पत्ति कैसे हुई; यह ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है; ऋतुएँ क्यों होती हैं। अगला अध्याय ज्योतिष के यन्त्रों के बारे में है। एक अध्याय फलित ज्योतिष पर भी है। अंतिम अध्याय में समय की भिन्न इकाइयों और उनके परस्पर सम्बन्ध का विवरण है।

●

सापेक्षवाद के संस्थापक भारतीय आचार्य

डॉ. गङ्गेश ठाकुर

ब्रह्माण्ड के ग्रहों, नक्षत्रों आदि को देखकर मनुष्य के मन में जिज्ञासा सृष्टि के आरम्भ से चली आ रही है। अपनी इस जिज्ञासा के समाधान के लिए उसने विभिन्न उपायों एवं साधनों का प्रयोग किया, उनकी गतिविधि की निरीक्षा और परीक्षा की एवं उनके सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों की कल्पना और रचना करने का आयास किया। भारत इस दिशा में अग्रणी रहा है। यहाँ के आचार्य एवं मनीषीगण बड़े श्रम, साधना और समर्पण के साथ अपने भूमण्डल के साथ-साथ बाहर के लोक-लोकान्तरों के चिन्तन-मनन में संलग्न रहे हैं।

हमारे प्राचीनतम ग्रन्थों में वेद है। वेद का साधारण अर्थ ज्ञान है, परन्तु विशेष अर्थ है भारतीय आर्यों के सर्वप्रथम और सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ। अतः वेद में अन्य बातों के अतिरिक्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी धार्मिक उपदेशों के रूप में किया गया है जिससे लोग गूढ़ रहस्यों को भी सुगमता से समझ सकें। वेद में अन्य विषयों के साथ-साथ ज्योतिष के सम्बन्ध में भी भरपूर उल्लेख हैं जिनसे पता चलता है कि हमारे ऋषियों को ज्योतिष का ज्ञान अद्वितीय था। ग्रहों एवं नक्षत्रों के सम्बन्ध में सूत्ररूप में वर्णन है, किन्तु वैदिक काल में ही ज्योतिष की नींव सुदृढ़ हो गई थी और ज्योतिष के विशेषज्ञ दूसरे से कुछ पृथक् से हो गये थे। इसीलिए तो कहा गया है–

"प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्।"

–वा. सं. 30/10

"यादसे गणकम्"

–वा. सं. 30/20

भारतीय ऋषियों ने प्रयोगशालाओं के अभाव में भी अपनी दिव्य ज्ञानशक्ति द्वारा आकाश-मण्डल के समस्त तत्त्वों को ज्ञात कर ग्रहादियों के गति का अन्वेषण कर नियम निर्धारित किये तथा उनकी गति निश्चित की–

"आयं गौः पृश्निक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥"

–य. अ. 3/मं. 6

"गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति।"

–निरु. अ. 2/खं. 5

"गौरादित्यो भवति, गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत
पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति।"

–निरु. अ. 2/खं. 6

"सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते।"

–निरु. अ. 2/खं. 6

"स्वरादित्यो भवति।"

–निरु. अ. 2/खं. 14

अर्थात् पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का नाम गौ कहा गया है। वे सभी लोक अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं।

पौराणिक आचार्यों ने ज्योतिषमान पिण्डों की गति का सूक्ष्म अवलोकन कर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया–

"यथा नद्युदके नौस्तु सलिलेन सहोह्यते।
तथा देवालया ह्येते उह्यन्ते वातरश्मिभिः॥"

–वायु. 52/85

अर्थात् जिस प्रकार जलस्रोत पर नाव का प्रवाह जल के माध्यम से होता है, उसी प्रकार ग्रह-नक्षत्रादि पिण्डों का प्रवाह वातरश्मि के द्वारा होता है।

वे ग्रहादि सभी पिण्ड ध्रुव से आबद्ध होकर अपने-अपने गति प्राप्त कर गतिशील अवस्था में हैं–

"वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवैर्बद्धानि तानि वै।
शिशुमाराकृतिः प्रोक्तं यद्रूपं ज्योतिषां दिवि॥"

–विष्णु. 2/3/4

ध्रुव स्वयं भी गतिशील है–

"ध्रुवस्य प्रचलनम्"।

–मै. उ.1/4

प्रकृति के सूक्ष्म प्रपञ्चों का वर्णन जिस रूप में भारतीय आचार्यों ने किया है, वह संसार के किन्हीं भी विद्वानों के वर्णन से श्रेष्ठ है। हमारे प्राचीनार्यों की बुद्धिमत्ता का प्रमाण है कि उन्होंने पिण्डों की गति का निर्धारण अन्य पिण्डों के सम्बन्ध से किया है–

"स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं
यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव
तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते
रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्।

अंथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रैरेव
तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्ते ।
अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्
स वा एष न कदाचन निम्रोचति न ह
वै कदाचन निम्रोचति ।"

–ऐ. ब्रा., 3/4-6

अर्थात् सूर्य का न कभी उदय होता है और न कभी अस्त । सूर्य की यह प्रकट गति (apparent motion) भूभ्रमण के कारण दिखलाई पड़ती है ।

आदिकाल के अन्त में भारतीय ज्योतिष ने अनेक संशोधन देखे । ईसवी सन् की पाँचवीं सदी में होनेवाले आर्यभट ने इस शास्त्र में एक नयी क्रान्ति की । उसने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा पूर्वाचार्यों के सूत्ररूप में प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तों को आधारस्तम्भ मानते हुए उनके गणितीय प्रमाण प्रदान करने के साथ वैज्ञानिक व्याख्या की । ग्रहगति विषयक उपर्युक्त सिद्धान्त का वर्णन करते हुए आर्यभट ने मत स्थापित किया कि ग्रहों के साथ सम्पूर्ण तारकामण्डल लगभग एक दिन में हमें पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु यह वास्तविक गति नहीं है । पृथ्वी की दैनन्दिन गति के कारण हमें ऐसा भास होता है ।

"अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्चत्यचलं विलोमतां यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम् ॥"

–आर्य. गोल. 9

"पृथ्वी प्रतिदिन अपनी धुरी पर चारों ओर घूमती है, अर्थात् उसमें दैनन्दिन गति है"–इस सिद्धान्त को माननेवाले ज्योतिषी एक मात्र आर्यभट हैं । यह उनकी इतनी बड़ी सूझ थी कि भारत में ही उनके परवर्तियों में से पृथूदक् स्वामी (860 ई.) को छोड़कर एक हजार वर्ष तक अन्य कोई गणितज्ञ अथवा खगोलज्ञ इस तथ्य को नहीं समझ सके और न समझ सकने के कारण उन्होंने उनकी बड़ी निन्दा की । यहाँ पर तो उनकी निन्दा ही करके रह गये, पश्चिम में तो गैलिलियो को 1642 ई. में इसी बात पर शूली भी दे दी गई । पश्चिम में 16वीं शताब्दी के आरम्भ में कापरनिक्स नामक वैज्ञानिक ने पुनः इस सिद्धान्त की स्थापना की । –प्रा. भा. ग., पृ. 255 ॥

पृथूदक् स्वामी (860 ई.) ने आर्यभट के मत का समर्थन इस प्रकार किया है–

"भपंजरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदैवसिकौ ।
उदयास्तमयौ संपादयति नक्षत्रग्रहाणाम् ॥"

–ब्रा. स्फु. सि. गोला. 30 (टीका)

अर्थात् नौका में बैठा हुआ सीधी ओर को जानेवाला पुरुष जिस प्रकार अचल वृक्षादिकों को उल्टी दिशा में चलता हुआ देखता है उसी प्रकार लंका में बैठा हुआ व्यक्ति इन अचल नक्षत्रों को पश्चिम की ओर जाते हुए देखता है ।

आर्यभट के अतिरिक्त अन्य भारतीय ज्योतिषियों ने पृथ्वी को अचला मानकर भिन्न-भिन्न ग्रहादि पिण्डों को चल मानकर उनकी गति की गणना की। पृथ्वी को अचला मानने का कारण यह भी हो सकता है कि गणना के दृष्टिकोण से दो गतिशील पिण्डों की गति गणना करने में एक को स्थिर मानना पड़ेगा। भट्टप्रकाशिकाटीकाकार ने–"भानि कर्त्तृभूतानि अचलानि भूमिगतानि वस्तूनि कर्मभूतानि विलोमगानीव प्राचीं दिशं गच्छन्तीव पश्यन्ति" कहते हुए आर्यभट के मत में पृथ्वी का अचलत्व ही सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु आर्यभट ने पुनः लिखा है–"प्राणेनैति कलां भूः"। अर्थात् पृथ्वी प्राण नामक काल परिमाण में एक कला चलती है। इस प्रकार आर्यभट के मतानुसार पृथ्वी चला तो है ही, साथ ही इन्होंने अन्य ग्रहों के साथ नक्षत्रों के सापेक्ष पृथ्वी के युगीय भगण की गणना की है–

"युगरविभगणाः रव्युधृशशिचयगियिङुशुछ्लृकुङिशिबुण्लृख्षृ प्राक्।
शनि ढुङ्विघ्व गुरु ख्रिच्युभ कुज भद्लिझ्नुखृ भृगुबुधसौराः॥"

–आर्य. दश. 1

"रविभगणारव्यब्दा रविशशियोगा भवन्ति शशिमासाः।
रविभूयोगादिवसा आवर्ताश्चापि नाक्षत्राः॥"

–आर्य. काल. 5

अर्थात् पृथ्वी एक युग = 4320000 वर्ष में 1582237500 बार घूमती है। पृथ्वी से देखने पर नक्षत्र के परिभ्रमण पृथ्वी के परिभ्रमण के तुल्य दिखलाई पड़ते हैं।

आर्यभट ने ऐसा लिखकर नक्षत्रों की नित्य गति का कारण पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना माना है। ग्रहों की गति का वर्णन आर्यभट ने प्रचलित पद्धति के अनुसार किया है तथा सूर्य-चन्द्रमा सहित सभी ग्रहों को पृथ्वी के चतुर्दिक् चलायमान बताया है। प्रत्येक ग्रह अपने कक्षामण्डल की परिधि पर समान दूरी का उल्लंघन करता है। नक्षत्रों की अपेक्षा भिन्न ग्रहों की भिन्न गति से चलने का कारण उनकी पृथ्वी से दूरी में भिन्नता है। वास्तव में गति में कोई भिन्नता नहीं है–

"षष्ट्या सूर्याब्दानां प्रपूरयन्ति ग्रहा भपरिणाहम्।
दिव्येन नभः परिधिं समं भ्रमन्तः स्वकक्ष्यासु॥"

–आर्य. काल.12

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यभट ने भूभ्रमण को सिद्ध करते हुए ग्रह-नक्षत्र की गति को प्रकट गति (apparent motion) दर्शाया तथा पृथ्वी की गति की सापेक्षिक गणना अन्य पिण्डों की गति से कर सापेक्षवाद संस्थापित कर विज्ञान जगत् में अग्रदूत बना। आधुनिक वैज्ञानिकों का सापेक्षवाद सम्बन्धी निष्कर्ष आर्यभट द्वारा संस्थापित निष्कर्ष से पूर्णतः मिलता-जुलता है।

आधुनिक वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन ने संसार को बहुत से ऐसे गणित के सूत्र दिये जो ब्रह्माण्ड के नियमों की व्याख्या करने में सहायता देते हैं। प्रकाश, ऊर्जा, गति, गुरुत्व, स्थान, समय के समान रहस्यमय वस्तुओं को समझने में आइन्स्टाइन ने वर्तमान समय में जितनी सहायता की है,

उतनी और ने नहीं की। वर्तमान शतक के आरम्भ में 1905 ई. मे आइन्स्टाइन ने सर्वप्रथम सापेक्षवाद का संरूपण किया। इस सिद्धान्त के अनुसार यांत्रिकी तथा खगोल विज्ञान की राशियाँ– दिक्, काल तथा द्रव्यमान आपेक्षिक होती हैं। अर्थात् इन कारकों में से किसी एक का निरपेक्षमान पृथक् रूप से नहीं ज्ञात किया जा सकता है, उसे केवल अन्य कारक सापेक्ष ज्ञात किया जा सकता है। किन्तु न्यूटन के अनुसार दिक् निरपेक्ष माना गया है। यदि किसी बाह्य वस्तु के सापेक्ष का विचार नहीं किया जाय तो दिक् को अपने गुण के कारण अपरिवर्ती तथा अचल कहा जायेगा। काल के लिए भी न्यूटन ने ऐसी ही परिकल्पना की है। अतएव काल एक सार्वत्रिक राशि है जिसमें एक नियत दर से परिवर्तन होता है। उस पर वस्तुओं तथा प्रेक्षकों की स्थिति या गति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गति के बिषय में न्यूटन के द्वितीय नियम के अनुसार किसी पिण्ड का द्रव्यमान निरपेक्ष तथा अपरिवर्ती होता है, पिण्ड या प्रेक्षक की गति के साथ द्रव्यमान में कोई परिवर्तन नहीं होता। यद्यपि आइन्स्टाइन का सिद्धान्त इन राशियों की निरपेक्षता के गुण के विपरीत है, यह न्यूटनी यांत्रिकी से पूर्णरूप से पृथक् नहीं है क्योंकि न्यूटन ने भी सापेक्षता के विषय में एक सिद्धान्त बताया है–"यदि किसी पिण्ड की दो निरपेक्ष स्थितियों के बीच में स्थानान्तरण गति है तो उसकी निरपेक्ष गति ज्ञात नहीं की जा सकती, क्योंकि पिण्ड का स्थानान्तरण केवल उस गति के रूप में देखा जा सकता है जो अन्य द्रव्यात्मक पिण्डों के सापेक्ष होता है"। निरपेक्ष गति की व्याख्या के लिए "ईथर" की परिकल्पना की गई तथा पृथ्वी की गति के निर्धारण के लिए अनेक वैज्ञानिकों–फिजो, माइकेलसन तथा मोर्ले आदि ने प्रयोग किये, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

सापेक्ष गति की समस्या के विभिन्न हलों में आनेवाली कठिनाइयों तथा असंगतियों के कारण आइन्स्टाइन ने यह नवीन सुझाव दिया कि ईथर में गति अर्थहीन धारणा है तथा गति की भौतिक सार्थकता तभी है जब गति द्रव्यात्मक पिण्डों के सापेक्ष होती है।

●

सूरज—एक परिचय

डॉ. महेशचन्द्र पाण्डेय

सूरज धरती पर जीवन का आधार है। किन्तु यह तथ्य पूरी तरह सबको समझ में नहीं आता है कि सूरज भी एक तारा है। आइये इस तारे से पहचान करें। ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है एवं सूरज का स्थान ब्रह्माण्ड की विशालता में क्या है, यह तालिका-1 में देखें :

तालिका-1

वस्तु	आकार	संहति	उम्र
बच्चा	10^2 से. मी	10^4 ग्राम	(1 वर्ष = 10^7 सेकिण्ड) 10^8 सेकिण्ड (10 वर्ष) प्रत्याशित उम्र (75 वर्ष)
सूरज	10^{11} से. मी.	10^{33} ग्राम	10^{17} सेकिण्ड (10^{10} वर्ष)
निहारिका	10^{23} से. मी.	10^{45} ग्राम	10^{17} सेकिण्ड (10^{10} वर्ष)
दृश्य ब्रह्माण्ड	10^{28} से. मी.	10^{55} ग्राम	10^{17} सेकिण्ड (10^{10} वर्ष)

क्योंकि ज्योतिर्विज्ञान में घातों का प्रयोग करना अनिवार्य है अतएव घातें तालिका-2 में समझा दी गई हैं:

तालिका-2

घातों की व्याख्या

$$10^n = \underbrace{1000\,\ldots\ldots\ldots\,000}_{n \text{ शून्य}}$$

$$10^{-n} = \frac{1}{10^n} = \underbrace{0.000\ldots\ldots\ldots 000}_{n-1 \text{ शून्य}}1$$

गुणा : $10^m \times 10^n = 10^{m+n}$

भाग : $10^m / 10^n = 10^m \times 10^{-n} = 10^{m-n}$

अब हम इस लेख में यह बताने की कोशिश करेंगे कि वैज्ञानिकों द्वारा सूरज की दूरी, आकार, संहति तथा तापक्रम किस प्रकार निकाले गये।

1–सूरज की दूरी : हम सूरज के प्रतिबिम्ब के पूरे वृत्त को डिस्क कहेंगे तथा इस वृत्त की परिधि वाले वृत्त को लिम्ब कहेंगे। जब एनाक्सागोरस ने ईसा से लगभग 434 वर्ष पूर्व यह कहा कि सूरज एक धधकती चट्टान है जो कि पेलोपेनेसस के बराबर है न कि फीबस अपोलो के बराबर तो उसे बन्दी बना लिया गया। पेरिक्लीज जो कि ऐनेक्सागोरस का दोस्त था, की वाक्चातुरी ने ऐनेक्सागोरस को बचा लिया, हालाँकि ऐनेक्सागोरस को एथेन्स से सदा के लिये निष्कासित कर दिया गया।

यह सत्य है कि ऐनेक्सागोरस ने सूरज का आकार अत्यन्त कम निश्चित किया। इसके अतिरिक्त ऐनेक्सागोरस ने सूरज की दूरी जानने की भी चेष्टा की। दूरी निकालने का आधार दो चित्रों (चित्र-1 एवं 2) से स्पष्ट होगा। ऐनेक्सागोरस को यह ज्ञात नहीं था कि धरती गोल है किन्तु वह जानता था कि किसी दिये समय पर क्षितिज के ऊपर सूरज की ऊँचाई प्रेक्षण के स्थान के साथ बदलती है। अतएव चित्र 2 में यदि कोण A तथा B एवं CD दूरी ज्ञात हो तो सूरज तक की दूरी निकाली जा सकती है। इस प्रकार सूरज की दूरी 6000 कि. मी. प्राप्त हुई तथा व्यास 60 कि. मी.। चित्र-1 को देखने पर ज्ञात होगा कि धरती की वक्रता के फलस्वरूप यदि किसी खगोलीय पिण्ड के प्रेक्षण एक ही समय पर दो स्थानों से किये जायें तो उनकी स्थिति में अन्तर होगा। क्योंकि धरती का परिधि = $2\pi \times$ धरती का अर्धव्यास $2\pi \times 6.37\times10^{3}$ कि. मी.= 39.80×10^{3} कि. मी., अतएव $360^{0} = 39.80\times 10^{3}$ कि. मी. अर्थात् $1^{0} = 110$ कि. मी.। अतः यदि धरती की सतह पर दो स्थानों की दूरी 110 कि. मी. हो तो दो जगहों से लिये गये प्रेक्षणों में खगोलीय पिण्ड की स्थितियों में 1 डिग्री का अन्तर होगा। ऐनेक्सागोरस नहीं जानता था कि पृथ्वी गोलाकार है। फिर भी उसका उक्त प्रयास एक अच्छा कदम था।

तीन सदी ईसा पूर्व में एरिस्टार्कस ने सूरज की दूरी निकाली एवं आकार भी। उसकी तरकीब चित्र-3 में दिखाई गई है। जब चाँद A पर होता है तो चाँद प्रथम चतुरांश में होता है एवं ठीक-ठीक आधा भाग प्रकाशमान होता है (A_1)। जब सूरज-धरती तथा चाँद रेखा समकोण बनाती है तो चाँद द्वितीय चतुरांश तथा पूर्ण चन्द्र के बीच की स्थिति में होता है (देखिये B_1)। जितना ही सूरज दूर होगा कोण C उतना ही छोटा होगा। ऐरिस्टार्कस ने कोण C को 3^{0} का आँका, जबकि यह केवल 9 आर्क मिनट होता है। दूरी AB तय करने में चाँद को 12 मिनट लगते हैं। ऐरिस्टार्कस ने इसे 4 घण्टे माना। इन त्रुटियों के कारण ऐरिस्टार्कस ने यह पाया कि सूरज 19 गुना चाँद की अपेक्षा धरती से अधिक दूरी पर है एवं यह दूरी 1,16,0000 कि. मी. है, जो दूरी वास्तविक दूरी से 130 गुना कम है।

हिपारकस ने ईसा पूर्व दूसरी सदी में चन्द्रग्रहण को सूरज की दूरी निकालने हेतु काम में लाया (देखिये चित्र-4)। चन्द्रग्रहण के समय चाँद की दूरी पर धरती की छाया के वक्र को सही ढंग से नापकर हिपारकस ने उस शंकु का व्यास नापा जो धरती छाया के रूप में चाँद की दूरी पर फेंक रही है। स्पर्श रेखाओं BDP तथा CFR की सहायता से एवं कोण A की सहायता से हिपारकस ने

सूरज की दूरी और आकार ज्ञात किये । इस तरकीब की कमजोरी यह थी कि ES दूरी EM से बहुत बड़ी है एवं BDP तथा AP बहुत छोटे कोण पर मिलते हैं इसलिये बिन्दु P सही निर्धारित नहीं हो सकता । इसके बाद 1620 में केपलर, 1650 में रिचियोली तथा 1672 में कैसिनी ने सूरज तक की दूरी निकालने की चेष्टा की । कैसिनी के प्रयत्न के द्वारा प्राप्त दूरी वास्तविक दूरी से केवल 10 प्रतिशत भिन्न थी ।

अब दूरी नापने के कुछ आधुनिक तरीकों को देखें । धरती में दिये हुए किसी बिन्दु A की B से दूरी चित्र 5 में दिखाये तरीके से निकाली जाती है । बिन्दु A से दूरी AB ज्ञात करने को एक और बिन्दु C छाँटते हैं । यदि दूरी AC ज्ञात हो तथा थियोडोलाइट से कोण A तथा कोण B नाप लिये जायें तो दूरी AB निकाल ली जा सकती है । इसका प्रयोग नजदीक के खगोलीय पिण्डों की दूरी निकालने के लिये किया जा सकता है (चित्र-6) । यदि प्रेक्षक A तथा प्रेक्षक C चाँद का प्रेक्षण तारों की पृष्ठभूमि में करते हैं तो त्रिकोण ABC निश्चित हो जाता है । यदि बिन्दु A एवं C एक दूसरे के विपरीत हों तो यह स्थितियाँ एक दूसरे से लगभग 2^0 से भिन्न होंगी ।

इससे चाँद की धरती से दूरी निकाली जा सकती है जो कि 400 हजार कि. मी. आती है । किन्तु सूरज पर यह तरीका दो कारणों से नहीं लगाया जा सकता है । सूरज के लिये यह कोण लगभग 400 गुना कम होगा । अतः इसे नापना कठिन होगा । इसके अतिरिक्त जब सूरज होता है तो आकाश में तारे नहीं होते । इसलिये धरती से सूरज की दूरी ज्ञात करने के लिये परोक्ष तरीके काम में लाने होते हैं ।

उदाहरणार्थ यह ज्ञात है कि शुक्र ग्रह सूरज से 45^0 से अधिक दूरी पर कभी भी नहीं जाता (चित्र-7) ।

अतएव समद्विबाहु **त्रिभुज सूरज-शुक्र-धरती में** :

$(\text{दूरी } A)^2 = /(\text{दूरी } B\ )^2 + (\text{दूरी } B\ )^2$

इसलिये, $= 0.7A$ ।

इस ही तरीके से सभी ग्रहों की दूरी निकाली जा सकती है । अब यदि शुक्र ग्रह कभी धरती तथा सूरज के बीच में आता है, तो वह सूरज की डिस्क पर से जाता नजर आयेगा । यदि दो प्रेक्षक धरती पर इस गमन का प्रेक्षण दो स्थानों से करेंगे तो सूरज का पेरैलैक्स अथवा दूरी निकाले जा सकते हैं । किन्तु इस तरकीब की कमी यह है कि इस प्रकार के गमन केवल लम्बे समय अन्तराल के पश्चात् होते हैं । अन्तिम दो गमन 1874 एवं 1882 में हुए थे एवं अब 8 जुलाई, 2004 एवं 6 जून, 2112 को होंगे ।

यही तरकीब मंगल ग्रह तथा लघु ग्रह इरोस के सूरज की डिस्क पर से गमन पर भी लगाई जाती है । सबसे अच्छी स्थिति में इरोस धरती से 220 लाख कि. मी. की दूरी पर से जाता है जो मंगल ग्रह के मुकाबले $2^1/_2$ गुना नजदीक है । इरोस तारे की तरह दिखता है, अतएव इरोस को,

तारों की पृष्ठभूमि में, दो प्रेक्षकों द्वारा आसानी से देखा जा सकता है, जिससे इसकी दूरी निकाली जा सकती है। इरोस का प्रेक्षण धरती से सूर्य की दूरी निकालने के लिये एक बहुत अच्छी विधि है।

वर्णक्रमीय विधि से भी सूरज-धरती दूरी निकाली जा सकती है। इसको समझने के लिये डौपलर का सिद्धान्त समझना आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि, प्रकाश का स्रौत प्रेक्षक की ओर जाता है तो प्रकाश अधिक बैगनी दिखने लगता है एवं यदि प्रकाश का स्रोत प्रेक्षक से दूर जाता है तो प्रकाश अधिक रक्तवर्ण का लगता है (चित्र-8)। प्रकाश का यह रंग बदलना गति पर निर्भर करता है। बिन्दु B से यदि तारों D के वर्णक्रम लिये जाँय तो लम्बाकार गति के कारण औसत में न तो स्पेक्ट्रम बैगनी दिशा को खिसकेंगे एवं न ही रक्तवर्ण की ओर। तारो की जो भी अपनी गति होगी वह कुछ तारों के लिये धनात्मक एवं अन्य तारों के लिये ऋणात्मक होने के कारण औसत में शून्य होगी। क्निन्तु बिन्दु A पर प्रेक्षक तारों की ओर जायेगा। अतएव वर्णक्रम बैगनी छोर की ओर खिसकेंगे व C पर इसके विपरीत वर्णक्रम रक्तवर्ण की ओर खिसकेंगे। स्पेक्ट्रम से यह गति 18.5 मील प्रति सेकिण्ड प्राप्त होती है।

वर्ष भर में 3.16×10^7 सेकिण्ड होते हैं। अतएव धरती की कक्षा की

परिधि = $18.5 \times 3.16 \times 10^7$ मील।

इसलिये धरती की कक्षा का अर्धव्यास= $\dfrac{18.5 \times 3.16 \times 10^7}{2\pi}$ मील

गेराल्ड क्लीमेन्स का मत है कि "गतिज्य विधि" (डाइनेमिकल विधि) से निकाली गई दूरी त्रिकोणमितीय विधि अथवा स्पेक्ट्रोस्कोपी विधि से ज्यादा शुद्ध है। इसके लिये ग्रहों एवं चाँद की गतियों का पूर्णतया अध्ययन आवश्यक है। सूरज तथा धरती के मध्य चाँद को गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित करने की रस्साकस्सी के सापेक्षिक प्रभावों को आँककर धरती-सूरज दूरी सही-सही निकाली जा सकती है। राबे के अनुसार सौर पेरैलैक्स 8.7984 है जिसके आधार पर दूरी 92,91, 400 मील या 14,95,30,000 कि. मी. आती है। इस दूरी की अशुद्धता लगभग •1/20, 000 अथवा 4,000 मील है।

यह दूरी कितनी विशाल है। यदि कोई विमान चालक 500 मील प्रति घण्टा की गति से चले तो उसे सूरज तक पहुँचने में 21 वर्ष लगेंगे। भू-उपग्रह की गति 4.5 मील प्रति सेकिण्ड की गति से भी यदि यात्रा की जाये तो सूरज तक पहुँचने में 8 माह लगेंगे। प्रकाश को धरती तक पहुँचने में 8 मिनट से कुछ अधिक का समय लगता है।

2-सूरज का आकार : सूरज की दूरी ज्ञात होने के उपरान्त सूरज का आकार निकालना आसान है। इसके लिये दूरबीन को इस प्रकार प्रयोग में लाना होगा कि मीरिडियन से जाते वक्त पहले सूरज का एक किनारा दूरबीन के क्रौसवायर को स्पर्श करेगा एवं इस समय को नोट कर लेते हैं। दूसरे किनारे के क्रौसवायर को स्पर्श करने तक का समय अन्तराल नाप लिया जाता है। इस समय अन्तराल के अनुरूप सूरज द्वारा धरती पर बनाया गया कोण आधे अंश से थोड़ा अधिक होता है।

दूरी ज्ञात है अतएव इससे आकार निकल आता है। इस स्थिति को समझने के लिये निम्नवत् उदाहरण देना समीचीन होगा। यदि 1/4 इंच के व्यास की एक पतली छड़ आँख से $26^3/4$ इंच की दूरी पर रक्खी जाये तो यह छड़ सूरज को ढ़ँक लेगी (चित्र-9)।

3-सूरज की संहति : इस संहति को ज्ञात करने के लिये सर्वप्रथम धरती की संहति जाननी आवश्यक है। इसकी तरकीब चित्र-10 में दर्शायी गयी है। वस्तुओं A तथा B की संहति बराबर है। यदि ज्ञात संहति का एक पिण्ड C पिण्ड के नीचे रख दिया जाये तो तराजू C की तरफ झुकेगा। यदि एक छोटा पिण्ड D तराजू को पुनः संतुलित कर देता है तो धरती का D पर आकर्षण बल C तथा A के मध्य आकर्षण बल के बराबर होगा। इसका प्रयोग करते हुए धरती की संहति 6.50×10^{21} टन आती है।

यदि कोई वस्तु धरती पर बाहर से गिरती है तो पहले सेकिण्ड में 16.1 फीट दूरी चलती है। चित्र-11 में यह दिखाया गया है कि धरती सूरज के चारों ओर चक्कर लगाने में एक सेकिण्ड में 18.5 मील की दूरी चलती है तथा धरती एक सेकिण्ड में····दूरी सूरज की तरफ गिरती है। दूरी केवल 1/8 इंच है।

16 फीट प्रति सेकिण्ड $= G\,M\oplus/R\oplus^2$

1/8 इंच प्रति सेकिण्ड $= G\,M\oplus/R\Theta\text{—}\oplus^2$

इसलिये $M\Theta/M\oplus = R\Theta\text{—}\oplus^2/R\oplus^2 = 329390$

यहाँ $M\oplus$ पृथ्वी की संहति एवं $R\oplus$ अर्द्धव्यास है, $M\Theta$ तथा $R\Theta-\oplus$ सूर्य की संहति तथा सूरज-धरती दूरी है।

इस प्रकार सूरज, धरती से तीन लाख गुना अधिक संहति धारण करने वाला खगोलीय पिण्ड है। इसकी संहति 2.24×10^{27} टन है।

(224,000,000,000,000,000,000,000,000 टन)

इस प्रकार सूरज की निम्न विशेषताएँ हमें ज्ञात हो गईं :

संहति = 2.24×10^{27} टन = 2.21×10^{33} ग्राम
धरती-सूरज दूरी = 149,530,000 कि. मी.,
व्यास = 8,65,000 मील
= 1,38,80,000 कि. मी.
औसत घनत्व = 1.42 ग्राम/(से. मी.)^3

यह कह देना उचित होगा कि सूरज के केन्द्र की ओर घनत्व कुछ सौ ग्रा/(से. मी.)^3 है जो कि स्टील के घनत्व से कई गुना अधिक है।

4. प्रकाश की प्रकृति एवं वर्णक्रम : संहति के अलावा पदार्थ की अन्य विशेषताएँ भी हैं। पदार्थ में धनात्मक तथा ऋणात्मक आवेश भी होते हैं। यदि कहीं विद्युतीय आवेश स्थित होगा तो उसके आस-पास विद्युतीय क्षेत्र बन जाता है। फेराडे ने यह पाया था कि गतिमान् विद्युतीय आवेश अपनें

आस-पास चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करते हैं। आप इसका सत्यापन स्वयं एक ऐसे सुचालक जिसमें विद्युत धारा बह रही हो, के चारों ओर कुतुबनुमा चलाकर देख सकते हैं। विद्युतीय एवं चुम्बकीय दोनों भाँति के क्षेत्र, आवेशों को त्वरण देते हैं। जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने यह स्थापित किया कि समय के साथ परिवर्तित होने वाले विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को जन्म देते हैं। यह तरंगें प्रकाश की गति से प्रसारित होती हैं एवं प्रकाश इनका ही रूप है (चित्र-12, 13)।

वास्तव में रेडियो तरंगें, अवरक्त किरणें, दृश्य प्रकाश, पराबैगनीं प्रकाश, एक्स एवं गामा किरणें विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं एवं इनमें अन्तर तरंग-दैर्घ्य एवं आवृत्ति का है। यह स्थिति तालिका-3 में दर्शाई गई है।

तालिका-3

विकिरण की प्रकृति

नाम	आवृत्ति (प्रति सेकिण्ड स्पन्दन)	अंकन की विधि
रेडियो	3×10^9	इलेक्ट्रानिक
माइक्रोवेव	3×10^9 से 3×10^{11}	
इन्फ्रारेड	3×10^{11} से 3.75×10^{14}	ऊष्मा, बोलोमीटर थर्मोकपुल इत्यादि
दृश्य	3.75×10^{14} से 7.5×10^{14}	आँख, फोटोग्राफी, इलेक्ट्रानिक
पराबैगनी	7.5×10^{14} से 3×10^{16}	फोटोग्राफी, इलेक्ट्रानिक
एक्स किरणें	3×10^{16} से 3×10^{19}	फोटोग्राफी, इलेक्ट्रानिक तथा गैसों का आयनीकरण
गामा-किरणें	3×10^{19}	गैसों का आयनीकरण।

इन तरंगों की चार विशेषतायें हैं :

(अ) शून्य में प्रसारण की गति,

(ब) प्रसारण की दिशा,

(स) तरंग-दैर्घ्य,

(द) ध्रुवीकरण की दिशा, जिसमें सादिश E के स्पन्दन की दिशा निश्चित होती है।

जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने यह दर्शाया है कि शून्य में इन तरंगों की गति = 3×10^{10} से. मी./सेकिण्ड है।

किन्तु 19वीं सदी तथा 20वीं सदी के प्रारम्भ में कई ऐसे प्रत्यक्ष विषय आये जिनकी व्याख्या प्रकाश को तरंगों के रूप में समझ कर नहीं की जा सकी। इनको समझने के लिये मैक्स प्लैंक तथा नील्स बार द्वारा प्रकाश की क्वॉटम प्रकृति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। इसके अनुसार प्रकाश तरंग-पैकेटों अथवा क्वॉटमों के रूप में प्रसारित होता है। प्रत्येक क्वॉटम की आवृत्ति V तथा ऊर्जा E, निम्नवत् सम्बद्ध हैं :

$$E = hV$$

तालिका 3 से स्पष्ट है कि गामा-किरणों के क्वॉटम की ऊर्जा अधिक होगी (आवृत्ति अधिक है) तथा इन्फ्रारेड किरण की कम।

नील्स बोर ने यह भी प्रतिपादित किया कि परमाणुओं में वैलेन्सी इलेक्ट्रान नाभिक से निश्चित दूरियों पर ही रह सकते हैं। उद्जन परमाणु का उदाहरण लें। इसका अकेला इलेक्ट्रान अपनी ऊर्जा के अनुरूप 1, 2, 3 इत्यादि कक्षाओं में हो सकता है, जिनकी ऊर्जायें निश्चित होती हैं। यदि इलेक्ट्रान उच्च कक्षा 2 से निम्न कक्षा 1 में जाता है तो ऊर्जा उत्सर्जित होती है तथा 1 से 2 पर जाने में ऊर्जा अवशोषित होती है (देखिये चित्र-14)। हर तत्त्व के परमाणुओं के लिये चित्र 14 अपने प्रकार का होता है। इस प्रकार यह समझ में आ जाता है कि किसी भी दिये हुए तत्त्वों के परमाणु निश्चित तरंग-दैर्घ्यों पर ही क्यों अवशोषण करते हैं तथा यह कि उत्सर्जन अथवा अवशोषण रेखाओं का बनना कैसे सम्भव है। यदि परमाणु अत्यधिक ऊर्जा प्राप्त कर लेता है तो उसके बाह्य इलेक्ट्रान नाभिक से इतनी दूर की कक्षा में चले जाते हैं कि नाभिक के आकर्षण से स्वतन्त्र हो जाते हैं तो परमाणु आयनीकृत हो जाता है। आयनीकरण के लिये आवश्यक ऊर्जा से अधिक ऊर्जा को परमाणु सतत रूप से सोखते अथवा विकिरित कर सकते हैं।

अब हम प्रिज्म द्वारा स्पेक्ट्रम बनाने के तरीके को संक्षेप में समझ लें। वास्तव में काँच के अन्दर प्रकाश की गति शून्य में प्रकाश की गति से अलग होती है। काँच के अन्दर के परमाणुओं के इलेक्ट्रान पराबैगनी प्रकाश के प्रभाव में अधिक तीव्रता से स्पन्दन की प्रक्रिया करते हैं अपेक्षाकृत रक्त प्रकाश के। इसके कारण पराबैगनी प्रकाश बैगनी प्रकाश तथा रक्त प्रकाश के अपवर्तन की मात्रा इसी क्रम में कम होती चली जाती है। यही कारण है कि प्रकाश प्रिज्म द्वारा कई रंगों में तोड़ दिया जाता है (चित्र-15 तथा 16)।

अब कृष्णिका ब्लैक बोडी की बात करें। यह कल्पना करें कि ऐसा गोला हो जिसकी भीतर की दीवारें तापक्रम $T^{o}K$ पर हों तथा जिसकी दीवारें विकिरण के बाहर निकलने के लिये पूर्णतया अपारदर्शी हों (कृष्णिका) (चित्र-17) ऐसा गोला विकिरण क्षेत्र से भर जायेगा यदि विकिरण क्षेत्र की ऊर्जा को हर तरंग-दैर्घ्य पर नापा जायेगा, तो एक वक्र मिलेगा (ऊर्जा-तरंग दैर्घ्य वक्र)। इस वक्र को प्लैंक-वक्र कहते हैं (देखिये चित्र 18, 19); क्योंकि इसकी क्वॉटम व्याख्या मैक्स प्लैंक ने दी थी। हम देखते हैं कि जैसे-जैसे कृष्णिका का तापक्रम बढ़ता जाता है तो कुल विकिरित ऊर्जा बढ़ती जाती है तथा अधिकतम ऊर्जा का बिन्दु λmax इन्फ्रारेड से पराबैगनी छोर की तरफ खिसकता जाता है। निम्न दो नियम याद रखने योग्य हैं :

(1) कुल विकिरित ऊर्जा T^4 के अनुपात में होती है (स्टीफन बोल्ट्जमान नियम)।

(2) λmax. T कौन्स्टेंट (बीन का नियम), T तापक्रम है तथा λmax वह तरंग-दैर्घ्य है, जो अधिकतम ऊर्जा का बिन्दु है। यदि उक्त के अतिरिक्त निम्न तथ्य भी ध्यान में रक्खे जायें तो सूरज के स्पेक्ट्रम को समझने में सहायता मिलेगी–

1. किसी भी तापक्रम पर अधिक घनत्व व तापक्रम वाली गैस सतत वर्णक्रम दे पाती है।

2. यदि सतत वर्णक्रम वाली ऊर्जा तापक्रम T की हो एवं यह विकिरण ऐसी गैस से गुजरता है जिसका तापक्रम T′ हो तो अवशोषण स्पेक्ट्रम अथवा उत्सर्जन स्पेक्ट्रम बन सकता है। यदि $T' < T$ हो तो अवशोषण स्पेक्ट्रम बनता है, (परमाणु के बाह्य इलेक्ट्रान निचली कक्षा से ऊपरी कक्षा को जाते हैं) एवं यदि $T < T'$ हो तो उत्सर्जन रेखायें बनती हैं। (आवेशित इलेक्ट्रान अपनी कक्षा से निचली कक्षा में आते हैं)।

5-सूरज का तापक्रम : अब हम सूरज का तापक्रम निकालने की स्थिति में हैं। प्रथम विधि को समझने के लिये सर्वप्रथम निम्न उदाहरण को लें। माना कि 10 से. मी. व्यास का लोहे का एक पूर्णतया काला गोला निश्चित तापक्रम पर हो। गोले की सतह का क्षेत्रफल = 1.3×10^3 (से. मी.)^2 होगा। यदि इस गोले से 10 मीटर (1000 से. मी.) की दूरी पर 1 घन से. मी. के क्यूब में पानी रखा जाये तो पानी को गोले से विकिरण ऊर्जा मिलेगी एवं पानी का तापक्रम बढ़ेगा। 1^0 तापक्रम बढ़ने का समय नोट करके, गोले से प्रति सेकिण्ड विकिरित होने वाली ऊर्जा की गणना की जा सकती है। परिणाम निम्नवत् है :

तालिका-3

तापक्रम	**विकिरित ऊर्जा**
5000^0 केल्विन	4.10^6 अर्ग/सेकिण्ड
1000^0 केल्विन	16×4.10^6 अर्ग/सेकिण्ड
5000^0 केल्विन	$(10)^4\times 4.\ 10^6$ अर्ग/सेकिण्ड

इससे स्टीफन-बोल्ट्जमान का नियम मिलता है :

विकिरित ऊर्जा $Q = 6.10^{-5}\ T^4$ अर्ग/(से. मी.)^2 सेकिण्ड

यदि हम सूर्य को कृष्णिका मान लें तो :

$$Q = \frac{L}{4\pi R\Theta^2} = \frac{4.10^{33}\ \text{अर्ग/ सेकिण्ड}}{6.10^{22}\ (\text{से. मी.})^2},$$

$$= 7.10^{10}\ \text{अर्ग/सेकिण्ड (से. मी.)}^2$$

$$T^4 = 7.10^{10} / 6.10^{-5}$$

$$T = 6000^0\ \text{केल्विन}।$$

दूसरी विधि है हर तरंग-दैर्घ्य पर.स्पेक्ट्रम की सहायता से ऊर्जा नापकर प्लैंक-वक्र से ऊर्जा-तरंग दैर्घ्य वक्र से प्राप्त होने वाला तापक्रम निकाला जाये। इसके अतिरिक्त $\lambda max.\ T = 3.10^7$ नामक वीन का नियम लगाकर निकाला जा सकता है :

$$T = \frac{\lambda max}{3.10^7} \quad \frac{3.10^7}{5000} = 6000^0\ \text{केल्विन}$$

इस प्रकार यह सतही तापक्रम 6000^0 केल्विन है, जो कि प्रकाश मंडल का प्रभावी तापक्रम कहलाता है। इसका सही मान 5780^0 के है।

6-सूरज की संरचना : अब तक हमें सूरज के संबंध में निम्न तथ्य मालूम हो गये हैं।

संहति = 2.2×10^{27} टन = 2.24×10^{33} ग्राम,
व्यास = 13880,000 कि. मी.,
सतही तापक्रम =5780 डिग्री केल्विन एवं
घनत्व (औसत) =1.42 ग्राम/से. मी.)^3।

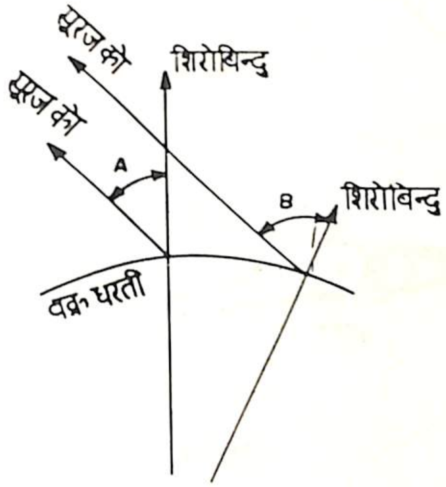
सूरज को
सूरज को
शिरोबिन्दु
A
B
शिरोबिन्दु
वक्र धरती

चित्र 1.

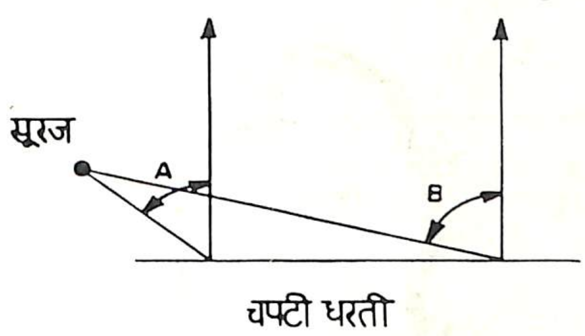
शिरोबिन्दु
शिरोबिन्दु
सूरज
A
B
चपटी धरती

चित्र 2.

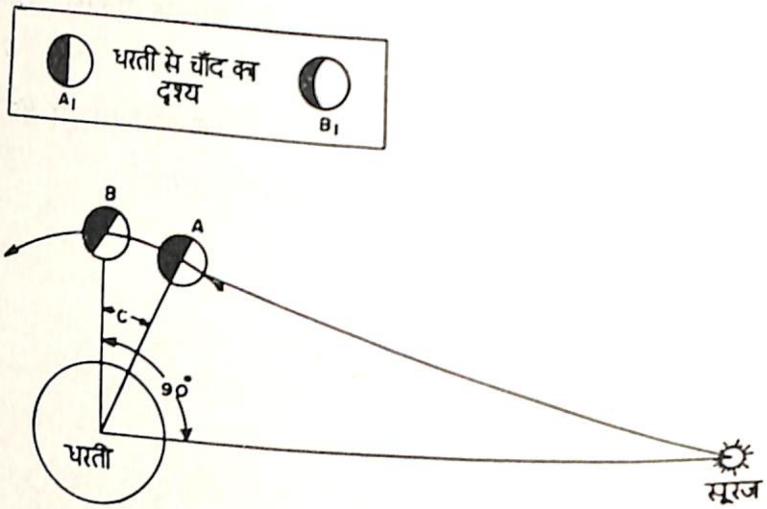
धरती से चाँद का दृश्य
A₁
B₁
B
A
C
90°
धरती
सूरज

चित्र 3.

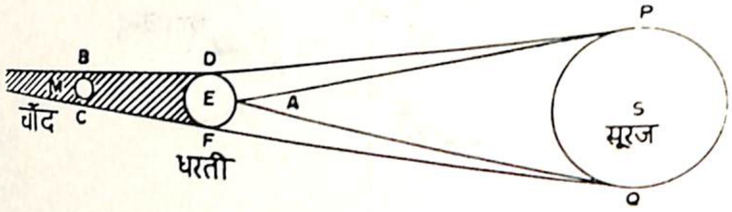
P
B
D
M
E
A
S
सूरज
चाँद
C
F
धरती
Q

चित्र 4

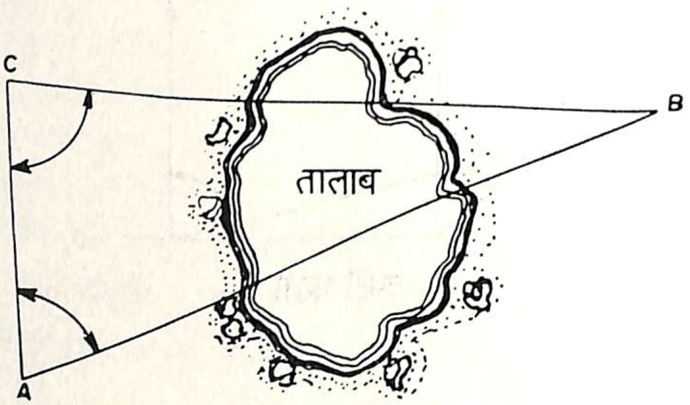

चित्र 5.

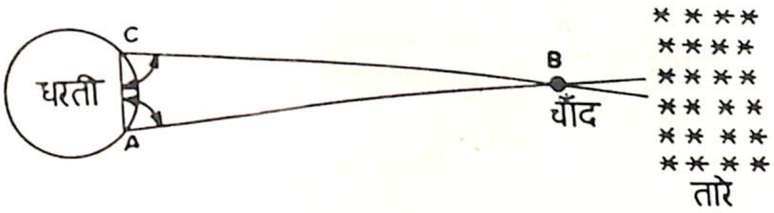
C
धरती
A
B
चाँद
तारे

चित्र 6.

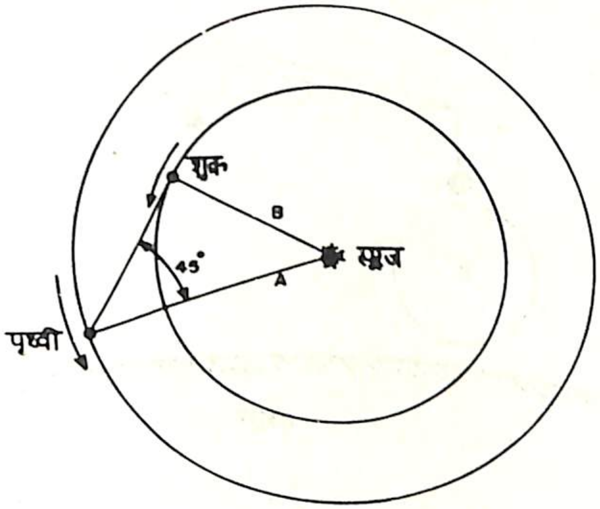
शुक्र
B
45°
A
सूरज
पृथ्वी

चित्र 7

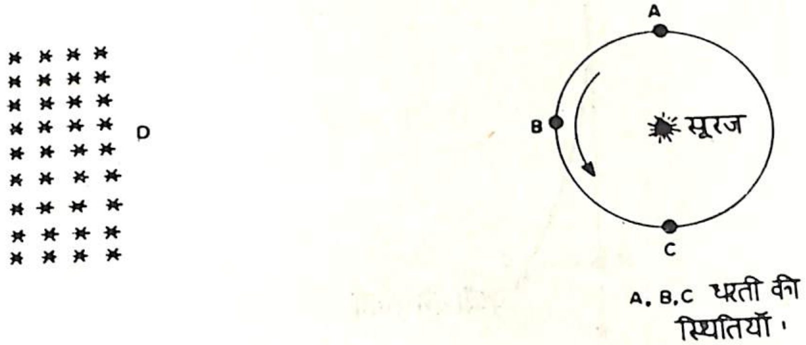
D
A
B
सूरज
C
A, B, C धरती की
स्थितियाँ।

चित्र 8

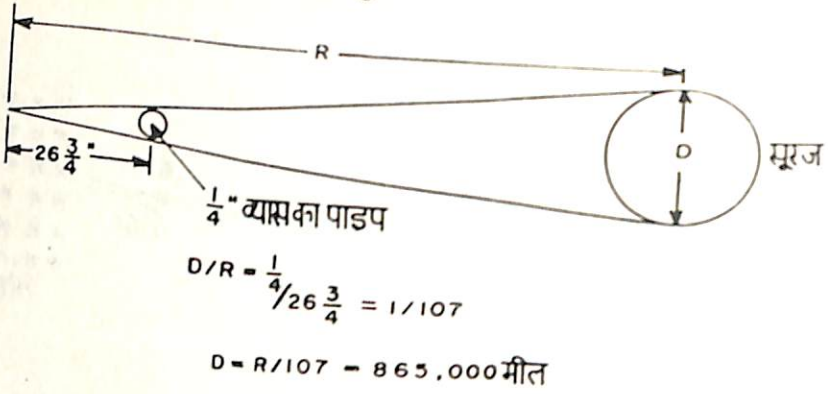
R
D
सूरज
26 3/4"
1/4" व्यास का पाइप
D/R = 1/4 / 26 3/4 = 1/107
D = R/107 = 865,000 मीत

चित्र 9

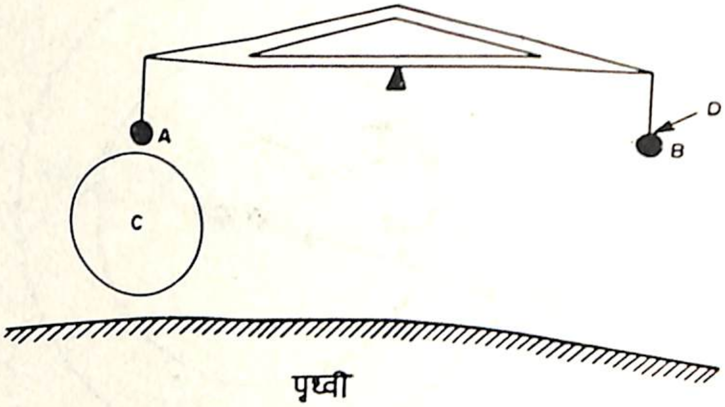

चित्र 10.

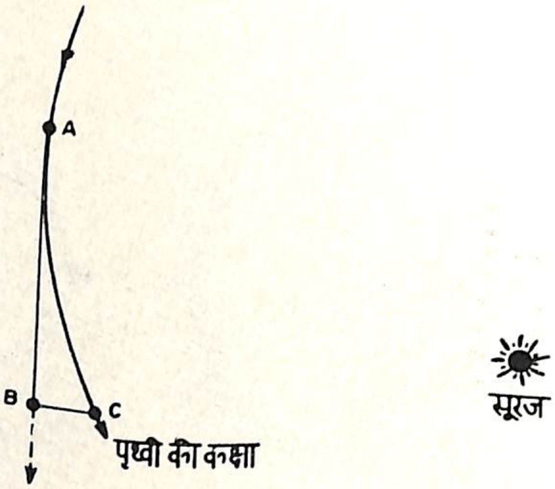
A
B
C
पृथ्वी की कक्षा
सूरज

चित्र 11

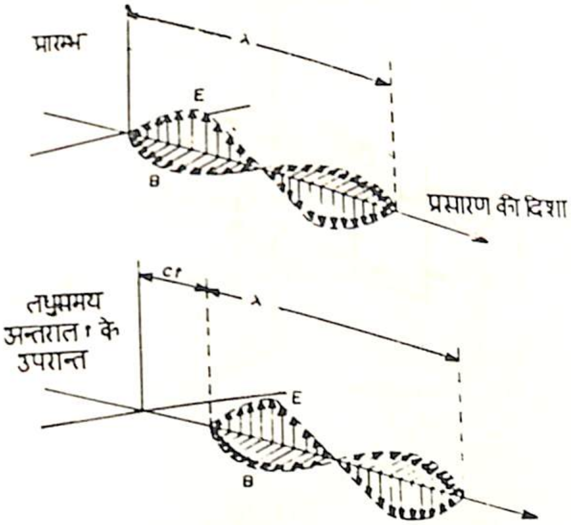
प्रारम्भ
λ
E
B
प्रसारण की दिशा
लघुसमय अन्तराल t के उपरान्त
ct
λ
E
B

E – विधुतीय क्षेत्र
B – चुम्बकीय क्षेत्र

चित्र 12 एवं चित्र 13

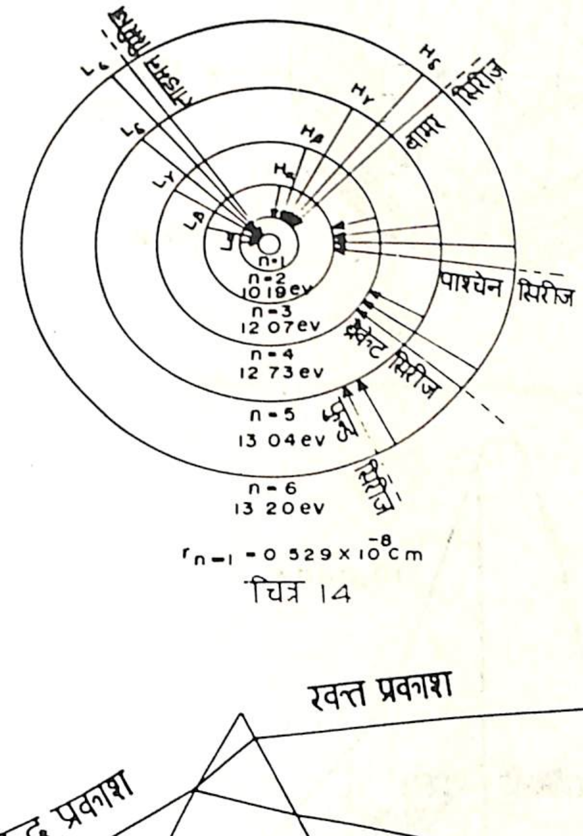
लाइमन सिरीज
Lδ
Lγ
Lβ
Lα
Hδ
Hγ
Hβ
Hα
बामर सिरीज
पाशचेन सिरीज
ब्रैकेट सिरीज
फुण्ड सिरीज
n=1
n=2
10.19 ev
n=3
12.07 ev
n=4
12.73 ev
n=5
13.04 ev
n=6
13.20 ev

$r_{n=1} = 0.529 \times 10^{-8}$ cm

चित्र 14

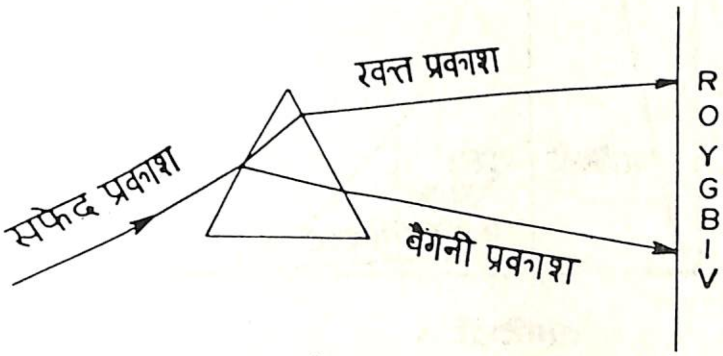
सफेद प्रकाश
रक्त प्रकाश
बैंगनी प्रकाश
R
O
Y
G
B
I
V

चित्र 15

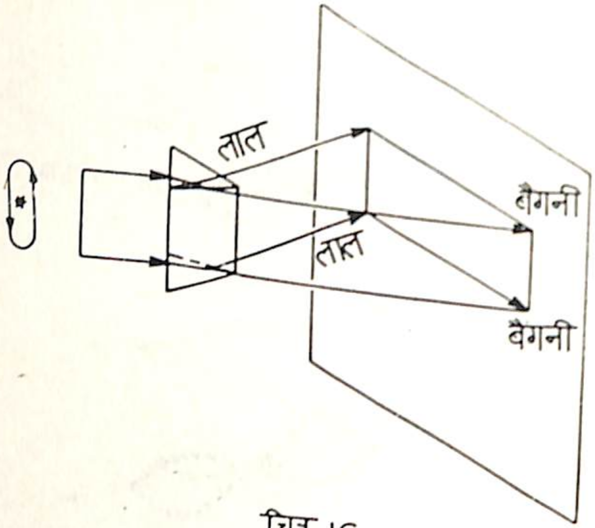
लाल
बैंगनी
लाल
बैंगनी

चित्र 16

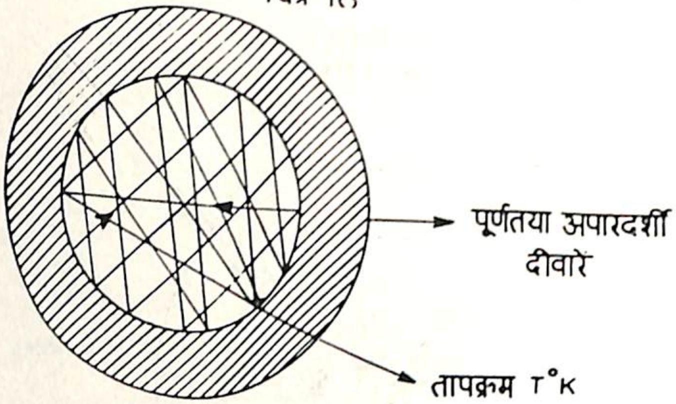
पूर्णतया अपारदर्शी दीवारें
तापक्रम T°K

चित्र 17

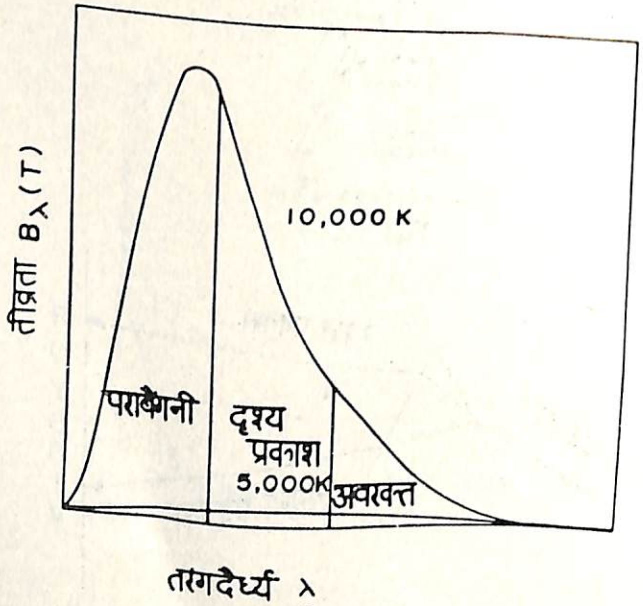

चित्र 18

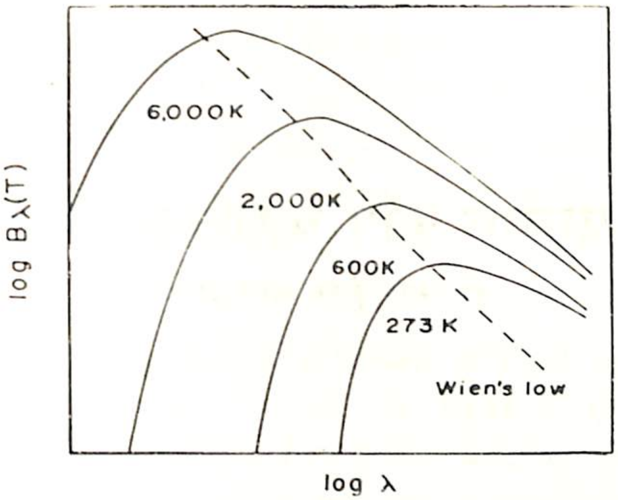

तापीय विकिरण
चित्र 19

भारत के प्राचीन कृषि वैज्ञानिक एवं कृषि पत्रकार

डॉ. रामकृष्ण पाराशर*

संसार के प्रांचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत में कृषि प्राचीनकाल से होती आई है । वैदिक युग में शिक्षा और कृषि के परीक्षण एवं अनुसंधान ऋषि-मुनियों के आश्रमों के कृषि-क्षेत्रों एवं गोशालाओं में होते थे । कोदो, सवाँ, काकुन आदि अनाजों की खोज का श्रेय महर्षि विश्वामित्र को दिया जाता है और इसी आधार पर इन अन्नों को ऋषि-अन्न की संज्ञा दी जाती है ।

कृषि के शोध-कार्यों का प्रचार एवं प्रसार आश्रमों के उत्सवों राज-समारोहों में उपाधिप्राप्त कृषि स्नातकों द्वारा किए प्रदर्शनों तथा शास्त्रार्थ के रूप में होता था । इस समय की कृषि पत्रकारिता का स्वरूप, कार्यविधि, माध्यम, शैली आधुनिक कृषि पत्रकारिता से बिल्कुल भिन्न था । उस समय न तो आजकल जैसे संचार के साधन थे और न आजकल के समान पत्र-पत्रिकाओं के मुद्रण एवं प्रकाशन की सुविधाएँ थीं । इस कारण उस युग में कृषि पत्रकार एक आश्रम से दूसरे आश्रम जाकर कृषि अनुसंधान की उपलब्धियों की सूचना प्राप्त करते थे और राजसहयोग से भ्रमण करके सामान्य किसानों तक पहुँचाते थे । इस कार्य को ऋषि, मुनि, संतों, भाट, चारण, कवि अपना दायित्व समझते थे । भारत के आदि पौराणिक कृषि पत्रकार के रूप में श्री नारद की प्रसिद्धि रही है । श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने महाभारत की मीमांसा में लिखा है कि श्री नारद ने महाराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया है कि तेरे राज्य में कृषि वर्षा पर तो अवलंबित है न ? तूने अपने राज्य में योग्य स्थानों पर तालाब बनवाए हैं न ? इस प्रकार के संदर्भों से स्पष्ट होता है कि भारत में कृषि पत्रकारिता का उद्भव हमारे प्राचीन ऋषि, मुनियों, संतों, चारणों, कवियों, भाटों, ज्योतिषविद्, कृषि प्रसारक पत्रकारों द्वारा किया गया था ।

प्राचीन भारत के इतिहास में श्री नारद जी के अतिरिक्त कुछ ऐसे संतों, ऋषियों और मुनियों के नाम आते हैं, जो अपने कृषिविषयक अद्भुत ज्ञान के लिए प्रसिद्ध रहे हैं और उन्होंने स्वयं भ्रमण करके सही अर्थों में कृषि पत्रकार के रूप में कृषि विधियों का प्रचार किया है । उस युग में फसलों को उगाने के लिए सिंचाई तो की जाती थी, परन्तु फिर भी वर्षा पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था । इस वर्षा और मौसम की भावी जानकारी भी कृषि विद्या के विशेषज्ञ को आवश्यक हो जाती थी ।

---

* नरेन्द्रदेव कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, नरेन्द्रनगर, फैजाबाद-224229

इस कारण उस काल के कृषि विशेषज्ञ और कृषि पत्रकार ज्योतिष विद्या के भी ज्ञाता होते थे। ऐसे प्राचीन कृषि विशेषज्ञों एवं ज्यातिषाचार्यों में महर्षि पराशर का कार्य तथा अनुभव युगों तक कृषि वैज्ञानिकों के लिए दिशादर्शक के रूप में रहा है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्राचीन कृषि विशेषज्ञ महर्षि पराशर का कार्यकाल 1300 ईसा पूर्व माना जाता है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ **'कृषि पाराशरी'** में कृषि पर नक्षत्रों के प्रभाव, मेघ और प्रकार, वर्षा होने के लक्षण, कृषि की देखभाल, हल, बैल, कृषि उपकरण जुताई विषयक अन्य कार्य, बैलों के चयन, बोआई, रोपण, कटाई, भंडारण पर बहुमूल्य वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध है। इस पुस्तक का बंगला अनुवाद कृषि-संग्रह के नाम से श्री ताराकान्त काव्यतीर्थ द्वारा किया गया था, जो श्री नटवर चक्रवर्ती द्वारा भवानीचरणदत्त स्ट्रीट कलकत्ता से वर्ष 1915 में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ के प्रारंभिक पृष्ठों में प्राचीन कृषिविद् महर्षि पराशर लिखते हैं कि 'कृषि के लिए वर्षा जरूरी है और जीवन के लिए कृषि। अतएव मनुष्य को सबसे पहले वर्षाविषयक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वर्षा के ज्ञान के लिए वर्षा के स्वामी बादलों की प्रकृति वर्षा के जल की मात्रा का ज्ञान होना जरूरी है।'[1]

उक्त ग्रंथ में महर्षि पराशर ने हल के विभिन्न भागों के नाम, उनकी माप भी दी है और हल को 2 से लेकर 8 बैलों तक से जोतने की बात लिखी है और समृद्ध किसान के पास 10 हलों की खेती का उल्लेख किया है।[2] बीज संरक्षण के बारे में उन्होंने लिखा है कि बीजों को दिन में सूर्य के प्रकाश में सुखाकर रात में ओस में रखना चाहिए और फिर अलग-अलग बोरों में अलग-अलग किस्म का बीज भरकर रखने का निर्देश दिया है। एक ही किस्म का अलग रखा बीज अधिक उपज देता है, ऐसा उनका मत उक्त पुस्तक में व्यक्त किया गया है।

खरीफ की फसलों की बोआई के उपयुक्त समय का संकेत देते हुए महर्षि पराशर ने लिखा है कि अधिक उपज प्राप्त करने के लिए किसान को जेष्ठ मास के आखिरी साढ़े तीन दिनों तक या आषाढ़ के शुरू के साढ़े तीन दिनों तक बीज नहीं बोना चाहिए।[3] इस अवधि में बीज बोने से उपज बहुत कम होती है। प्रायः बीज खराब हो जाता है।

धान के खेतों में आवश्यकता से अधिक पानी निकालने का सुझाव देते हुए महर्षि पराशर ने लिखा है—"धान को रोगी होने से रोकने के लिए भादों के महीने में इतना पानी निकाल देना चाहिए, जिससे केवल पौधों की जड़ें ही पानी में डूबी रहें। यदि इस मास में खेतों के पानी को नहीं निकाला जाता है, तो धान में रोगों के फैलने का डर रहता है और अच्छी उपज प्राप्त नहीं होती है। महर्षि पराशर के पश्चात् प्राचीन कृषि विशेषज्ञों एवं पत्रकारों में काश्यप और चरक, पाणिनि, पतंजलि, कौटिल्य और मैगस्थनीज के नाम उल्लेखनीय हैं।

चरक ने लगभग 90 वनस्पतियों की खोज करके उनके औषधीय उपयोग का विस्तार से वर्णन किया है। इस कारण महर्षि चरक का नाम चिकित्सक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुआ है। उनके सुप्रसिद्ध चरक-संहिता के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने कृषि की एक विशिष्ट दिशा में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान एवं प्रसार किया। महर्षि काश्यप ने देवालय में उद्यान गृह और उपवन में

चम्पक, उदुम्बर और पारिजात लगाने का निर्देश किया है। वृक्षों को 12 हाथ से लेकर 20 हाथ की दूरी पर लगाने को लिखा है। पाणिनि भाषाशास्त्री के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, लेकिन उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ अष्टाध्यायी को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने काल की कृषि पद्धतियों और शब्दावली तथा कृषि तथा कृषि इतिहास के कितने बड़े पत्रकार एव प्रवक्ता थे। उन्होंने लिखा है कि इस काल में खेती योग्य भूमि अलग-अलग क्षेत्रों में बँटी रहती थी। खेत के लिए क्षेत्र शब्द प्रयुक्त होता था। खेतों की नापजोख करने वाले अधिकारियों को क्षेत्रकर कहा जाता था। खेतों के नाम उनमें बोई जाने वाली फसल या बोने के लिए बीज की मात्रा से पड़ता था। धान्यों के अनुसार खेतों के नाम ब्रैह्य (ब्रीहि या धान का खेत) शालिम (जड़हन धान का खेत) यव्य (जौ का खेत) तिल्य (तिल का खेत) उभ्य औमी (अलसी का खेत) माष्य (उड़द का खेत) थे। जिस खेत में दस सेर बीज पड़ता था, उसे द्रौपिक कहते थे और जिस खेत में 4 मन पड़ता था उसे खारीक कहते थे। पणिनि ने लिखा है कि किसान खेत की जुताई दो-तीन बार करते थे। खेत की दो बार जुताई करने को **द्वितीया करोति** और तीन बार करने को **तृतीया करोति** शब्द उपयोग किए गए हैं। बोआई के योग्य खेत के लिए पाणिनि ने "वाप्य" शब्द प्रयोग किया है। कटाई की क्रिया के लिए **"लवित्र"** और कटाई क्रिया के लिए पाणिनि ने **"लवनी"** और कटाई के योग्य खेत को "लाव्य", कटाई के यंत्र को **"लवित्र"** और कटाई क्रिया को **'अभिलाव'** प्रयोग किया है और खनिहान में 'खल्व' शब्द का प्रयोग किया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री आचार्य चाणक्य स्वयं कृषि एवं अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ थे। उन्होंने कृषि की व्यवस्था के लिए कृषि अध्यक्ष की नियुक्त कराई। राज्य की ओर से उस काल में **"कृषि"** को **"सीता"** कहा जाता था। इस कारण कृषि निरीक्षक को **'सीताध्यक्ष"** कहा गया। उक्त पद के लिए कृषि विज्ञान की उच्च शिक्षा तथा व्यावहारिक अनुभव को आवश्यक माना गया था, क्योंकि उसको सभी प्रकार के अन्नों, पुष्पों, फलों, तरकारियों, रेशेवाली फसलों कपास आदि के बीजों का संग्रह करना होता था और वृक्षों का रोपण करना पड़ता था।

इस युग में मैगस्थनीज नामक एक विदेशी पत्रकार एवं इतिहासकार भारत आया था। उसने मौर्य काल की कृषि के बारे में विस्तार से लिखा है कि यहाँ किसानों की संख्या सबसे अधिक है। ये युद्ध करने तथा अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त रहते हैं। इस कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं। वे राजा को भूमि-कर देते हैं। किसान अपनी स्त्रियों एवं बच्चों के साथ देहात में रहते हैं। भूमि का अधिक भाग सींचा जाता है, अतएव उसमें वर्ष के भीतर ही दो फसलें होती हैं।

मैंगस्थनीज के अनुसार भारत की भूमि बहुत उपजाऊ थी। वह लिखता है कि भूमि पशुओं के निर्वाह योग्य तथा अन्य खाद्य भी प्रदान करती है। इस कारण भारत में अकाल कभी नहीं पड़ता और खाने की वस्तुएँ भी कभी महँगी नहीं हो पातीं। चूँकि यहाँ वर्ष में दो-दो बार वर्षा होती है, एक जाड़े में जब गेहूँ बोया जाता है और दूसरी गर्मी में जब तिल और ज्वार बोई जाती है, अतः भारत के निवासी दो फसलें काटते हैं और इनमें से यदि एक बिगड़ भी जाती है तो उन्हें

दूसरी फसल का विश्वास रहता है। इस कृषक समाज को युद्ध के समय भी कष्ट नहीं दिया जाता है।

मैंगस्थनीज आगे लिखता है कि भूमि पर काम करते हुए किसी किसान के पास आकर शत्रु-सेनाएँ उसकी हानि नहीं करतीं, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसाधारण के लिए हितकारी माने जाने के कारण सब हानियों से बचाए जाते हैं। भारत में बहुत सी ऐसी रीतियाँ हैं जो उनके बीच अकाल की संभावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसको परती ऊसर कर देने की रीति है पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में, जो कृषक समाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने वाले के पड़ोस में यदि युद्ध हो रहा हो, तो भी वे किसी भय की आशंका से विचलित नहीं होते हैं। दोनों पक्षों के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हैं, उनको पूरी तरह निर्विघ्न रहने देते हैं। इसके अतिरिक्त न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उसके पेड़ काटते हैं।

मैगस्थनीज ने तीसरी जाति में अहीर, गड़रिए और सब प्रकार के चरवाहों को गिनाया है। ये लोग न तो नगरों में बसते थे, न ग्रामों में, बल्कि डेरों में रहते थे। पशुओं को बेचना और उधार देना इनका काम था। ये बोई हुई फसल के बीजों को खा जाने वाले पक्षियों और फसल को हानि पहुँचाने वाले पशुओं को जाल में फँसाकर नष्ट करते थे। जो भूभाग राज्य के अधिकार से होता था, उस पर दासों और वन्दियों से खेती कराई जाती थी और राज्य की ओर से ही कृषि यंत्र उपकरण बैंल हल और बीज दिए जाते थे। इस प्रकार दूसरे उद्योगों और शिल्पकार्यों से अपनी जीविका चलाने वाले रंजरेजों, रस्सी बटने वालों, सपेरों आदि से इसी प्रकार खेती कराई जाती थी। इस युग में गेहूँ, जौ, धान, अलसी, उड़द, मूँग, सरसों, गन्ना के अतिरिक्त कपास, तिल, अलसी की खेती बड़े पैमाने पर होती थी। बोने के बाद बीज में अंकुरित हो जाने पर तब उनकी वृद्धि के लिए थूहा के दूध के साथ मछली की खाद दी जाती थी। कपास के बिनौले को सर्प की केंचुली के साथ जलाकर धुआँ पौधों में दिया जाता था जिससे विषैले सर्प वहाँ नहीं जा पाते थे।

प्रत्येक गाँव के साथ गोचर भूमि होती थी। ऊसर भूमि और जलाशयों पर राज का अधिकार होता था। कृषि शब्द "कृष" धातु में बना है जिसका अर्थ है कूड़ बनाना या जोतना। पतंजलि के समय तक कृषि शब्द में उन सब क्रियाओं का समावेश हो चुका था, जो आज कृषि कार्य में गिनी जाती हैं। इनमें जोतना, खोदना, बोना, सींचना, निराना, काटना, गाहना आदि सभी क्रियाएँ आ जाती हैं। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि 'कृष' धातु के अर्थ में जोतने वाले को खिलाना-पिलाना, बीज और बैलों की व्यवस्था करना सम्मिलित है। इस काल में हल के पर्याय के रूप में "सीर" शब्द भी प्रचलित था। इस कारण हल चलाने वाला हालिक या सैरिक कहलाता था। हल से जोती गई भूमि हल्या कहलाती थी। जुता हुआ खेत **'सीत्य'** कहलाता था। महर्षि पतंजलि ने अपने महाकाव्य

में ब्रीहि (धान), जौ (यव), माष (उड़द), तिल अन्न गिनाए हैं। इस काल में तिल के लिए काकगुह और अलसी के लिए उमा, कपास को कार्पास कहा जाता था।

महर्षि पतंजलि के काल में फसलों की सिंचाई कुओं से होती थी। इस युग में बैलों के द्वारा रहट से पानी निकालने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। इस युग में पशुपालन कृषि के अभिन्न रूप में विकसित था और गाय का महत्त्व सबसे अधिक था। आयुभेद से गाय के अलग-अलग नाम थे। गर्भवती होने योग्य गाय को उपसर्पा, प्रथमगर्भा का 'उपसर,' पहली बार ब्याई हुई को गृष्टि, दूध देती हुई को धेनु और गिरवी रखी गई गाय को धेनुका कहा जाता था। गायों से प्राप्त होने वाली वस्तुएँ **गव्य** कहलाती थीं। गाय को चराने वाला 'ग्वाल' गोपालक कहलाता था। चरकर लौटने के बाद गाय जहाँ बाँधी जाती थी वह स्थान **गोष्ठ** कहलाता था। चरते समय खो जाने या चोरी आदि से बचाने के लिए पालक गायों के सींगों को रँग देते थे या छील देते थे या उनके शरीर के किसी विशिष्ट भाग को जलाकर दाग देते थे। कभी पूँछ के बाल काट देते थे। इस तरह दागी गई गाएँ अंकित कहलाती थीं। गाय के बछड़े वत्स कहलाते थे। छोटे बछड़ों को वत्सतर कहते थे। युवा बैल को उक्ष और उससे बड़े अधेड़ उम्र के बैल को उक्षतर कहते थे। सशक्त बैल को ऋषभ; किन्तु जब वह दुर्बल हो जाता था तो उसे ऋषभतर कहते थे। **वृषभ** और अनड्वान युवा वत्स के अन्य नाम थे।

कालीमोहन विद्यारत्न द्वारा बंगला में संकलित वराहमिहिर-खना ज्योतिष ग्रंथ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में विक्रमादित्य नामक उज्जैन के राजा के दरबार में वराह और मिहिर दो कृषि एवं ज्योतिष के सुप्रसिद्ध ज्ञाता एवं कृषिप्रसारक थे। मिहिर के पिता का नाम वराह और उनकी पत्नी का नाम खना देवी था जो कृषिकार्य में बड़ी दक्ष थी, ज्योतिष की बड़ी ज्ञाता थी। खना देवी ने बंगला भाषा में खेतों की जुताई, फसलों के बोने का उचित समय, काटने का समय, उपज की मात्रा, फसलों में दी जाने वाली खादों का वर्णन किया है। खना कहती है कि शरद् ऋतु के अंत में मूली बोओ। मूली के खेत में मिट्टी रूई की भाँति और ईख के खेत में मिट्टी धूल के समान मुलायम बनानी चाहिए।

खना बले चाषार पो। शरतेर शेषे सरिषारो।
भाछरेर चार आश्विनेर चारि। कलाइ रोवे मत पारि।

खना कहती हैं किसान के बच्चों शरद् ऋतु के अंत में भादों के आखिरी चार दिनों में और कुआर के पहले चार दिनों में सरसो बोना चाहिए।

इसी काल में सुप्रसिद्ध कृषि एवं ज्योतिषशास्त्री वराहमिहिर का बृहत्संहिता नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ इस युग में रचा गया। इस ग्रन्थ में वराहमिहिर ने लिखा है कि 90 प्रतिशत से अधिक जनता कृषि पर निर्भर थी। किसान वर्ष में फसलें बोते और काटते थे। वराहमिहिर ने इसी ग्रंथ में ग्रीष्म एवं शरद् (खरीफ और रबी) की दो प्रधान और एक तीसरी साधारण फसल का उल्लेख किया है। इनका कथन है कि धानों की किस्मों में 'कलम', 'कलि और नीवर' की किस्में अधिक लोकप्रिय थीं।

'कलम' और 'कलि' किस्में किसानों द्वारा उगाई जाती थीं और 'नीवर' जंगलों में अपने आप उगता था, जो वनवासियों और आश्रमवासियों का मुख्य आहार था। इस युग में कृषि वर्षा पर अधिक निर्भर थी। वराहमिहिर ने अपनी बृहत्-संहिता में वर्षा, जल गिरने का अनुपात उसके नापने के तरीके का विस्तृत वर्णन किया है। वराहमिहिर का काल 505 ई. के लगभग माना जाता है।

वराहमिहिर ने अपने गौरव ग्रंथ बृहत्संहिता के बारे में लिखा है कि गर्ग, पराशर, काश्यप, वात्स्य आदि ऋषि-मुनियों ने वर्षा के जो लक्षण लिखे हैं उनको देखकर ही यह ग्रंथ रचा गया है।

वराहमिहिर के बाद के भारतीय कृषि के ज्ञाताओं एवं कृषिप्रसारक पत्रकारों में घाघ, भड्डरी के नाम उत्तर भारत के कृषि जगत् में बहुत लोकप्रिय हैं। इनकी कहावतें आज भी हमारे किसानों की जबान पर हैं और वे पिछली कई शताब्दियों से हमारे किसानों का कृषि कार्य में मार्गदर्शन करती आ रही हैं। कृषि विशेषज्ञ घाघ का जन्म संवत् 1753 विक्रमी में बताया जाता है। ये अपने क्षेत्र में इतने लोकप्रिय रहे हैं कि उत्तर भारत के अलग-अलग राज्यों के किसान इन्हें अपने ही राज्य का बताते हैं। बिहार के किसान एवं विद्वान् इन्हें छपरा तथा चम्पारन का बताते हैं। उत्तर प्रदेश के लोग इन्हें गोंडा, गोरखपुर, फतेहपुर, रायबरेली और कन्नौज का बताते हैं। कहा जाता है कि घाघ पहले हुमायूँ के दरबार में गए थे, फिर अकबर के साथ रहने लगे थे। सम्राट् अकबर ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हें अपने नाम का गाँव बसाने को कहा, तो घाघ ने वर्तमान चौधरीसराय नामक गाँव अकबराबाद सराय घाघ के नाम से बसाया। सराय घाघ कन्नौज शहर से एक मील दक्षिण और कन्नौज रेलवे स्टेशन से 3 फर्लांग पश्चिम में है। अकबर के दरबार में घाघ का बडा आदर था। अकबर ने इन्हें कई गाँव दिए थे और चौधरी की उपाधि दी थी। इसी से घाघ के वंशज अभी भी चौधरी कहलाते हैं और सराय घाघ का दूसरा नाम चौधरी सराय भी पड़ गया। इनकी आठवीं पीढ़ी के वंशजों में श्री रामचरण दूबे और श्री कृष्ण दूबे के जीवित होने की सूचना उपलब्ध है। घाघ की मृत्यु के संबंध में कहा जाता है कि उन्होंने ज्योतिष से गणना करके यह पता लगा लिया था कि उनकी मृत्यु तालाब में नहाते समय जाठ में चोटी चिपक जाने से होगी, इसलिए घाघ तालाब में नहाते नहीं थे और न मोटी चोटी रखते थे। संयोग की बात है कि एक दिन उनके कुछ घनिष्ठ मित्र तालाब में नहा रहे थे, उन्होंने घाघ को भी आग्रह करके पानी में खींच लिया। नहाते समय सचमुच उनकी चोटी जाठ में चिपक गई और बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं छुटी। उसी दशा में उनकी मृत्यु हो गई। मरते समय घाघ ने यह कहा था :

ई नहि जान घाघ निबुद्धि। आवे काल विनासे बुद्धि॥

वास्तव में खेती का पूरा लाभ उस स्थिति में ही होता है जब कि व्यक्ति स्वयं खेती करता है। इस विषय में घाघ महोदय ने लिखा है :

उत्तम खेती जो हर गहा। मध्यम खेती जो संग रहा।
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ। बीज बूड़िनो तिनके तहाँ॥

अर्थात् जो स्वयं हल चलाता है उसकी खेती उत्तम है, जो हलवाहे के साथ रहकर खेती कराता है वह खेती मध्यम है और जो खेती केवल हलवाहे पर निर्भर है उसका बीज बोना ही निरर्थक है।

वर्षा के संदर्भ में घाघ की निम्नलिखित कहावतें बहुत प्रसिद्ध हैं :

एक मास ऋतु आगे धावे । आधा जेठ आसाढ़ कहावे ॥

अर्थात् मौसम एक महीने आगे चलता है । आधे जेठ से ही आषाढ़ समझकर खेती की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए ।

माघ में गरमी जेठ में जाड़ । कहैं घाघ हम होब उजाड़ ॥

अर्थात् माघ के महीने में गरमी और ज्येष्ठ महीने में सरदी पड़े तो कहते हैं कि हम उजड़ जायेंगे । अर्थात् पानी नहीं बरसेगा ।

पूनो परवा गाजे । तो दिना बहत्तर नाजे ।

अर्थात् आषाढ़ की पूर्णिमा और प्रतिपदा को बिजली चमके तो 72 दिन तक वर्षा होगी ।

दिन में गरमी रात में ओस । कहैं घाघ वर्षा सौ कोस ।

अर्थात् यदि दिन में गर्मी पड़े और रात में ओस पड़े तो घाघ कहते हैं कि वर्षा को बहुत दूर समझना चाहिए ।

तेरह कातिक तीन असाढ़ । जो चूका सो गया बजार ।

अर्थात् कार्तिक मास के 13 दिनों, आषाढ़ के तीन दिनों के भीतर ही बोआई कर देनी चाहिए, जो चूकेगा उसे बाजार से अनाज खरीदना पड़ेगा ।

सिंचाई

धान पान अरु खीरा । तीनों पानी के कीरा ॥

अर्थात् धान, पान और खीरे की फसल को पानी की बहुत जरूरत होती है ।

साठी होवे साठवें दिन । जो पानी पावे आठवें दिन् ॥

अर्थात् प्रत्येक आठवें दिन सिंचाई करने से साठी धान 60 वें दिन तैयार हो जाता है ।

कटाई और ओसाई

चना अध पका, जौ पका काटै । गोहूँ बाली लटका काटै ॥

अर्थात् चना आधा पक जाय, जौ पूरा पक जाय और गेहूँ की बालें लटक जाँय तो काटना चाहिए ।

पछुवां हवा ओसावे जोई । घाघ कहैं घुन कबहु न होई ।

अर्थात् पश्चिम की हवा चलने पर गेहूँ की ओसाई करने से दानों में घुन नहीं लगते ऐसा घाघ का मत है ।

फसलों के रोग एवं कीट

फागुन मास बहै पुरवाई । तब गोहूँ में गेरुई आई ॥

अर्थात् जब फाल्गुन मास में पूरब की हवा चलती है, तो गेहूँ में गेरुई रोग तेजी से लगता है ।

पूरा माघ बहै पुरवाई । तब सरसों को माहूँ खाई ॥

अर्थात् जब पौष और माघ के महीनों में पूरब की हवा चलेगी तो सरसो की फसल माहूँ कीड़ा खा जाएगा ।

भड्डरी एवं भड्डली

घाघ के समकालीन कृषि एवं वर्षा विज्ञान के विशेषज्ञ एवं प्राचीन कृषि प्रसारक भड्डरी का नाम भी भारतीय किसानों में बहुत ही आदर से लिया जाता है और घाघ के समान उनकी कहावतें भी कई शताब्दियों से हमारे किसानों की खेती-बाड़ी में दिशादर्शन करती आ रही हैं । भडरिया जाति के लोग अपने को उनका वंशज बताते हैं । इस जाति के लोग गोरखपुर और सुलतानपुर में अधिक हैं । इस जाति के लोग कहावत के आधार पर वर्षा के बारे में किसानों को जानकारी देते हैं । भड्डरी के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं । श्री वी. एन. मेहता का इस विषय में कथन है कि भड्डरी के बारे में ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर की एक बड़ी मनोहर कहानी कही जाती है । एक समय जब वे तीर्थयात्रा पर थे, उनको ज्ञात हुआ कि अगले दिन के गर्भ की सन्तान बहुत बड़ी गणित और फलित ज्योतिष का विशेषज्ञ होगी, तो उन्हें ऐसे पुत्र के पिता बनने की लालसा हुई, इसलिए उन्होंने अपने घर उज्जैन को प्रस्थान किया । चूँकि उज्जैन इतनी दूर था कि वे उस शुभ दिन तक वहाँ नहीं पहुँच सकते थे , इसलिए रास्ते के एक गाँव में एक गड़रिए की कन्या से विवाह कर लिया । उस स्त्री से जो पुत्र हुआ वह ब्राह्मणों की भाँति शिक्षा न पाने पर भी स्वभावतः बहुत बड़ा ज्योतिषी हुआ । उसका नाम भड्डरी रखा गया । आज के दिन भी नक्षत्र संबंधी कहावतों के जन्मदाता भड्डरी कहे जाते हैं । पं. रामनरेश त्रिपाठी का कथन है कि भड्डरी के पिता काशी के कोई अन्य ज्योतिषी हो सकते हैं, परन्तु वराहमिहिर नहीं हो सकते; क्योंकि भड्डरी की कहावतों की भाषा मुगलकाल की मालूम होती है ।

मारवाड़ में भड्डली की कुछ और ही कथा है । वहाँ भड्डली पुरुष नहीं स्त्री है । वह भंगिन थी और शकुन विद्या जानती थी । डंक नामक ब्राह्मण ज्योतिष जानता था । दोनों परस्पर विचार-विनिमय किया करते थे । अन्त में दोनों पति-पत्नी की तरह रहने लगे । उनकी सन्तान हुई वह "डाकोत" नाम से अब भी प्रसिद्ध है किन्तु डाकोत लोग कहते हैं कि भड्डली धन्वन्तरि वैद्य की कन्या थी ।

मारवाड़ में एक किंवदन्ती और भी है कि राजा परीक्षित के समय में डेक नामक एक बड़े ऋषि थे। वे ज्योतिष के बड़े ज्ञाता थे। उन्होंने धन्वंतरि वैद्य की कन्या सावित्री उर्फ भड्डली से विवाह किया था। उनसे जो सन्तान हुई वह डाकोत कहलाई।

भड्डरी के नाम से छोटी सी पुस्तिका छपी हुई मिलती है, शीर्षक है–'शकुन विचार'। राजस्थान में भड्डली की एक पुस्तक 'भड्डली पुराण' के नाम से मिलती है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर उत्तर प्रदेश के भड्डरी, राजस्थान की भड्डली से भिन्न हो सकते हैं। यह सत्य है कि दोनों वर्षा विज्ञान और ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान् थे। भड्डरी की कहावतों में अवधी की शब्दावली का बाहुल्य है तो भड्डली की शब्दावली में मारवाड़ी का प्राधान्य है। दोनों ने कृषि एवं वर्षा विज्ञान के सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

कातिक सुदी एकदसी, बादल बिजुली होय।
तो असाढ़ में भड्डरी, बरखा चोखी होय।

अर्थात् कार्तिक शुक्ला एकादशी को यदि बादल हो और बिजली चमके तो भड्डरी कहते हैं कि आषाढ़ में वर्षा अच्छी होगी।

मार्ग बदी आठें घटा, बिज्जु समेती जोइ।
तो सावन बरसै भलो, साखि सवाई होय॥

अर्थात् अगहन वदी अष्टमी को यदि बिजली के समेट घटा बादल की हो तो सावन में वर्षा अच्छी होगी और उपज सवाई होगी।

स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में एक नए युग का शुभारम्भ हुआ है। हमारे देशवासियों में स्वतंत्र राष्ट्र के प्रबुद्ध नागरिक होने की चेतना उत्पन्न हुई जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र ने सभी क्षेत्रों में आशातीत प्रगति की। अतीत से प्रेरणा लेकर हम कृषि विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान की ओर अग्रसर हुए और देश में अधिक उपज वाले बीजों और नई कृषि पद्धतियों से हरित क्रान्ति आई। देश आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ा और अपनी बढ़ती हुई आबादी को भरपेट खाद्यान्न देने में समर्थ हुआ। लगता है कि इस प्रगति की चकाचौंध में हम अपनी प्राचीन धरोहर को भूल गए हैं। आज आधुनिक उर्वरकों के अंधाधुंध उपयोग से भूमि की उर्वरा शक्ति प्रतिकूलतः प्रभावित होने लगी है, कीटनाशियों के उपयोग से अनाज और सब्जियों में घातक विष से हमारे स्वास्थ्य को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार पशु शक्ति की जगह ट्रैक्टर के बढ़ते प्रयोग से हमारी खेती डीजल की कमी और मँहगाई से त्रस्त हो गई है। ऐसी स्थिति में हमें ऐसा प्रतीत होने लगा है कि भारतीय कृषि के स्थायी विकास के लिए हमें अपने देश में युगों से होती आई कृषि के प्राचीन ज्ञान और पद्धतियों को आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर आधारित

अनुसंधान की कसौटी पर परखने की महती आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है। मौसम विज्ञान में भी हमारा प्राचीन ज्ञान आधुनिक विज्ञान की नई दिशा को खोजने में सहायक हो सकता है। भारत की मृदा एवं फसलों में रासायनिक प्रदूषण की मात्रा बढ़ने से भारतीय कृषि में एक नया संकट उभर रहा है। हमारे कृषि वैज्ञानिक इस ओर सजग हो रहे हैं–यह अत्यन्त शुभ लक्षण है। इसके लिए हमें अपने प्राचीन ज्ञान की धरोहर की सहायता लेनी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होती है।

●

---

1. कृषि-पराशर, श्लोक-संख्या-10-11।
2. वही, श्लोक-संख्या-164-166।
3. वही, श्लोक-संख्या-180-181।

प्राच्य तकनीकी विज्ञान

श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्त-बन्धु'

तकनीकी विज्ञान का सीधा संबंध मानव-सभ्यता से है। अब यह प्रायः सर्वमान्य है कि वैदिक सभ्यता ही सबसे पुरानी सभ्यता है जो भारत में ही फूली-फली है। भारत की सभ्यता जितनी पुरानी है, भारतीय शिल्प-विज्ञान भी उतना ही पुराना है। फलतः प्राच्य तकनीकी विज्ञान इतना व्यापक, गंभीर और समृद्ध रहा है कि इस विषय पर सम्यक् प्रकाश डालना किसी एक व्यक्ति के लिए अथवा किसी एक निबंध में संभव नहीं है। विस्तार-भय से यहां इस पर आंशिक प्रकाश डालते हुए इसकी व्यापकता और समृद्धि की कुछ झलकियां ही प्रस्तुत की जा सकती है।

वेद संसार की सबसे पुरानी पुस्तक है। कुछ लोग निहित स्वार्थ का या पूर्वाग्रह-प्राप्त होने से उन्हें पशु-पालकों के गीत कहकर उनका महत्व घटाने का प्रयास करते हैं; कुछ अन्य लोग उन्हें आध्यात्मिक अथवा अव्यावहारिक ज्ञान की पुस्तक ही समझते हैं। किन्तु उनका अध्ययन करने से सिद्ध होता है कि वे ही वैदिक सभ्यता का उद्‌गम हैं; और फलस्वरूप समस्त तकनीकी विज्ञान का मूल हैं। मनुस्मृति के अनुसार वेद में सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान है।[1] उनमें आध्यात्मिक ज्ञान तो है ही, सभी प्रकार के भौतिक विज्ञान की भी पराकाष्ठा हैं। धर्म-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि के साथ-साथ गृह-निर्माण विज्ञान, कला-कौशल विज्ञान, वायुयान विज्ञान, जलयान विज्ञान, धातु विज्ञान, वस्त्र-वपन विज्ञान, मार्ग-निर्माण विज्ञान, शरीर विज्ञान, आत्म विज्ञान, योग विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, औषध विज्ञान, रसायन विज्ञान, यज्ञ विज्ञान, जल-चिकित्सा विज्ञान, सूर्य-चिकित्सा विज्ञान, कृषि विज्ञान, पशु विज्ञान, सृष्टि-उत्पत्ति विज्ञान, दूर-संचार विज्ञान, मन्त्र विज्ञान आदि सभी विज्ञान-विषयों का सम्यक् ज्ञान वेद में है। संक्षेप में वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं।

उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथों में वैदिक ज्ञान और अधिक विस्तार से व्याख्यायित है। उनमें विज्ञान की अनेक शाखाओं की सामग्री भी है। परवर्ती साहित्य में तो बहुत से ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनमें विज्ञान की एक-एक शाखा का ही भली भांति विवेचन किया गया है। इनसे इतर जो साहित्य है, उसमें भी जहां कहीं कुछ वर्णन किसी विज्ञान के बारे में है, वह अत्यन्त सजीव और उत्कृष्ट कोटि का है। पुराणों तक में ऐसे विशेष स्थल हैं जिनसे प्रतीत होता है कि तकनीकी विज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था, शिल्प की बाकायदा शिक्षा दी जाती थी, और समाज में शिल्पकारों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। शिल्पियों को विश्वकर्मा (विश्व-प्रत्येक या समस्त+कर्मा=कार्यों में

कुशल व्यक्ति) अर्थात् इंजीनियर कहकर देव-तुल्य सम्मान दिया जाता था। मण्डूकोपनिषद् में तो इन्हें ब्रह्मवेत्ताओं से भी श्रेष्ठ कहा गया है।[2]

इस पृथ्वी का एक नाम वसुमती भी है। इसे बसने-योग्य बनाने वाले पदार्थ या शक्तियां 'वसुएं' तथा उनका प्रयोग करके बसने-योग्य बनाने की कला 'वास्तु-कला' कहलाती है। जो इस कला में निपुण होता है उसे वास्तुक या वास्तुकार कहते हैं। लोगों के रहने-योग्य घर बनाना वास्तुक का काम है। घरों में पानी पहुंचाने की व्यवस्था वही करता है; गंदा पानी निकालने के लिए नालियाँ, आने-जाने के लिए मार्ग (सड़के), खेतों की सिंचाई के लिए नहरें आदि भी वही बनवाता है। बस्ती में पूजा के स्थान, पुस्तकालय, विद्यालय, अस्पताल आदि विविध इमारतें बनवाना भी वास्तु-कला में शामिल है। और भी बहुत से काम हैं जो मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक हैं। ये सब वास्तुक को करवाने पड़ते हैं। जैसे कपड़े बनाना, कपड़े सीना, टाट-पट्टी बनाना, आसन-चटाई बनाना, मूर्त्तियाँ बनाना, उन्हें सजाना, आभूषण बनाना, बरतन बनाना, धातु का काम, लकड़ी का काम, खटिया-मचिया-पीढ़ा आदि बनाना, रथ, गाड़ी, हल, पाटा आदि बनाना, सभी मानव-जीवन के लिए उपयोगी कलाएं हैं। प्राच्य तकनीकी में ये सभी कलाएं वास्तु-कला या शिल्प में शामिल समझी जाती थीं। यानी वास्तु-कला सभी कलाओं की जननी और वास्तुक ही विश्वकर्मा या इंजीनियर होता था।

भारतीय शिल्प का महत्त्व कम करने की दृष्टि से अनेक पाश्चात्य विद्वान् तरह-तरह के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ वे सिद्ध करते हैं कि भारत को लोहे का ज्ञान 1500 ई. पू. ही हुआ और यहां लौह-युग का आरंभ 1000 ई. पू. हुआ क्योंकि पुरातात्विक खुदाइयों में ई. पू. 1500 से पहिले की कोई चीजें या धातु-मल आदि यहां नहीं मिले। किन्तु लोहे और लोहे से बनी वस्तुओं तथा अस्त्रों एवं औज़ारों के जो ढेरों उल्लेख वेद,[3] ब्राह्मण,[4] और उपनिषद[5] आदि ग्रंथों में है, उनकी ओर वे ध्यान ही नहीं देते। वे कोई आकस्मिक उल्लेख भी नहीं हैं जिनकी उपेक्षा कर दी जाए। कहीं-कहीं तो वर्णन इतने विशद है कि उनकी वर्तमान तकनीकी से तुलना करने पर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ जाती है। जैसे ऋग्वेद में वर्णित[6] इस्पात तैयार करने की विधि वैसी ही है जैसी वृट्झ नामक प्रसिद्ध विधि इस्पात बनाने के लिए भारत में 19वीं शती के अंत तक अपनाई जाती रही है। विद्वान[7] मानते हैं कि इस पद्धति से बनाया हुआ इस्पात आज-कल बेसेमर या खुली भट्ठी में बने इस्पात से अधिक अच्छा होता था। रामायण और महाभारत में तथा बुद्ध-कालीन साहित्य में भी लोहे के तथा लोहे के शस्त्रास्त्रों के प्रचुर उल्लेख हैं। फिर दिल्ली में कुतुबमीनार के पास खड़ा 70 टन का लौह स्तंभ (ई. पू. 310) आज भी दिग्गज धातु-शास्त्रियों को चुनौती दे रहा है। इतने भारी स्तंभ का निर्माण और खड़ा करना जितना रोमांचक है उससे कहीं अधिक आश्चर्यजनक है इसकी संक्षरणरोधी रचना जो आज तक एक अनसुलझी पहेली ही है। उत्कृष्ट लोहे के 29 धरनें कोणार्क मंदिर (13वीं शती ई.) में लगी हैं जिनमें से सबसे बड़ी धरन 11 मीटर लंबी है। ये भी देश में ही बनी थीं।

लोहे के काम की भांति ही शिल्प की अन्य शाखाओं का इतिहास भी अत्यंत गौरवपूर्ण है। उदाहरण के लिए भवन-निर्माण-कला को ही लीजिए। सिंध और पंजाब में खुदाई से इमारतों के 5000 साल पुराने खंडहर मिले है। उनसे विदित होता है कि उस समय भी भारतीय सभ्यता बहुत समृद्ध और विकसित थी। इमारतें बनाने की इतनी अच्छी और पुरानी परंपरा संसार में और कहीं नहीं रही। मोहन-जो-दारो नगर बहुत ही सुंदर ढंग से बसा था। ऐसा लगता है मानो यह कोई आधुनिक नगरी हो। पक्की ईंटों के मकान थे; चौड़ी सीधी सड़कें थीं। मुख्य सड़कें पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण जाती थीं और प्रायः समानांतर थीं। नालियां भी थीं। सभ्य और आरामदेह जीवन के लिए जो कुछ ज़रूरी है, वह सब वहां था। एक बड़ा भारी स्नानागार भी था जिसमें बरामदे और कमरे थे; बीच में एक तरण-ताल था। हां, मंदिर आदि कोई नहीं थे। सारी बस्ती अलंकरण-शून्य थी, मानो कोई औद्योगिक बस्ती हो। किन्तु उसमें लगी सारी सामग्री उत्कृष्ट कोटि की थी; रचना सुदृढ़ होती थी; मसाला बहुत पक्का होता था। इसमें संदेह नहीं कि उनका तकनीकी ज्ञान बहुत ऊँचे स्तर का था।

आठवीं शती ई. पू. बिहार में मगध राज्य था। उसकी राजधानी राजगृह उन्नति के शिखर पर था। वहां एक बहुत बड़ी पत्थर की दीवार थी जिसके अवशेष अब भी हैं। घर प्रायः गोल होते थे। उनमें चौकोर दरवाज़े-खिड़कियां लगती थीं। कुछ-कुछ सजावट भी होने लगी थी। जगह-जगह छज्जे बाहर निकाले जाते थे। झरोखे भी बनने लगे थे जिन्हें गवाक्ष कहते थे। स्तंभ बनाकर उनको सजाते थे। जंगले और कटघरे भी बनाए जाने लगे थे। धीरे-धीरे ब्राह्मण-प्रभाव बढ़ता रहा। मूर्ति-पूजा भी होने लगी। तरह-तरह के मंदिर और शानदार राजमहल भी बनने लगे। अलंकरण को विशेष महत्व मिलने लगा।

बौद्ध धर्म आया तो उसे राज्य का भी आश्रय मिला। बहुत से स्तूप, चैत्य, विहार, स्तंभ-तोरण और गुफा-मंदिर बने। इन सबमें वास्तु-कला का बहुत विकास हुआ। बौद्ध वास्तु के बहुत से अच्छे उदाहरण आज-कल भी मिलते हैं। बहुत सी रचनाएँ पत्थर की, ईंट की, और कुछ लकड़ी की भी थीं। एक पुरातत्त्व-अधिकारी सर जान मार्शल[8] लिखते हैं कि "उन रचनाओं से उनके निर्माताओं का अद्वितीय निर्माण-कौशल, सूक्ष्मता और पूर्णता प्रकट होती हैं। उनके कारीगर यदि आज भी संसार में होते तो हमारी वर्तमान वास्तु-कला में शायद उन्हें कुछ सीखने योग्य न मिलता"।

मौर्य काल (ई. पू. 4थी शती से 4थी शती ई. तक) की बहुत सी वास्तु-कृतियां मिलती हैं जो कला की दृष्टि से अनूठी हैं। गुन्तूपल्ले (कृष्णा जिला) में और शंकरन् पहाड़ी (विज़गापट्टम ज़िला) में चट्टाने काटकर सुंदर कृतियां बनाई गई थीं। सांची, नालंदा और सारनाथ में भी ऐसी ही कृतियां हैं। मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त के महामंत्री चाणक्य ने (3री शती ई. पू.) "कौटिल्य अर्थशास्त्र" नामक ग्रंथ लिखा था जो वास्तु-कला के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें नगर-नियोजन के सिद्धान्त दिए हैं। गांव बसाने और किले आदि बनवाने के बारे में बहुत विस्तार से लिखा है। भांति-भांति की सड़कों की चौड़ाई और रथ-मार्ग, राजमार्ग, छावनी मार्ग, स्मशान मार्ग, उद्यान मार्ग,

वन मार्ग आदि के विवरण उसमें हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक नगर-नियोजन की संकल्पना वास्तव में आधुनिक नहीं है, बल्कि इसका विचार ईसा से भी बहुत पहिले भारत में पैदा हुआ था और परिपक्व हो चुका था। मौर्य-काल में कई नगर अच्छे बसे थे। कपिलवस्तु, कुशीनगर, उरुबिल्व आदि बहुत प्रसिद्ध थे। प्रस्तर-कला की बहुत उन्नति हुई थी। अशोक-स्तंभ बारह-पंद्रह मीटर ऊँचे होते थे; नीचे से ऊपर तक एक ही पत्थर के बनते थे; और उन पर बहुत अच्छी पालिश होती थी। उनके शीर्ष भली भांति अलंकृत होते थे। सारनाथ के अशोक-स्तंभ का ही शीर्ष भारत के राष्ट्र-चिह्न के रूप में स्वीकारा गया है। ऐसी विकसित कला के उदाहरण तीसरी शती ई. तक संसार में क़हीं नहीं थे।

मौर्य-कालीन वास्तु में विशालता के साथ-साथ सादगी, सफ़ाई, बारीकी और हद दर्जे की सचाई थी। चित्रों और मूर्त्तियों की सजीवता की भी सर मार्शल ने बहुत सराहना की है[9]। प्राचीन भारतीय इतिहास के एक अन्य विद्वान डॉ. स्मिथ कहते हैं कि "पत्थर की कारीगरी में उन लोगों को अत्यंत उच्चकोटि की कुशलता प्राप्त थी। आज 20वीं शती में भी शायद वैसी कुशलता प्राप्त करना संभव न हो। बड़े-बड़े खंभें खान से काटकर निकाले जाते थे। फिर उनकी गढ़ाई होती थी। तब कहीं वे ढोकर यथास्थान लाए जाते थे। इतने लंबे खंभे खड़े करना भी कमाल का काम है। ये मौर्य-कालीन वास्तुकारों की कुशलता के जीते-जागते प्रमाण हैं"। मौर्य-काल के हज़ार साल बाद एक चीनी यात्री भारत आया था। वह इतने बड़े-बड़े स्तंभ देखकर कहता था कि ये तो किसी देव-दानव के बनाए हुए से लगते हैं। 'इत्सिंग' नाम का एक अन्य चीनी यात्री नालंदा विश्वविद्यालय में दस साल रहा था। उसने लिखा है कि इसमें आठ बड़े सभागार और 300 कमरे थे। उसकी तुलना आज-कल के अच्छे से अच्छे विश्वविद्यालय से की जा सकती है।

पांचवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मण-प्रभाव पुनः उभरा। उत्तर भारत में उस समय के बहुत थोड़े मंदिर हैं जो अत्याचारी आक्रांताओं के कोप से बचे रह सके हैं। इनमें मंडप आदि नहीं हैं; केवल गर्भ-गृह हैं। हिन्दू वास्तु-कौशल का विस्तार महलों, समाधियों, किलों और घाटों में भी हुआ है; किन्तु मंदिरों में यह विशेष मुखर है। ये मंदिर सारे देश भर में फैले हुए हैं। गुप्त काल में (350 ई. से 650 ई. तक) मंदिर वास्तु के स्वरूप में स्थिरता आई। सातवीं शती के अंत में शिखर अनिवार्य समझा जाने लगा। मंदिर वास्तु की दो शैलियां हैं : उत्तरी या आर्य शैली; और दक्षिणी या द्रविड़ शैली। किन्तु ये किसी भौगोलिक सीमा में बंधी नहीं हैं। चालुक्यों की राजधानी पट्टदकल में चार मंदिर उत्तरी शैली के और छह दक्षिणी शैली के हैं। भुवनेश्वर का तैनाल देवल मंदिर (9वीं शती ई.) और ग्वालियर का तेली का मंदिर (11वीं शती ई.) उत्तरी शैली की प्रतिनिधि कृतियां हैं। इसी प्रकार 11वीं शती में बने सोमंगलम्, मणिमंगलम् आदि के चोल मंदिर दक्षिणी शैली के प्रतिनिधि हैं। 10वीं-11वीं शती ई. में पल्लव, चोल, पाण्ड्य, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं ने मंदिर बनवाए जो सभी दक्षिणी शैली के हैं। दोनों ही शैलियों में बौद्ध वास्तु का प्रभाव है, जो शिखरों में विशेष मुखर हैं। दक्षिण के एक राजा रामचंद्र का मंत्री हेमदपंत धर्म

के मामलों में बहुत उत्साही था। दक्षिण के बहुत से मंदिर उसी के बनवाए कहे जाते हैं। उनकी शैली ही हेमदपंती शैली कहलाने लगी है।

मंदिर वास्तु के बहुत से अनूठे उदाहरण देश में जगह-जगह मिलते हैं जिनके निर्माता अज्ञात हैं। यह उन महापुरुषों की शालीनता ही कही जा सकती है; या संभव है, पर्याप्त शोध के अभाव में यह एक प्रकार का ऐतिहासिक अंधकार ही हो। कुछ भी हो, एक बात स्पष्ट है कि भारत में बौद्ध वास्तु, जैन वास्तु, हिंदू (ब्राह्मण) वास्तु और द्रविड़ वास्तु, सभी फूले-फले हैं; और ये सब साथ-साथ विकसित होते रहे हैं। कहीं-कहीं तो एक ही कृति में अनेक शैलियों का समन्वय भी देखा जाता है। इन सबकी झांकियां अत्यंत सुंदर हैं और विशाल भारत की महानता के अनुरूप हैं। यह भारत की धार्मिक सहिष्णुता की सुदीर्घ परंपरा का प्रमाण हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि जन-सामान्य के निजी घरों के लिए वास्तु-कला का विशेष प्रयोग नहीं हुआ। लगता है, सिंधु-घाटी-सभ्यता के साथ-साथ यह दृष्टि-कोण भी लुप्त हो गया। कारण शायद यह रहा हो कि वैदिक शिक्षा 'इदं न मम' और 'स्वाहा' की घुट्टी पीकर लोग सामाजिक जीवन को प्रमुखता देते और व्यक्तिगत स्वार्थ की उपेक्षा करते रहे हैं। संतोषपूर्ण आश्रम जीवन जीते हुए वे ईश्वर को ही सत्य और जगत को मिथ्या समझते थे।

मुसलमानों के आने पर ऐतिहासिक संघर्ष विजय-दर्प-पूर्ण विध्वंस और विरोध में ही मुखर हुआ। अंग्रेज़ों के आने पर प्राच्य तकनीकी विज्ञान पाश्चात्य विज्ञान से भी प्रभावित हुआ। वास्तु-कृतियों में भी मुस्लिम वास्तु और पश्चिमी वास्तु का समन्वय किया जाने लगा। किन्तु दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मंदिर, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के श्रीविश्वनाथ मंदिर तथा अन्य भवनों आदि में प्राच्य शैली जीवित रखी गई है। इसी प्रकार दिल्ली के बुद्ध मंदिर और कुशीनगर के निर्वाण विहार में बौद्ध शैली पुनर्जीवित हुई है।

विज्ञान की अन्य शाखाओं पर भी प्राच्य तकनीकी का इसी प्रकार का स्वर्णिम इतिहास रहा है। किन्तु पाश्चात्य प्रभाव की छाया से अब उस पर ग्रहण लग रहा है—प्राप्य पाश्चात्त्यतां गच्छत्यधोरस्तांच भानुरिव। इत्यलम्।

लेखक-परिचय

इस गंभीर गवेषणात्मक निबंध के लेखक श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्त-बन्धु' भारत सरकार के केन्द्रीय लोक निर्माण विभाग के सेवा-निवृत्त अधीक्षक इंजीनियर और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी तथा संस्कृत के अधिकारी विद्वान हैं जिनके अथक परिश्रम से उस विभाग में हिन्दी के प्रयोग में चतुर्मुखी प्रगति हुई। इंस्टिट्यूशन ऑफ इंजीनियर्स के हिन्दी विभाग के आनरेरी तकनीकी संपादक हैं, और वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग की सिविल इंजीनियरी विशेषज्ञ समिति के सदस्य रहे हैं जिन्हें राष्ट्रपति पारितोषिक (दो बार), भारत सरकार के अखिल भारतीय बाल साहित्य पुरस्कार (दो बार), नव-साक्षर-साहित्य पुरस्कार (एक बार) और विश्वकर्मा पुरस्कार (दो बार) मिल चुके

हैं। हिन्दी में विज्ञान विषयक और इंजीनियरी की कई पुस्तकों के पुरस्कृत लेखक होने के साथ-साथ उन्होंने कई खण्ड-काव्य और नाटक भी लिखे हैं। एक महाकाव्य 'अनल-प्रकाश' भी आपने लिखा है जो राष्ट्रीय एकात्मता की सतत प्रवहमान धारा का सन्दर्भ ग्रन्थ ही है। यह शीघ्र प्रकाशित होगा।

आपकी अनेकविध साहित्यिक सेवाओं के लिए उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (1977), विज्ञान वैचारिकी अकादमी (1981), और विज्ञान परिषद (1986), ने आप का सार्वजनिक सम्मान किया है।

◆

---

1. यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनुस्मृति 2.7।
   अर्थात् जो कुछ किसी के धर्म को मनु जी ने जैसे कहा है, वह सब वेद में कहा हुआ है, क्योंकि वह सर्वज्ञानमय है।
2. क्रियावानेष ब्रह्मविदो वरिष्ठः। मुण्डक 3.1.4।
   अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों में यह क्रियावान् यानी कर्मनिष्ठ पुरुष (इंजीनियर) श्रेष्ठ है।
3. देखिए, ऋग्वेद, 1.64.4,8,11; 1.8.5.4; 1.117.11; 1.162.20; 1.166.10; 1.174.4; 2.34.9; 2.39.7; 3.2.10; 3.8.11; 4.2.17; 4.37.4; 5.9.5; 5.30.15; 5.62.78; 6.3.4; 6.67.6; 6.75.15; 7.85.2; 8.19.23; 8.29.3; 8.101.3; 9.1.2; 9.80.2; 9.112.2; 10.1.20; 10.60.3; 10.72.2; 10.79.6; 10.81.3; 10.86.13।
   यजुर्वेद, 12.631 अथर्ववेद, 4.37.8; 5.5.6; 11.3.7; 6.63.2।
4. शतपथ ब्राह्मण : 5.1.2.14; 5.4.1.1-2; 6.1.3.5; 12.7.1.7; 17.7.2.10।
   तैत्तिरीय ब्राह्मण : 3.4.3.1; 3.12.6.5।
5. छान्दोग्य उपनिषद् : 6.1.6; 6.1.5-6।
6. जरतीभिः औषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्।
   कर्मारो अश्मभिः द्युभिः हिरण्यवन्तमिच्छति इन्द्रायेन्द्रो परिश्रव॥ ऋग्वेद, 9.112.2।
   अर्थात् कुर्मार (लोहार) लकड़ी के टुकड़े खनिज के साथ रखता है। लोहे के खनिज के टुकड़े अर्क यानी आकंद वृक्ष के पत्तों से (पर्णेभिः) ढकते थे। खनिज के पत्थर (धुभिः अश्मभिः) लकड़ी के टुकड़ों के साथ तपाने से (जली हुई लकड़ी का कोयला लोहे में घुलता है तो लोहे से) इस्पात बन जाता है। (कार्बन की मात्रा बढ़ाने के लिए) शकुन यानी हंस पक्षी के पर भी डालते थे (हंस के पंख में 10 प्रतिशत कार्बन और शेष वाष्पशील पदार्थ होता है)। (इस्पात महंगा था, अतः उसे बेचने के लिए) लोहार हिरण्यवंत (धनी) की प्रतीक्षा करता था।
7. देखिए, पी. नियोगी, Iron in Ancient India, Indian Association for cultivation of science, Calcutta, 1914.
8. सर जान मार्शल, भारत का पुरातात्विक सर्वेक्षण, 1912-13 (अंग्रेज़ी में)।
9. वही।

प्राचीन भारत में वनस्पति विज्ञान

डॉ. रमेशदत्त शर्मा

प्राचीन भारत में वनस्पति विज्ञान संबंधी ज्ञान के संदर्भ पुरातत्व, वेद, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक-उपनिषद्, वेदांग, सूत्र-साहित्य, अर्थ शास्त्र, नीतिसार, रामायण, महाभारत, पुराण तथा संस्कृत साहित्य में एवम् बौद्ध और जैन-ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं ।

ऋग्वेद में नवे मण्डल "सोम-पर्वमान" में सोम का वर्णन है । 'सोम' वनस्पतियों के देवता माने गए । गेहूँ, धान और जौ का उल्लेख बताता है कि इन अनाजों की उस समय खेती की जाती थी । पौधों में खाद लगाने, वर्गीकरण तथा विकास के सूत्र भी अनेक श्लोकों में मिलते हैं । यजुर्वेद में अनेक रोगों के उपचार में वनस्पतियों का उपयोग बताया गया है । लेकिन इसका विस्तार से अथर्ववेद में वर्णन मिलता है । अथर्ववेद में 731 श्लोक और 6000 ऋचाएं 20 मण्डलों में निबद्ध हैं । विंटरनिज के अनुसार अथर्ववेद में 55.77 या 99 रोग बताये गये हैं और जर्मन भाषा के प्राचीन ग्रंथों में भी 77 या 99 रोग बताये गये हैं । वनस्पतियों की दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण उल्लेखनीय हैं । आरण्यक-उपनिषदों में जड़-चेतन जगत की सूक्ष्म व्याख्या दी गई है । प्राणियों और वनस्पतियों की रचना और वर्गीकरण का ज्ञान इन महान् ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है । "वेदांग" नाम से सूत्र साहित्य आता है, जिसमें शिक्षा (ध्वनिशास्त्र), कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष की चर्चा है । विंटरनिज ने इन्हें विश्व साहित्य में अप्रतिम माना है । "सूत्रों" के संक्षिप्त रूप को स्पष्ट करने के लिए "भाष्य" लिखे गये । 321 से 300 ई. पू. में कौटिल्य का अर्थशास्त्र लिखा गया, जिसमें 6000 श्लोकों में 15 अधिकरण (खण्ड), 180 प्रकरण (विषय) और 150 अध्याय हैं । उसमें वृक्षारोपण, वन सम्पदा, कृषि, पशुपालन, रसायन विज्ञान, खनिज सम्पदा आदि का विस्तृत वर्णन है । इसकी पाण्डुलिपि आर. शामशास्त्री ने सन् 1905 में खोजी थी और 1909 में मैसूर से "बिवलोथिका संस्कृत" में इसका प्रकाशन हुआ ।

महाभारत में 110,000 श्लोकों में 220,000 पंक्तियां हैं, जो 18 पर्वों में और परिशिष्ट के रूप में "हरिवंश" में निबद्ध हैं । इसमें पौधों की चेतना के बारे में पहली बार स्पष्ट रूप से शांतिपर्व में उल्लेख किया गया । पौधों की जड़ों से पानी खींचकर ऊपर शीर्ष तक पहुंचाने की क्षमता का उल्लेख भी मिलता है । पौंधों के वर्गीकरण, वृद्धि और रोगों का भी वर्णन है और फूलों का उनके रंग तथा परिवेश के अनुसार वर्गीकरण किया गया है । प्राणियों को अण्डज, स्वेदज और जरायुज के साथ हीं "ग्राम्य" और "अरण्य" इन दो वर्गों में बांटा गया । पुराणों का रचना काल ईसा

से चार सौ वर्ष पूर्व से लेकर 800 ईस्वी तक माना गया है। 18 महापुराणों में से अग्निपुराण में वनस्पतियों का अधिक वर्णन है। संस्कृत साहित्य अधिकतर चौथी-पाँचवीं सदी के बीच का है। प्राचीन भारतीय विज्ञानों की दृष्टि से "बृहत्संहिता" सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसकी रचना वाराहमिहिर ने की थी। रचना काल 505 ई. से 587 ई. तक माना जाता है। यह एकमात्र प्राचीन विश्वकोश है। इसमें ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा, रसायन, वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान, कृषि, उद्यान विज्ञान, शिल्प, मनोविज्ञान आदि पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इसीलिए वाराहमिहिर की तुलना प्लाइनी से की जाती है। बौद्ध साहित्य में मुख्यतः "त्रिपिटक" आते हैं–विनयपिटक, सूत्रपिटक और अभिधम्म पिटक, जो पालि भाषा में है और ई. पू. 485 से 249 तक के लिखे माने जाते हैं। जैन-शास्त्रों में हरिभद्र (8वीं सदी) का "सद्दर्शनसमुच्चय" और शांतिसूरी (1039 ई.) का "जीवविचार" विज्ञानों की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। "वृक्षायुर्वेद" दो विद्वानों का लिखा मिलता है–पाराशर और सूरपाल का। पाराशर द्वारा लिखित वृक्षायुर्वेद की पाण्डुलिपि एन. एन. सरकार के अनुसार ("ए कन्साइज हिस्ट्री ऑफ साइन्स इन इण्डिया") (1971) ईसा से 100 साल पहले या 100 साल बाद के बीच के वर्षों में रचित है। जबकि सूरपाल का वृक्षायुर्वेद संभवतः 11वीं सदी का है। "कृषि पाराशर" को ही "कृषि संग्रह", "कृषि पद्धति" और "कृषि तंत्र" नाम से भी जानते हैं। ये चारों एक ही ग्रंथ के नाम हैं और रचना-काल 950 से 1100 ईस्वी माना जाता है।

"अर्थशास्त्र", "अग्निपुराण" और "बृहत्संहिता" में वृक्षायुर्वेद, गुल्मवृक्षायुर्वेद तथा "भेषजविद्या" नाम से वनस्पतिविज्ञान का उल्लेख हुआ है। इसमें जीवनक्षम बीजों का चुनाव, मिट्टी का चुनाव, सिंचाई, खाद लगाने, बुआई, बीजों के अंकुरण, पौद रोपने, कलम लगाने, पेड़ों की काट-छांट (प्रूनिंग), दाबा लगाने (लेयरिंग), मौसम के हिसाब से देखभाल करने, खेती करने, सही फसल चक्र अपनाने, पौधों की वृद्धि पर अलग-अलग मौसम का असर, पौधों की पहचान के लिए उनके वर्गीकरण, उद्यान लगाने के बारे में विस्तार से जानकारी, बागों में जल्दी फूल खिलाने के उपाय और रोगी पेड़ों का उपचार-जैसी तमाम बातें बताई गई हैं। "वृक्षायुर्वेद" के इस विज्ञान की बातें बाद में आकर 13वीं सदी में रचित शार्ङ्गधर के ग्रंथ "उपवनविनोद" में मिलती है।

"सुश्रुत–संहिता" में (2.33) पौधों के अंकुरण में बीज, जलवायु, मिट्टी और पानी के योगदान का स्पष्ट उल्लेख है। शंकरमिश्र के उपस्कर में लिखा है कि "वृक्ष की जड़ों में डाला गया पानी पेड़ में ऊपर और अगल-बगल सभी शाखाओं में चढ़ जाता है, जहां न तो कोई संवेग (इम्पल्स) या संपीडन (इम्पैक्ट) ही यह गति पैदा कर सकता है और न सूरज की किरणें। वृक्षों और वनस्पतियों में जलीय माध्यम और कारण-रूप चेतन आत्मा मिलकर ही आर्द्रता (नमी) को ऊपर ले जाकर पौधों की वृद्धि करती हैं"।

बृहत्संहिता, मनुसंहिता और अर्थशास्त्र में पौधों के जनन तथा प्रचारण (प्रोपेगेशन) की व्यावहारिक विधियां बताई गई हैं। बाहरी लक्षणों–फल, फूल, पत्ती, जड़ तना तथा आहार और

उपचार में उपयोग के आधार पर ही नहीं, आवास और परिवेश के आधार पर भी पौधों का वर्गीकरण किया गया।

शारीर, आकारिकी और वर्गीकरण

प्राचीन काल के वनस्पति ज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विवेचित करने का प्रयास पहले-पहल कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर गिरिजा प्रसन्न मजुमदार ने किया था। प्रो. मजुमदार के अनुसार पौधों को आकारिकी की दृष्टि से दो भागों में बांटकर उनका विवेचन किया जाता है। भूमिगत भाग को "मूल" या "पाद" तथा भूमि के ऊपर के अंगों को "विस्तारो" या "प्ररोह" कहा गया। विष्णु पुराण में बताया गया है कि धान का अंकुर, मूल, पत्र, पुष्प, क्षीर, तुष, कोष, तंदुल और कण मृदा एवं जल की अनुकूल परिस्थितियों में ही प्रकट होते हैं। अथर्ववेद में पौधों को चार वर्गों में बांटा गया–"पुष्पवली", "प्रसूमती", "फलिनी" और "अफल"। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में छह प्रकार के फल गिनाए–अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज, बाह्यान्तरव्याज, सर्वव्याज, बहुव्याज और निर्व्याज। पाराशर ने "बृहत्पाराशरी" में फलों पर अलग से एक अध्याय दिया–"फलांगसूत्रीय अध्याय"। जिस वृक्ष के हैं, उसी के नाम पर फलों का नाम रखा जाता था, जैसे कि बांस अर्थात् "वेणु" के फल को "वैणव" कहा जाता था।

"पूजा" का वास्तविक अर्थ है–पुष्प-कर्म। इस शब्द की व्युत्पत्ति तमिल की "पू" धातु से है, जिसका अर्थ है फूल। "थैलस" के लिए "स्थालक", लेपल के लिए "जालक", पेटल के लिए "दल" या "पुष्पदल" शब्द आए हैं। "पराग" (पोलन) में "परा" शब्द तीव्रगति का द्योतक है। अम्बेलीफेरी कुल की इनफ्लोरीसेन्स के लिए "छत्रा" शब्द उपयोग किया गया। "वृक्षायुर्वेद" में फूलों को उनकी स्थिति के अनुसार चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया। माल्वेसी के कुल के फूलों को "वात्यमण्डल गण" में रखा गया। इस वर्ग के फूलों में पुंकेसर (स्टेमन) आपस में जुड़कर एक नली-सी बना लेते हैं।

पत्ती के लिए "पत्र" औ "पर्ण" शब्द का प्रयोग किया गया। "पत्र" इसलिए कि पत्ती झरती है और "पर्ण" हरे रंग के कारण। पाराशर ने "पक्ष" अर्थात् जीफब्लेड (लेमिना) को चार प्रकार का माना। वृक्षायुर्वेद से पर्ण-विन्यास के ज्ञान का भी आभास मिलता है। पत्तियों में दो प्रकार की शिराएं बताई गईं–"प्रगुण" और "वेल्लित"। रूट के लिए "प्ररोह" शब्द आया है, जिसमें तना और पत्तियां दोनों शामिल हैं। जिन तनों में भोजन जमा हो जाता था, उन्हें "कंद" कहकर "काण्ड" और "मूल" से अलग पहचाना गया। एडवेंटीशस रूट के लिए "शाखा शिफा" और प्रोप रूट के लिए "अवरोह" शब्द का उपयोग किया गया। बीज से संबंधित "बीज पत्र", "बीजकोष", "आदि बीजपत्र" आदि शब्द बताते हैं कि बीजों की रचना का भी पूरा ज्ञान था।

पत्ती, फूल, जड़ आदि के आकार-प्रकार के आधार पर अनेक पौधों को विशिष्ट नाम दिए गए। उदाहरण के लिए कीटपर्णी, अश्वपर्णक, पंचागुल, त्रिपत्र, सप्तपर्ण, वक्रपुष्प, शंखपुष्पी आदि। कटहल के फूल अस्पष्ट रहते हैं अतः उसे "अपुष्पफलद" नाम दिया गया। सौराष्ट्र से जुड़ा होने के कारण बेर को "सौबीर" कहा गया। चमेली जाड़े में मुरझा जाती है, अतः "शीतभीरु" कहलायी। सुनहरे

फूलों के कारण अमलताश का एक नाम "स्वर्णपुष्प" पड़ा। मदार के पौधे को तने में दूध के कारण "क्षीरकाण्डक" कहा गया।

मनुस्मृति में पौधों को आठ वर्गों में बाँटा गया—औषधि, वनस्पति, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, तृण, प्रतान और वल्ली। चरक संहिता में केवल चार वर्ग ही मुख्य रखे गए। वैशेषिक ग्रंथों में सात वर्गों में रखा गया। भागवत्पुराण में पौधों को 6 वर्गों में बांटा गया। अमरकोश में परजीवी पौधों का विवरण "वृक्षादनी", "वृक्षरुहा" लताओं के रूप में किया गया। तैरने वाले पौधों को "प्लव" और हरी काई को "शैवाल" कहा जाता था। जीनस साइडा की चार जातियों को बला, अतिबला, महाबला और नागबला नामों से अलग-अलग पहचाना गया। शंखपुष्पी को—शुक्लपुष्पी, रक्तपुष्पी और नीलपुष्पी नाम फूलों के रंग के कारण तीन जातियों में बांटकर अलग-अलग दिए गए। वृक्षायुर्वेद में लेग्यूमिनोसी कुल के पौधे "समीगणीय" में रखें गये। इसी प्रकार क्रूसीफरी कुल के पौधे "स्वस्तिका-गणीय" में रखे गए।

वनस्पतियों के नामक़रण की भारतीय पद्धति इतनी प्रबुद्ध थी कि इसकी प्रशंसा में सर विलियम जोन्स को यह कहना पड़ा कि यदि लिनियस भारत की पांडित्यपूर्ण प्राचीन भाषा (अर्थात् संस्कृत) जानते, तो वे स्वयं भी पौधों के नामकरण के लिए भारतीय पद्धति का ही प्रयोग करते।

बृहदारण्यक उपनिषद् में पौधों की आंतरिक रचना का वर्णन मानव-शरीर से तुलना करते हुए किया गया है। पत्ती की कोशिकाओं को "रसकोष" कहा गया और सेलवाल को "कलावेष्टितान"। वनस्पति-कोशिकाओं में रंगीन पदार्थ का भी पता था—"रंजकयुक्त" (पिगमेण्टेड)। "स्यन्दनी" द्वारा ऊपर पौधों के अंगों तक रस का वितरण बताया गया। पत्तियों में "शिराजाल" का भी पता था।

महाभारत के शांति पर्व में पौधों में गरमी और ठंड, बिजली कौंधने आदि के प्रति संवेदनशीलता और गंधों के प्रति अनुक्रिया दिखाने की बात स्पष्ट लिखी गयी है। यह बात भारद्वाज ऋषि द्वारा उठाये गये इस प्रश्न के उत्तर में बतायी गयी कि पौधों को "पंचतत्व रचित" कैसे माना जाय। इसके उत्तर में ऋषिवर भृगु ने बताया कि पौधों में सभी पांच तत्वों की उपस्थिति किस प्रकार सिद्ध होती है और किस प्रकार उन्हें "चेतन" मानना चाहिए।

ऋग्वेद में एक श्लोक में पौधों को इस प्रकार संबोधित किया गया है, मानो उनमें श्रवण-शक्ति हो। अथर्ववेद में कहा गया है कि "प्राण की विद्युत गर्जना को सुनकर ही पौधे गर्भ धारण करके अपनी वंशवृद्धि करते हैं। "भागवत्पुराण में पौधों की तीन खूबियां गिनाई गई हैं; भोजन को नीचे से ऊपर की ओर ग्रहण करना, स्पर्श का ज्ञान और ऐसी चेतना जो अव्यक्त है। वृक्षों की चेतना को "तमोगुणी" और "अतिमंद" बताया गया।

पौधों का नाम "पादप" था, जिससे व्यक्त होता है कि "पैरों से पीने" या जड़ों से जल ग्रहण करने की प्लाण्ट फिजियोलोजी का हमारे पूर्वजों को ज्ञान था। मनुसंहिता में कहा गया है कि "रात में वृक्ष के नीचे से न तो गुजरें और न वहां सोयें"। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें पौधों की श्वसन क्रिया का आभास था। गुणरत्न ने "सद्दर्शनसमुच्चय" में लिखा है कि जिस प्रकार मानव शरीर माँ के

दूध तथा अन्य व्यंजनों से पोषण प्राप्त करता है, उसी प्रकार "भू" तथा "जल" से वनस्पतियां आहार प्राप्त करती हैं। जिस प्रकार मनुष्य शरीर पर "मिष्ट" या "अनिष्ट" आहार का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही वनस्पतियों पर भी।

आनुवंशिकी और प्रजनन

प्राचीन भारत में पौधों में जनन और आनुवंशिकी का भी आंशिक ज्ञान था। चरक संहिता में सफेद फूल वाले "कुटज" को नर पौधा बताया गया और लाल या पीले फूल वाले और छोटे फल वाले को मादा। स्थावर वनस्पतियों में "शिव" तत्व "नर" का और "शक्ति" तत्व "मादा" का प्रतीक बताया गया। पेड़-पौधों के जनन की लगभग सभी प्राकृतिक और मानवकृत विधियां प्राचीन ऋषियों को ज्ञात थीं। बीज से पौधा उगने की क्रिया का तो वैदिक काल से ही ज्ञान था।

बृहत्संहिता में "काण्डरोप्या:" यानी कटिंग्स लगाकर उगाये जाने वाले पौधों की सूची दी गई है। बढ़ती कोंपल के अग्रभाग से उगाये गये पौधे को "अग्रबीज" कहा गया। पत्ती से उगे पौधे को "पर्णयोनि" बताया गया।

प्राचीन ऋषियों ने यह प्रश्न भी उठाया कि मानव से मानव और महिषी से महिषी कैसे पैदा हो जाती है। धन्वन्तरि का उल्लेख करते हुए चरक और सुश्रुत में यह बताया गया कि पूरे पौधे की रूप रेखा बीज में ही निहित है। बांस के बीज में भी वैसे ही बांस का सारा स्वरूप सूक्ष्म रूप से संजोया हुआ है, जैसे एक आम के बौर में आम की गुठली, गूदा, रस, रेशा समाया है। हालांकि "बौर" में इनमें से कोई भी अंग दृष्टिगोचर नहीं होता।

वृद्धि, अंकुरण और विकास संबंधी ज्ञान के क्षेत्र में पौधों की अवस्थाओं को मानव-वृद्धि की तरह "बाल-सुकुमार-युव-वृद्धता" चार वृद्धि-अवस्थाओं में रखा गया। पौधे अंकुरण, किसलय शाखा-प्रशाखा आदि वृद्धि अवस्थाओं से गुजरते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न, अन्न से बीज (स्पर्म) और बीज से मानव उद्भूत हुआ। मनुस्मृति में कहा गया है कि इस भू पर नाना प्रकार के बीज उचित समय पर एक ही खेत में बोने पर भी अपने स्वभाव (किस्म) के अनुरूप प्रस्फुटित होते हैं। बाल्मीकि रामायण में कथा आती है कि उल्लू और गिद्ध में घोंसले को लेकर झगड़ा हुआ कि घोंसले पर किसका अधिकार है। श्रीराम ने उल्लू के हक में फैसला किया क्योंकि उसने कहा था कि जब से पौधे पृथ्वी पर आये तभी से वह यहाँ रहता है, जबकि गिद्ध ने कहा था कि मनुष्य के आगमन के बाद से ही वह पेड़ पर रहता आया है। इससे स्पष्ट है कि उन्हें पता था कि विकासक्रम में पौधे पहले आये और मानव बाद में।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के बीच इस बात पर भी चर्चा हुई कि पौधे भी प्राणवान् हैं, मनुष्य के समान–

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योप्पटिका बहिः ॥ 28 ॥ ॥ 1 ॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः
तस्मान्तदातृण्णात प्रैति रसो वृक्षादि बाहतात् ॥ 28 ॥ ॥ 2 ॥
मासान्यस्य शकराणि कीनांट स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्गन्तरतो दारुणि मज्जामज्जोपमाकृत ॥ 28 ॥ ॥ 3 ॥
यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान् मूलात् प्ररोहति ॥ 28 ॥ ॥ 4 ॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते ।
गनारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवतः ॥ 28 ॥ ॥ 5 ॥
यत्समूलमावृहेयुर्वक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ 28 ॥ ॥ 6 ॥
जात एत न जायते कोन्वेनं जनयेत् पुनः ॥
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम् ॥ 28 ॥ ॥ 7 ॥

पुरुष को वनस्पति बताते हुए कहा गया कि लोम पत्ते हैं, चर्म बाहरी वल्क है : जैसे चर्म से रुधिर निकलता है, वैसे ही वृक्ष से निर्यास (गोंद) निकलता है। छाल की परतें मांस की परतों-सी हैं, और शिराएँ (कीनाट) स्नायु (नाड़ियाँ) जैसी; हड्डियाँ पेड़ की दारु (काष्ठ) जैसी हैं और पुरुष और वृक्ष का मज्जा एक से हैं। इसके आगे तुलना नहीं चल पाती। वृक्ष तो कट जाने पर भी मूल से या छिन्न शाखा से पुनः नवीनतर उगता है। आदमी मरने के बाद किस मूल से उगेगा ? रेतस् (वीर्य) से नहीं, क्योंकि वह तो जीवित व्यक्ति से आता है। जड़ सहित उखाड़ दिए जाने पर भी वृक्ष बीज से पैदा हो जाता है। परंतु मृत् मनुष्य किस मूल से प्ररोहित होता है, आदि ॥

अथर्ववेद में पौधों के पोषण के लिए मिट्टी में खाद लगाने का वर्णन मिलता है। प्राचीन विद्वानों ने गाय-भैंस के गोबर के अतिरिक्त भेड़ और बकरी की मींगनी और सड़े-गले मांस को भी उर्वरक के रूप में इस्तेमाल करने की सलाह दी। कृषि-पाराशर या कृषि-संग्रह में लिखा है कि पौधों को बिना इस खाद के उगाया गया तो उनमें बालियां नहीं आतीं। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में अधिक फूल और फल प्राप्त करने के लिए एक मिश्रण बताया है। बोने से पहले बीजों का उपचार करते थे। विविध प्रकार के बीजों के लिए भिन्न-भिन्न बीजोपचार बताए गए। अग्निपुराण में वृक्ष पर अधिक फूल खिलाने की तरकीब बताई गई है। अच्छी बढ़वार, फल झड़ने का उपचार, फूल खिलाने की विधियां, आदि अनेक क्रियाएं बहुत विकसित थीं। इन समस्त क्रियाओं के लिए "दोहद" शब्द का उपयोग किया गया है। आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोश के अनुसार दोहद का एक अर्थ है, "एक ऐसा सुगंधित पदार्थ जो खाद के रूप में इस्तेमाल किया जाता है"। इमली के खट्टे फलों को मीठा करने, पौधों का आकार बदलने, आंवले में मीठे फल पैदा करने, अलग-अलग रंग के फूल पैदा

करने और फलों को हमेशा ताजा रखने के तरह-तरह के उपाय और नुस्खे बताये गये थे। कूष्मांड यानी पेठे के पौधे-जैसी पत्तियां हों और फल बैंगन-जैसे आयें, इसकी भी तरकीब बताई गई। सूरपाल के "वृक्षायुर्वेद" में एक तरल उर्वरक का वर्णन किया गया है, जिसे नाम दिया गया था–"कुणप जल"।

प्राचीन काल से ही भारत में धान्य, दलहन, तिलहन, गन्ना, कपास, पाट (पटसन), सब्जियां फल तथा जड़ी-बूटियां उगाई जाती रही हैं। 37 जगह खुदाई में धान मिले हैं। "राइस" शब्द तमिल के "अरिषि" शब्द से व्युत्पन्न है। संस्कृत भाषा और साहित्य में धान के अनेक नाम मिलते हैं–तण्डुल, अक्षत, नीवार, नाम्बा, ब्रीहि इत्यादि। कश्यप संहिता में "शालि" धान की 26 किस्में गिनाई गई हैं। गौतम बुद्ध के पिता का नाम था शुद्धोदन, जिसका अर्थ है–"शुद्ध चावल"।

जमीन की तैयारी, जुताई, बुआई, रोपाई, खरपतवार निकालने, रोगों से और कीटव्याधियों से तथा चिड़ियों से खेत की रखवाली करने, कटाई, गहाई, ओसाई आदि के बारे में अनेक प्राचीन ग्रंथों में विस्तार से बताया गया है। कश्यप संहिता में कहा गया कि उत्तम किस्म के बीज संजोकर रखने से कृषकों को समृद्धि की प्राप्ति होती है। बुआई के समय पौधों के बीच सही दूरी रखने की भी सलाह दी गई थी। पकी फसल की चूहों, टिड्डियों, तोतों और अन्य जन्तुओं से रक्षा करने को कहा गया। धान की कटाई के बाद इन्हीं खेतों में दलहनी फसलें उगाने की सिफारिश की गई।

अथर्ववेद में टिड्डे, चूहे और वेधक कीटों (बोरर्स) से फसल की रक्षा करने की हिदायत दी गई है। वृक्षायुर्वेद में कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य वात, पित्त, कफ त्रिदोषों से पीड़ित होते हैं, वैसे ही पादप भी। जड़ में कृमि लगने का लक्षण यह बताया गया कि ऊपर से कोई भी विकार न होने पर भी पत्तियां और फूल झर जांय और पौधे की "देह" विकृत हो जाय। पेड़ों को अनिद्रा रोग से भी पीड़ित बताया गया। कीड़ों को भगाने के लिए वृक्षों के बीच में "शतपुष्प" और "वुवेराक्षी" की घनी वृक्षावली रोपने की सलाह दी गई।

वृक्षारोपण और उद्यान विज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया। वृक्षों की पवित्रता तथा विशेष शक्ति सामर्थ्य से रोगों को दूर करने का उल्लेख ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में मिलता है। कलम लगाने को 64 कलाओं में माना गया। कामसूत्र में राजा के मनोविनोद के लिए "वृक्षवाटिका" या "पुष्पवाटिका" का उल्लेख है। राम की वन-यात्रा के प्रसंग में लगभग 200 स्पीशीज के वृक्ष और वनस्पतियों का रामायण में वर्णन आया है। वाराही–संहिता में "वृक्षायुर्वेद" शीर्षक से 31 सूक्तों में उद्यानिकी का अति रोचक विवेचन है। फल वृक्ष, सुंदर फूल वाले और बहु उपयोगी वृक्ष लगाने पर बल दिया गया। किस मौसम में कौन फूल खिलता है, कौन फल पकता है, इस सबका विस्तार से वर्णन है। कलम वगैरह लगाने के तरीके भी पूरे ब्यौरेवार दिए गए हैं। "कम दूरी पर या अत्यधिक समीप लगाये गये वृक्ष परस्पर स्पर्श करने लगते है या उनकी जड़ें मिल जाती हैं तथा ये "पीड़ित" होकर फल नहीं देते।

अनेक प्राचीन वनस्पतियों के बारे में उनकी सही पहचान को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उदाहरण के लिए "सोम" या "सोमलता" की पहचान अभी तक नहीं हो सकी। एस्क्लीपिएडेसी कुल का **सार्कोस्टेमा एसिडम** "राजनिघण्टु" में वर्णित सोम से मेल खाता है–

सोम्या महिषवल्ली च प्रतिसोमान्त्रवल्लिका।
आत्रवल्लिका प्रोक्ता काण्डशाखा षट्राह्वया
रवीर्यविपानो च सोमवल्ली समा स्मृता॥

इसी कुल के **पेरीप्लोका एकिला** पर भी सोम होने का अनुमान है। **एकीड्रा जिरार्डिआना क्यां. ई. वल्गेरिस** (एफिड्रेसी कुल) को भी "सोम" होने का श्रेय दिया गया है। यह हिमालय में कश्मीर से सिक्किम तक 2300-5400 मी. तक की ऊँचाई पर मिलता है। यही पारसियों का "हुम" या "होम" बताया जाता है। श्री वासन ने **एमेनिटा मस्केरिआ** कुकुरमुत्ते को सोम बताया है। **सिरोपिजिया ट्यूबरोखा** भी सोम कहा गया। और भी बहुत-से पौधे "सोम" की उपाधि से विभूषित किए गए, पर असली सोम का आज तक पता न चला। अश्वत्थ, कल्पवृक्ष और पारिजात भी अभी कल्पनाओं में ही विद्यामान हैं। इन्हें अफ्रीका का **"एडंसोनिया डिजिटाटा"** बताया जाता है, जो भारत में भी उगता है व "गोरख इमली", "खुरासानी इमली" आदि नामों से जाना जाता है।

ऐसा ही मत-विपर्यय अनेक आयुर्वेदिक वनस्पतियों के बारे में भी है। जैसे कि "रास्ना", शंखपुष्पी", "पाषाणभेद", "रोहति", "स्वर्णक्षीरी", "स्योनाक", "अरलु", "मातुलंग" और "बीजपूरक", "तिल्वक और लोध्र", "अश्मन्तक", "फलिनी" और "मूलिनी", "वृद्धिदारु", "समुद्शोध", "जीवन्ती", "डोडी", "स्वर्णजीवन्ती" तथा "पर्पट" आदि।

इस प्रकार की मतभेद वाली वनस्पतियों के नमूने मंगाकर वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद, भाषा विज्ञान, भेषजविज्ञान तथा पादप-रसायन के विद्वान मिलकर चर्चा करें और अखिल भारतीय स्तर पर प्रयोग करें तो सही पौधे की पहचान करके उसके गुणों का लाभ उठाया जा सकता है। हमें आशा है कि प्राचीन भारत में वनस्पतिविज्ञान पर शोध का कार्य आगे बढ़ाने के लिए वर्तमान वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग से इस क्षेत्र में नए मार्ग प्रशस्त होंगे।

भावी दिशाएँ

वनस्पति विज्ञान की खोज करते हुए ऐसे अनेक संदर्भ मिले हैं, जिनके आधार पर प्राचीन भारत के प्राणि विज्ञान संबंधी ज्ञान पर गहन कार्य संभव है। स्वयं वनस्पतिविज्ञान में भी विविध संदर्भों के मूल पाठ की वैज्ञानिक दृष्टि से पुनर्व्याख्या करने की काफी गुंजाइश है। इसलिए नहीं कि हम यह स्थापित कर सकें कि वैज्ञानिक दृष्टि से मूल स्तम्भों को परखने पर हमें आज की अनेक समस्याओं से छुटकारा मिल सकता है। उदाहरण के लिए फसलों को रोग और कीटों से मुक्त रखने के लिए अनेक पौधों की पत्तियों का धुंआरा देने की सलाह दी गई थी। इनमें नीम भी शामिल है। नीम के कीटनाशक गुणों पर अब विस्तृत अनुसंधान हुए हैं। उसके कडुए एल्कैलाइड "बिटर्स" नाम से अलग करके कीटनाशक घोल बनाने में इस्तेमाल किए जा रहे हैं। **अम्बेलिया राइबिस** को कीटों के

विनाश में इतना उपयोगी पाया गया कि जंतुरिपु और कीटघ्न नामों से विभूषित किया गया । इस प्रकार के गुणों वाले पौधों की वैज्ञानिक जांच हो, तो हमें ऐसे अनेक पौधे मिल सकते है जिनसे ऐसी कीटनाशी दवाएं बनाई जा सकेंगी जो ज़हरीले कीटनाशियों की जगह ले सके ।

दूसरा विशाल क्षेत्र आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियों का है । इस दिशा में काफी जागरूकता आ गई है । यहां भी पौध-रसायन, वर्गिकी और भेषज विज्ञान के विद्वान मिलकर विवादास्पद वनस्पतियों के लिए कोई अंतिम निर्णय ले सकते हैं । हो सकता है कि कुछ आरक्षित वन-प्रदेशों में अब भी संजीवनी बूटी जैसी प्राणरक्षक औषधियां मिल जायें । कई खानदानी वैद्यों और हकीमों तथा साधु-संतों के पास अब भी ऐसी जड़ी-बूटियां हैं, जो अनेक विकारों में लाभकारी हैं । एक बार एक आधुनिक अनुसंधानशाला के अध्यक्ष महोदय से इस विषय पर चर्चा हुई, तो वे बोले कि बहुत-से लोग दावे करते हैं कि उनके पास ज़हरीले सांप के काटे की जड़ी है । हम तो इसकी एक ही परीक्षा जानते हैं कि ऐसा दावा करने वाले को उसकी जड़ी और ज़हरीले सांपों के साथ हफ्ते भर तक एक कमरे में बंद कर दो । अगर वे जीवित बच गए तो उनकी जड़ी सच्ची, नहीं तो झूठी ।

इस अतिचार से हटकर खुले दिमाग से भी आयुर्वेदिक वनस्पतियों पर अनुसंधान किए गए हैं । इसका एक उदाहरण हृदय रोग संबंधी विकारों के लिए आजमाई गई वनस्पतियों का है । इसी प्रकार के सर्वेक्षण और गवेषणाएं अन्य विकारों में उपयोगी भारतीय वनस्पतियों के संदर्भ में भी किए जाने चाहिए ।

इस समय जो भी प्राचीन औषधीय पौधे उपलब्ध हैं, उन्हें एकत्र करके वनस्पति उद्यान बनाने और उनके हर्बेरियम बनाने की दिशा में भी कुछ प्रयास किए गए हैं, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर भी इस प्रकार के प्रयास करना आवश्यक है ।

प्राचीन साहित्य में अभी पांडुलिपियों के रूप में उपलब्ध संस्कृत ही नहीं बल्कि पालि और तमिल आदि भाषाओं के ग्रंथ भी शोध की अपेक्षा रखते हैं । दक्षिण भारत में उपलब्ध प्राचीन ज्ञान का इस दृष्टि से मूल्यांकन करना बाकी है ।

इसी प्रकार भारतीय स्थापत्य, शिल्प और भित्ति चित्रों में पेड़-पौधों के चित्रांकन को भी कला की दृष्टि से ही परखा गया है, वैज्ञानिक दृष्टि से परखना बाकी है । यह अपने आप में अनुसंधान का अलग विषय बन सकता है । इस दिशा में भी डॉ. बी. जी. एल. स्वामी जैसे वनस्पतिज्ञों ने कुछ पहल की थी ।

संस्कृत के साहित्यक ग्रंथों में वर्णित वनस्पतियों की भी पूरी तरह वैज्ञानिक दृष्टि से गवेषणा करना शेष है । प्रकृति के अत्यंत समीप रहने के कारण संस्कृत के कवियों ने पेड़-पौधों को अपने सहचर की तरह ही परखा और वर्णित किया है ।

वस्तुतः जिस प्रकार प्रो. नाइधम और उनके सहयोगियों ने चीन पर अनेक खण्डों में "साइंस एण्ड टेक्नोलोजी इन चाइना" ग्रंथ जीवन भर शोध करके लिखा है, उसी प्रकार भारत की वैज्ञानिक परंपरा पर भी अनेक खण्डों में शोध-ग्रंथ प्रकाशित किए जाने की आवश्यकता है ।

◆

KNOWLEDGE OF WIND AND CLOUD MOVEMENTS DURING THE 5th AND 6th CENTURIES A.D. OR B.C. ? IN ANCIENT INDIA A HISTORICAL BACKGROUND

by

Dr. S.V. Sohoni

1. Introduction

A sharp distinction was drawn in ancient India between ज्ञान or knowledge leading to spiritual salvation and विज्ञान or intellectual disciplines concerning exact sciences and material arts. It stressed that the latter category was entirely based on actual experience. Thus in the Gita, it was stated that–

"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ 7.2 ॥"

The great Shankara observed, "विज्ञानसहितम्, अनुभवसहितम् ।" Ramanuja commented, "विज्ञानं हि विविधाकारविषयसंज्ञानम् ।" Dhyaneshwara noted, "अर्जुना, तया नाम ज्ञान । येर प्रपंचु विज्ञान ।"

In Kurma Purana, the scope of *vijnana* was thus explained-

"चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः ।
विज्ञानम् इति तद् विद्याद् येन धर्मो विवर्धते ॥"

That extraordinary author of a unique Sanskrit lexicon, Amara, (of the 5th century AD) put the distinction between the two terms, beyond the shadow of a doubt, by stating,

"मोक्षे धीर्ज्ञानम्, अन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।" (1. धीकर्ष 6)

What we are dealing with in this gathering of distinguished scholars of exact sciences and Vedic as well as classical Sanskrit literature, is that branch of *Vijnana* which concerns itself with weather phenomena. It was considered an appropriate subject because its base or starting points could be traced back into Vedic literature. It can easily be demonstrated that this literature, admittedly, the oldest in the world, supplied a number of seminal ideas for later elaboration and expansion of theories.

As specifically noted by writers who dealt with this subject during historical periods, a number of works belonging to ancillary literature, perished long ago. Yet there is enough evidence fully to support a conclusion that this subject was being abundantly dealt with from time to time. The reason is not far to seek. The material life, prosperity and progress of India, more or less completely depended, and still depends, on timely and adequate rainfall. None could afford to neglet this branch of learing, Kalidasa observed, how illiterate peasant women were aware that agricultural success was fully dependent on a rain cloud-"त्वयि आयत्तं कृषिफलम् ।"

It was no wonder then that Kautilya, a great administrator author of a manual of state craft, who lived in the 4th century B.C., found reason to refer to works on this subject, most of which have since, unfortunately, perished. One example may suffice. He refers to कृषितंत्र of Parashara (II. 24.1). Bhattaswami, a commentator on Arthashastra, knew Parashara's कृषितंत्र-"कृषितंत्रं वृद्धपराशरादिप्रणीतं कृषिशास्त्रम् ।" Both the tikas on the 5th century A.D. elaboration of Kautilya's Arthashastra, viz. Kāmandakīyam, mentioned this work. These are:

(i) Jayamaṅgalā of Shankaracharya, which states, "कृषि इति पराशरप्रोक्ता बीज-वाप-परिकर्मादिविधानार्था;" and

(ii) उपाध्यायनिरपेक्षा, which refers to, "कृषिरिति कर्षणम्, तत् प्रतिपालकं पराशरादिप्रोक्तं शास्त्रम् अनुष्ठानं च ।"

2. Concept of weather and climate

In order to form an idea of ancient, not so ancient, and mediaeval views or concepts concerning weather phenomena, despite this destruction and loss of a material portion of relevant works, it would be sufficient to take a glance across Kālidāsa's works (4th century AD), which utilise for purposes of his poetry a number of these ideas, and Varahamihira's बृहत्संहिता (505-587 AD), an encyclopaedic work in which at least 7 chapters are devoted to this subject, read along with the विवृत्ति or explanation of Bhatta Utpala (966 AD) which contained very valuable analysis. Both Varahamihira and Utpala refer to older authorities like Garga, Parashara, Vajra, Kashyapa, Badarayana, Asita and Devala, whose works are now beyond recovery.

The sturdy practical objective of all these authors was-

"अन्नं जगतः प्राणाः प्रावृट्कालस्य चान्नमायत्तम् ।
यस्माद् अतः परीक्ष्यः प्रावृट्कालः प्रयत्नेन ॥"

–BS XXII

II

3. Observation and data acquisitian

Since अनुभवor actual experience based on observed facts was the hard core of such a विज्ञान, it is no wonder that when two authors differed, their divergence was not due to an ambition of proving independent minded–but largely, on account of divergence in their sets of observed data.

Thus, according to a quotation, Parashara classified clouds into four groups-
तथा हि चत्वारो मेघाः–

"आवर्तश्चैव संवर्तः पुष्करो द्रोण एव च ।
चत्वारो जलदाः प्रोक्ताः आवर्तादि यथाक्रमम् ।
एकदेशेन चावर्ते संवर्ते सर्वतो जलम् ।
पुष्करे दुष्करं वारि द्रोणे बहुजला मही ॥"

–पराशर

Additional names are, काल, नील, वरुण, वायुः and तम ।

As compared with these four main types of cloud, Kautilya mentions as many as 143 varieties, while the author of Meghamala would be satisfied with only 80. It is noteworthy that Varahamihira skips over any such classification.

Divergence is observed data has also led to different statements as to when exactly is the commencement of the rainy season. Interpreted correctly, it aids chronology.

There were speculations also about the proportion in which the water vapour raised to the sky by the Sun's rays and split into belts by different winds, led to different quantities of water falling down on the surface of the sub-continent. The कृषि-पराशर would have us believe that out of 20 parts of world's rainfall, 10 fall on ocean surface, 6 on slopes of mountains and only the remaining 4 on land. Kautilya improved on this and assigned different proportions to different stages of the rainy season, working out alternatives according to the initial percentage.

All these thinkers firmly believed that it was impossible to understand a weather phenomenon by treating it a local happening or event. They aimed at seeking to relate it to something bigger, more widespread, of which they thought it was a part. They kept on observing similar phenomena, year after year, and their conclusions were based on such a painstaking collection of data. We shall shortly see how they managed to make such a systematic study. That was how they could take a total view, by linking details collected not only in this country but also out-side its physical boundaries. A stage came when they thought it necessary to take into account, forces operating not only on the surface of this planet, earth, but those related to other members of the solar system. It is this search for getting as complete a view as possible of relevant circumstances, which imparts to these ancient and old works, a scientific outlook and even a modern relevance. For is it not a fact that recenlty, some scientists are reported to have observed, that planetary pulls and sun's spots have linkage with weather phenomena on our earth ?

III

4. Clouds and rain fall

Some of the observations in our old literature are definitely thought provoking. For example, there is a very old statement that out of the total annual rainfall, half the quantity drops down on the ocean; three tenths on the mountains, and only one fifth on flat land. I would like to compare these percentages with those disclosed by any modern calculations, assuming that attempts were made to do so.

Some basic ideas in this literature which were not connected with astrology, may now be stated-

(1) It was assumed that rain falls from a cloud, 195 days after the 'conception' had taken place. In other words, there could be a possibility of a cloud remaining without water. What conditions were favourable to this 'गर्भ' of water being lodged inside a cloud and for its further development in a gestation period of six and a half months' period, was also stated . A modern curiosity in this connexion coul be that when does a wind system become rainbearing ? For example does it pick up moisture while possing over a large sheet of water surface e.g. a big lake or a long stretch of a major river or the sea ? It may be noted that ancient speculation on clouds largely dealt with individual clouds and not so much on a big group of clouds. Thus, it was held that after its water *'garbha'* was fully developed, the maximum distance over which the rain water would be sprinkled by the cloud, could be 80 *'yojanas'*. It was, of course, open to the cloud to conceive again and to resume its waterbearing career, in due course thereafter.

2) Depending on their water carrying capacity, clouds were divided into 4 major groups, according to ancient reference books on general knowledge. But a much more detailed classification was given in works exclusively dealing with the subject.

(3) If seasons for 'conception' were closely analysed, it would appear that they were two in number; and that corresponding periods for deliveries were, obviously, associated with what we now call, seasons of the south-west and the north-east monsoon winds.

(4) Summaries of regional experience about cloud, wind and rainfall occurrences had the same value as possessed by statistical averages in modern analysis.

(5) There is reason to believe that records of agricultural statistics, including those related to weather phenomena, were systematically kept and that public administration had also prescribed using rain gauges.

The general ideas about the composition of a cloud and major wind directions, at any rate in the Gupta period, i.e. fifteen centuries ago, finds a good illustration in Kalidasa's Meghadutam. But it so happens that, that classic of world literature, has received scant attention from this angle–although, it has not failed to evoke, though to a minor degree, some curiosity on the part of weather scientists. The route of the cloud in मेघदूतम् has been demonstrated to have been correctly charted by Kalidasa on the basis of the path of the south-west monsoons, particularly, in the more northern latitudes.

The Greeks gained knowledge of the seasonal winds blowing over the Arabian sea, in the first century B.C. from the Persians and Arabs, who could guard it as a navigational secret, till then. It is impossible that the Indians, though directly affected, were unaware of it, while their immediate neighbours knew about it. It is even more likely that they had possessed it, initially. It is no wonder that Kalidasa knew all about the south-west monsoons.

Similarly, there is veiled reference to the north-east monsoons in the Meharauli iron pillar inscription of contemporary emperor, Chandragupta Vikramaditya. In Raghuvamsa canto 13, Rama points out to Sita the north-east monsoon clouds in October. We have reason to believe that cloud classification in ancient India, was made in terms of the ability of a vapour bearing wind system to continue to remain in that condition over a distance.

IV

5. Measurement of rain

This outline would remain incomplete if mention were not made of two operational items. Firstly, regarding the unit of measuring rainfall, this was subject to considerable refinement.

Paṇini (6th century BC) refers to the print of the cow's hoof, *'goshpada'*, i. e. the volume of water it would contain as the lowest measure of rainfall. Later writers refer to contraptions which were more accurate, so that in Varahamihira's time, there were as many as three units: 50 *palas* made 1 *āḍhaka* and 4 *āḍhakas* made 1 *droṇa*. What is even more interesting is that the greater the political consolidation of the country, the more standardized in volume became such units of measurement.

While rain gauges were thus prescribed, Kautilya laid down that the superintendent of the treasury, or सन्निधातृ, should be entrusted with the function of measuring quantities of annual rainfall; and that the rain gauge should be one 'अरत्नि' or cubit in diameter .

'कोष्टागारे वर्षमानम् अरत्निमुखं कुण्डं स्थापयेत् ।AS II 5.7.

That such observations were carefully made, reduced to writing and formed part of annual reports on the subject, has been confirmed by an independent foreign visitor in the 7th century A.D. viz. Huen Tsang, of China. He had noted-

"As to their archives and records there are separate custodians of these. The official annals and state papers are called collectively–ni-lo-pi-tu (or ch'a); in these good and bad are recorded and instances of public calamity and good fortunes are set forth in detail". (Watters Vol. I p. 154)

As proved elsewhere, Huen Tsang's 'ni-lo-pi-tu' is Kautilya 'निबन्ध-पुस्तक-स्थान', which means the state archives.

Accordingly it can safely be conclued that अनुभव leading to this विज्ञान was statistically measured and methodically recorded in administrative documents in ancient India. The ancient writers based their theories upon such materials. These theories were part of a general knowledge. Their conclusions were utilised, not only for practical purposes of administration, but also to enrich poetic imagery.

●

इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति

भारतीया संस्कृतिस्तस्या विश्वव्यापी प्रभावश्च

श्रीनवलकिशोरकाङ्करः

प्राचीनाया भारतीयसंस्कृतेर्निखिलेऽपि भूलोकेऽन्याभ्यः प्राचीनसंस्कृतिभ्यः किमपि विलक्षणं प्रमुखञ्च सर्वोच्चं स्थानं निगद्यते सर्वैः । जगति बह्वीनां प्राचीनसंस्कृतीनामद्य स्वल्पमपि स्वरूपं नावलोक्यते, नापि च तदभिधानं कर्णातिथित्वमापद्यते; किन्तु भारतीयसंस्कृतेः प्रवाहस्तु तादृश्या एव महत्या गत्या विद्यमानो दृश्यते । इयं भारतीया संस्कृतिरात्मनि विभिन्नसंस्कृतिस्वरूपाणां समन्वयं विदधती सर्वोच्चमासनमधितिष्ठति । अस्याः संस्कृतेर्मौलिकतत्त्वानीदृशानि स्थायीनि प्रभावपूर्णानि च विद्यन्ते, येषां कारणादस्या धारा विना केनाप्यन्तरायेण तादृशेनैव क्रमेण वहन्ती वरीवर्ति । सन्त्यस्याः स्वरूपसम्पादकानि कानिचिदिमानि मौलिकतत्त्वानि–

१–भारतीया संस्कृतिर्धर्मप्रधाना वर्त्तते, मानवजीवने च प्रतिक्षेत्रं धर्मस्य प्राधान्यमभिमनुते । धर्मस्य वास्तविकोऽर्थस्तु कर्त्तव्य-शब्देन व्यवह्रियते । अस्माकं प्राचीनसंस्कृतेः प्राचीनतमः सिद्धान्तोऽयमवर्त्तत, वर्त्तते चापि–'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' इति । अत एव भारतीयजीवनस्य निखिलेष्वपि कर्मसु धर्मभावनाऽनुस्यूता विद्यते । किमन्यत्, साहित्ये, व्यापारे, वाणिज्ये, आयोधने चापि धर्मः प्रविष्टो दृष्टिपथमुपैति । मध्येभारतं ग्रन्थारम्भस्तत्समाप्तिश्चेश्वरादिमङ्गलस्मरणेनैव क्रियते । सर्वविधव्यापारारम्भो विघ्नेश्वरपूजयैव विधीयते। अध्ययनाध्यापनादिषु सर्वप्रथमं 'श्रीगणेशाय नमः' प्रोच्चार्यते । वाणिज्ये आपणमधिष्ठितो वणिक् पणरक्षणपेटिकां 'महादेव का गल्ला' इति नाम्नैव तां निर्दिशति । युद्धमपि धर्मयुद्धमेव प्रशस्यते । हंहो, मनोविनोदेऽपि धार्मिकी एव भावना प्रविष्टा वरीवर्त्ति । लोका लोके रामलीला-कृष्णलीला-नृसिंहलीलादिभिरेव मनोविनोदयन्तो विलोक्यन्ते । एवं भारतीयानां प्रतिकर्मानुप्रविष्टस्य धर्मस्याभिप्रायो व्यापकरूपेण 'मानवधर्मः' इत्येव गृह्यते ।

२–भारतीया संस्कृतिर्विश्वस्य प्राचीनतमासु संस्कृतिष्वन्यतमाऽस्ति । पूर्वन्तु लोका आर्यसंस्कृतिमेव प्राचीनतमाम्मन्यन्ते स्म, परं सिन्धुघाट्याः खननेनास्माकं समक्षमेका नूतना संस्कृतिर्दृष्टावायाता । इदं संस्कृतिरूपं भारतीयसंस्कृतेः प्रथमस्वरूपं वक्तुं शक्यते । सिन्धुघाट्याः संस्कृतिरीशातः सार्धत्रिसहस्रवर्षप्राचीना स्वीक्रियते पुरातत्त्वज्ञैः, या हि संसारस्यान्यासां प्राचीनतमसंस्कृतीनां समतामवगाहते ।

३–भारतीयसंस्कृतौ सद्विचाराणामादानस्य महती शक्तिरस्ति । प्राध्यापको डोलवेलस्तु भारतविषये एकत्रैवमुक्तवानासीद् यद्भारतदेशः समुद्र इव गाम्भीर्यं बिभर्ति, यो हि स्वस्मिन् सहसैव परेषां विलयनं विदधाति । सत्यं ह्यस्माकं संस्कृतिर्बाह्यानामपि विशिष्टान् गुणान् ग्रहीतुं न सङ्कोचमञ्चति । निश्चप्रचमेषा आर्य-शक-हूण-यवनादीनामपि प्रशस्यान् गुणानात्मनि विदधति नैजं रूपं कलयति ।

अत एव महात्मा स्वामी विवेकानन्दः सर्वत्र व्याख्यानेषु भारतीयसंस्कृतेः पाचनशक्तेर्महान्तमुद्घोषं गायति स्म ।

४–अस्यां संस्कृतौ सहिष्णुताया उदारतायाश्च भावाः सविशेषं विराजन्ते । विश्वस्येतिवृत्तग्रन्थेषु वयं पठामो यद् यूरोपीयदेशेषु लोकानामसहिष्णुतावशादेवानेकानि जन्यानि जनुरलभन्त येनाननुमेया जनधनहानिरबोभूत्, परम्भारते संस्कृतिदोषमवलम्ब्य न तादृशं युद्धमभूत् । इह भारते त्विदमपि दृश्यते यदेकस्मिन् परिवारे विभिन्नधर्मानुयायिनः सदस्या अपि सानन्दं सहवासं कुर्वन्ति । अत्र विभिन्नाः सम्प्रदाया धर्माश्च प्राचलन् प्रचलन्ति च, परं न तत्कारणादनुदारभावना प्रादुरभूत् । विभिन्नतायामपि सारभूताया अखण्डतायाः स्थितिरस्माकं संस्कृतेर्महद्वैशिष्ट्यं द्योतयति ।

५–अस्मदीया भारतीया संस्कृतिर्ज्ञानाञ्चिता वर्त्तते । भारतस्य धार्मिकं साहित्यं तुं ज्ञानमन्दिरं जेगीयते । वेदाः, उपनिषदः, पुराणानि, स्मृतयः, रामायणम्, महाभारतमित्यादीनि ज्ञानस्य भवनानि मन्यन्ते । भारतीये साहित्ये निहितं ज्ञानं सर्वाणि जगन्ति महताऽऽदरेण पश्यन्ति । अत एव वेदोपनिषदादीनामनुवादो विश्वस्य बह्वीषु भाषासु समभवत् । विदेशीया अपि श्रुतीः पाठम्पाठमात्मनो धन्यतां वितन्वन्ति ।

६–चतुर्वर्गफलप्राप्तिरपि भारतीयसंस्कृतेर्महती विशिष्टताऽस्ति । आध्यात्मिकतां चिन्तयन्तो भारतीयाः प्रत्येककर्मणि उभयोर्लोकयोर्विचारमाचरन्ति मोक्षाय स्पृहयन्ति च । ऐहिकी संस्कृतिर्भौतिकं सुखं हेयमाध्यात्मिकञ्च सुखमुपादेयं मनुते ।

७–भारतीयसंस्कृतौ वर्णाश्रमधर्माचरणमपि प्रमुखतां भजते । ब्राह्मणः, क्षत्रियः, वैश्यः, शूद्रश्चेति चत्वारो भेदा अत्र वर्णानाम् । एवमेव ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यासाभिधानाश्चत्वार एव आश्रमाः सन्ति । जन्मदिनादारभ्य पञ्चविंशतिवर्षान्तो ब्रह्मचर्याश्रमसमयः, ततः पञ्चविंशतिवर्षान्तो गृहस्थाश्रमसमयः, ततः पञ्चविंशतिवर्षात्मको वानप्रस्थाश्रमः, अत ऊर्ध्वञ्च संन्यासाश्रमप्रवेशसमयो निश्चीयते शास्त्रकारैः । तत्र प्रथमाश्रमे भारतीयो जनो ब्रह्मचर्यमाचरन् शिक्षां गृह्णाति, द्वितीये कृतोद्वाहः सपत्नीकः सांसरिकसुखान्यनुभवन् वंशवर्धनं विदधाति, तृतीये आश्रमे पत्न्या सह वनमधिवसन् भगवच्चिन्तनं करोति, चरमेऽथ आश्रमे पत्नीमपि परित्यज्य संन्यस्तः सन् मोक्षाय यतते । इयं हि चातुर्वर्णिकी चातुराश्रमी च व्यवस्था भारतवर्षातिरिक्तमन्यत्र कुत्रचिन्नैवोपलभ्यते ।

८–भारतीयायां संस्कृतिपरम्परायां स्त्रीणां महदुच्चस्थानं वरीवर्त्ति । शास्त्राणि तु मुक्तकण्ठमुद्घोषयन्ति–"**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**" इति । विना पत्नीं कश्चन यज्ञाधिकारी एव न मन्यते भारतीयसंस्कृतौ । इयं स्त्री "गृहलक्ष्मीः" इति महता सम्मानपदेन सम्बोध्यते । अत्र हि नारी अर्धाङ्गस्य स्वामिनीति सम्मानं लब्ध्वा अर्धाङ्गिनीति व्यपदिश्यते । समाजे व्यवहारे धार्मिके कृत्ये वा पुरुषाः पत्नीं विना किमपि कर्त्तुं न शक्नुवन्ति । स्त्रीणामेकपतिव्रतधर्माचरणं परमं कर्म विद्यते । भारतीयसंस्कृतौ पातिव्रत्यस्य पालनं मोक्षदायकं निगद्यते । "असूर्यम्पश्या राजदाराः" इत्याद्याभाणकवचनानि प्रसिद्धानि सन्त्यत्र ।

९–अहिंसाभावनाया अपि भारतीयायां संस्कृतौ प्रभूतः प्रभावो विद्यते । भारतीया महान्तः सम्राजो नेतारो लोकनायकाश्चापि अहिंसामाहात्म्यं स्वीकुर्वन् । महात्मा बुद्धः, भगवान् महावीरः, सम्राडशोक इत्याद्या महात्मानो महाराजाश्चाहिंसामश्रयन्त । ःअस्मिन् युगेऽपि महात्मागाँधी अहिंसाबलालम्बनादेव साफल्यं लभमानः स्वातन्त्र्यप्राप्तौ विजयश्रियमालिलिङ्ग । भारतस्यास्य वैदेशिकनीतेः साम्प्रतिकी आधारधराऽपीयमेवाहिंसाभावना वर्वर्त्ति ।

१०–भारतीयसंस्कृतौ त्यागभावनाऽपि बद्धमूला दरीदृश्यते । अस्माकं संस्कृतौ अस्या भावनायाः किमपि वैशिष्ट्यं दीव्यति । अनयैव नोदिता असङ्ख्याता भारतीयाः समये-समये देश-समाज-धर्म-हिताय मानवकल्याणाय च प्राणपरित्यागेऽपि किञ्चित्कष्टं नान्वभवन् नानुभवन्ति च । सत्यवादी हरिश्चन्द्रो महर्षिर्दधीचिर्महाराजो दिलीपः समुपस्थितेऽवसरे देश-धर्म-समाजादिरक्षार्थं प्राणानपि त्यक्तुं प्रस्तुताः सञ्जाताः किं पुनर्धन-गृह-पुत्र-कलत्रादि-वस्तु-त्यागस्य ?

११–साधारणरूपेणैव जीवनयापनं बाह्याडम्बर-परित्यजनम्–इत्यप्यस्माकं संस्कृतेर्वैशिष्ट्यं वर्त्तते । अस्माकं पूर्वजा महर्षयः साधारणजीवनेन, सद्व्यवहारेण, बाह्याडम्बरपरित्यागेनैव च सर्वत्र साफल्यमलप्सत । साम्प्रतमपि भारतीयानामयमस्ति डिण्डिमघोषः–साधारणजीवनम्, उच्चविचाराश्चेति । एवमेव "आयादल्पतरो व्ययः" इत्यत्रापि विश्वसन्ति भारतीयाः ।

१२–अस्मदीया संस्कृतिः सदा पुनर्जन्मनि विश्वसिति शिक्षयति चाशावादम् । अस्मत्संस्कृतेः परम्परायां प्राणिनामात्माऽमरोऽजरश्च स्वीक्रियते । मानवो वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवीनानि गृह्णाति । मोक्षप्राप्तिं यावदस्य आवागमन-कर्म न नश्यति । पापपुण्ययोर्नाशे एव प्राणी मोक्षं लभते । दुष्कर्मणां प्रभावेण प्राणी भाविनि जन्मनि दुःखानि प्राप्नोतीति विचारयन्तो भारतीया आशावादिनः सन्त आगामिनि जन्मनि सुखलब्धये सन्मार्गे प्रवर्त्तन्ते, पापकर्मभ्यश्च बिभ्यति ।

१३–भारतीयसंस्कृतेरनुसारं भारतवासिनो भाग्यवादिनोऽपि वर्त्तन्ते । सर्वेषां सोऽयं विश्वासो यज्जीवने भाग्यानुसारमेव सुखदुःखादिकं लभते जनः । अत एव कारणाद्भारतीयो जनो महान्ति कष्टान्यपि सरलतया सहते निरुत्साहश्च नरोऽनेनोत्साहं लभते ।

१४–अस्माकं संस्कृतिः फलप्राप्तेराशां विनैव कर्मणि प्रवर्त्तयति । **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"** इत्यस्त्यत्रत्यानां विचारधारा । अतोऽत्रत्यो जनः फलावाप्तिमचिन्त्य कार्यं सोत्साहं सम्पादयति साफल्यञ्चाञ्चति । इमानि सन्ति भारतीयायाः संस्कृतेः कानिचित् प्रमुखानि तत्त्वानि यानि हि भारतीयानां जीवने प्रतिपदं दृष्टिपथमुपयान्ति ।

सेयमस्माकं भारतीया सुसंस्कृता संस्कृतिर्वैदिकविज्ञानमाश्रिता सती परमप्राचीनाऽप्यद्य उषादेवीव पुराणी अपि युवतिरिव नवीना प्रतिभाति । अस्या आविर्भावो ब्रह्मणः प्रसार इवानिर्वचनीयः । समये-समये विपक्षिणां प्रहारैर्जर्जरीकृताऽप्येषा साम्प्रतं तथैव अक्षतविग्रहा, सर्वत्र लब्धप्रसारा प्रचुर-प्रचारा च विद्योतते । आरम्भिके युगे एषैव संस्कृतिरखण्डेऽपि क्षोणीखण्डे ईदृशमात्ममहत्त्वं तन्तनाञ्चकार यत्सम्मुखे कस्यचन देशस्य काचिदपि संस्कृतिः स्थातुं न अशाशक्यत । अस्मदीया

महर्द्धयो महर्षयः श्रुतीनां 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इति श्रेयोविधायिनं परमेश्वरोपदेशमिव परमसन्देशमादाय विभिन्नेषु देशेषु विचरन्तो जगत्कल्याणञ्च कुर्वन्तः स्वसंस्कृतिं प्रसारयामासुः । कतिचन भारतीया व्यापारापदेशेन, कतिपये विदेशभ्रमणव्यपदेशेन, अपरे धर्मोपदेशव्याजेन भारताद् बहिर्भ्रमन्तस्तत्र तत्र देशानधिवसन्तश्च भारतीयां संस्कृतिं स्थापयाम्बभूवुः । अत एव पूर्वीयदेशेषु पाश्चात्त्यदेशेषु चापि भारतीयसंस्कृतेः स्वरूपावतारा दृश्यन्ते । एषां देशानां प्रतिक्षेत्रं केनापि रूपेण भारतीयसंस्कृतेर्दर्शनं भवत्येव । तदिदं सर्वथा कथयितुं शक्यते यत् स्वात्मानं सभ्यं मन्यमानाः पूर्व-पश्चिमदेशा भारतीय-संस्कृत्या प्रभाविताः सन्तः कला-विज्ञान-गणित-दर्शन-साहित्यप्रभृतिसिद्धान्तानपि भारतादेवालभन्त । एवं भारतीयसंस्कृतेर्विश्वव्यापी प्रभावः प्रारम्भादेव प्राप्यते ।

भारतीयायाः संस्कृतेर्निखिललोकव्यापकत्वे प्राधान्येन हेतुद्वयं वर्वर्त्ति—भारतीयानां धर्मप्रचार-प्रवृत्तिर्भारताद् बहिर्वैदेशिकव्यापारसम्बन्धवृत्तिश्चेति । अस्माकं पूर्वजानां साक्षात्कृतधर्माणां महर्षिप्रवराणां मनःसु प्रारम्भादेव सर्वत्रापि जगत्यार्यधर्मस्य प्रचाराभिलाषः कृताधिवास आसीद् यो हि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इत्यादिवैदिकवाक्येषु प्राप्तप्रतिष्ठानो दृशं स्पृशति । मन्येऽनयैव परम्परागतया प्राक्तनया धर्मप्रचारभावनया प्रेरितः सम्राडशोकः पश्चिमैशियामुत्तराफ्रिकां दक्षिणयूरोपस्य च विभिन्नान् देशान् प्रति बौद्धधर्मप्रचारकान् भिक्षुकान् प्राहिणोद् ये हि तत्र तत्र धर्मप्रचारेण भारतीयां संस्कृतिमपि स्थापयामासुः । अनेनैव सम्बन्धेन वैदेशिका अपि विद्वांसो भारतेऽत्र समाजग्मुः । फाहियान-ह्यूनसांग-प्रभृतयोऽत्र प्रमाणभूता वर्त्तन्ते । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे जावा-सुमात्रादिद्वीपेष्वपि भारतीयसंस्कृतिः प्रचारमाससाद, यच्चिह्नान्यद्यापि तत्र-तत्र प्राप्यन्ते । इण्डोनेशियायामर्थाद् जावाद्वीपे सत्यपि मोहम्मदीयानां धर्मबाहुल्ये तत्र बहूनि देवमन्दिराणि भारतीयसंस्कृतिगौरवं वितन्वन्ति । साम्प्रतमपि यत्र शिव-गौरी-गणेशादि-देवमूर्त्तयोऽस्याः प्रचार-प्राचुर्य्यमुद्घोषयन्ति रामलीलाश्चापि तत्र तत्रास्याः संस्कृतेर्महत्त्वं ख्यापयन्ति । बालिद्वीपे सम्प्रत्यपि यो धर्मः प्रचलितस्तं भारतीयार्यधर्ममन्तरा न कमपि वक्तुं शक्नुमः । तत्रापि चत्वारो वर्णाः प्रसिद्धाः । ब्राह्मणा इव तत्र वर्णोत्तमा लोका विना मांसं तण्डुल-फल-मूलाशनाः श्रूयन्ते । किमन्यत्, तत्र भारतीयसंस्कृतिमनुसृत्य लोकाः शवप्रयाणसमये संस्कृतगाथा उच्चारयन्ति । सहमरणप्रथाऽपि यत्र तत्र स्त्रीसमाजे प्रचलिता आकर्ण्यते। इटली-प्रदेशेऽथास्माकं संस्कृतिस्वीकृता बलिप्रथा प्रचलिता लोलुक्यते । मृतकपूजाप्रकाशेऽपि तत्र श्रूयते । अस्माकं भारतीयसंस्कृतौ प्रचलिता देवाश्चापि तत्र नामान्तरैरुच्चार्यन्ते । मक्कायां मक्केश्वरो महेश्वरो भारतीयां संस्कृतिं तत्र प्रकाशयतीत्यपि पूर्वं साश्चर्यं पठितमस्माभिः संस्कृते साप्ताहिके पत्रे । अमेरिकायां कोलम्बसादनेक-शताब्दीपूर्वमपि मैकसिक्कोग्वाटमाल-पीरू-बोल्बिया-प्रभृतिदेशेषु हिन्दूनां बौद्धानाञ्च मन्दिरविहारादीनि स्थानानि तत्र भारतीयसंस्कृतेः प्रसारं द्योतयन्ति स्म । अमेरिकायाः पेरूप्रदेशस्य 'इका'जातीया लोका आत्मानं सूर्यवंशजं मन्यमाना भगवन्तं रामं स्मरन्ति । हंहो, इदानीमपि अमेरिकानिवासिनी काचन विदुषी कुमारी तत्र कल्किपुराणसम्बन्धे अनुसन्धानं विदधातीति

भारतीयसंस्कृतेरेव प्रभावः । इराकदेशेऽप्यस्माकं संस्कृतेरनुसारं वेदान्तदर्शनस्यैकेश्वरवादः शान्तिकामुकैरुपास्यते । सिंहलद्वीपे तु भारतीयसंस्कृतिमूलकं बौद्धधर्मं प्रचारयितुं महानशोकः स्वकीयं तनयं प्राहिणोदेव । यूरोपदेशस्य बहुषु प्रदेशेषु रुद्रोपासना समाकर्ण्यते केनापि रूपेण । स्काटलैण्डस्य हाइलेण्डप्रदेशेऽस्माकं संस्कृतिसम्बद्धा हवनक्रिया प्रचलितेत्यपि संश्रृणुमो यतस्तत्र प्रज्वलिते कृशानौ नवनीतं गोधूमादिकञ्च हुत्वा धन-पशुद्रव्यादिकामनां कुर्वन्ति लोकाः । अतः कियत्कालं कीर्त्तयामो भारतीयसंस्कृतेर्विश्वव्यापिनं प्रभावम् ? अयं तु भगवतो ब्रह्मणोंऽश इव सर्वत्र जगति व्याप्तो वर्त्तत इति ।

◆

भारतीया संस्कृतिः

श्रीसत्यदेवो वर्मा

संसारे यत्र-यत्र मनुष्याणां वसतयस्तत्रतत्र तत्तद्रूपाः: संस्कृतयः तिष्ठन्ति । ताभ्यस्ताभ्यः संस्कृतिभ्यः अनुप्राणिताः ते ते जनसमुदायाः तत्तदनुकूलं यथा-यथा परस्परं व्यवहारेषु चेष्टन्ते ताभिः चेष्टाभिः "इयम् एषां सभ्यता" इत्येवं तत्तत् सभ्यताज्ञानं परिचयश्च जायते ।

भारते देशे अपि अत्रत्या संस्कृतिः भारतीया सस्कृतिः इत्येवम् आख्यायते । विश्वसंस्कृतीनां परस्परं कतिपयविषयेषु एकरूपता अपि बहुरूपता चापि दृश्यते । भावानां विचाराणां च दूराद् दूरं प्रसारात् संस्कृतीनाम् अंशत एकरूपता अनेकरूपता च सिध्यति । भारतीया संस्कृतिः सर्वासां संस्कृतीनां अनुत्तमा अलौकिकी च अस्माभिः मन्यते । तदनुप्राणिता अस्माकं सभ्यताऽपि च लोकोत्तरा इत्यस्माकं मतम् । भारतस्य प्रायः पंचशतं वर्षाणाम् आंग्लसाम्राज्यस्य दासतायां यातम्, तस्माद् विदेशीभाषायाः आंग्लसंस्कृत्याः, आंग्लसभ्यतायाश्चापि यत्र तत्र दुष्प्रभावो दृश्यते एव । भारतीयसंस्कृतेः सौष्ठवम् आंग्लसंस्कृतेश्च दौष्ठवं कतिपय-प्रसंगानाम् उद्धरणैः स्वतः स्पष्टं जायते । सौष्ठवं कस्माद् इति जिज्ञासायां मनीषिणस्तत्त्वविदो वदन्ति यद् येयं भागवती प्रकृतिः मातेव विश्वजनीनान् विश्वजीवान् पोषयति अस्याः अत्यासंगे जातं यत् तत्त्वदर्शनम्, तदेव संस्काररूपं संस्कृतिरूपम् आकलयति । सौष्ठवोपेता माता प्रकृतिः सौष्ठवोपेतान् एव भावान् विचारांश्च जनेषु जनयति । परं यद् यद् मातुः प्रकृत्या विरुध्यते तत्तद्भावविचारादिकं प्रकृतेः प्रतिकूलत्वाद् दौष्ठवोपपन्नं जायते इति प्रकृत्युपासनात् सौष्ठवं प्रकृतिविरोधात्, अननुकूलत्वाच्च दौष्ठवं संस्कारेषु संस्कृतौ च उपपद्यते । इदमेव सौष्ठवं दौष्ठवं च संस्कृत्याः संस्कृत्याः जातासु सभ्यतासु संक्राम्यत् तत्र-तत्र गुणान् दोषान् वा उद्भावयति । सौष्ठवोपेता संस्कृतिः सभ्यता च विश्वस्य बहूपकारिणी सती परिणामे अपि अमृतमयी तिष्ठति परं दौष्ठवाकुला संस्कृतिः सभ्यता च तथोपकारिणी न सती अन्ततो विषमयी परिणमति इति सविमर्शो लोको जानात्येव । भारतीयसंस्कृतेः आंग्ल-संस्कृतेः अथ उभयानुषंगिन्योः सभ्यतयोः तुलनात्मकपर्यवेक्षणेन तस्य विषयस्य वैशद्यम् अत्र क्रियते येन भागवती संस्कृतिः आंग्लसंस्कृतिश्च किंरूपा इति स्पष्टं भासेत । अधोदीयमानेषु छन्दस्सु सूत्ररूपेण उभयोः उक्तसंस्कृत्योर्वर्णनं क्रियते । प्रतिश्लोकं क्रियमाणे व्याख्याने प्राक् संस्कृतिस्ततस्तज्ज्ञा सभ्यता यत्र-तत्र निदर्शनैः विवृता भवति–

पाश्चात्त्यैस्संस्कृतिर्येयं वृता सा विक्रियात्मिका ।
सभ्यता चापि तज्जाऽसौ तत ऊर्ध्वं विनाशिनी ॥

भारतीयसंस्कृतिर्मन्यते यन्मातुः प्रकृतेः संगात् स्मृतिशक्तिः स्थिरा तिष्ठति, चक्षुषोर्दर्शनशक्तिः अव्याहता तिष्ठति, मस्तिष्कस्य समुचितो व्यायामो जायते तस्माद् अधिकाधिकया शब्दादि-लेखन-क्रियया स्वान्तर्भूतशक्तीनां व्यर्थं दुरुपयोगो न विधीयताम् । अत एव वेदाः लेखाभावात् श्रुतयः सुचिरं अतिष्ठन् । सूत्राणि श्रुत्वैव स्मर्यन्ते स्म । अत्यधिकलेखनक्रियाभिः शक्तीनां स्मृतिदर्शनादीनां ह्रासो न क्रियते स्म । परं पाश्चात्त्यानां संस्कृतिः लेखदृङ्मूला विशेषतः । यदपि-यदपि तत्तत् कर्गलादिषु लेख्यम् ।। तेन लेख-साधनानां मसि-लेखनी-कर्गलादिकानां विविध-रूपाणां महतो महार्घाणाम् उपकल्पनाय नितरां धनं प्रयासश्च अपेक्षितो भवति, यः परिणामतः मस्तिष्कम् अकाले एव निर्बलं करोति, स्मृतिभ्रंशं जनयति, चक्षुषोः श्रमातिरेकं दर्शनशक्तिह्रासं च (इमान् दोषान्) उत्तरोत्तरं वर्धयति । अथाऽपि रोगहानार्थम् औषधानाम् अतिशयविकृतिम् आपाद्यमानानां कृत्रिमरूपता, अतिमहार्घता रोगहानार्थं पदे-पदे सांशयिकता च इत्येवं पाश्चात्त्य-संस्कृतिसभ्यतावशात् समाजे बहुविधाः आकुलता अपि एकपदे एव जनयति । परं मात्रा प्रकृत्या स्थाने स्थाने जायमानानां रोगाणां प्रशमाय तत्तद् औषधरूपा वनस्पतयः, मूलानि, फलानि चापि उत्पादितानि भवन्ति यानि तत्स्था अनुभववृद्धा जनाः जानन्ति मूलादिभिः एव च कायदोषान् नाशयन्ति इत्येवंरूपा भारतीया संस्कृतिस्तु अल्पाल्पमूल्यसाध्यैः उपचारैः समाजं स्वस्थं रक्षतितराम् ।

पाश्चात्त्यवेशभूषाऽथ भारतीया तथैव च ।
भिद्यतेऽतिमिथो ह्येका साह्यकृन् न तथाऽपरा ॥
परिच्छदोऽतिमात्रं वै चारुश्चारुर्युगानुगः ।
आत्मनश्चेतरेषाञ्च क्लेशायैव तु कल्पते ॥

यथा माता प्रकृतिः परिच्छदादिबन्धविरहिता तिष्ठन्ती रम्य-रम्या संदोपचितस्वास्थ्या च भवति तथैव मानवोऽपि अल्पाल्पपरिधान एव तिष्ठेद् येन पृथिव्यादीनां भूतानां सुखस्पर्शेन स सदा अनामयः स्वस्थश्च तिष्ठन् दीर्घजीवितं जीवेद् इत्येवंरूपाः संस्काराः मानवसंस्कृतेर्मूलाधारभूताः सन्ति । परं पाश्चात्त्य-संस्कृतिप्रभाविता जनाः टोप, नैकटाई, कोट, पैण्ट आदिशरीरांगसक्तानि परिधानानि धारयन्तः स्वां सभ्यतां प्रथयन्ति । एभिरेवंविधैः परिधानैः उपवेशने मूत्र-पुरीषविसर्जने, यत् पदात् पदं काठिन्यं तत् केन सभ्येन न अनुभूयते । अथ यदि अकस्मात् स्वयं वा अन्यो वा क्षतविक्षतो जायेत प्रवासे तत् पट्टबन्धनाय सद्यः अपेक्षितं वस्त्रखण्डं तस्मात् परिधानाद् न शक्यं लब्धुम् । अतिशयं सूचीकर्मणा सम्पादितं तत् परिधानं महाव्ययसाध्यं भवति । प्राकृतो जनः तावन्मात्रं व्ययं सोढुं कुतः क्षमो भवेत् । यत् किमपि कुर्वाणस्य पैण्टं वलिपरीतं न जायेत इत्याशंका जनं सततं दुनोति । यद्यकस्माद् भंगिभिः तत् परीतं जातम्, तत्तेषां विनयनं कर्त्तुं कारयितुं वा कं जनम् उपसर्पेत् । तद्धि समयं च धनं च अपेक्षते । हन्त ! विचित्रा गतिः । ईदृशानि परिधानानि किं साह्यं जनयन्ति । अथ च लोकात् लोकं रुचिभेदात् परिच्छदशैली-भेदोऽप्यत्र प्रतिपदं प्रतिकालं च दृश्यते । वेशे ईदृशी नाटकीयता मनसः आकुलतायै एव न तु शान्त्यै तिष्ठति । शरीरागैः अतिसक्तं परिधानं वायुस्पर्शं रुणद्धि ।

लम्बमाना: केशा: शिरोरोगान् मस्तिष्कदौर्बल्यादिकञ्च जनयन्ति इति अतिशयपरिधानसभ्यता मानवान् पदे पदे दशति, मनसा शरीरेण च क्षतविक्षतान् करोति ।

भारतीयसंस्कृत्यनुरूपा भारतीयसभ्यता धौतवस्त्रम् उत्तरीयादिकञ्च संस्तौति येन लघुपरिधानेन शरीरांगानाम् आर्जवं तिष्ठति । पृथिव्यादिभूतसंस्पर्शाद् अनामयता आकस्मिक आपत्तिकाले धौतवस्त्रस्य गुणवद् रज्जुवत् पट्टबन्धवद् वा प्रयोगाद् आपदस्तरणमपि जायते । अल्पाल्पव्ययसाध्यत्वाद् ईदृशं परिधानं सामान्या अपि जना धारयितुं शक्नुवन्ति । एकरूपात् परिधानाच्च "अयं गुरु:, अयं लघु:, अयम् उच्चै:, अयं नीचै:" इत्येवमात्मको सामाजिको भेदश्च नावतिष्ठते सुशान्तिस्तु तिष्ठति ।

सज्जा बाह्याऽतिरोचिष्णु पाश्चात्त्यानां मता किल ।
अन्तरंगीयसज्जा तु भारतानां मता बहु ॥

भारतीयसंस्कृतिरित्थं मनुते यद् भवनान्तर्गतकोष्ठानां सज्जा सीमामतीत्य न कृता भवेत् । काष्ठ-लोहपत्रादिविनिर्मितानां साधनानाम् अतिशयत्वात् "सर्वमतिमात्रं दोषाय" जायते । यथा युवत्या: शरीरे शृंगारालंकारा एव यदि स्युस्तत् शरीरस्य सौन्दर्यं लावण्यं स्वाभाविकता च शृंगारै: अलंकारैश्च परिच्छन्ना जायते तथैव अधिकं न कुत्रापि शोभि । पाश्चात्त्य-संस्कृति: भवनादिषु फर्नीचरदर्पण-प्रच्छादिका(दरी)दिकानां सभ्यताम् अपरिहार्यां मन्यते । बह्वर्थसाधना ईदृशी पाश्चात्त्यसभ्यता 'सधन:, निर्धन:, सोपकरण:,. निरुपकरण:' इत्येवमादिभेदं जनयित्वा समाजं वर्गेषु विभजति, वर्गाश्च परस्परं द्वन्द्वाय सिद्धा जायन्त इत्यहो ईदृशी संस्कृति: सभ्यता च उत्तरोत्तरम् अनर्थपरम्पराम्. उद्भावयति येन मनुष्यो मनुष्यं द्वेष्टि हिनस्ति चापि । भारतीयसंस्कृतिप्रणोदिता सभ्यता तु कोष्ठेषु कुट्टिमकटावरणं च विधाय यत् किंचित् प्रच्छद-आवरणेनैव भेदबुद्धिं विना सर्वेषां कोष्ठे समागतानां स्वागतं करोति सर्वश्च तत्र निश्शंकम् उपविशति । आत्मीयतया परस्परं संवादाय विचाराणाम् आदानाय प्रदानाय च ।

शृंगारस्य प्रकारेषु पाश्चात्त्यभारतीययो: ।
अन्तरं दृश्यते स्पष्टं सुहिताहितवर्धनम् ॥
शृंगारस्य विधास्वेवं दृष्टिरन्तर्विभासते ।
पाश्चात्त्यास्तु परं दृष्टेर्बहिरंगमुपासते ॥

यथा प्रकृतिमातु: शृंगारसौन्दर्यम् अन्तस्तलादुद्भिन्नं जायते । तेनैव काले-काले पशव:, पक्षिण:, अन्ये जीवा:, वनस्पतय:, लता-वृक्षादयश्च अन्तरन्तस्तलात् सौन्दर्येण स्वे-स्वे काले उद्भिन्ना: शोभन्ते तथैव मानवोऽपि प्रवर्त्तेत अधिकाधिकम् इतीयं प्रकृत्याश्रिता भारतीया संस्कृति: । परम् अधिकाधिकं कृत्रिमसौन्दर्यशृंगारकराणां विकृतानां विकारितानां च द्रव्याणाम् आश्रय इति पाश्चात्त्यसंस्कृति: । अनेनैव उभयो: सभ्यताभेदोऽपि । भारतीयसभ्यतानुसारं शरीरसौन्दर्याय शृंगाराय च प्राकृतिकपुष्पाणां शुद्धतैलघृतादीनाम् उद्वर्त्तनस्य (उबटना) प्रचुर: उपयोगो दृश्यते परं पाश्चात्त्या: प्रकृताद् विकृतानि स्नो-क्रीम-पाउडर-लिपस्टिक-आदीनां उपयोगेषु रमन्ते । केशानां कालीकरणाय नैकेषां तैलानाम् उपयोगं कुर्वन्ति। तदिदं सर्वं बाह्यविकृतद्रव्यकृतात् शरीर-संयोगात् त्वक्-क्षराभत्वं जनयति । त्वच:

कण्टकितत्वम् उत्पादयति मुखादिकञ्च सलक्ष्म (धब्बों वाला) करोति । भारतीयानि प्राकृतानि द्रव्याणि तु न तथा आपत्कराणि न च तथा महार्घाणि दुर्लभानि च ।

पानं चैवाशनं चैव विरुद्धमुभयोर्मतम् ।
एकं हास्याय कल्पेत सन्तोषायापरं पुनः ॥

भारतीयसंस्कृतिः "अन्नपते ! अन्नस्य नो देहि" इत्यस्मिन् मन्त्रे "द्विपदे शं चतुष्पदे" इत्येभिः शब्दैः द्विपदां चतुष्पदां च जीवानां कल्याणप्रार्थिनी अतश्च हिंसाभावात् शून्या तेन मांसाशनस्य विरोधिनी । परं पाश्चात्त्याः मद्यमांसादिपक्षे उत्तरोत्तरम् अतर्कितकर्तोपस्थापनैः मद्यमांसाण्डादीनां भक्षणं समर्थयन्ति । ऋषयस्तु–

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति" ॥

अथ च–

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" ॥

इत्येवमादिभिः वेदमन्त्रैः (यजुर्वेदेऽन्तिमाध्यायः) सर्वेषु जीवेषु आत्मीयतां प्रदर्शयन्ति, अतश्च भारतीयसभ्यतानुसारं मद्यमांस-आदिकं भोजनस्य अपरिहार्यतया अंगीभूतं सुसभ्यतानिदर्शनञ्च तिष्ठति । भारतीया आत्मसन्तोषाय अतिथीन् भोजयन्ति इत्यहो ! पराकाष्ठा सभ्यसंस्कृतेः, परं पाश्चात्त्यप्रियाः प्रीतिपानेषु भोजनेषु च पेयं स्वेषु स्वेषु कंसेषु आदाय उन्नीय प्रदर्श्य च तस्य तस्य स्वास्थ्यस्य कामनया कृतौष्ठव्यापाराः स्वयम् एव पिबन्ति इति महती विडम्बना सभ्यतायाः । स्वयं पिबन्तस्तेन परस्य स्वास्थ्यं कामयन्ते इति अहो ! किं न हासास्पदम् इदम् ?

प्रकृतिद्रोह एवाऽपि पाश्चात्त्यानां मतो बहु ।
प्रकृतिप्रेमदृष्टिस्तु भारतीया विशेषता ॥

पानस्य जलादिद्रव्याणि, अशनस्य फल-पुष्प-शाकमूलानि, विविधानि अन्नानि यथा भूम्या उत्पादन-प्रक्रियया लभ्यन्ते तानि यत् किंचन शोधितानि अल्पाल्प-संस्कृतानि एव गृहीतानि मनुष्याणां क्षेमाय कल्पन्ते इत्याधृत्य भारतीयसभ्यतायां मनुष्याः प्रवर्त्तन्ते येन निर्विकारतया स्वास्थ्यं दीर्घायुष्यं च सिध्येत् परं पाश्चात्त्याः प्रकृतिद्रोहबुद्धयः सन्तः जलं प्रायः सर्वत्र विकार्य विकार्य पिबन्ति पाययन्ति च येन बहुव्ययः शीतन्धीकृतेन (फ्रिजीकृतेन) च मन्दाग्निः इत्येवंविधाः विकाराः शरीरेषु उत्तरोत्तरं जायन्ते । अतश्च शरीरं व्याधिमन्दिरं शीघ्रम् अनायुष्यं याति । वस्तुतः प्रकृत्यै प्रीतिभाज एव सुपुत्राः द्रोहभाजस्तु कुपुत्रा एव इति किं न सारगर्भितं वचः ?

चिकित्साशास्त्रदृष्टिश्च भिद्यते ह्युभयोस्तथा ।
एकया दम्यते रोगस्त्वन्ययोन्मूल्यते हि सः ॥

भारतीया संस्कृतिः आयुर्विज्ञानचिकित्साविज्ञानादिषु शास्त्रेषु शरीररोगाणां शान्तये वमन-विरेचनादिप्रक्रियया उपवासादिप्रक्रियया च शरीरविकारशमनविधिं बोधयति । अन्तःशुद्धिकरणाद् रोगः

शाम्यति यतो हि अध्यशन-अयुक्ताहारविहारादिकारणैः शरीरमन्तः प्राग् दुष्यति न तु बहिः । भारतीया चिकित्सासंस्कृतिः उपवासादिमाध्यमेन अन्नादित्यागवादात् त्यागवादस्य सुतरां पोषिका । तदनुसारमेव च सभ्यतापक्षे त्यागवादाद् उपवासपंचकर्मादिप्रक्रियायाः चिकित्सायां प्रारम्भो माहात्म्यं च स्फुटम् । तदनु प्राकृतानि कन्दमूलफलादिकानि बहुविधभस्मादीनि च अल्पाल्पं विकार्य दत्तानि रोगिणां महते कल्याणाय कल्पन्ते । परं पाश्चात्त्यदर्शना जनाः अधिकाधिकधनार्जनाय व्यावसायिका इव रोगिणः उपचरन्ति अधिकाधिकविकृतिभांजि औषधानि च प्रयुंजते यैः रोगाणां दमनं प्रायो जायते न तु मूलतश्शमनम् । तेषाम् उपाचाराद् औषधप्रयोगाच्च एकस्मिन् रोगे दान्ते परेषां कतिपयान्यरोगाणां प्राविर्भावः कस्य नो विदितः ।

पाश्चात्त्याः शिक्षणोपाया वह्वर्थापेक्षणाः किल ।
भारतीयाः परं ते वै ह्यल्पाल्पापेक्षणा मताः ॥ १० ।
"विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्" ॥

अनेन छन्दसा भारतीया संस्कृतिर्विद्यादिविषये किं वक्ति इतीदं सुतरां स्पष्टम् । शिक्षायां सदाचारस्य अत्र महत्त्वम्, योगासनादिकानां क्रीडा-व्यायामानाञ्च अत्र प्रथमं स्थानम् । मानवाय "मनुर्भव" इत्युपदिष्टम् । सर्वोऽपि जनत् त्यागवृत्तिः, सभ्यः, सेवापरायणश्च आजीवनं तिष्ठेत् । "परस्परं सम्भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" (गीता) इत्यस्माकं शिक्षानीतिः । तत् सभ्यतावशाद् अस्माकं पठनं पाठनं च प्रायः वृक्षच्छायासु ग्रीष्मेषु किं वा सुखावहे निरभ्रे स्थाने शीतेषु । "उपगह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्, धिया विप्रोऽजायत" (वेदः) इतीदृशानि स्थानानि ज्ञानशक्तिवर्धनानि प्रोक्तानि । "उपलशकंलमेतद् भेदकं गोमयानाम्" इत्यारभ्य "दृश्यते जीर्णकुड्यम्" (मुद्राराक्षसं नाटकम्) इत्यभिधानात् तापसानाम्, ब्रह्मर्षीणाम्, राजर्षीणां वासाः कुड्येष्वपि बोधिताः । अत्र शिक्षा न तु क्रय्या न च क्रेयाऽपि । क्रयः पापाय । "यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति" (मालविकाग्निमित्रं नाटकम्) इति किं न स्पष्टम् ? अत्र विद्या जीवनेन संगता न केवलेन मस्तिष्केण ।

पाश्चात्त्यास्तु धनार्जनम्, उपाधिसंग्रहं विद्योद्देश्यं मन्यन्ते । अत एव विद्याक्षेत्रे तेषां धनार्जनता ख्याता । महार्घाणि हर्म्याणीव उच्चैः परिष्कृतानि धामानि कृत्वा तेषां शिक्षाक्रमाः प्रवर्त्तन्ते । यः सधनः बहुधनश्च स एव तद्विधाः शिक्षाः क्रेतुम् शक्नुयात्, न त्वन्यः । सर्वसामान्यो जनः कुतः उत्सहेत तां क्रेतुं स्वल्पाभिः वराटिकाभिः । मस्तिष्कस्य उत्तरोत्तरं बहुविधो व्यायामस्तेषां शिक्षणपद्धतेः प्रधानं लक्ष्यम् ।

यन्त्रवादस्य पाश्चात्त्याः संसारेऽतिप्रचारकाः ।
नो तथा भारतीयानां दर्शनं जीवने पुनः ॥

भारतीया संस्कृतिर्जीवने स्वावलम्बनं शिक्षयति । सुमनसा शरीरेण परिश्राम्यन् जनो यावच्छक्यं सर्वाणि साध्यानि जीवनोपयोगीनि द्रव्याणि स्वयं ससहायो वा उत्पादयेद् इतीयं भारतीया मनीषा स्वावलम्बनात्मिका । इमां विचारसरणिम् अनुसृत्य प्रवर्त्तमानायां सभ्यतायां स्वपरिधानानाम्, मृद्-

लोह-ताम्रादिभाण्डानाम्, शिल्पसाध्यकोष्ठकूपबद्धमार्गाणाम्, पशुपालनकृषिवाणिज्यादीनाम् अनाकुलग्रामसभ्यतायां निर्माणाः सर्वसुखकराः आजीविकाप्रदाश्च तिष्ठन्ति । कुम्भकाराणां चक्राणि, लोह-सुवर्णकाराणां घन-कंकमुखा(चिमटा)दिसाधनानि, तन्तुवायानां तुरीवेमादीनि अल्पश्रमसाध्यानि जीवनोपयोगिवस्तुप्रदानि च कस्य नो विदितानि । पाश्चात्त्यसंस्कृतौ तु स्वावलम्बनं जीवनोपयोगिवस्तूत्पादने व्यावसायिकतामाश्रयद् यन्त्रवादं समर्थयति तेन च यान्त्रिकी सभ्यता उत्पद्यते या पुंजीवादं पुष्णाति, पुंजीवादश्च "अयं पुंजीहीनः, अयं पुंजीपतिः" इति भेदं प्रथयति, तत्कारणाच्च अशान्तिः उत्तरोत्तरं प्रसृता वर्गयुद्धाय प्रभवति ।

येयं मनुष्यस्य भोगवादप्रवृत्तिः सैव यन्त्रवादस्य जननी । पाश्चात्त्या संस्कृतिः अत्यर्थं भोगवादे प्रवृत्ता सती तद्विधाम् एव भोगैकदृशं सभ्यतां पदात् पदं जनयति । पश्चिमस्य समुन्नतेषु देशेषु अन्तरन्तः तत्पश्चाद् बहिः प्रतिवेशिदेशेष्वपि परस्परं विभीषिका एतस्मादेव कारणात् तिष्ठति । वर्त्तमानं सार्वलौकिकं साम्यवादान्दोलनम् अस्या एव संस्कृतेः सभ्यतायाश्च विषमयः प्ररोहो येन परस्परं बन्धुता, विश्वबन्धुता च अपास्ता लोकश्च नैकविधाभिरापद्भिः पर्याकुलः "त्राहि माम्, त्राहि माम्" इत्येवं जीवननदीतटान्ते स्थितः सततं क्रोशति ।

खादता मोदतेत्येवं पाश्चात्त्यानान्तु दर्शनम् ।
मनुर्भवेति मानुष्यं भारतीयास्तु तन्वते ॥

ऋग्वेदे प्रोक्तम्—'मनुर्भव', सात्त्विकं मानुष्यं यमनियमादिपालनात्, ईश्वरे व्यवहारे च आस्तिकबुद्ध्या, सर्वतोभावेन त्यागभावनया, वर्णाश्रमव्यवस्थापालनात्, अधिकाधिकदोषहानात्, गुणसम्पादनाच्च सिध्यति । मानुष्यस्य उपलब्धये भारतीयसभ्यतायां वेदादिशास्त्राध्ययनम्, गुरुकुलऋषिकुलादिमाध्यमाद् विद्यानां शिक्षणम्, वर्णाश्रमव्यवस्थाबोधाय तत्तदनुकूलं स्व-स्व-आयुषि वर्णादिकस्य व्यावहारिकम् अनुष्ठानम्, इत्येवमादि अद्यापि यत्र तत्र विरलतया स्यान्नाम, साक्षाद् दृश्यते ।

पाश्चात्त्यसंस्कृतौ तु मानुष्यसिद्ध्यै न एव योजना । तत्र तु "यावज् जीवेत् सुखं जीवेत्" इति चार्वाकोक्त्यनुसारम् 'खादता मोदता' इति क्रियान्वयनाय एव मुख्यः प्रयासो दृश्यते । ईदृशं च विचारितकं स्वसुखाय परेषां तर्दनं हिंसनम् अपि समर्थयति । अत एव मद्यमांसादिकस्य अभ्यवहारः पश्चिमसभ्यतायाम् अन्तरंगभूतः ।

अर्थार्था हि क्रियाः सर्वाः मताः पाश्चात्त्यदर्शने ।
त्यागो ज्ञानञ्च सेवा च भारतीयैस्तु लक्ष्यते ॥

"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" इति यजुर्मन्त्रे त्यागपूर्वकं द्रव्याणाम् उपभोगो यथा अन्येऽपि समुचितं उपभोगं कर्त्तुं पारयेयुः, द्रव्येषु कस्याऽपि एकाधिकारो मा तिष्ठताद् इत्युपदिष्टम् । अधिकाधिकस्य कैश्चिदेव संग्रहेण समाजस्य हीनार्थेषु जनेषु आक्रोशः उद्भवति तेन च वर्गसंघर्षस्य दुसि्थतिः यत्र तत्र सर्वत्र, यथाऽद्य, तथा संक्राम्यति । परं त्यागस्य भावना-चेष्टाभ्यां तादृशी दुस्स्थितिर्न जायते प्रत्युत सामञ्जस्यम् उपजायते ततश्च शान्तिपूर्वकं व्यवहाराः प्रारभ्यन्ते । ज्ञानं विद्या च सेवा च अनासक्तिप्रधानास्तिष्ठेयुः । न तु व्यवसायप्रधानाः । ज्ञानेन, विद्यया, सेवया च द्रवीभूतः शिष्यः, सेवितश्च जनः

स्वयं गुरवे, उपदेशकाय, सेवकाय च समयोचिताम् अपेक्षितां दक्षिणां दद्यात् स्वतः प्रेरणया इतीयं व्यवस्था भारतीयसंस्कृतौ । एषु कुसंस्कृतिप्रेरितां सभ्यतामनुरुध्य वणिक्त्वं भारतीये समाजे न वै उपपद्यते । पुरोधसः यजमानगृहेषु उपदेशकाः सामाजिकसमारोहेषु, गुरवः गुरुऋषिकुलादिषु, सेवकाः विद्यालयादिषु स्वस्वोचितान् व्यापारान् कुर्वन्तः जीवनोपयोगिद्रव्याणि लभन्ते यत्र तत्र भारते देशे (स्यान्नाम अद्य दृष्टान्तानाम् अल्पाल्पत्वं पाश्चात्त्यसंस्कृतिसभ्यतयोः चिराद् दुष्प्रभावात्) । परं पाश्चात्त्यानां व्यवसायबुद्धिः सर्वेष्वपि प्रारम्भेषु समुल्लसति । ते हि जनान् अवशान् कृत्वा येन केनापि उपायेन अल्पाल्पसेवयैव स्वार्थाद् अधिकाधिकं धनम् आहरन्ति न च मनागपि लज्जन्ते । "यस्यार्थः स पुमान् लोके" इत्यादिदिशा ते अर्थार्था एव मुख्यतः, तेनैव हि अद्य लोके विषादस्यापि अप्रतिमं नाट्यं सर्वत्र अनिच्छयाऽपि अभिनीयमानं दृश्यते ।

अन्नं वस्त्रं निवासश्च विद्या किं चैव जीवने ।
अनिवार्यतया ग्राह्याः परन्त्वत्रोभयोर्हि दृक् ॥
विभिन्ना मन्यते ह्येकस्त्वनयोः व्यावहारिकम् ।
व्यापारिकं तथैवान्यो दृग्भेदोऽयं स्फुटः किल ॥

भारतीया संस्कृतिर्मन्यते यज् जीवनार्थम् अनिवार्येषु अन्नवस्त्रविद्यानिवासादिषु व्यावहारिकी बुद्धिस्तिष्ठेत् । समुचिताय जीवनव्यवहाराय पर्याप्तम् अन्नम्, पर्याप्तं परिधानम्, पर्याप्तां विद्याम्, पर्याप्तं निवासस्थानम्, इत्येवमादिकम् अनिवार्यतया सर्वोऽपि लभेत एव । यथा माता अनासक्ता सती अपत्यानि सेवते न तु व्यवसायबुद्ध्या, अनासक्तसेवया चैव सा गृहे स्वामिनी भूत्वा शिरोमणिभूता तिष्ठति तद्वत् सर्वे प्रवर्त्तेरन् इत्यस्माकं संस्कृतिस्तदनुगता सभ्यता च बोधयति । परं पाश्चात्त्य-संस्कृत्यनुसारं सर्वाभिरपि विधाभिः स्वार्थाय धनादिकम् अर्जनीयम् इदमेव मुख्यम् । ईदृशी व्यापारबुद्धिः अमानुषिकी । तेनैव मनुष्यनिर्माणे अनभिमुखी सा सभ्यता मुख्यतः समाजनिर्माणाय चेष्टते । परं मानवनिर्माणाभावे मानवसमाजनिर्माणस्तु हासास्पदम् एव । यदि बुद्धिः भवननिर्माणाभिमुखी न तु तदुपादानभूत इष्टका-पाषाणादि संस्काराभिमुखी यैर्भवनं जायते, तदिदं किं न शोच्यम् ? व्यक्तिनिर्माणचिन्तां प्रविहाय संघनिर्माणचिन्ता किं न निराधारा एव ? मनुष्ये क्षीणे तिष्ठति तत्कृतः समाजः केन पुष्टो भवेत् ? मनुष्ये अधिकाधिकपुष्टे एव तज्जः समाजः पुष्ट इति मनीषिणां सम्मतम् । पूर्व-पश्चिम-संस्कृति-सभ्यतयोः इदं स्पष्टमन्तरं सर्वविदितमेव ।

मुद्रापुञ्जस्य वृत्तिश्च पाश्चात्त्येषूच्चकैस्स्थिता ।
दर्शने भारतीये तु प्राधान्यं तस्य नो मतम् ॥

भारतीया संस्कृतिरियं मानवस्य सर्वांगीणं निर्माणं विकासं च समर्थयति । मानवनिर्माणाय कदाचिद् अल्पसाधनैरपि बहुकिंचित् सिध्येत्, परं समाजनिर्माणस्तु अधिकाधिकानि साधनानि सततम् अपेक्षते, तेन धनपुंजवृत्तिता नास्माकम् अभिमता । अधिकाधिकस्य समयस्य, शरीरस्य, मनसः इन्द्रियाणां च शक्तीनां केवलाय अधिकाधिकस्य अर्थस्य संग्रहाय विनियोगो मानवाय अत्र नोचितो मतः ।

परं पाश्चात्त्यदर्शने धनवृत्तिः, तदर्जनं च अहोरात्रं प्रमुखम् । तेषां संस्कृतिसभ्यतयोः केन्द्रबिन्दुः धनमेव । सांघिकी वृद्धिर्मुख्यतो धनाश्रितैव । धनार्जने शरीरमनः-इन्द्रियाणां यः शक्तिनाशः सोऽवर्ण्य एव तदपि 'धनान्यर्जयध्वम्, धनान्यर्जयध्वम्' इत्येव तत्र दिवानिशं घोषः । जीवनस्तरः उच्चैः, उच्चैस्तरः, उच्चैस्तमः च स्यादियमेव मुख्या चिन्ता तत्र सर्वेषाम् । अतो गतनिद्रास्ते निद्राकृद्वटिकाः प्रतिरात्रं आश्रयन्ते । यदि कश्चित् पाश्चात्त्यसभ्यताया नग्नं ताण्डवं द्रष्टुम् इच्छति तत् तेन योरोपीयदेशानां समृद्धनगरेषु गत्वा तत्र यथाकामं पर्यट्य याथार्थ्यं स्वयं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यं च भवति ।

चतुर्णां पुरुषार्थानां सिद्धये योज्यते जनी ।
सार्धं जनेन खल्वेतद् भारतीया हि मन्वते ॥
कामसिद्ध्यै जनी तावद् जनेन योज्यते भुवि ।
इतीदं मन्वते ते तु पाश्चात्त्यदर्शना जनाः ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणाम् इहजन्मनि एव सिद्ध्यर्थं स्त्रीपुरुषौ पतिपत्नीरूपेण परस्परं युज्येते । धर्मार्थकामाः विस्तृतक्षेत्राः, अतस्तेषां प्राप्तिर्दीर्घपरिश्रमजन्या, कालजन्या, क्लिष्टा च संहताभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्याम् एव सौविध्येन कर्त्तुं शक्या न तु असंहताभ्याम् । अत एव उभयोर्विवाहबन्ध इति भारतीया संस्कृतिः । धर्मार्थकामानां शनैः शनैः संचयाद् उत्तरकाले मोक्षोऽपि संभाव्यते । अकृत्वा धर्मार्थकामसंचयान् ईषत् कृत्वा वाऽपि कुतो मोक्षसोपानारोहणं तत् प्राप्तिर्वा । परं पाश्चात्त्याः 'जनी कामसिध्यर्थम्' इति मन्यन्ते । अतस्तेऽत्र संकीर्णवृत्तयः । तेनैव यदा स्त्रीः पुरुषो वा परस्परं अनभीष्टः, अकार्यो वा दृश्यते तदा परस्परं विवाहविच्छेदः, विवाहेतर-उन्मुखता, अभीष्टस्त्री-पुरुषप्राप्तिश्चापि वा जायते । परस्परम् आत्मीयताभावः अल्पाल्पो भवति, परं भारतीया विवाहसम्बन्धं नित्यं मन्यन्ते, संयुक्तां कुटुम्बपद्धतिं च पोषयन्ति न परं तथा पाश्चात्त्याः ।

मातृवत् परदारास्तु भारतीयमिदं मतम् ।
परदाराः स्वदारा वै प्रतीच्यानां दृगीदृशी ॥

धर्मेण वृता स्त्री एव स्वदारा नान्या । अन्यास्तु मातृ-दुहितृ-भगिनी-पुत्रीरूपा वयोऽनुरूपा इतीयं भारतीया भावना तदनुरूपा चैव अत्रत्या सभ्यता । परस्त्री मातेव, क्वचिदपि न लोभः परधने, न मर्यादाभंगः, इतीदृशी श्रीरामस्य स्वानुजं भरतं प्रति उक्तिः कस्य न ज्ञाता अद्यापि । परं तिष्ठन्त्यामपि स्वपत्न्याम् अन्येषां पत्नीषु अपि रुचिवशात् स्वजायात्व आरोपः पाश्चात्त्यानां विशेषता विविधेषु समृद्धेषु देशेषु डिस्को, वैले, ब्रेक, कैब्रे आदिनामकेषु स्त्री-पुरुषयुगलनृत्येषु एवं पाश्चात्त्यप्रभावितेषु जनेषु स्थानेषु च दरीदृश्यत एव ।

विस्तृतैश्चिन्तनैरन्यैर्विविधैश्च निदर्शनैः ।
भेदः परस्परं ज्ञेयः उभयोरुक्तवादयोः ॥

प्रकृतेः अंगसंगभूते, सर्वसौष्ठवसम्पन्ने, सात्त्विकताप्रधाने, सर्वकल्याणमये, सर्वैः सरल-ग्राहिणि भारतीयसंस्कृतिसभ्यताविधाने सत्यपि, रजस्तमसां रक्षोजनसाकाराः शक्तयः कालात् कालं देशाद् देशं जनाज्जनं च एतत् पराभूतं कर्त्तुं सततं चेष्टन्ते इत्यपि न कस्यापि तिरोहितम् । राज्ञां राजर्षिणान्तु राज्यशक्तिः यथाऽस्य संरक्षणाय संवर्धनाय च वर्षानुवर्षं सुसिद्धा उद्यतदण्डा च प्रागतिष्ठत् तथैव साम्प्रतमपि विश्वजनीना भारतीया वैदिकी संस्कृतिः सभ्यता च "शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे विलसेद् इत्यसंशयम्" इत्यनुसारं राज्य-संरक्षणम् अपेक्षते ।

अस्तु किमधिकेन विचारवत्सु विद्वत्सु ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः ।

●

सिन्धु-मुद्राओं की लिपि के वाचन की नयी दिशा

डॉ. नटवर झा

ईसापूर्व पाँच हजार वर्ष में अपने उत्कर्ष में विराजित सिन्धु सभ्यता की मुद्राओं के वाचन नहीं होने के कारण महाभारत-पूर्व की इस सभ्यता के संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। मुद्रा-वाचन द्वारा ही ये भ्रान्तियाँ दूर होंगी। प्रस्तुत निबन्ध में यह सूचित किया जा रहा है कि महाभारतकार ने कश्यप-प्रजापति द्वारा लिखित जिस निघष्टुक-पदाख्यान की सूचना दी है वह सिन्धु-मुद्राओं में सुरक्षित है। अतः इस सुरक्षित पुरातन वैदिक कोश के वाचन से प्राप्त लिपि-ज्ञान से अब इस वैदिक सभ्यता के रहस्य के उद्घाटन में प्राप्त आशातीत सफलता का विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

पाश्चात्त्य मनीषियों तथा अनुगामी भारतीय विद्वानों ने संस्कृत-ग्रंथों के अध्ययन एवं सिन्धु-सभ्यता के उपादानों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय आर्य यहाँ के मूल निवासी नहीं थे। वे उत्तर से यहाँ आकर यहाँ के मूल निवासी जो द्रविड थे, उन्हें परास्त करके अधिष्ठित हो गये। इनके मतानुसार सिन्धु-सभ्यता का पर्यवसानकाल ईसापूर्व १५०० है और यही काल है आर्यों के आगमन एवं ऋग्वेद के निर्माण का।

सिन्धु-सभ्यता में जो भग्नावशेष मिले हैं उनका काल ईसापूर्व तीन-चार सहस्राब्द मानकर वेद-ग्रन्थों के द्वारा उपलब्ध आर्य-संस्कृति को बहुत बाद की मानने से यह धारणा उत्पन्न की गई कि आर्य-संस्कृति से सर्वथा भिन्न द्रविड-संस्कृति उस काल में थी और तब आर्यों का यहाँ नामोनिशान नहीं था। अतः वे सिन्धु-सभ्यता के संबंध में आर्यों की स्थिति पर विचार ही नहीं कर सकते। फिर भी ये स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त निष्कर्ष उस स्थिति में बाधित भी हो सकते हैं, जब यह ज्ञात हो जाय कि इस सभ्यता के लोग कौन सी भाषा का प्रयोग करते थे तथा यहाँ की मुद्राओं के लेख के विषय क्या हैं ? समीक्षकों का अभिमत है कि सिन्धु-लेखों का उद्वाचन करने के लिए पहले यह निर्धारण करना आवश्यक है कि सिन्धु-घाटी के निवासी कौन सी भाषा का प्रयोग करते थे ?

सिन्धु-सभ्यता का रहस्य-भेदन

वर्ष १९२१-२२ से लेकर सिन्धु-सभ्यता के सम्बन्ध में निरन्तर अनुसंधान कार्य होने पर भी अभी तक संतोषजनक कार्य प्रस्तुत नहीं होने के कारण इस सभ्यता के सम्बन्ध में मनमाने ढंग से कुछ भी कहने के लिये छूट मिली हुई है। आर्यों को बाहर से आया बताया जाना, सिन्धु-सभ्यता को द्रविड-सभ्यता माना जाना या इसे प्राग्वैदिक सभ्यता कहा जाना ऐसी ही बातें हैं। कोई सिन्धु-संकेतों को भावचित्र मानता है तो कोई इन्हें अक्षरात्मक। कुछ पुराविद् सिन्धु-लिपि में प्राक्-द्रविड

भाषा खोजते हैं तो अन्य पुराविद् इसमें प्राक्-वैदिकभाषा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस गूढ लिपि के उद्घाटन में रूस, फिनलैण्ड और भारत के कुछ विद्वान् कम्प्यूटर का प्रयोग कर जनमानस को प्राक्-द्रविड-भाषा की ओर उन्मुख कर भ्रमित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी यह अभी तक रहस्य में आवृत है। इस रहस्य का भेदन भारतीय परम्परा तथा महाभारतीय ऐतिहासिक सूचना से सम्भव है; परन्तु इस ओर हमारी दृष्टि इसलिए धूमिल है कि महाभारत जैसे उपजीवक आख्यान ग्रन्थ से प्राप्त होने वाली सूचना की अभी तक हमने छानबीन नहीं की है।

वैदिकों की परम्परा क्या कहती है ?

वेदों के शिक्षार्थी वैदिक शब्दों के अर्थज्ञान के लिये 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्दकोश का चिंतन-मनन सहस्राब्दियों से करते आ रहे हैं। यास्क ने अपने निरुक्त के निर्माण के लिये कश्यप-प्रजापति द्वारा निर्मित 'निघण्टु' नामक कोश को आधार बनाया था। निरुक्त के प्रारंभ में इन्होंने स्वीकार किया है कि वैदिक शब्द-समाम्नाय का संकलन हो चुका है। यहाँ उसी की व्याख्या हो रही है, यथा–'समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः'। (निरुक्त, प्रथम अध्याय)

महर्षि यास्क ने जिस शब्द-समाम्नाय को आधार मानकर निरुक्त का निर्माण किया था, उसका नाम था 'निघण्टुक-पदाख्यान'। इसकी सूचना महाभारत से प्राप्त होती है। महाभारत शांतिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म पर्व के ३४२वें अध्याय में वृष, वृषाकपि एवं शिपिविष्ट शब्दों के निर्वचन में वेदव्यास ने अपने से पूर्ववर्ती दो आचार्यों यास्क तथा कश्यप प्रजापति एवं इनके दो ग्रन्थों 'निरुक्त' तथा 'निघण्टुक-पदाख्यान' की सूचना दी है। यह सूचना सिन्धु-मुद्राओं के विषयज्ञान के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः यहाँ महाभारत की विषयवस्तु से संबंधित श्लोक तथा नीलकंठी पर आधारित हिन्दी अर्थ प्रस्तुत है। इस प्रकरण में विष्णु के महत्त्वपूर्ण नामों में शिपिविष्ट, वृष, वृषाकपि, एकशृंग और त्रिककुत् शब्दों (नामों) की चर्चा हुई है। इन्हीं नामों के निर्वचन में सिन्धु-सभ्यता का रहस्य छिपा है। यथा–

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत्।
तेनाविष्टं तु यत् किञ्चिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः॥

(श्लोक, 71)

(मेरे शिपिविष्ट नाम की व्याख्या इस प्रकार है। रोम(रश्मि)हीनता को 'शिपि' कहते हैं। तथा 'विष्ट' का अर्थ है व्यापक। मैंने निराकार भाव से समस्त जगत् को व्याप्त कर रखा है। अतः मुझे शिपिविष्ट कहते हैं।)

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्॥

(श्लोक, 72)

(यास्क मुनि ने शांतचित्त होकर अनेक यज्ञों में 'शिपिविष्ट' कहकर मेरी महिमा का गान किया है, अतः मैं इस गुह्य नाम को धारण करता हूँ।)

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क-ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान् ॥
(श्लोक, 73)

(उदारचेता यास्क मुनि ने शिपिविष्ट नाम से मेरी स्तुति करके मेरी कृपा से जमीन के भीतर खो गये निरुक्तशास्त्र (नैघण्टुक-पदाख्यान) को पुनः प्राप्त किया और उस पर निरुक्त लिखा ।)

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥
(श्लोक, 88)

(हे भरतनंदन ! भगवान् धर्म संपूर्ण लोकों में वृष के नाम से विख्यात हैं । निघण्टुक-पदाख्यान (वैदिक शब्दार्थबोधक निघण्टु कोश) में वृष का अर्थ धर्म बताया गया है । अतः उत्तम धर्मस्वरूप वासुदेव को वृष समझो ।)

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिः प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥
(श्लोक, 89)

(कपि शब्द का अर्थ वराह एवं श्रेष्ठ है एवं वृष कहते हैं धर्म को । मैं धर्म और श्रेष्ठ वराह-रूपधारी हूँ, इसलिए प्रजापति कश्यप ने मुझे 'वृषाकपि' कहकर पुकारा है ।)

एकशृंगः पुरा भूत्वा वराहो नन्दिवर्धनः ।
इमां चोद्धृतवान् भूमिमेकशृंगस्ततो ह्यहम् ॥
(श्लोक, 92)

(पूर्वकाल में मैंने एक सींगवाले वराह का रूप धारण करके इस पृथ्वी को पानी से बाहर निकाला और सारे जगत् का आनंद बढ़ाने वाला वह नंदिवर्धन मैं एकशृंग कहलाता हूँ ।)

तथैवासं त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः ।
त्रिककुत् तेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥
(श्लोक, 93)

(इसी प्रकार वाराहरूप धारण करने पर शरीर में तीन ककुद् (ऊँचे स्थान, पुट्ठे) थे । इसलिए शरीर के माप से मैं त्रिककुद् नाम से विख्यात हूँ ।)

महाभारत के मंतव्यों का सार

(1) महाभारतकार कश्यप प्रजापति एवं यास्क से परिचित हैं ।
(2) महाभारत की रचना के पूर्व निरुक्त एवं निरुक्त की रचना के पूर्व निघण्टुक-पदाख्यान का निर्माण हो गया था ।
(3) कश्यप प्रजापति के निघण्टुक-पदाख्यान में उत्तम वृषभ हैं ।
(4) उत्तम वृषभों की जानकारी चित्रकारिता के विना संभव नहीं है ।

(5) पदाख्यान में कुछ ही अक्षरों में लेख पूरे हो जाते हैं। इनमें लंबे लेखों के लिए स्थान नहीं होते। सिंधुमुद्राएँ लघु लेखों से युक्त होने के कारण ये निघण्टुक-पदाख्यान ही हैं।

(6) लेखयुक्त सिन्धुमुद्राओं में उत्तम वृषभों की भी उपलब्धि सहजता से हो जाती है।

(7) सिन्धुमुद्राओं में एकशृंगी पशुओं और ककुद्मान वृषभों को विपुल मात्रा में देखा जा सकता है। त्रिमुख वृषभों में तीन पुट्ठे वाले वृषभों की निष्पत्ति हो रही है।

(8) कश्यप प्रजापति द्वारा संगृहीत (मुद्रांकित) निघण्टुक-पदाख्यान कालक्रम में जमीन के भीतर समा गया। यह स्थिति किसी भयानक बाढ़ या भूकंप के कारण ही संभव है। अब आधुनिक पुरातात्त्विक भी स्वीकार करते हैं कि यह सभ्यता जलप्लावन में ही नष्ट हुई है।

(9) जमीन के भीतर समाये इन पदाख्यानों के पुनरुद्धार के कार्य यास्क द्वारा सम्पन्न हुए थे।

(10) यास्क के निरुक्त के पूर्व निघण्टुक पदाख्यानों को ही निरुक्त के नाम से अभिहित किया गया है।

(11) निघण्टु और निरुक्त अन्योन्याश्रित हैं।

(12) इन सिन्धुसभ्यता-केन्द्रों में अनेक यज्ञ सम्पन्न हुए हैं। यज्ञों का सम्बन्ध अग्नि से है और अग्निदेव आर्यों के प्रमुख देवता हैं।

(13) निघण्टु पदों का आख्यान वर्णमाला के विना संभव नहीं है।

(14) मुद्राओं में प्रयुक्त वृष और वृषाकपि धर्म प्रतिरूपी हैं, जो भाव आज भी भारतीयों में अक्षुण्ण हैं।

इस प्रकार महाभारत के साक्ष्य से यह साफ दिखायी दे रहा है कि यह सभ्यता ऋग्वेदीय सभ्यता का एक अंग है। सिन्धु-सभ्यता में हमें जिस लिपि का साक्षात्कार होता है, वह संसार की सबसे प्राचीन लिपि है। इस स्थिति में सिन्धु सभ्यता को ऋग्वेदीय सभ्यता के अधीन दिखाकर ही भारतीय प्राच्य इतिहास के साथ उचित न्याय किया जा सकता है।

उपलब्ध निघण्टु-कोश की सहायता से सिन्धु-लिपि का परिचय

महाभारतीय उपर्युक्त सूचना के मार्ग से वृष एवं वृषाकपि मुद्राओं में निघण्टुक-पदाख्यान खोज लिये जाने के फलस्वरूप जो लिपिज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे अन्य मुद्राओं में लिखित विषयों की जानकारी सहजता से मिल रही है। अब इस स्थिति में यह प्रश्न है कि यदि महाभारत में दिये गये संकेतों को आधार बनाने से मोहनजोदड़ों एवं हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त मुद्राओं में अंकित भाषा की लिपि प्रकट होती है और इस सत्य का पता चलता है कि महाभारत के रचनाकार वेदव्यास तक इनके पूर्व की कई सहस्राब्दियों पूर्व से चली आ रही संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का प्रवाह अक्षुण्ण था, तो उसे स्वतंत्र भारत में बिल्कुल सही रूप से सामने आना चाहिये, ताकि इस सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक ज्ञान लोगों को मिल सके और व्यर्थ में फैला अज्ञान-भ्रम दूर हो सके।

'सिन्धु-मुद्राओं में वैदिक अनुक्रमणी भी लक्षित'

निघण्टुक-पदाख्यान के अतिरिक्त वैदिक देवताओं एवं ऋषि प्रभृति का विवरण प्रस्तुत करना भी सिन्धु-मुद्राओं का विषय होने के कारण सिन्धुलिपि वाचन के क्रम में यह जान लेना आवश्यक है कि वैदिक ग्रन्थों में निहित विषयों की सूची प्रस्तुतीकरण की ओर अनुक्रमणी ग्रन्थ क्यों प्रवृत्त हुए हैं ?

प्राचीन वैदिक परिपाटी के अनुसार प्रत्येक मन्त्र के सम्बन्ध में ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग एवं अर्थ-ज्ञान आवश्यक माना गया है। इसके अभाव में मंत्र बलहीन हो जाता है।

निश्चय ही वेदों की रक्षा के लिए अनुक्रमणी ग्रन्थों के निर्माण हुए। अनुक्रमणी का अर्थ है सूची। इनमें मंत्रों के देवता, ऋषि, छंद आदि की सूची प्रस्तुत की गई है। प्राचीन अनुक्रमणीकारों के नाम अज्ञात हैं; किन्तु उनके लेख सिन्धुमुद्राओं में सुरक्षित हैं। ज्ञात अनुक्रमणीकारों में शौनक एवं शौनकशिष्य कात्यायन प्रमुख माने जाते हैं।

महाभारत-वाचन के साक्षी आचार्य शौनक ने व्यवस्थित ढंग से जिन अनुक्रमणियों को लिखा था उनका सूत्रपात प्राच्य आचार्यों द्वारा सिन्धु-मुद्राओं में हो गया था। फलतः सिन्धु-मुद्राओं के विषय वैदिक संहिताग्रन्थों तथा ब्राह्मणग्रन्थों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की अनुक्रमणियाँ एवं निघण्टुक-पदाख्यान हैं। (द्रष्टव्य सिन्धुलिपि-वाचन-पत्रक–१)

सिन्धुलिपि-वाचन-पत्रक-1

[शब्दार्थ-बोध के लिये डॉ. लक्ष्मणस्वरूप सम्पादित निघण्टु-निरुक्त-कोश एवं डॉ. रामकुमार राय द्वारा अनूदित वैदिक इण्डेक्स देखें]

1- 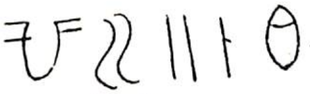 — इन्द्रः
2- 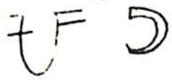 — आपः
3- 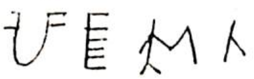 — अजीगर्त
4- 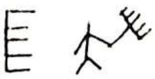 — पिप्रु
5- 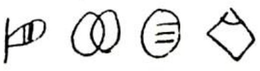 — मृत्युः
6- 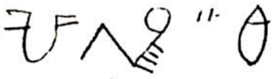 — अग्निः
7- 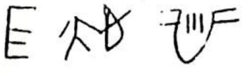 — तुर्वणि (विपरीत क्रम में)
8- 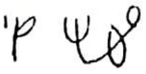 — रेक्णः
9- 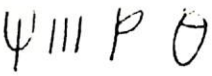 — कर्तः

10-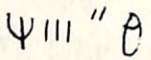 — कातुः

11-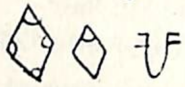 — तितउ

12-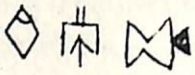 — बभस्ति (वि. क्र.)

13-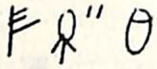 — तृष्वीः

14-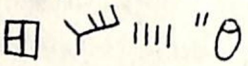 — बर्हणाः

15-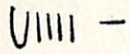 — A number

16-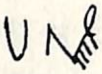 — वग्नु

17-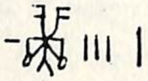 — वृत्र

18-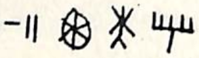 — दधिक्राः

19-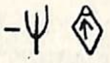 — कुत्स

20-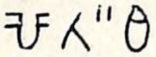 — आताः/अतति

21-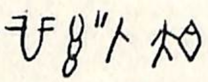 — अहोरात्र

22-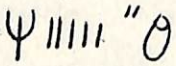 — कपिः

23-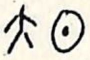 — रथ

24-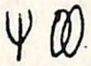 — मोकी (वि. क्र.)

25-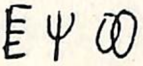 — मोकीपा (वि. क्र.)

26-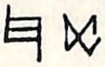 — सोम/साम

27-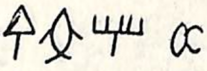 — दश हेम

28-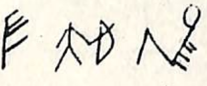 — ग्ना बर्हि (वि. क्र.)

29-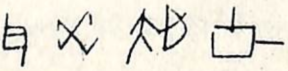 — सामब्रुवः

30-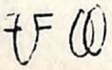 — अमा

31- 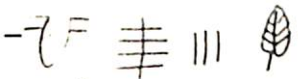 — ऊर्णिताश्व

32- 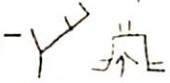 — तृत्सु

33- 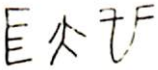 — पूरवः

34- 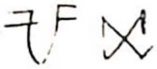 — यम

35- 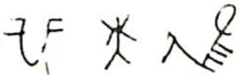 — अर्काग्नि

36- 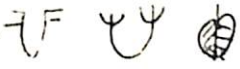 — अघाश्व

37- 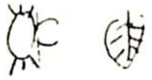 — मखाश्व

38- 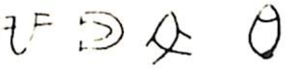 — अप्सः

39- 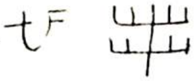 — अहिः

40- 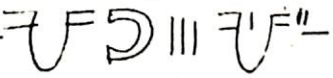 — आप्त्याः

41- 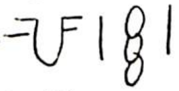 — वराहार

42- 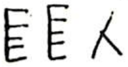 — पद्वत्

43- 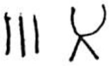 — तुग्व

44- 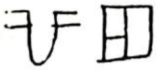 — अर्वा/उर्वी

45- 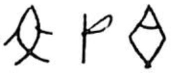 — सरः

46- 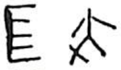 — पुरुः

47- 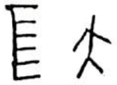 — जीराः

48- 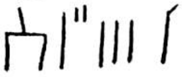 — भरित्रे

49- 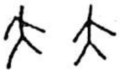 — द्वारः

50- 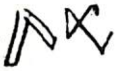 — ग्मा

51- 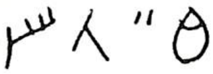 — हेतिः

52- 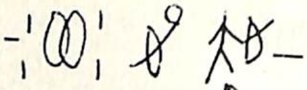 — वृणुमः (वि. क्र.)

53- 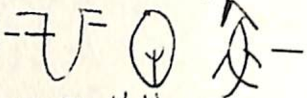 — अक्तुश्री

54- 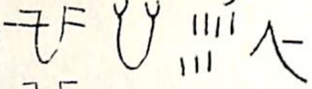 आखण्डल

55- 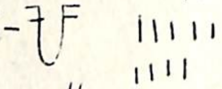 — अप्न

56- 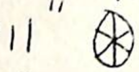 — दोधः

57- 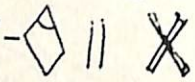 — तोदः (वि. क्र.)

58- 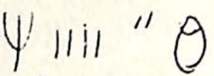 — कणाः/कनति/कणति

59- 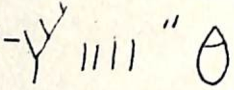 — तूर्णिः

60- 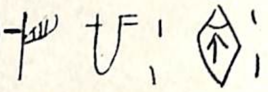 — वृष्टिः

61- 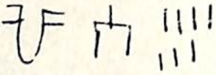 — अभणत्

62- 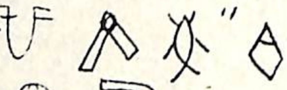 आंगूषाः

63- 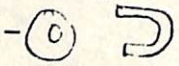 — पाथ (वि. क्र.)

64- 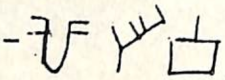 — आहवे

निःसन्देह यह सभ्यता गीता के उदय से कम-से-कम दो हजार वर्ष पुरानी है। इस सभ्यता के अस्तित्व में आने के बाद ही वर्तमान संहिताओं का स्वरूप स्थिर हो पाया। अतः कश्यप प्रजापति के निघण्टुक-पदाख्यान का आधार अविभक्त वेद-संहिताएँ हैं; परन्तु यास्क के समय दस मंडलों में विभक्त ऋग्वेद सामने आ गया था; क्योंकि इन्होंने निरुक्त में 'दाशतयी' शब्द का व्यवहार किया है। श्रीकृष्ण के अन्तरंग अक्रूर द्वारा स्यमन्तक-मणि के धारण करने की बात से भी यास्क परिचित हैं। इस स्थिति में यही कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण और वेदव्यास से सुपरिचित होने पर भी यास्क अवस्था में इन दोनों से बड़े थे। श्रीकृष्ण और वेदव्यास ने महाभारत में अत्यन्त आदर के साथ यास्क का स्मरण किया है।

श्रीमद्भागवत के प्रमाणानुसार वेदों का विभाजन अथवा वर्गीकरण वेदव्यास ने किया है। इसका सीधा तात्पर्य वेदों के लिपिबद्ध करने से है। लिपियों का प्रत्यक्षीकरण सिन्धु-सभ्यता में हो रहा है। अतः निश्चय ही वर्णमालाओं से सम्पन्न यह सभ्यता वेदव्यास से पूर्ववर्ती है।

'पशु-वृक्षादि भाषा-बोध में सहायक'

सिन्धु-मुद्राओं में जहाँ भिन्न-भिन्न पशुओं, वृक्षों या आकृतियों को उभार कर लिपियों को अंकित किया गया है वह अलग-अलग विषयों की एक सुसम्बद्ध सूची है, जिसका उपयोग एक निश्चित वैदिक विषय का विषयान्तर से भेद की प्रतीति के लिये किया गया है।

सिन्धु-मुद्राओं में पशु-पक्षियों और वृक्षादि का चित्रण एक निश्चित भाषा को व्यक्त करने के माध्यम हैं। यह जानकर आश्चर्य होता है कि जल, रस, जिह्वा, वाणी और जलाधिपति वरुण के प्रतीकार्थक व्याघ्र का जीवन-वृक्ष चुराने वाले किसी महान् राक्षस और दैत्य के रूप में इतिहासकारों ने वर्णन किया है। खदिर (कत्था) के वृक्ष को बबूल समझ लिया है और अश्वत्थ, शमी तथा खदिर वृक्षों का अरणिमन्थन में अग्नि के साथ क्या सम्बन्ध है ? इसका संकेतग्रह भी प्राप्त नहीं किया है। यह केवल मैं श्रीविद्याधर महाजन द्वारा लिखित 'प्राचीन भारत का इतिहास' के बारे में ही नहीं कह रहा हूँ; अपितु अन्यान्य इतिहास-ग्रन्थ भी इसी प्रकार की अलीक कल्पनाओं से भरपूर हैं। बस इतना ही समझिये कि वैदिककाल से हमारी यात्रा इतनी दूर की हो गई है कि वाणी और स्तुति के प्रतीकार्थक व्याघ्र को किसी विजातीय संस्कृति का दैत्य और राक्षस समझ बैठे हैं।

वस्तुतः इस सभ्यता के लोग विचारों को प्रकट करने के लिये लिपि के माध्यम की खोज कर रहे थे। किस पशु का कौन-सा प्रतीकार्थ है, यह संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थ में सुरक्षित है। इन चित्रों से सिन्धु-भाषा के वास्तविक स्वरूप को समझने में भारी सहायता मिलती है।

'सिन्धु-लिपि में संख्यावाचक शब्दों से अक्षरनिष्पत्ति एवं अक्षरों से संख्यावाचक शब्दों की निष्पत्ति'

सिन्धु-मुद्राओं में संख्यावाचक शब्दों से अक्षरनिष्पत्ति की गई है। मापतौल में 'रामेजीराम' के द्वारा राम शब्द का उच्चारण आज भी परम्परा में विद्यमान है। यह राम 'एकोऽहम्' के रूप में अर्थ प्रदान कर एक संख्या (रामबोधक एक संख्या) से 'र' की निष्पत्ति की गई है। इसी प्रकार 'द्वि' से 'द'

एवं 'त्रि' से 'त' की निष्पत्ति समझें। चतुरंगिनी सेना की विचारधारा से 'न', पंचम से 'प', षड्ज से 'ज' तथा सप्तम से 'स' की निष्पत्ति की गई है।

खोज के अनुसार एक लकीर से 'र', दो लकीरों से 'द', तीन लकीरों से 'त', चार लकीरों से 'न', पाँच लकीरों से 'प', छः लकीरों से 'ज' और सात लकीरों से 'स' की निष्पत्ति हुई है। आठ और नौ लकीर वाले शब्द साक्षात् संख्यावाचक माने जाने पर प्रकरणानुकूल अर्थबोध प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार यहाँ अक्षरों को भी संख्यावाचक बनाया गया है, जिसका साक्षात् प्रभाव ब्राह्मी पर भी लक्षित है।

'हमें चित्रों से प्राप्त भाषा-बोध से विमुख नहीं होना चाहिये'

इस सुनहली सभ्यता के सम्बन्ध में अब जो स्थिति स्पष्ट हो रही है, उसमें वेदों में मूर्तिकल्पना (रूपकल्पना) तथा ऐतिह्य और भौगोलिक विषयों के अभाव सिद्ध किये जाने के पक्ष में हमारे दुराग्रही होने का परिणाम यह होगा कि चित्र और लिपिमूलक यह वैदिक सभ्यता आगे के बहुत दिनों के लिये पुनः अव्याख्यात रह जायेगी। चित्रों में मूर्तिबोध हमें करना है, यह बात मैं नहीं कहता। पर इसमें भाषाबोध करने में कौन सी आपत्ति है? परमादरणीय महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी निघण्टु-निरुक्त की प्रामाणिकता स्वीकार की है।

कुछ साल पहले सिन्धु-लिपि अध्ययन के सम्बन्ध में डॉ. जी. एस. गई ने विचार प्रकट किया था कि अभी तक इस लिपि की खोज का प्रामाणिक कार्य नहीं हुआ है और हमें आने वाले वर्षों में होने वाली खोजों की प्रतीक्षा करनी है। उनका यह कथन सही था, किन्तु साथ ही उनके द्वारा प्रकट किया गया यह विचार कि हड़प्पा की यह लिपि ऋग्वैदिक संस्कृति से पुरानी है, निर्दोष नहीं है। निःसंदेह ऋग्वैदिक संस्कृति ने ही सिन्धु-सभ्यता को जन्म दिया है।

इसी प्रकार पाश्चात्त्यों के परिकल्पित मूल भारोपीय भाषा को सिन्धु-मुद्रा में उपलब्ध करने की बात कहकर डॉ. एस. आर. राव महोदय ने अपने कार्य के सम्बन्ध में संदेह को अतिरिक्त बढ़ावा दिया है। भारतीय साहित्य का कोई भी अध्येता यह स्वीकार नहीं कर सकता कि जिन मुद्राओं में 'निघण्टुक-पदाख्यान' के शब्द संकलित हों और जहाँ ऋग्वेद से लेकर प्रमुख एकादश उपनिषदों तक के विषयों को चित्रांकित किया गया हो, वह सभ्यता ऋग्वेद सभ्यता को कैसे जन्म दे सकती है?

'प्राग्-वैदिक भाषावाद की कल्पना सर्वथा मिथ्या है'

जिस प्रकार सिन्धु-मुद्राओं में प्राग्द्रविड-भाषा को उपलब्ध करना मृगमरीचिका है, उसी प्रकार इनमें प्राग्वैदिक भाषा का अस्तित्व मानना भी भ्रमजनित ही है। कारण प्राग्वैदिक भाषा अपने आप में एक काल्पनिक भाषा है जबकि सिन्धु-भाषा हमारे सामने प्रत्यक्ष है।

भारतीय चिन्तक इस बात से परिचित हो चुके हैं कि भाषाविज्ञान में मूल-भारोपीय भाषा सम्बन्धी मान्यताओं का निरूपण एक औपनिवेशिक संस्कृति की रक्षा के लिये हुआ था और उसी के अन्तर्गत एक इण्डो-यूरोपीय मूल भाषा की कल्पना की गई थी। यह कल्पना इस पूर्वाग्रह को पृष्ठभूमि में रखकर की गई कि आज इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के बीच जो परस्पर प्रभाव और

समानताएँ दिखाई देती हैं, इसका कारण यही हो सकता है कि ये सब भाषाएँ एक ही मूल-भाषा की शाखाओं या उसकी टहनियों के रूप में विकसित हुई हों और यह मूलभाषा भारत में पैदा हुई हो, यह हो नहीं सकता, अतः भारत में मूल भाषा को बोलने वाले लोगों की एक शाखा कहीं बाहर से आयी होगी । इसके द्वारा यह साबित करना था कि भारत हमेशा ही एक विजित देश रहा है और उसकी संस्कृति एवं सामाजिक जीवन वही है, जो उसको विजित करने वाले लोगों की देन है । भाषाविज्ञान के लिये इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत प्राचीनकाल से अब तक भाषातत्त्वों का आयात-केन्द्र रहा है, न कि निर्यात-केन्द्र । कैसा सुनियोजित है यह दुरभिसन्धि ? अपौरुषेय वेदवाणी की बात करने वाले भारत को भाषातत्त्वों का आयातक माना जाता है ? किमाश्चर्यमतः परम् ।

अब इसके आगे सिन्धु भाषा में मूल-भारोपीय भाषा की बात करने वाले डॉ. शिकारीपुर आर. राव महोदय की उक्ति केवल इतनी सी चतुराई से भरी है कि पाश्चात्त्यों द्वारा उद्भावित मूल-भारोपीय भाषा यही है जो सिन्धु सभ्यता में प्राप्त हो रही है । डॉ. राव के अनुसार इसका निष्कर्ष यह हुआ कि भारत भाषातत्त्वों का निर्यात-केन्द्र भी है । पहली झलक में यह बात लोगों को अवश्य ही लुभावनी प्रतीत होगी, पर भाषातत्त्व-विचारकों के लिए यह संतोषप्रद नहीं है । डॉ. राव महोदय का यह भ्रम सिन्धु-मुद्राओं को केवल दायीं से बायीं ओर पढ़ने के कारण है । इनके लिपिवाचन को शुद्धता तक पहुँचने में अभी भी विभ्रमित मार्ग की बाधा बनी हुई है । इनके द्वारा पढ़े गये कुछ निरर्थक शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं, यथा–

(1) इन्द्रः के स्थान पर "परद्वन्ना" ।
(2) अंपः अथवा आपः के स्थान पर "प्प" ।
(3) रथः के स्थान पर "प्र" ।
(4) मोकी के स्थान पर "प्पक" ।
(5) मोकीपा के स्थान पर "प्पकहा" ।
(6) दाशाः के स्थान पर "प'शद" ।
(7) अग्निः के स्थान पर "फगा" ।
(8) साम अथवा सोम के स्थान पर "महा" ।
(9) ग्नाबर्हिः के स्थान पर "फगद्रह" ।
(10) सामब्रुवः अथवा सोमब्रुवः के स्थान पर "भद्रामहा" ।
(11) रेक्णः के स्थान पर "प्पकर" ।
(12) मृत्युः अथवा मर्त्याः के स्थान पर "प'प्पर" ।
(13) उर्णिताश्वः के स्थान पर "अश्वसत्र" ।
(14) कर्तः के स्थान पर "प्रात्रक" इत्यादि निरर्थक शब्दों के होने की बात करना भ्रमजनित ही है । तब इतना है कि डॉ. राव वैदिक परिवेश के आस-पास चक्कर काट रहे हैं और वह समय दूर

नहीं जब वे सिन्धु-मुद्राओं में वैदिक शब्दों को प्रत्यक्ष देखकर सिन्धु भाषा के सम्बन्ध में भारोपीय मूल भाषा की कल्पना का निश्चय ही परित्याग कर देंगे।

सिन्धु-लिपि की व्याकरणगत विशेषता

(1) सिन्धु भाषा के कुल उच्चरित वर्ण–48, यथा–

स्वर–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ	(13)
अयोगवाह–अं, अः	(2)
व्यंजन–क से म तक स्पर्श-वर्ण	(25)
य व र ल अन्तःस्थ-वर्ण	(4)
श ष स ह ऊष्म-वर्ण	(4)
	कुल 48

(2) सिन्धु-लिपि के कुल ध्वनि-चिह्न–72

ओंकार		1
स्वर	3	3
अयोगवाह	2	2
स्पर्श	25+25=50	
अन्तःस्थ	4+4 =8	
ऊष्म	4+ 4=8	
	66	66
		कुल 72

(3) वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले सभी संयुक्ताक्षरों के प्रयोग यहाँ विद्यमान हैं।

(4) संख्यावाचक शब्दों से अक्षर निष्पत्ति–
। से र; ॥ से द; ||| से त; |||| से न, ण; ||||| से प; |||||| से ज; ||||||| से स; |||||||| से अष्ट; ||||||||| से नव।

इन विभिन्न लकीरों के मिश्रण से विभिन्न प्रकार के संयुक्त वर्ण बनाये गये हैं। अतः सिन्धु-लिपि में दो प्रकार से संयुक्त वर्ण बनाये गये हैं। यथा–

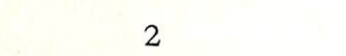 अहिर्बुध्न्य में र, ब और ध, न, य के संयोग।

एवं 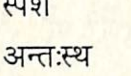 शान्त, शान्ता, शान्ति और शुण्ड में न, त और ण, ड के संयोग।

(5) अक्षर-निष्पत्ति एवं धातु-निष्पत्ति में कुछ प्रसिद्ध जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों और प्राकृतिक वस्तुओं के सहयोग लिये गये हैं। यथा–

(I) 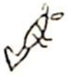	वृश्चिक से वृस
(II) 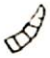	विषाण से विस्
(III) 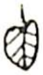	अश्वत्थ से अश्व, श्व
(IV) 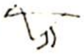	शकुनि या शकुन्त से शक्
(V) 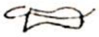	श्वान से श्वा
(VI) 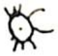	मक्षिका से मख
(VII) 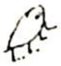	हनूमान् से हन्
(VIII) 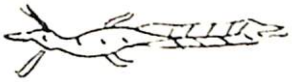	नक्र से नक्
(IX) 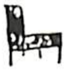	आसन्दी से आशन, अशन
(X) 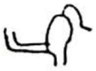	वक से वाक्, वाच्
(XI) 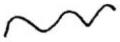	सर्प से सर्प
(XII) 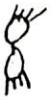	चक्षु से क्ष, क्षु
(XIII) 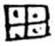	अक्ष से क्ष,
(XIV) 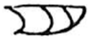	छादन से छ
(XV) 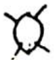	कच्छप से छ, च्छ

(6) अक्षरों की आवृत्ति के आधार पर संख्यावाचक शब्दों की स्वयं ऊह्य किये जाने की प्रवृत्ति यहाँ लक्षित है। यथा–'ण' की तीन आवृत्ति से 'त्राण', क की चार आवृत्ति से 'चतुष्क' इत्यादि कुछ संकलन यहाँ प्रस्तुत हैं–

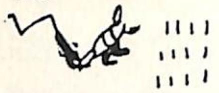	– वृष्णि त्राण (ण की तीन आवृत्तियाँ)
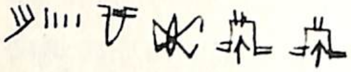	– तूर्ण तुम्ये द्वेऽस्ते (स्त की दो आवृत्तियाँ)
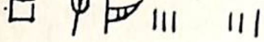	– बकुरः/बेकुरः द्वित (त की दो आवृत्तियाँ)
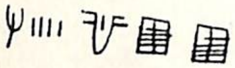	– कन्या द्विवर्णा (वर्ण शब्द की दो आवृत्तियाँ)
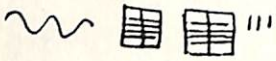	– सर्प द्विवर्णात् (वर्ण शब्द की दो आवृत्तियाँ)
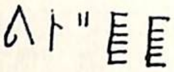	– कीरिः द्विजः (ज की दो आवृत्तियाँ)
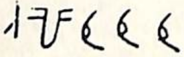	– तव तृपुः (पु की तीन आवृत्तियाँ)
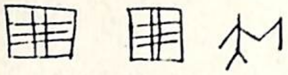	– द्विवीतदर्ग् (वीतदा की दो आवृत्तियाँ)
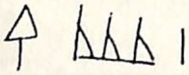	– दातृतरः (त की तीन आवृत्तियाँ)
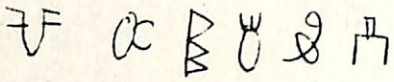	– 'अमा त्रिगव्य निभा (ग की तीन आवृत्तियाँ) तीन गव्यों के मिश्रण के समान यह घर है ('जहाँ बालक, जवान और बूढ़े समान भाव से रहते हैं')
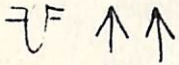	– अद्विषः (ष की दो आवृत्तियाँ)
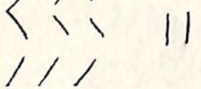	– त्रिताद (त्रित+अद) (त की तीन आवृत्तियाँ)
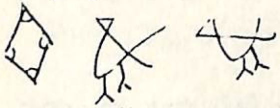	– द्विशक्ति (शक् की दो आवृत्तियाँ)
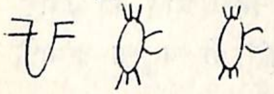	– आद्विमखः (मख की दो आवृत्तियाँ)
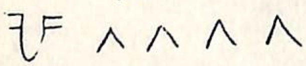	– चतुस्रः गावः (ग की चार आवृत्तियाँ)
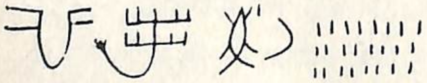	– अह्नशापाः त्र्यष्टौ (अष्ट की तीन आवृत्तियाँ)

'सिन्धु-लिपि की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ'

(I) ह्रस्व स्वर से भिन्न स्वर वाले व्यंजन एवं हलन्त (स्वरविहीन) व्यंजन को बताने के लिये व्यंजन को द्वित्व करने की प्रवृत्ति यहाँ पायी जाती है। यथा आपः और आप् दोनों के लिये

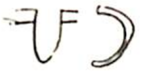 के प को द्वित्व कर दिया गया है। ग्मा के लिये ग को द्वित्व कर दिया गया

है– 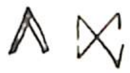 मोकी अथवा माकिः के लिये म् को द्वित्व किया गया है– 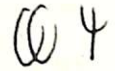

(II) स्वर से परे संयुक्त व्यंजन के आदि अक्षर को द्वित्व किये जाने का नियम ऋक्-प्रातिशाख्य में विद्यमान है; किन्तु सिन्धु-लेखकारों ने आदि अक्षर को द्वित्व किये जाने के बजाय अव्यवहित अन्य व्यंजन को द्वित्व किया है। यथा–'अग्नि' शब्द में ग् को द्वित्व नहीं करके 'न' को द्वित्व

किया है। देखें 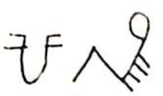 यहाँ 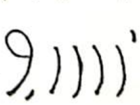 दोनों चिह्न न के लिये निर्धारित हैं। अद्म अथवा अद्मा में नियमतः 'द' को द्वित्व होना चाहिये पर यहाँ 'म्' को द्वित्व किया

गया है। देखें 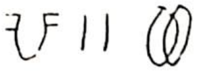 अहिर्बुध्न में ब् को द्वित्व किया जाना नियमानुकूल

है 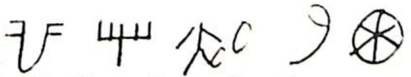 इत्यादि। इन विशेष बातों से यह प्रमाणित होता है कि ये सिन्धु-लेख शौनकीय ऋक्-प्रातिशाख्य की रचना से पहले लिखे गये हैं।

(III) संस्कृत भाषा के शब्दसमूह नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में फैले हैं। इन चारों में से नाम एवं आख्यात यानी सुबन्त एवं तिङन्त के क्षेत्र बहुत विस्तृत हैं। सिन्धु भाषा में सुबन्त एवं तिङन्त के प्रारंभिक प्रत्यय सु (:) एवं ति और ते के लिये एक ही ध्वनिचिह्न का

प्रयोग किया है। यथा 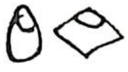 चिह्नों से प्रकरण और अर्थ के अनुसार इन्हें विसर्ग या ति या ते पढ़ना होगा, देखें–

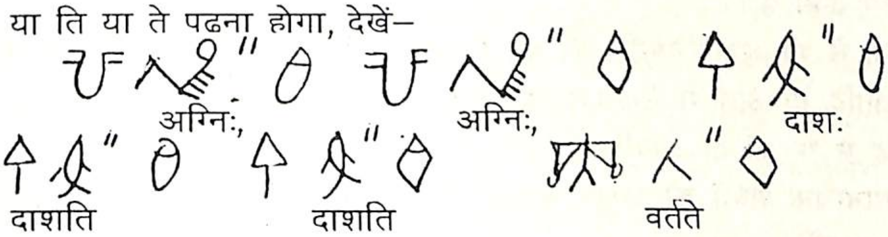

(IV) सिन्धु-मुद्राओं में कुछ ऐसे भी मिश्रित वर्णों के प्रयोग हैं जिनसे शब्दों के बोध होते हैं, यथा–

(क) 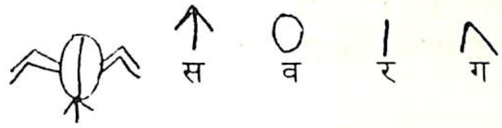 के संयोग से "स्वर्ग"

(ख) 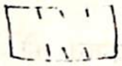 त् व के संयोग से "त्वः"

(ग) 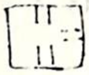 "त्रिदेवः" "त्रिदिव" "त्रिद्व"

(घ) 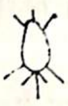 "स्वर्काः" 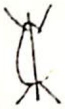 –"स्वर्का"

(ङ) 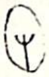 कः

(च) 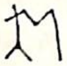 ऋग् (ऋग्वेदीय मंत्र)

(छ) 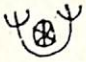 धुक् ।

(V) सिन्धु-मुद्राओं में स्वररहित (हलन्त) व्यंजनों तथा दीर्घ गुण और वृद्धि स्वरयुक्त व्यंजनों के अलग ध्वनिचिह्न एवं ह्रस्व स्वरयुक्त व्यंजनों के लिये अलग ध्वनिचिह्न प्रयुक्त हुए हैं ।

(VI) मुद्राओं में प्रणव यानि ओंकार के स्वतन्त्र ध्वनिचिह्न का प्रयोग हुआ है ।

'उपर्युक्त विशेषताओं का सार'

(1) यहाँ के अक्षर-लेखन वैदिक संस्कृत पर आधारित पूर्णतः ध्वनिमूलक हैं । प्रस्तार विधि से युक्त इस लिपि में ह्रस्व, दीर्घ, गुण और वृद्धि स्वरों के पहचान की एक स्वतन्त्र विधि अपनायी गई है ।

(2) इसमें सभी व्यंजन वर्ण, उनके प्रस्तार तथा संयुक्त वर्ण विद्यमान हैं; परन्तु स्वर वर्णों का अभाव है । इसमें केवल तीन ही स्वर वर्ण हैं । इनमें 'ऋ', 'लृ' बोधक वर्ण को अलग करने पर शब्दों के प्रारम्भ में केवल एक ही अक्षर से सभी अक्षरों को पहचानने की विधि अपनाई गई है । कभी-कभी यह अक्षर य और व का भी काम करता है । वर्णों पर स्वरों के आरोपण सार्थकता हेतु स्वयं ऊह्य हैं ।

(3) संख्यावाचक शब्दों से भी अक्षरनिष्पत्ति की गई है और प्रयोगानुसार एक ही अक्षर की अनेक आवृत्तियाँ कर आदि या अंत में संख्यावाचक शब्द स्वयं ऊह्य हैं । यथा-द्विज में 'ज' की दो आवृतियाँ एवं पैद्व में 'प' की दो आवृत्तियाँ ।

(4) जिस प्रकार संख्यावाचक शब्दों को अक्षर बनाया गया है, उसी प्रकार अक्षरों को संख्यावाचक शब्द भी बनाया गया है ।

(5) स्थावर या जंगम के प्रचलित वैदिक शब्दों के प्रारम्भ के एक या दो वर्णों को ध्वनिसाम्य के आधार पर ग्रहण कर अक्षर-निष्पत्ति एवं धातु-निष्पत्ति की गई है ।

सिन्धु-लिपि की उपर्युक्त विशेषता पूर्ण वैज्ञानिक ब्राह्मी लिपि के प्रकट होने के बहुत पूर्व की घटना है ।

'सिन्धु-मुद्राओं की भाषागत विशेषता'

(1) सिन्धु-मुद्राओं की भाषा वैदिक भाषा के स्वरूप को प्रकट करती है।

(2) मार्शल, मैके और वत्स के संकलन की अधिकांश मुद्राएँ बायीं से दायीं ओर छपी हैं। कुछ मुद्राएँ दायीं से बायीं ओर भी छपी हैं और कुछ मुद्राएँ दोनों ओर से छपी हैं। मैंने छपाई के अनुसार ही वाचन किया है।

(3) मुद्राओं में वैदिक मंत्रों के भावों एवं सांख्ययोग-सिद्धान्तों का प्रचुर समावेश है। पंच महाभूत विज्ञान की यहाँ चित्रमय अभिव्यक्ति हुई है।

(4) सिन्धु-सभ्यतावासियों ने अपने से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य के ज्ञान की सुरक्षा की है।

सिन्धु-लिपि की देन

सिन्धु-लिपि वह मूल भारतीय लिपि है, जिसने केवल भारतीय लिपियों को ही नहीं अपितु पश्चिम एशिया एवं यूरोप की भाषाओं की अभिव्यक्ति में भी सहायता पहुँचायी है।

'मेरे मुद्राध्ययन के आधार'

मेरे मुद्राध्ययन के मूल आधार मार्शल, मैके, वत्स, हंटर एवं प्राणनाथ द्वारा प्रस्तुत सामग्रियाँ हैं। मैंने अक्षरों के ध्वन्यंकन में ब्राह्मी, सेमेटिक एवं प्राचीन भारतीय लिपियों की सहायता ली है। सहायक लिपियों की जानकारी ओझा जी के ग्रन्थ से प्राप्त हुई है।

उपसंहार

सिन्धु सभ्यता के आधुनिक विवेचकगण अभी भी आशा की दृष्टि से सिन्धु-लिपि में प्राग्द्रविड भाषा अथवा प्राग्वैदिक भाषा के छिपे होने की चर्चा करते हैं, जबकि तथ्य यह है कि वर्णमाला-रहित वैदिककाल का वर्णमालासम्पन्न वैदिककाल ही सिन्धु सभ्यता है। अतः वैदिककाल के एक अंग के रूप में ही इस सभ्यता का लेखा-जोखा होना चाहिए; क्योंकि इस सुपरिचित वैदिक मार्ग के अतिरिक्त इसके विवेचन के सभी मार्ग अवरुद्ध हैं।

अनेक बार प्राकृतिक विनाशलीला के थपेड़ों को झेलनेवाली यह सभ्यता कितनी पुरानी है, हमारी कार्बन-14 पद्धति की अयोग्यता यह बताने में असमर्थ है। यास्क केवल इस विनाशलीला एवं विनाशलीला वाले स्थान इन दो बातों से परिचित हैं, जबकि महाभारतकार विनाशलीला, विनाशलीला वाले स्थान, महर्षि यास्क, भूमि में समा गये निघण्टुक-पदाख्यान का यास्क द्वारा उद्धार कार्य और इन पदों को आधार मानकर इस पर उनके द्वारा निरुक्त-लेखन कार्य, इन पाँच बातों से परिचित हैं।

पाश्चात्त्य और भारतीय समीक्षकों ने इस सभ्यता में पशु-चित्रों की बहुलता देख वहाँ की पशु-पूजकता की प्रवृत्ति का खूब बखान किया, पर उन्होंने इन पशुओं को लिपि के साथ संबद्ध करने का सामान्य प्रयास भी नहीं किया। वेदों पर लेखनी चलाने वाले पश्चिमी टीकाकारों के हाथ में इंद्र

'रँभानेवाला साँड़' बन गया है, पर खेद है कि उन्हें सिन्धु-मुद्राओं में वृषभरूपी इन्द्र का साक्षात्कार न हो सका।

ऐसा लगता है कि ईसा-पूर्व पाँच हजार के ऋषिप्रज्ञा के मुद्रालिखित विज्ञान-चिंतन ने बीसवीं शताब्दी के समर्थ विज्ञान-चिंतन को बौना बनाने के लिए ही अपने स्वरूप को छिपाकर रखा था और अपने स्वरूप-प्रदर्शन के एक ही झटके में इस भारतीय उपमहाद्वीप के भ्रामक इतिहासों और आधुनिक भाषा-विज्ञान पर आधारित झूठी मान्यताओं को मानो हवा में उड़ा दिया है।

●

भारतीय विद्या

पं. विश्वनाथ शास्त्री दातार

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

इस विद्यास्तुति में विद्या के अनेक साध्यों का उल्लेख है, जिनको ध्यान देने पर भारतीय विद्याओं की अनुपम विशेषताएँ ज्ञात होती हैं । विद्या से प्रयुक्त प्रमेयसिद्धि, संघटन, स्थायी प्रीति आदि का विवेचन प्रस्तुत विचार का विषय है–

मातेव रक्षति

माता अपने औरस पुत्र के प्रति सहज स्नेहमयी होती है । उसको दुलारती है और आहारादि द्वारा पालन-पोषण करती है । फलतः पुत्र भी अपनी सुरक्षा-चिन्ता से मुक्त रहता है । ऐसे निष्कपट वात्सल्य में प्रकृति भी शरीर के भीतर से दूध को स्पन्दित कराती है और उसके माध्यम से बच्चे को दूध पिलाकर विश्राम लेती है । इसके उदाहरण के रूप में प्रद्युम्नचरित को लिया जा सकता है । कुमार प्रद्युम्न ११ वर्ष के बाद अपनी भार्या मायावती के साथ शंबर को मारकर आकाशमार्ग से जब श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में प्रकट हुए, तब उनको देखकर माता रुक्मिणी के हृदय में ऐसा स्नेह उमड़ा कि उनके स्तनों से दूध बाहर बह निकला–

अथ तत्रानवद्याङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ।
अस्मरत् स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ॥

–भा. 10/55/30

उसी प्रकार विद्योपासक यदि भारतीय विद्याओं का प्रेमपात्र है, विनीत एवं शुचि है, तो वह सदा घृतकुल्या, मधुकुल्या और पयःकुल्या में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है; क्योंकि ये कुल्यायें भारतीय विद्याओं की आन्तरिक स्नेह हैं । जिसकी झलक श्रीकृष्ण द्वारा विप्र को सुनाये वचनों में दिखाई देती है–

सन्तुष्टो यद्धि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ।
अहीयमानः स्वाद् धर्मात् सह्यस्याखिलकामधुक् ॥

–भा. 10

यह भी ज्ञातव्य है कि यदि पुत्र के अविनय या किसी और कारण से माता शोक या क्रोध से आक्रान्त हो जाती है तो उसके दूध के अन्तःस्रोत स्वयं सूख जाते हैं, उसी प्रकार यदि विद्योपासक आलस्य, प्रमाद, अशुचिता से आक्रान्त होता है तो भारतीय विद्या रुष्ट और स्नेहशून्य हो जाती है, फलतः उसके अन्तःस्त्रोतकृत कुल्यादि का प्रवाह भी अवरुद्ध हो जाता है–

अलसस्याल्पतोषस्य निर्विद्यस्याकृतात्मनः।
प्रदानकाले भवति मातापि हि पराङ्मुखी ॥

–नीतिसार ,5

'रक्षति' कहकर विद्योपासक को यह समझाया गया है कि उसे सदा अपने को बालक के समान मानकर जीवन के लिए सङ्घर्ष नहीं करना है और न असत्य, प्रतारणा आदि का आश्रय लेना है।

पितेव हिते नियुङ्क्ते

पुत्र का हित जिस प्रकार हो सकता है उसी ओर कार्य करने के लिए पिता की प्रेरणा पुत्र के लिए बनी रहती है। यदि पुत्र तात्कालिक श्रम को सहन करके उस प्रेरणा को पूर्ण करता है तो पुत्र को हित की प्राप्ति अवश्य होती है। उसी प्रकार विद्याएँ भी अपने अजीवी को अपने क्षेत्र के माध्यम से हितसाधक मार्ग प्रशस्त करने में कठोर शासन करती हैं, जिसके पीछे भूरिपरिश्रम निगूढ़ होता है। इसका संकेत आचार्य कौटिल्य ने "विनयं विद्योपदेशेन" से किया है। तथा नीतिसार में भी "विद्याविनीतो नृपतिर्न कृच्छ्रेष्ववसीदति" से इसी तथ्य को दर्शाया गया है।

नीतिसार टीका में विद्याओं द्वारा प्राप्त नियोग का परिणाम समझाते हुए "स्थैर्यप्रतिपत्तिः असम्मोहावियोगात्" कहा है। 'नियुङ्क्ते' पद का आशय यह है कि विद्याओं को आदि से अन्त तक परिश्रमपूर्वक पढ़ा जाय, उनमें कहे गये विधिनिषेध को जाना जाय, जीवन में कर्तव्यतया समझे जाने वाले प्रतिकर्म के गुण व दोष को समझकर उनकी उपादेयता या हेयता पर ध्यान दिया जाय, तभी जीवन-क्रम का सुधार होगा। वही इन्द्रिय-जय है।

'नियोग' विधि निषेधात्मक होता है। विधि से वस्तु की उपादेयता व निषेध से त्याज्यता समझी जाती है। यह उपादेयता और त्याज्यता कालविशेष से परिच्छिन्न न होकर सार्वकालिक होती है। अतः प्रत्येक विद्योपासक के लिए उन-उन विद्याओं में उपदिष्ट अर्थ प्रेरक होते हैं, इसलिए विद्या निर्माल्य नहीं होती। इस तथ्य को तुलसीदास जी ने "भले उपोच सब विधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद विलगाये" में कहा है।

इस प्रकार 'रक्षति' में माता की उपमा देकर विद्या को सुहृद् तथा 'नियङ्क्ते' में पिता की उपमा देकर 'शासक' बताया गया है। उसी भाव को मानकर विद्या की उपासना करने का संकेत है।

ध्यातव्य है कि शासकत्व और सुहृत्त्व को सुनकर जिज्ञासु जिन-जिन विद्याओं को अपना गुरु समझेंगे उन विद्याओं को आन्वीक्षिकी के कौशल से ज्ञात करना होगा। अन्यथा सुहृत्त्व व शासकत्व में दोष समझ में आयेगा तो बहुकालपर्यन्त एकाग्र होकर किया गया श्रम व्यर्थ होगा। जिन विद्याओं को बलवत्तर रूप में किसी का प्रभुत्व प्राप्त नहीं है, उनके प्रति प्रामाणिकता सन्दिग्ध होने से जिज्ञासु

का उन विद्याओं के प्रति उदासीन होना सङ्गत है। अतः जिनको आदेष्टृत्व व सुहृत्त्व की योग्यता प्राप्त करनी है उन्हें अपने में देशतः, कालतः, विपत्तितः, कारणतः निष्फलता को भटकने नहीं देना है—ऐसा सोचकर विद्याओं ने प्रमाणत्व को व्याप्यवृत्ति बनाने के लिए प्रमाण के बल की अपेक्षा की है। वह प्रमाण एकमात्र वेद है। इसी विषय को समझाने के लिए गोस्वामी जी ने श्रीरामचरित्र को चित्रित किया है, जिसका आरम्भ बिन्दु 'पितुवचन, प्रमाण' प्रयुक्त वनवासोत्साह है। उसकी पूर्णता लङ्काकाण्ड में वर्णित है—

जौं जनतौं वन बन्धु विछोहू।
पिता वचन मनितेहु नहि ओहू॥

अभिप्राय यह है कि पितृवचन को प्रमाण मानकर जब श्रीराम ने वनवास स्वीकार किया तब उन्हें वचन की सफलता गंगा जी के द्वारा प्राप्त आशीर्वाद से समझ में आई। मेघनाद की शक्ति से आहत लक्ष्मण जी के लिए संजीवनी औषधि को लाने गये हुए हनुमान् जी यदि सूर्योदय के पूर्व नहीं पहुँचेंगे तो लक्ष्मण का जीवन नहीं रहेगा, तब पिता व गंगा के वचन प्रमाण नहीं होंगे, जो कि इष्ट नहीं है। हनुमान् जी के समय पर पहुँच जाने पर शास्त्र का प्रामाण्य स्थिर रहा। इसलिए मनीषियों ने विद्याओं के सुहृत्त्व और आदेष्टृत्व की यथार्थता की गवेषणा की और विद्या को पुष्ट बल देने वाले वेदों की प्रामाणिकता मीमांसा के आरम्भिक तर्कपाद में की है। जब विद्वान् समीक्षकों को तर्क से वेदों की स्वतन्त्र प्रामाणिकता (=अनधिगत-अबाधित अर्थबोधकता) समझ में आई, तब महान् वेदराशि में विद्यमान विधि, अर्थवाद, नामधेय, स्तोभ आदि की सार्थकता ज्ञात हुई। वेदों के बल को पाकर भारत की समस्त विद्याएँ अपनी प्रामाणिकता, सुहृत्त्व, आदेष्टृत्व को प्रकाशित करने में सक्षम हो सकीं और अपने अन्तर्गत रखे गये एक-एक तत्त्वों को सुदृढ़ बनाने में शाखा-प्रशाखा के समान अङ्ग-उपाङ्ग के रूप में विकसित हुईं।

वेदों का प्रामाण्य इतने ऊँचे शिखर पर चढ़ा कि भारतीयों ने प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य कह दिया। इसलिए वैदिक वाङ्मय में कहीं भी अप्रामाण्य शङ्का को अवकाश नहीं रहा। कतिपय आचार्यों ने तो वैदिक वाङ्मय से अतिरिक्त वचनों में अनधिगतबोधकत्व न होने से उसको परिष्कृत प्रमाण से बाहर रहने का निर्णय सुनाया है। जिन मनीषियों की पहुँच वेदों की प्रमाणमूर्धन्यता पर नहीं है वे सर्वत्र प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य कहते ही नहीं; क्योंकि वे सर्वत्र सशंक हैं। वे लोग सर्वत्र अप्रामाण्य को ही स्वतोग्राह्य कहते हैं। फलतः वैदिकों के अतिरिक्त विद्वानों के मत में कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण सीमा निश्चित न होने से उसके प्रति पनपे हुए वाद-विवाद समाप्त होते ही नहीं। इसलिए कुछ विद्वानों ने एक निर्णय न होना देखकर प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को परतोग्राह्य कहा है।

प्रमाण को स्वतोग्राह्य कहने वाले विद्योपदिष्ट मार्ग को अपनाकर समाधानपूर्वक जो भी उपासना करते हैं उसके प्रति स्वतोग्राह्यवादी को आत्मत्राण का अनुभव होता रहता है। यह अनुभव यहीं तक सीमित नहीं रहता; अपितु वैदिक वाङ्मय के प्रति श्रद्धा व प्रामाण्य को समझने वाली अग्रिम

परम्परा भी शान्ति का अनुभव करती है और भारतीय विद्या के सुहृत्त्व और आदेष्टृत्व को निःसंकोच स्वीकार करती है। इसका दिग्दर्शन–

"तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः।
मनः कृष्णे समाधाय प्राविशद् गन्धमादनम्" ॥ (भा. 10/52/3)

में किया गया है। वेदों ने अपने सुहृत्त्व और आदेष्टृत्व के बारे में कहा–"यस्तत्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भावोऽस्ति, यदीं शृणोति। अलकं शृणोति। एष आदेशः, एष उपदेशः"।

यह सुहृत्त्व और आदेष्टृत्व अपने पर लेती हुई विद्या अपने उपासकों को सचेत करती हुई यह भी समझाती है कि विद्या में अन्तर्निहित सारभूत तेजस्विता को बचाने के लिए विनय, वृद्धसेवा आदि गुणपालन के प्रति सावधानी रखनी होगी। जैसे "निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यो ज्ञेयश्च"। इसके अतिरिक्त जीवन की पवित्रता भी रखनी होगी। जैसे–उञ्छवृत्ति, शिलवृत्ति, अयाचितवृत्ति, अदैन्य आदि। ऐसा होने पर "विद्या वै ब्राह्मणमाजगाम शेवधिष्टेऽहमस्मि, असूयकायानृजवेऽयनाय न मा ब्रूया अवीर्यवती तथा स्याम्"–यह वचन सुफल होकर विश्राम लेगा।

भागवत (10/7/13) में भी–

"येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः।
न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफला कृताः" ॥

कहकर ईर्ष्या आदि कुपथ्यों से विरत रहने की सूचना दी है।

उपर्युक्त पथ्यापथ्य के कड़े प्रबन्ध से प्राप्त विद्या का फल शरीर-शोभा के अतिरिक्त नीति में कहे गये धर्मार्थकामसुखरूप श्री की प्राप्ति है–

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणपराक्रमः स नयापावितसिद्धिभूषणः॥

कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्

भारतीय विद्या की यथावत् सेवा से प्राप्त होने वाले रमणसुख दो प्रकार के हैं, एक ऐहिक, दूसरा निःश्रेयस्। निःश्रेयस् ही अमृत है। उसका भोग विद्या से अविद्या को दूर करने के बाद ही प्राप्त है। जैसा कि "विद्यामृतमश्नुते" से स्फुट है। ऐहिक सुख विद्या से कीर्ति को अभिमत से कर्तव्यताक अनुष्ठान पर्यवसायी शास्त्रार्थ से होने वाला हर्षात्मक है, उसकी अनुभूति में मनस् का प्रसाद परिलक्षित होता है, जिसको वैशेषिक भाष्य में विद्या-शम-सन्तोष-निमित्तक कहा गया है। उसी को "कान्तेव रमयति" से ध्वनित किया गया है। 'अपनीय खेदम्' की चरितार्थता उस रमणसुख में समझनी चाहिए, जो कान्तारमण-सुखसधर्मा है।

पहले कहे गये सुहृत्त्व और उपदेष्टृत्व की पूर्णता विद्याओं में तभी होगी जब उनमें सर्वाङ्गोपसंहार वर्णित हो। उसको यथार्थ रूप में उपदेशतः और अतिदेशतः समझने पर किसी भी कार्य को सम्पन्न करने में अपेक्षित कारण कलाप के प्रति मोह का न होना ही 'अपनीय खेद' है। यदि मोह नहीं है तो क्लेश नहीं होगा। यही रमणसुखात्मक हर्ष है।

जो लोग खेदापनयनपूर्वक रमण, रक्षण तथा विधिप्राप्त आदेशरूप प्रवर्तना को समझकर उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, वे स्थायी त्रिवर्गसुखात्मक पुरुषार्थ से अपने की वञ्चित करते हैं । ऐसी विचारधारा के लोग अधम हैं, जिनके लिए "प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः" उक्ति कही गई है । मध्यम उक्त अधमों से अपना स्थान ऊँचा रखते हैं । वे विद्याओं के द्वारा रमण, रक्षण की प्राप्ति सोचकर कार्यारम्भ करते हैं; परन्तु उपस्थित विघ्नों से पीड़ित हो विद्याओं के प्रति रही आस्था को भूल जाते हैं और कार्य का त्याग कर देते हैं–"प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः" । उत्तम जन विद्याओं के कथनानुसार दैव की अनुकूलता, पुरुषार्थ गुण सहायक समझकर ही उपदेश का पालन करते हुए विघ्नों के द्वारा पीड़ित होने पर भी पुरुषार्थ और दैवानुकूलता को सोचकर आरब्ध कार्य को पूरा करते हैं । जैसा कि "विघ्नैः पुनः-पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य उत्तमजना न परित्यजन्ति" कहा गया है ।

यद्यपि इतिहास में ऐसे सेवक भी प्रसिद्ध हैं जो भारतीय विद्याओं के द्वारा कार्य के सर्वाङ्गोपसंहार को समझकर प्रारंभ करने पर भी उद्दिष्ट फल को प्राप्त नहीं कर पाये । इस अन्वय-व्यभिचार से विद्याओं में अप्रामाण्य सावकाश है । इस सम्बन्ध में गङ्गावतरण से सम्बद्ध ऐतिहासिक चरित्र विचारणीय हैं–

महर्षि कपिल के प्रति किये अपराध से राजा सगर के पुत्रों का संहार हो गया । तब सगर के पौत्र कपिल के आश्रम में पहुँचकर क्षमायाचना करते हैं । मुनि ने उनको अश्वमेध का घोड़ा लौटाया और "इमे च पितरो दग्धा गङ्गाऽम्भोऽर्हति नेतरत्" कहकर पितरों के उद्धार का उपाय बताया । गंगानयन की कामना से पौत्र अंशुमान् ने तपस्या की; परन्तु वे गङ्गानयन में असफल रहे । यह असफलता दो पीढ़ी तक बनी रही, फिर भी वे हताश नहीं हुए । इसका कारण तप, विद्या और व्रत से दग्धकिल्बिष मुनि का वचन प्रमाण है । इसलिए गङ्गावतरण होने का निर्णय उनको है । यदि सगरवंश उक्त तपस्या से विरत हो जाता तो इतिहास में मुनि का उक्त वचन अप्रमाण हो जाता और सदा के लिए विद्याओं के वचन में प्रामाण्य आशङ्कित हो जाता । इसका रहस्य यह है कि सगरपुत्र अंशुमान् आदि को अपनी तपस्या की असफलता समझ में नहीं आई; क्योंकि उन्होंने अपने घर में पितृप्रतिज्ञा को पूर्ण करने में अपेक्षित गुणसम्पन्न वंश को देखकर यह निर्णय किया कि कपिल-वचन के प्रभाव ने उत्तम सन्तति के माध्यम से अपने प्रामाण्य को समझाने में सहायता पहुँचाई है । फलतः वे अपनी तपस्या पर हताश न होकर तपस्या के प्रति उत्साहित हो गङ्गानयन में सफल रहे । इस प्रकार विद्याओं के द्वारा प्राप्त मन्त्रशक्ति की महत्ता, उत्साह व सत्त्व की सहकारिता का चित्रण किया गया है ।

अब भारतीय विद्या के उत्कृष्ट अवदान पर विचार करना भी प्रासङ्गिक है । भारतीय विद्या वेदों के बल को प्राप्त कर एक ओर त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) सुख प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करती है, तो दूसरी ओर उसने अपने सेवकों को निःश्रेयस् प्राप्त कराने के लिए ऐसे मोड़ा कि वे पुरुषार्थ (त्रिवर्ग-सुख) के साथ अनीहा की तरफ झुके व जीवित रहते निःश्रेयस् भी प्राप्त किये । इसके

उदाहरण के रूप में राजा जनक या अम्बरीष के अतिरिक्त जरासन्ध के कारागार में बन्दी दस हजार राजाओं का अनुभव मननीय है–

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश शश्वद्भयेन कृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं क्लिश्यामहेति कृपणाः तव माययेह ॥

(भा. /10/70/28)

इस उक्ति में उसका अनुसरण करने का इतिहास भी है, जो "यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः" (भा. 10/74/30) से स्पष्ट है । इस प्रकार "कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्" का विचार परिपूर्ण है ।

लक्ष्मीं तनोति

भारतीय विद्याओं ने असहाय निर्धन को सुखी बनाने का उपाय बताया है जो उसकी महत् प्रकृति है । असहायों को गरीबी पर बल न देकर सहाय-(मित्र) प्राप्ति पर ध्यान देने को कहा गया है; क्योंकि '**मित्रवान् साधयत्यर्थान् दुष्प्रापानप्यनादरात्**' (नीतिसार, 14/40) नीतिसिद्धान्त है । इसका अभिप्राय यह है कि जिनको मित्र प्राप्त हैं उनके कार्य को पूर्ण करने में स्वार्थ की अपेक्षा न रखने वाले और सहायता देने वाले मित्र ही होते हैं–

उपकाराद् ऋतेऽप्याशु मित्रं श्रेयसि तिष्ठति

(नीतिसार, 14 । 40 **)**

इसकी उपपत्ति के लिए कपट, दम्भ, मिथ्या प्रतारणा और विसंवाद का त्याग करना होगा । उक्त दोषों के दूर रहने पर भी यदि लोक में स्व (मित्र) गुणसम्पन्न मित्र उपलब्ध न हो, तथापि विद्यासेवी को हताश नहीं होना चाहिए; क्योंकि स्वयं विद्या या विद्यापति मित्ररूप से परोक्ष या अपरोक्ष भाव में प्राप्त हो जायेंगे । अब विद्या से प्राप्त रक्षण व्यवस्था चिन्त्य है । भारतीय विद्या को आदि से अन्त तक पढ़ने के बाद विद्यासेवी स्वयं निर्व्यसनी होता है । अतः व्यय के द्वार नहीं खुलते । दान व व्यवस्थित भोग नशीला नहीं होता । इस निमित्त जो व्यय होता है उसे व्यय नहीं कहा जा सकता । व्यय तो काम और क्रोध से उत्पन्न व्यसन से प्रसक्त होता है । इस प्रकार आय-द्वार अधिक व व्यय-द्वार न्यून होने से 'लक्ष्मीं तनोति' उक्ति की सार्थकता है ।

वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्

न्यायपूर्वक पालनकर्ता की प्रसिद्धि को कीर्ति कहा जाता है । उसके लिए जैसे शौर्य अपेक्षित है, वैसे ही विवाद को हटाने के लिए न्याय को प्रोत्साहित करना महान् गुण माना जाता है । वह न्याय मनु आदि के बताये हुए निर्णय पर ही आधारित है एवं लोक में दारिद्र्य, रोग, भय आदि से त्राण देकर मार्ग प्रशस्त करने के लिए उन-उन विद्याओं के अभ्यस्त व्यक्ति की अपेक्षा सबको है । उसकी पूर्ति विद्याओं से संभव है । इस बचाव के साथ महान् भय शत्रु के आक्रमण का है जो कीर्ति का प्रतिबन्धक है । परन्तु इनके निराकरण का उपाय भी विद्याओं में प्राप्त है । विद्याएँ शत्रु की प्रबलता के अनेकविध प्रकारों से परिचित हैं । जैसे छल-छद्म, शस्त्रसम्पत्ति, अस्त्रग्राम, मायाबल आदि ।

धनुर्वेद में शत्रु के शक्तिबल को पराजित करने की प्रक्रियायें विहित हैं। विद्याओं ने सेवकों को आत्मवत्ता के अर्जन की शिक्षा दी है। उसके द्वारा दुर्जय ईश्वर जीते जाते हैं। उन्होंने अपनी पराजय को स्वीकार करके सेवक को पराजित न होने का पूर्ण आश्वासन दिया है–

> जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः।(भा. 10/72/10)
> न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।
> विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः॥(भा. 10/72/13)

भारतीय विद्याओं के न्यायसञ्चार व अन्यायदमन के सम्बन्ध में प्रकाशित उपरोक्त दूरदर्शिता को अपनाने वाले अनेकों राजा व नागरिकों का उदाहरण प्रसिद्ध है। अतः यह विषय यहीं पूर्ण होता है।

किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या

कवि ने विद्या की उपमा कल्पलता से देकर सर्वमनोरथपूर्तिसाधकत्व की सिद्धि की है। प्रत्यक्ष और अनुमान की मूर्धन्यता की अपेक्षा अत्यधिक प्रमाण-मूर्धन्यता विद्या के उपदेश में है; क्योंकि उसने ही वर्णाश्रम को पारस्परिक मैत्री में बाँध रखा है। जहँ यह मूर्धन्यता नहीं, वहाँ के प्राणी प्रेम की भिक्षा माँगकर भी प्रेम से वञ्चित होते हुए देखे जाते हैं। इसका कारण विद्योपदेश-बहिर्भूतों का चरित्र है। जहाँ प्रतारणा और विसंवाद घुसते ही हैं। उक्त दुर्गुणों को अन्तःप्रवेश का मौका मिल जाता है। इसलिए जब प्रत्यक्षानुमान के बल पर व्यवहार कर्तव्य होता है तब अनेकों आर्थिक समस्यायें प्राणी को घेर लेती हैं, जिनके समाधान के लिए भटकने वाला प्राणी प्रतारणा आदि दोषों को अपनाने में विवश होता है। यही कारण है प्रेम से वञ्चित रहने का, जो मित्रता में कैंची है। वह दोष विद्यावचन की अत्यधिक प्रामाणिकता मानने में नहीं है; क्योंकि प्रत्येक विद्या के क्षेत्र में उनके उपदेश निष्फल नहीं होते। वहाँ आत्मिक सुख के साथ सर्वत्र अनीहा भी चर्चित है। ऐसे दृढ़ विश्वास के पीछे विद्या के बलरूप में रहे वे वेद प्रमाण हैं, जिनको अपौरुषेयता, अर्थपरता, निर्दुष्टता, पुरुषसम्बन्धाभाव सदा प्राप्त हैं। इस मत में शब्दप्रमाण के अनुगामी प्रत्यक्ष और अनुमान समाज को वञ्चना से बचाते हुए समृद्धि प्राप्त करने के लिए मित्रों को एकत्रित करते हैं, जब वे प्राप्त हैं तो कमी का न होना कल्पलता साम्य से सूचित है।

कल्पवृक्षों की अपेक्षा विद्या में समरसता अधिक मालूम पड़ती है। कल्पवृक्ष भिक्षु को देते हुए केवल उसकी माँग को देखता है। विद्या भिक्षु की याचना के साथ उसका हित भी सोचती है, व्यसनों को देना पसन्द नहीं करती। यही सोचकर शास्त्रकारों ने विद्या का आदर नेत्रस्वरूप मानकर किया है जो कल्पवृक्ष को अभी तक प्राप्त नहीं है। नीतिसार ने इसी अभिप्राय को स्फुट किया है–

> अशास्त्रचक्षुर्नृपतिरन्ध इत्यभिधीयते।
> वरमन्धो न चक्षुष्मान् मदादाक्षिप्तसत्कथः।
> चक्षुष्मांस्तु मदान्धः सन् आत्मानं हन्त्यशेषतः॥(15/5)

रामचरितमानस में भी निश्छल मित्रता की स्थापना के ध्येय से रामभक्ति का लक्षण करते हुए छलशून्यता को प्रविष्ट कराया है–

बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू। रामभगति कर लक्षण एहू ॥

भारतीय विद्याओं के प्रति वर्णाश्रम समाज नानाविध शङ्काओं के जाल में फँसकर उनको उपेक्षित करता है और प्रत्यक्षानुमान पर बल देता है। फलतः उक्त विसंवादिता के पञ्जे में विपरीत फल देखे विना नहीं रह सकता। विसंवादिता और प्रतरणा के अनुरूप फल को सामने उपस्थापित करने में विद्या हिचकती नहीं।

उक्त विवेचन के पश्चात् मंगल (श्लोक) में उक्त 'विद्या' शब्द का विचार अवशिष्ट है। संक्षेप में इस विद्या को दो भागों में बाँटा जा सकता है–ज्ञानविद्या और कर्मविद्या, जो ज्ञान और कर्म विशेषण से अपना स्वरूप प्रकट करती है। ज्ञानविद्या के अन्तर्गत आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति गिनी गई हैं। शेष विद्याओं को कर्मविद्या माना गया है।

ज्ञानविद्या का अध्ययन स्वयं परिश्रमपूर्वक गुरु-शिष्य सम्बन्ध बनाकर ब्रह्मचारी, शिष्ट, श्रेयोऽर्थी के सान्निध्य में कर्तव्य माना गया है। इसमें ज्ञानातिरिक्त लाभ चिन्तनीय नहीं हैं। जब वे चिन्तनीय होते हैं तब कर्मविद्याओं की प्रवृत्ति होती है।

उक्त चतुर्विध विद्याओं को ग्रहण करके और धारण करके उनका यथास्थान उपयोग करना राजा के कार्यक्षेत्र में आवश्यक है तथा तत्तद् विद्याओं से अपने-अपने विषयों को आमूल समझकर उनका उपयोग करना विद्वानों के लिए अपेक्षित है। इस प्रकार संयोग-पृथक्त्व-न्याय से विद्या की महिमा स्मर्तव्य है। उपर्युक्त गूढ़ तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए कवि ने 'मातेव रक्षति' मङ्गलाचरण में जो गुण गाये हैं, उनसे भारतीय विद्याओं की विशेषता व तत्प्रयुक्त प्रमेयसिद्धि, सङ्घटन, स्थायी प्रीति ध्वनित की है, जो विश्व के लिए मङ्गलमय है।

●

भारतीय-संस्कृति : समन्वय-तीर्थ

डॉ. रामजी सिंह

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भारतीय-संस्कृति को संस्कृतियों का सागर कहा और उस पुण्य-तीर्थ में माता के मंगल-घट को भर देने के लिये सब लोगों को आमन्त्रित किया है। जिस प्रकार महासागर में अनेक नदियाँ आकर एकाकार हो जाती है, उसी प्रकार संस्कृति सागर भारत में अनेकानेक संस्कृतियाँ मिलकर समन्वय-तीर्थ बना देती हैं। असल में संस्कृति कोई जड़-तत्त्व नहीं, यह तो सतत प्रवहमान, जीवन्त और गतिमान गंगा की धारा है। यह ठीक है कि संस्कृति विशेष का भूमि से पार्थिव सम्बन्ध रहने के कारण यत्किञ्चित् परिवर्तन भी होता है। प्रत्येक भूमि-क्षेत्र की विशेष जलवायु होती है, फिर जलवायु का प्रभाव वहाँ की वेश-भूषा, भोजन-पान, रहन-सहन, स्थापत्य एवं भवन-निर्माण ही नहीं बल्कि भाषा-साहित्य, आचार और विचार पर भी पड़ता है। जहाँ पहले बहुत बड़ा सागर था, भौगोलिक क्रांति एवं पृथ्वी-तल में परिवर्तन के कारण हिमालय जैसा पर्वत उतर आया। फिर हिमालय के पार्वत्तीय गर्भ से गंगा, ब्रह्मपुत्र सिन्धु आदि नदियों के उद्गम और विस्तार से एक विशिष्ट सांस्कृतिक-दृष्टि मिली होगी। मोहनजोदारो और हरप्पा का इतिहास और संस्कृति तो अभी बहुत कुछ कहने ही वाली है। उनकी कृषि-पशुपालन व्यवस्था, पूजन-अर्पण, स्नान-ध्यान, आभूषण-स्थापत्य, लिपि और आयुध सब अद्भुत हैं। शायद भारत की यही संस्कृति पश्चिमी एशिया में दूर-दूर तक फैली होगी। फिर अपने सामने एक उदात्त आदर्श रखने वाली "आर्य" जाति विपुल जीवन-समृद्धि लेकर आयी। दानशील दास एवं विजिगीषु आर्यों के बीच संघर्ष हुए और फिर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण हुआ। दक्षिण के लोग हृदय से कोमल थे, अतः वे "द्रविड़" कहलाये, लेकिन उनके स्थापत्य, वाड़मय, नगर-निर्माण आदि देखकर उनकी संस्कृति की गहराई का बोध होता है। आर्यो एवं अनार्यों के बीच संघर्ष की छाया तो मिलती है लेकिन आर्यों एवं द्रविड़ों के बीच कोई विशेष संघर्षण का इतिहास नहीं है। बल्कि इन दोनों के संयोग एवं सहयोग से एक भव्य-संस्कृति का जन्म हुआ जिसे कालान्तर में "हिन्दू-संस्कृति" कहा जाने लगा। इसी तरह इस संस्कृति-सागर में **निषाद** (नेग्रिटो, निग्रोवहु, आस्ट्रिक जाति के लोग) एवं **किरात** (मंगोलाइड) जाति के लोगों का समावेश हुआ। फिर आगे चलकर भारतीय-संस्कृति वैदिक, श्रमण एवं **लोकायत**-इन तीन संस्कृतियों की त्रिवेणी के रूप में प्रकट हुई। यहाँ इतिहास-क्रम और काल-निर्णय करना कठिन कार्य है लेकिन ये तीनों धारायें अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान हैं। जैसे वेद-उपनिषदों के साहित्य में लोकायत संस्कृति के भौतिकवाद एवं देहात्मवाद की आलोचना यह सिद्ध करती है कि लोकायत

धारा भी अत्यन्त प्राचीन काल में थी चाहे उसे हम बार्हस्पत्य, लोकायत, चार्वाक किसी नाम से संबोधित करें । उसी प्रकार श्रमण-संस्कृति में जैनों का मानना है कि भले पार्श्वनाथ एवं महावीर काफी अद्यतन हों किन्तु "ऋषभदेव" का उल्लेख वेद में मिलता है, इससे श्रमण-संस्कृति की पुरातन-स्थिति सिद्ध होती है । वैचारिक स्तर पर लोकायत-संस्कृति को या तो हमें वैदिक-संस्कृति की अत्यग्र प्रतिक्रिया माननी चाहिए या उसे लोक-भावना, लोक-जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति समझनी चाहिये । काल-क्रम जो भी हो किन्तु संस्कृति-रसायन दृष्टि से विचार करने पर श्रमण संस्कृति की आधारभूत आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध नहीं बल्कि उसकी विकृतियों-विशेषकर यज्ञीय हिंसा, जन्मना जातिप्रथा एवं कर्मकांड के प्रति विद्रोह मानना चाहिये । भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में जिस प्रकार वेद-वेदान्त के पुरस्करताओं का आदर है एवं रामकृष्ण आदि को अवतार रूप में पूजे गये हैं, उसी प्रकार बुद्ध को अवतार एवं महावीर को भी उसी श्रेणी में रखकर आदर एवं पूजन किया जाता है ।

नि:सन्देह इस संस्कृति-संगम का केन्द्र एवं आधार भूमि भारत है किन्तु इसकी परिधि भारत तक ही सीमित नहीं है । भारतीय संस्कृति भारत के इतिहास एवं भारत की राजनैतिक राष्ट्रीयता से भी बड़ी है । इतिहास केवल अतीत से बंधा रहता है, जबकि संस्कृति अतीत के अतिरिक्त अनागत और वर्तमान पर भी दृष्टि रखती है । भारत में अनेक धर्म, भाषायें, नस्ल, वेश-भूषा एवं उपासना पद्धतियाँ हैं फिर भी इस विविधता में यहाँ एकता है । यहाँ तो आर्य, अनार्य, द्रविड़, किरात, निषाद और फिर बाद में शक, शीथियन, गुर्जर, प्रतिहार और न जाने कौन-कौन आये लेकिन भारतीय संस्कृति की मातृ-गोद में सभी आत्मसात् हो गये । भारत ही उनका स्वदेश, भारतीय धर्म ही उनका धर्म एवं भारतीय संस्कृति ही उनकी संस्कृति हो गयी । असल में भारतीय संस्कृति में संस्कृति का रसायन मौजूद है । अद्वैत वेदान्त के आद्य शंकराचार्य के परात्पर गुरु श्री गौड़पाद कहते हैं–"दूसरे दर्शन आपस में भले विवाद करते रहें, अद्वैत दर्शन का समन्वयकारी होने के साथ किसी संघर्ष का प्रयोजन नहीं है । जो "एक" को देखता है, उसके लिये "दूसरा" है ही नहीं । अद्वैत की तरह समन्वय का एक दूसरा विराट सिद्धान्त जैनों की ओर से "अनेकान्त" और "स्याद्वाद" का आया जिसके अनुसार सत्य एक ही है फिर भी देखने वाले की दृष्टि एकांगी होने के कारण एक ही पक्ष को देखा जाता है । भगवान् बुद्ध ने भी "मध्यम प्रतिपदा" की स्थापना कर अतिवाद पर अंकुश लगाया और एक प्रकार का समन्वय ही किया । उपनिषद्-वेदान्त की "आत्मोपम्य" की दृष्टि या "वसुधैव कुटुम्बकम्" की कामना तथा "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना इस संस्कृति-समन्वय के शक्ति-तत्व हैं । समन्वयवादी संस्कृति व्यवहार में "सर्वतोभद्र" होगी ही । लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व के जैन आचार्य समन्तभद्र ने युक्त्यानुशासन में "सर्वोदय तीर्थ" और भगवान् बुद्ध ने "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" के साथ "कल्याणो धम्मो" का संदेश दिया ।

भारतीय-संस्कृति की समन्वय-साधना का एक और भी मृत्युंजय-सिद्धान्त है–"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।" सत् तो एक ही है, लोग अपनी श्रद्धा एवं अनुभूति के आधार पर उसका

अलग-अलग नामों से वर्णन करते हैं। जो प्राचीन भारतीय धर्म की भावधारा को नहीं जानते, वही इस पर "बहुदेवतावाद" या अनेकेश्वरवाद" का आरोप लगाते हैं। अनेक पाश्चात्त्य भारत-विद्या विशारदों को यह भ्रम बना रहा कि असंख्य देवी-देवताओं की पूजा करने वाला धर्म एकेश्वरवादी कैसे हो सकती। वस्तुतः जो वैदिक-ईश्वर-विज्ञान में ईश्वर-तत्व-की अवधारणा के निर्माण के विकास को जानते हैं, वे बहुदेववाद से एकेश्वरवाद और एकेश्वरवाद से एकवाद की निर्बाध धारा को देख सकते हैं। आकार और मूर्त्ति साधन है साध्य नहीं, सोपान है, गन्तव्य नहीं। वैदिक वाङ्मय में असंख्य देवताओं का भौतिक-क्षेत्रों में वर्गीकरण (जल, थल, अन्तरिक्ष), फिर भौतिक प्रतीकों में मनोवैज्ञानिक भाव प्रदान करना, फिर "विश्वेदेवाः", "त्रिमूर्त्ति" आदि का स्वरूप निर्धारण और फिर व्यक्तिगत ईश्वरवाद (Personal God) की कल्पना तक पहुँचना अद्वैत की ओर पहुँचने का रोचक अभ्यास है। दूसरे धर्म तो एकेश्वरवाद को ही अपना अंतिम आदर्श मान लेते हैं लेकिन वैदिक ऋषि "को दिदृश प्रथमा जांयमानं ? की जिज्ञासा कर कुछ और आगे ही जाता है। ऋग्वेद के "नारदीय-सूक्त" में तो एकेश्वरवाद की सीमा पार कर बहुत सुन्दर प्रश्न उपस्थित किये गये।

भारतीय-संस्कृति के समन्वय का एक और उपयोगी सिद्धान्त है–यद्यपि सत्य एक है लेकिन उसकी प्राप्ति का केवल एक ही मार्ग नहीं है। अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार व्यक्ति अपनी अध्यात्म-साधना करता है। मोक्ष मार्ग एक ही नहीं है–ज्ञान, भक्ति, कर्म और ध्यान आदि अनेक मार्ग हैं। किसी भी देव की पूजा करें, वह परम परमेश्वर की ही पूजा हो जाती है–"सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।" (विष्णु-सहस्रनाम) इससे वैचारिक और धार्मिक कट्टरता क्षीण होती है। यहाँ तो सगुण और निर्गुण का भी समन्वय किया गया है–

तुलसीदास ने कहा ही है–

"अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा॥"

यह दुर्भाग्य है कि जिस प्रकार भारतीय संस्कृति और समाज शक, सीथीयन, गुर्जर प्रतिहार जैसे विदेशी तत्वों को आत्मसात कर गयी, उस प्रकार यवन-संस्कृति को नहीं कर पायी। इसका प्रधान कारण था कि तब तक भारतीय-संस्कृति का पाचन-तन्त्र दुर्बल हो गया था जाति-व्यवस्था से जर्जर, स्पृश्य-अस्पृश्य भेद से परेशान, अंधविश्वास एवं कर्मकांडों के बन्धन से समाज गतिहीन एवं गवाक्षहीन बन गया था। बाहर से किसी के आने का द्वार बंद था। यदि कोई मुस्लिम आना भी चाहता तो प्रश्न होता किस जाति में ? आदि-आदि। और इस्लाम एक प्रबल विस्तारक विश्व धर्म के रूप में उदित हुआ था और उसे राज्याश्रय भी प्राप्त था। प्रारम्भ में जब मुसलमान व्यापार के लिये आये तो उन्हें न केवल इसके लिये सुविधायें मिलीं वरन् माँगने पर अपने लिये मस्जिद बनाने और पूजा करने के लिये हिन्दू राजाओं ने उदारतापूर्वक भूमि भी दी। मुस्लिम फकीरों और औलियाओं को वही इज्जत मिली जो हिन्दू संत-महात्माओं को मिली, जो आज तक कायम है। काव्य एवं कला साधना में भी मुस्लिम कवियों ने राम और कृष्ण भक्ति में अजेय मानदण्ड बना

दिये । रहीम, रसखान, कबीर, यारो साहब, खुसरों, ताज, शेख नज़ीर, कारे खाँ, करीम बख्श, इंशा, बाजिमी निजामुद्दीन औलिया, बुल्लेशाह, मकसूद, मौजदीन आदि अनेकों राम-कृष्ण भक्त मुस्लिम कवि हैं । रहीम कहते हैं–

अनुदिन श्रीबृन्दावन ब्रजते आवन-आवन जानि ।
जब रहीम चिंतते नटरति है, सकल स्याम को बानि ।।

रसखान की कृष्ण-भक्ति की तो उपमा ही नहीं है–

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन ।।
या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिन्हें पुर को तजि हारौं
कोटिक हो कल धौत के धाम, कटील की कुंजन ऊपर बारौं ।

रहीम खाना-खाना का रामायण-प्रेम तो देखिये कि वे श्री रामचरितमानस को साक्षात् कुरान शरीफ मानते हैं–

"रामचरित मानस विमल संतन जीवन खान ।
हिन्दुअन को वेद सम जमनहि प्रगट कुरान ।"

मुस्लिम राजाओं के काल में भी मुस्लिम कवि और लेखक मंगलाचरण में "श्री गणेशायनमः", "श्री रामजी सहाय", "श्री राधा जी", श्री "श्रीकृष्ण जी सहाय" आदि वाक्यों से ग्रंथारम्भ करते थे जिसे हम अहमद के "सामुद्रिक" एवं याकूब खाँ के "रसभूषण" आदि में देख सकते हैं । यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कहना पड़ा ।

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुअन वारिये ।"

साहित्य के साथ संगीत-साधना में भी समन्वय है । तानसेन के दो गुरु थे–**हरिदास** और **गौश** । जो इस्लाम संगीत एवं चित्रकला आदि ललितकलाओं से परहेज रखता था, भारत आकर उसने यहाँ इनकी साधना में सहयोग दिया । आज भी पं. ओंकारनाथ के साथ हम विस्मिला खाँ की शहनाई, उस्ताद अंलाउद्दीन का तबला को याद करते हैं । चित्रकला में भी मुसलमान कलाकारों ने योग दिया । स्थापत्य-कला में तो हिन्दू एवं मुगल शैली का समन्वय हुआ । आज भी दूरदर्शन पर महाभारत के कलाकार डॉ. मासूमरजा हैं ।

धर्म-साधना में तो बुनियादी एकता है । उपनिषद् वेदान्त "एकमेवाद्वितीयम्" या "एकोऽहं द्वितीयो नास्ति" की बाते कहता है तो इस्लाम भी "लाइल्ला हीलिलाह मुहम्मद बिनरसूलिल्लाह ।" कबीर ने ठीक ही कहा है–"दुइ जगदीश कहाँ ते आए" इस्लाम में सारी इन्सानियत को "अयालुल्लाह" यानी "खुदा की औलाद" बताया है । हिन्दू भी तो–"ईश्वर अंश जीव अविनासी" मानता है । हिन्दू धर्म में यदि 33 करोड़ देवता हैं तो इस्लाम के मोताबिक भी । लाख 24 हजार रसूल और पैगम्बर हैं जो हर कौम, हर मुल्क में है । कुरान शरीफ में कहा गया है–"बेशक हमने हर कौम के पास अपना

पैगंम्बर भेजा है।" "उन रसूलों के जिनके नाम कुरान में बताये गये हैं, उनके अलावे और भी बहुत से रसूल हैं।" अतः वैर-विरोध का प्रश्न कहाँ है ?

हिन्दुओं का भक्ति-मार्ग और मुसलमानों के सूफीमत में तो अपूर्व सामञ्जस्य है। जिस तरह हिन्दुओं में **भक्ति-मार्ग** है तो मुसलमानों में **"तलउफ"** है। इश्क-ए-मजासी (विषयानन्द) से हम **इश्क-ए-हकीकी** (ब्रह्मानंद) की ओर जाते हैं। जिस **अद्वैत** की वाणी वेदान्त में गूँजती है, उसी "अनहलक" की आवाज मंसूर की शहादत से आती है।

हिन्दू-मुस्लिम रस्म-रिवाजों में बहुत ज्यादा फर्क नहीं। जिसे हिन्दू मुंडन कहते, वही मुस्लिम समाज में **अकीका** है, जो **विवाह** है वही **निकाह** हैं, जो माला है वही तसबीह, यदि मस्जिद में **अजान** देकर नमाज के लिये बुलाया जाता तो मन्दिरों में घंटे एवं आरती की ध्वनि है। हिन्दुओं में दसकर्म तो मुसलमानों में दसवाँ है। कहीं तन्त्र तो कहीं ताबीज, कहीं रोजा तो कही चान्द्रायण व्रत। कहीं यज्ञोपवीत तो कहीं हिलाल और सितारा धारण आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन का तो समन्वय है ही। महाभारत के अनुसार "जो व्यवहार हम अपने प्रति दूसरों से अपेक्षा रखें, वैसा ही व्यवहार हम दूसरे से करें–"आत्मनः प्रतिकूलानिःपरेषां न समचरेत्।" कुरान शरीफ में भी इसको "अशरफ-उल-इमानि उन-यमनक अन्तासों" कहकर सराहा गया है। हदीश में भी "अफजल-उल-इमानी-उन-तोहो-लीना से मा तोहीबो-ले-नफसेका" कहा गया है।

इसके साथ दोनों के नस्ल लगभग एक हैं। 90% मुसलमानों के पूर्वज तो हिन्दू ही थे। नस्ल, रूप-रंग, वनावट में भी समानता है। त्योहारों में हम एक दूसरे के यहाँ जाते हैं। तजिया में तो हिन्दू शामिल होते ही हैं। सामाजिक रूप से हिन्दुओं की जाति-पाति भी कमोवेश मुस्लिम समाज में आ गयी। भारत के मुसलमानों ने तुर्की या अरबी मुसलमानों की न तो भाषा अपनायी न उनकी वेशभूषा। उर्दू भारत की जुबान है। अरब का अमामा, जुब्बा, रद, तहमद और तस्मा तथा मध्य-एशिया की कलह, नीमा, मेज आदि छोड़कर हिन्दू पगड़ी, चीरा, कुर्त्ता, अंगरखा, पद, दुपट्टा, पायजामा और जुता अपनाया। विवाह पद्धति में भी निस्बत, मेंहदी तेल, भड़वा, बारात, जलवा, कंगन आदि विधान मुसलमानों ने अपनाये। यहाँ तक कि कुछ मुसलमान महिलाओं ने जौहर व्रत कर दिखाया था। ग्रामीण में अभी भी मुस्लिम महिलायें हिन्दुओं के कई त्योहार अपनाती हैं। हिन्दुओं ने भी मुसलमानों की पोशाकें, रहन-सहन आदि बहुत कुछ अपनाये हैं।

एक बड़ा प्रश्न है राजनीति का। यह सही है कि गजनी, गोरी एवं नादिरशाह जैसे मुस्लिम लुटेरे भी आये और अलाउद्दीन खिलजी, औरंगजेब जैसे क्रूर शासक भी हुए। लेकिन इस सम्बन्ध में भी हमें कुछ गलत फहमियों को साफ करने की जरूरत है। इतिहास साक्षी है कि गोरी को निमन्त्रण देनेवाला एक हिन्दू राजा जयचंद थे। मुगल बादशाह बाबर से लोहा लेने वाला हिन्दू नहीं बल्कि सिकन्दर लोदी नामक एक मुसलमान बादशाह था। हुमायुँ को कठोर संघर्ष की चुनौती देने वाला एक बागी मुस्लिम शेरशाह था। महाराणा प्रताप से लड़ने वाली फौज का प्रधान सेनापति मानसिंह एक हिन्दू और राजपूत था। दूसरी ओर हैदर अली-टीपू सुल्तान ही नहीं प्रायः सभी मुगल

बादशाहों के प्रधान मंत्री हिन्दू थे । महाराणा प्रताप जब हल्दीघाटी में लड़ रहे थे तो अकबर की फौज में 60 हजार यदि मुसलमान थे तो 40 हजार हिन्दू थे, दूसरी ओर महाराणा की फौज में अनेकों मुस्लिम सरदार थे । जालोर के मुस्लिम राजा ने 1000 घुड़सवार फौज से महाराणा की मदद की थी । शिवाजी महाराज के प्रधान तोपची, सहायक जल सेना अध्यक्ष ही नहीं बल्कि उनके व्यक्तिगत अंगरक्षक मुस्लिम थे । **तुगलकनामा** में अमीर खुसरो ने लिखा है कि मुहम्मद बिन तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरीव दक्षिण के लोगों का समर्थन प्राप्त करने ले गया था । "युद्ध में दोनों तरफ हिन्दू और मुस्लिम सिपाही लड़ते थे और एक तरफ की फौज में यदि एक तरफ से "अल्ला-हो-अकबर" का उद्घोष होता था तो उसी फौज के दूसरे बाजू से "जयनारायण" का भी उद्घोष सुनायी पड़ता था । मुसलमानों में भी तुर्कों एवं गैर-तुर्कों के बीच एवं हिन्दुओं में भी जाति-जाति भेद थे । झाँसी की रानी का भी प्रधान तोपची मुसलमान था जिसने उनकी जाने बचाने के लिये अपनी शहादत दी थी । इतिहास इसका भी साक्षी है कि औरंगजेब ने खुद अपने बाप को कैद में रक्खा और भाइयों को कत्ल किया । अतः तख्त की लड़ाई को हमने मजहब की लड़ाई मानने की भूल की है ।

कुछ अपवादों को छोड़कर मुस्लिम एवं मुगल बादशाहों ने 600-700 वर्षों तक दीर्घ शासन काल का एक रहस्य कि बहुत दूर तक उन्होंने मजहब और सियासत को अलग-अलग रक्खा । मुल्ला-मौलवी हमेशा बादशाहों पर हावी होकर उन्हें इस्लामी कानून लागू करने की सलाह देते रहे लेकिन वे बादशाह इससे परहेज करते रहे । अलाउद्दीन खिलजी ने मुल्लाओं को संकेत कर कहा था—"मैं नहीं जानता कि मेरे काम इस्लामी कानून के अनुकूल हैं या प्रतिकूल । मैं तो वही करता हूँ जिसे राज्यहित में वाजिब समझता हूँ ।" ख्याजी मुगीस उद्दीन को दिया गया उत्तर—**मिडियावल इंडियन क्वार्टरली**, पृ.-5 मुगलवादशाहत के पूर्व अनेकों मुस्लिम बादशाहों जैसे इल्तुनमिश, बलबन, मुहम्मद बिन तुगलक, आदि ने शरीयत के मुताबिक भारत की बादशाहत चलाने की मजबूरी बतायी थी । **फतवा-ए-फहनवारी** के लेखक जियाउद्दीन वर्नी ने उनके विषय में लिखा--सच्चा मजहब पैगम्बर साहब के चिह्नों पर चलने में है । परन्तु इसके विपरीत शाही हुकुमत खुसरो परवेज और ईरान के बड़े बादशाहों की नीति पर ही टिकती है । "**तबकात-ए-अकबरी** में निजामुद्दीन ने लिखा—"बलबन ने मजहब से ऊपर बादशाहत को रक्खा ।" काजी मुगीस निहायत अफसोस जाहिर करते हुए लिखते हैं कि—"यद्यपि मध्ययुग में भारत में बादशाह मुसलमान थे, लेकिन बादशाहत इस्लामी नहीं थी ।" बाबर से लेकर बहादुर शाह जफर तक सभी मुगलबादशाहों ने गोकुशी पर पाबन्दी रक्खी जिसका प्रमाण "बाबरनामा" और औरंगजेब की "अदबे आलमगिरी" एवं "सकात-आलमगिरी" है । यही नहीं तुगलक जैन विद्वानों का बहुत आदर करते थे और मार्डर आबू में भीम सिन्हा प्रसाद की मूर्त्ति स्थापित की थी एवं गोशल, गुणदेवी और अम्बिका देवी के मन्दिर बनवाये एवं उनकी देखभाल के लिये अनुदान की व्यवस्था थी । जिस औरंगजेब की हिन्दू विरोधी कृत्यों की कहानियाँ हम सुनते हैं, उनके द्वारा प्रयाग के सोमेश्वर नाथ महादेव, वाराणसी के जंगमवाड़ी शिवमंदिर, उज्जैन के महाकालेश्वर मंदिर,

तिरुपति के वाला जी मन्दिर, गौहाटी के उमानाथ मन्दिर, शत्रुंजय के जैन आदि अनेक मन्दिरों के लिये जागीर एवं अनुदान देने के शाही फरमान उपलब्ध है (1065) उसके बनारस के फरमान (जमादिवत-अवल 1065, 10.3.1659) के अनुसार "प्राचीन मंदिर नहीं तोड़े जायेंगे एवं कोई भी व्यक्ति ब्राह्मणों एवं अन्य हिन्दुओं को परेशान नहीं करेंगे। बनारस के दूसरे फरमान में (रवी अससनी 1091- हिजरी) भागवत गोसाई की हिफाजत का हुक्म है। नाजिर बंग द्वारा एक हिन्दू मठ दखल करने की कोशिशों को नाकामयाव किया गया। जंगमवाड़ी मन्दिर के लिये 178 बीघे जमीन दी गयी। उज्जैन के महावाल मन्दिर के लिये घी देने का फरमान है। (5 शावल 1061 हिजरी), गोदावरी के किनारे मोहनपुर में दत्तात्रेय गुरु मन्दिर को 700 एकड़ जमीन औरंगजेब ने अपने महाराष्ट्र अभियान में मंजूर की थी।

औरंगजेब तो कहता था–"सांसारिक मामलों को मजहब से क्या लेना-देना है, मजहब के बनाने वालों को अन्धविश्वास में पड़ने की जरूरत ही क्या है क्योंकि हमारा धर्म हमारा, आपका धर्म आपका है।" इसी तरह छत्रपति शिवाजी महाराज, जो हिन्दू-पद पादशाही के विशेष उन्नायक के रूप में माने जाते हैं, वे अत्यन्त धर्म सहिष्णु थे। उन्होंने मुस्लिम प्रजा के लिये भी धर्मशाला बनवाये। खेलसी के हजरत बाबा याकूब के दर्शनों के लिये वे बराबर जाया करते थे। दहौल की सैनिक यात्रा पर जाने के पूर्व उन्होंने वचन दिया था कि विजय-लाभ के पश्चात् वे मस्जिद बनायेंगे और उन्होंने बनाना भी शुरू किया जिसे उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र संभाजी ने बनाया। शिवजी ने दरगाह के इन्तजाम के लिये 653 एकड़ जमीन दी थी जिसके कागजात आज भी मौजूद हैं। शिवाजी महाराज के पुत्र एकबार लड़ाई के दौरान एक मुस्लिम औरत को ले आये थे जिसे शिवाजी ने मालूम होने पर इज्जत के साथ वापिस करा दिया था। गुरु गोविन्द सिंह के सैकड़ों शिष्य मुसलमान थे। उनके पुत्र की मौत की सजा के लिये तीन लोगों की जूरी औरंगजेब ने बहाल की थी जिसमें एक हिन्दू, दो मुस्लिम थे। एक मुस्लिम जूरी जो मलेरकोटा के राजा थे उन्होंने उनके पुत्रों के प्राणदंड का विरोध किया जबकि हिन्दू वजीर ने समर्थन किया। उनके दोनों पुत्र उनके रसोइया गंगाराम के विश्वासघात से ही पकड़े गये। इसीलिये गुरु गोविन्द सिंह ने अनुगृहीत होकर घोषणावादी थी कि सिक्ख फौज मलेरकोटा के राज्य में कभी न जाय। भूल से एक बार रणजीत सिंह की फौज गयी जिसके लिये उन्होंने क्षमा तो माँगी ही, स्वेच्छया 100/ का दंड भी लिये। पीर बदरुद्दीन भी सपरिवार गुरु की ओर से 1000 फौज के साथ लड़े थे। अकाल तख्त की नींव से एक मुस्लिम फ़कीर भी दिलवायी गयी थी। हैदर-टीपू के राज्य में गोकुशी पर हाथ काटने की सजा थी। टीपू ने 156 मंदिरों के लिये जागीरें दी थीं और वह बराबर रंगनाथ के मंदिर का दर्शन करता था। इस तरह की अनेकों कहानियाँ मौजूद हैं। लेकिन हम तो केवल तिक्त पक्ष ही याद करते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से समन्वय की संस्कृति रही है। इस्लाम भी भारत में आकर बहुत कुछ बदला। दोनों का समन्वय होना ही चाहिये। स्वामी

विवेकानन्द ने तो कहा ही था–"हमारी मातृभूमि के लिये केवल एक ही आशा है–और वह है हिन्दू और इस्लाम धर्मों का–वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर का संयोग ।" असल में हमने सत्ता की लड़ाई को धर्म की लड़ाई मान लिया । "हिन्दू" शब्द का अर्थ है–"हिंसा से दूर रहना।" "इस्लाम" का अर्थ है–"शांति" । भारत के जीवन विकास में समन्वय की संजीवनी रही है । ब्राह्मण एवं बौद्ध संस्कृति के वियोग होने से भारत का एक बार अधःपतन हुआ था, हिन्दू-मुसलमानों के भेद-भाव से राष्ट्र खंडित हुआ, आज समन्वय केवल राष्ट्र जीवन के लिये ही नहीं, भारतीय संस्कृति की जीवन रक्षा के लिये आवश्यक है ।

विनोवा भावे ने भारतीय-उपमहाद्वीप की एकता की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर ही "अ-ब-स" नामक राजनीति के त्रिभुज का विचार रक्खा था । "अ" का अर्थ अफगानिस्तान, "ब" से बर्मा और "स" से सीलोन है । इस त्रिभुज के बीच देशों की सांस्कृतिक एकता है । ये सभी देश आज अपनी समस्याओं और अलगाववाद तथा आतंकवाद से परेशान हैं । अफगानिस्तान यदि रूसी प्रभाव और उसके निराकरण के लिये मुजाहिदों के वर्षों से चले आ रहे पाकसमर्थित आतंकवाद से परेशान है तो श्रीलंका तमिल ईलम एवं लिट्टे से जीवन-मरण का संघर्ष लड़ रहा है । बर्मा करेन से, नेपाल-भूटान आन्तरिक समस्याओं से, पाकिस्तान फौजी तानाशाही एवं हिंसा से तथा भारत अलगाववाद एवं आतंकवाद से परेशान है । यदि इन देशों का महासंघ बन जाता है तो फौज पर होनेवाले बेमतलब के खर्च बचेंगे जिससे यहाँ की गरीबी-बेकारी एवं निरक्षरता पर सफलतापूर्वक हमला किया जा सकता है । डॉ. लोहिया ने भी इसका समर्थन किया था । पाकिस्तान के संस्थापक जिना साहब को भी आखिरी वक्त बँटवारे की खून-खराबी से सदमा हुआ, बापू तो भारत-पाक को एक ही पिता के दो भाई जानते थे यदि बर्लिन की दीवारें टूट सकती हैं, कोरिया, वीयतनाम एक होने के लिये अपने हाथ बढ़ा सकते हैं तो हम भी "सार्क" को मजबूत कर भारत-पाक का महासंघ बनाकर एकता का पहला चरण आरम्भ कर सकते हैं ।

●

सुवर्णद्वीप में भारतीय पंडित

स्व. डॉ. उपेन्द्र ठाकुर

I

प्राचीन काल में भारत का सांस्कृतिक सम्पर्क एशिया के प्रायः सभी देशों से हो चुका था। आधुनिक काल में जिसे दक्षिण-पूर्व-एशिया के नाम से जाना जाता है, उसमें इंडोनेशिया (हिन्देशिया, जावा, बाली और सुमात्रा), थाइलैण्ड, लाओस, वर्मा, मलयेशिया तथा कम्बोडिया (प्राचीन कम्बुज देश) सम्मिलित है। इस भू-भाग को प्राचीन भारतीय साहित्य में 'स्वर्ण-भूमि' अथवा 'सुवर्ण द्वीप' कहा गया है। विद्वानों में इस नाम को लेकर आपस में कुछ मतभेद अवश्य है, फिर भी अधिकांश इस बात से सहमत हैं कि इस क्षेत्र को इसी नाम से पुकारा जाना उचित होगा।[1] प्रथम-द्वितीय शताब्दी से ही प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में इन भू-भागों का उल्लेख मिलता है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि यद्यपि भारतीय इन क्षेत्रों में लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक शासन करते रहे, भारत के ऐतिहासिक विवरणों में इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अब यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि दूसरी और तीसरी शताब्दी तक चम्पा (वीयतनाम), कम्बोडिया, अन्नम अथवा अनाम (उत्तर-पूर्व हिन्द चीन), मलय, सुमात्रा और जावा में भारतीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। इन सभी देशों में उस समय ये संस्कृत अभिलेख तथा बौद्ध एवं हिन्दू-देवी-देवताओं की अनेक मूर्त्तियां मिली है जो इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि कालक्रम से उन देशों में भारतीय संस्कृति की जड़ गहरी होती गयी जिसके फलस्वरूप उन भू-भागों की संस्कृति और साहित्य भारतीय काव्य ग्रन्थों-रामायण, महाभारत तथा पुराणों से अत्यधिक प्रभावित हुए।[2]

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि भारत का व्यापारिक सम्बन्ध उन देशों से शताब्दियों ई. पूर्व प्रारम्भ हो चुका था और प्रथम शताब्दी से ही यहाँ के लोग काफी संख्या में उन भूभागों में जाकर बसने लगे थे। इनमें व्यापारियों के साथ-साथ ब्राह्मण पंडित और बौद्ध भिक्षु (धर्मोपदेशक) भी थे जो धर्म-प्रचार करने वहां पहुँचे थे। इन्हीं धर्मोपदेशकों ने उन देशों में भारतीय रीति रिवाज, धर्म तथा दर्शन, साहित्य और कला एवं प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली। यह सही है कि इस उपनिवेशीकरण का प्रारंभ भारतीय व्यापारियों ने किया था किन्तु उसकी जड़ को मजबूत कर सर्वांगीन विकास करने में भिक्षुओं ने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी उसका दृष्टान्त विश्व के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। फलस्वरूप चौथी शताब्दी से लेकर अंतिम हिन्दू साम्राज्य (जावा का

मजपहित साम्राज्य) के पतन तक (पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्यभाग) भारतीय संस्कृति का वहां उत्तरोत्तर विकास होता रहा।

यद्यपि भारत में धर्म-प्रचार-आन्दोलन की परम्परा वैदिक काल से ही रही है, फिर भी सम्राट अशोक के समय इसे एक नयी गति, नयी दिशा मिली। जैसा कि हम जानते हैं बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने के बाद 'भेरी घोष' के स्थान पर 'धर्म-घोष' का आह्वान करने वाले इस सम्राट् (260-263 ई. पू.) के शासन-काल में महान बौद्ध नेता मोगलिपुत्र तिस्सा ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए 'नौ धर्मदूतों' ('नाइन मिशन') का आयोजन किया था, जो भारत और भारत के बाहरी देशों, यथा—श्री लंका, योन (यवन देश अर्थात् बैक्ट्रिया) तथा सुवर्णद्वीप (आधुनिक दक्षिण-पूर्व एशिया) में भी धर्म-प्रचार के लिए गये थे, जिनमें सोन तथा उत्तर एवं महेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अति प्राचीन काल से ही भारतीय सुवर्णद्वीप अथवा सुवर्ण-भूमि से परिचित थे और यदा-कदा दो नामों का उल्लेख **जातक** कथाओं, **कथाकोष** तथा **वृहत्कथा** एवं अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलता है। थेरवाद सम्प्रदाय में तो इसे अपेक्षाकृत बहुत अधिक महत्व दिया गया है। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ब्राह्मण धर्मदूतों' के आयोजन सम्बन्धी ऐसी किसी परम्परा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, जब कि यह निर्विवाद सत्य है कि ब्राह्मण धर्मोपदेशक भी एशिया के विभिन्न देशों में समय-समय पर धर्म-प्रचार के लिए गये थे जहाँ उन्होंने उपनिवेशों की स्थापना की थी। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं भारतीय ब्राह्मण पंडितों के कार्य-कलापों की चर्चा की गयी है।

II

एक ओर जहाँ दक्षिण-पूर्व एशिया (सुवर्णद्वीप) तथा पूर्व एशिया (चीन, जापान और कोरिया) में बौद्धधर्म तथा बौद्ध भिक्षुओं के सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, वहीं दूसरी और इस महान सांस्कृतिक आन्दोलन में ब्राह्मण धर्म-प्रचारकों तथा पंडितों की अमूल्य देन का साहित्य में कहीं कोई खास उल्लेख नहीं मिलता जबकि शताब्दियों तक उन देशों के सांस्कृतिक कार्य-कलापों तथा राज-दरबारों में उनका बोलवाला रहा। यह ब्राह्मण पंडितों तथा बौद्ध भिक्षुओं की धर्म-प्रचार-भावना का ही परिणाम था कि भारत के विभिन्न भागों से भारतीय हिन्दचीन प्रायद्वीप तथा 'ईष्ट इंडीज' में जा बसे। ब्राह्मण पंडितों ने स्थानीय महिलाओं से विवाह कर उन सुदूर देशों में स्थायी रूप से अपना घर बना लिया। उनकी श्रेष्ठ संस्कृति ने धीरे-धीरे वहां के समाज को इस प्रकार प्रभावित किया कि उन्होंने संस्कृत और पालिभाषाओं के अतिरिक्त हिन्दू नाम, धर्म और रीति-रिवाजों को भी आत्मसात कर लिया। साथ ही, वहाँ बसनेवाले ये ब्राह्मण पंडित उनकी परम्पराओं को अपना कर धीरे-धीरे वहाँ के निवासियों में पूर्णरूपेण घुल-मिल गये।[3]

मलयेशिया के एक छोटे प्रदेश 'त्वेन-सुइन' में इसी प्रकार के एक नूतन उपनिवेश के निर्माण का आंखोंदेखा वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है—

"इसका बाजार प्राच्य एवं पाश्चात्त्य देशों का मिलन-स्थल है जहाँ प्रतिदिन दस हजार से भी अधिक लोग व्यापार के लिए आते हैं, जिनमें भारतीय व्यापारियों के अतिरिक्त पर्थिया तथा दूर-दूर

के देशों के व्यापारी हुआ करते हैं जो कीमती तथा दुर्लभ सामग्रियों का आदान-प्रदान करते हैं। यहाँ के निवासियों में पाँच सौ व्यापारियों के परिवारों के अतिरिक्त दो सौ बौद्ध तथा एक हजार से अधिक भारतीय ब्राह्मण हैं। त्वेन-सुइन के निवासी उनके धर्म के अनुयायी हैं तथा वे इन्हीं से (ब्राह्मणों से) अपनी पुत्रियों का विवाह भी करते हैं और वे यहाँ से नहीं जाते। दिन-रात वे धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते तथा फूल, फल और इत्र से देवी-देवताओं की पूजा करते हैं।[4] मलय प्रायद्वीप (जावा, सुमात्रा, बोर्नियों तथा बाली में) में तो ब्राह्मणों की संख्या काफी थी। और वहां के राज-दरबारों में विभिन्न अवसरों पर सारे धार्मिक कृत्य उन्हीं के द्वारा सम्पादित होते थे। इन द्वीपपुंजों में बाली का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण था और वह आज भी उस भूभाग में ब्राह्मण सभ्यता और संस्कृति का गढ़ माना जाता है। भारत तथा एशिया के अधिकांश भूभागों को देखते-देखते आप्लावित कर देनेवाली इस्लामी लहर पहली बार यहीं आकर अवरूद्ध हो गयी थी। बाली की धरती से टकराने पर इस्लाम ने भी मानो इसकी सांस्कृतिक श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। यहाँ के निवासियों से सम्पर्क स्थापित होने पर ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ इस्लाम का स्वरूप किस प्रकार परिवर्तित हुआ–यह आज भी एक गम्भीर गवेषणा का विषय है।

III

श्याम (थाइलैण्ड)

पूर्व-मध्यकाल में **श्याम** भी ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। थाई-ग्रन्थ **"राउंग नांग नम्बास"** (रानी नम्बास की कहानीं)[5] में थाई राज-दरबार में ब्राह्मण पंडितों के प्रभाव का विस्तृत वर्णन मिलता है। थाई राजवंश एवं सामन्तकाल में ब्राह्मण-परम्परा तथा अन्य रीति-रिवाजों के प्रभाव को जानने के लिए यह ग्रन्थ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की लेखिका राजदरबार के एक ब्राह्मण विद्वान् तथा ज्योतिषी की पुत्री थी जिसे सुखोदय राजवंश का संरक्षण प्राप्त था।

अयोध्या (अयुध्या) शासन-काल में भी ब्राह्मणों का राजदरबार में काफी प्रभाव था। इनमें से कुछ तो कम्बोडिया (कम्बुज देश) से आये थे, कुछ मलय प्रायद्वीप से और कुछ उत्तर तथा दक्षिण भारत से।[6] ये पंडित (पुरोहित) राजदरबार के विभिन्न कार्य-कलापों में सक्रिय भाग लेते थे–जैसे राजाओं को संभावित घटनाओं से अवगत कराना,[7] पंचांग तैयार करना, राजकीय पर्व-त्योहारों के लिए शुभ तिथियों का निर्णय करना तथा सबसे महत्वपूर्ण राज्याभिषेक में सक्रिय भाग लेना और उसे हिन्दू रीति से सम्पन्न कराना।[8]

बर्मी सेना द्वारा 1767 ई. में अध्योध्या साम्राज्य के विनाश के बाद अधिकांश ब्राह्मण पंडित भागकर नगर-श्री धर्मराज चले गये और जब अयोध्या साम्राज्य की पुनर्स्थापना हुई तो सम्राट् ताक ने उन पंडितों को फिर से अपने दरबार में बुलाया और उनके खोये हुए उपकरणों को जुटाने का प्रयास किया। सम्मानित विधि-वेत्ता सम्राट् राम त्रिवोदी प्रथम द्वारा प्रणीत प्रथम **थाई-संहिता** में बाद में चलकर **मनु-संहिता** के बहुत से अंश जोड़े गये[9] जिससे स्पष्ट है कि बौद्धधर्मावलम्बी होते हुए भी थाई सम्राट् ब्राह्मण पंडितों तथा देवी-देवताओं का कितना आदर करते थे।

विभिन्न ऐतिहासिक तथा साहित्यिक स्रोतों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि श्याम तथा हिन्द-चीन प्रायद्वीप में ब्राह्मण धर्म का प्रचार प्रथम शताब्दी में हुआ था । इसके प्रथम प्रणेता मिथिला (आधुनिक उत्तर विहार) के निवासी तथा कौण्डिन्य गोत्र के प्रवर्तक ब्राह्मण[10] कौण्डिन्य (चीनीः हुनतिएन) थे जिन्होंने फूनान रज्य की स्थापना की थी । इनके बाद और भी बहुत से ब्राह्मण पंडित आये जिन्होंने हिन्द-चीन में शैवमत की नींव सुदृढ़ की ।[11]

राजा कौण्डिन्य ने फूनान की महिला लिउ-येह (सोमा ?) से विवाह किया और उससे एक पुत्र हुआ जिसने वहाँ प्रथम कौण्डिन्य राजवंश की स्थापना की । इस राजवंश ने हिन्द चीन प्रायद्वीप में ब्राह्मणधर्म, शिव (महेश्वर) की पूजा, दक्षिण भारतीय लिपि का प्रचार[12], रामायण, महाभारत तथा पुराणों की लोकप्रियता, संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन, धर्मशास्त्र, विशेषकर **मनु-संहिता** तथा अन्य ब्राह्मण-पररम्पराओं को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाने में काफी योगदान दिया ।

दक्षिण-पूर्व एशिया के और देशों की भाँति ही थाईलैण्ड के सांस्कृतिक उत्थान में ब्राह्मण पुरोहितों और पण्डितों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । राजदरबार में उनकी उपस्थिति के फलस्वरूप हिन्दू धर्म के प्रति वहाँ के लोगों में काफी आस्था थी । वास्तविकता तो यह है कि ब्राह्मण धर्म ने वहाँ के जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र-कला, पर्व-त्योहार, रीति-रिवाज और राजनीति को प्रभावित किया था । चाहे रज्याभिषेक हो अथवा मुण्डन-संस्कार, अधिकारियों द्वारा शपथ-ग्रहण, राजकीय विवाह अथवा दाह-संस्कार सभी कार्यों में इन पंडितों की उपस्थिति अनिवार्य थी । वे राजा के स्वप्नों की व्याख्या करते, युद्ध में विजय अथवा पराजय की गणना करते तथा दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि और अनावृष्टि की भविष्यवाणी करते ।[13] तात्पर्य यह है कि जन्म से मरण तक राज-दरबार में इनकी प्रधानता थी ।

थाईलैण्ड के सुखोदय शासक यद्यपि बौद्ध थे, फिर भी उन्होंने कम्बुज की भांति ब्राह्मण-परम्पराओं तथा धार्मिक सम्प्रदायों को पूरा-पूरा संरक्षण दिया। शिव की प्रतिमा पर अंकित एक अभिलेख (1510 ई.) से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम सम्पेंगफेट के शासक धर्माशोक ने शिव-पूजा का प्रारंभ किया था । तकुआपा अभिलेख से स्पष्ट है कि आठवी-नवीं शताब्दी में श्याम में भगवान् विष्णु के मंदिर की स्थापना हुई थी ।[14] यह अब निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि बौद्धधर्म के पहले ही ब्राह्मण धर्म श्याम पहुँच चुका था जिसकी प्रारंभिक वैष्णव परम्परा की पुष्टि वहां के विभिन्न स्थानों के नामों से होती है–यथा **"फ्रा नराइ"** (विष्णु ग्राम) अथवा **"खाव-नराइ"** (विष्णु-पर्वत) आदि । साथ ही वहां प्राप्त गरुड़ासीन विष्णु तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु (लक्ष्मी-नारायण) की मूर्तियाँ इस धारणा को और भी पुष्ट करती हैं ।

थाईलैंड के महान शासक रामकैंमहेंग के शासन-काल में ब्राह्मण धर्म को काफी प्रोत्साहन मिला । राजपंडित तथा ज्योतिषी की पुत्री नोपामस उसकी पत्नी थी । रामकैमहेंग यद्यपि स्वयं बौद्ध थे, फिर भी उनके दरबार में ब्राह्मण पंडितों का एक पूरा दल ही रहता था जो राजकाज में सहायता करते थे[15] । एक दूसरे थाई शासक लु-थाइ (लिदैथ) ने तो **श्रीसूर्यवंश रामनहाधर्म**

राजाधिराज[16] की ब्राह्मण उपाधि ही धारण कर ली थी। उसके शासन-काल में तो श्रमण (बौद्ध) और ब्राह्मण-दोनों का समान आदर था। बुद्ध की मूर्ति के अतिरिक्त उसने अपने शिल्पियों को आदेश देकर महाक्षेत्र के देवालय (मंदिर) में पूर्वाषाढ़ के ग्यारहवें दिन परमेश्वर तथा विष्णु की मूर्त्तियों की स्थापना की जहां श्रमण (संन्यासी) तथा ब्राह्मण-दोनों पूजा करते थे [17]। बैंकाक-युग में भी चाकरी वंश के शासकों ने इस परम्परा को कायम रखा है। इस युग के विभिन्न राज-उत्सवों में दक्षिणात्य शैव पर्व **तिरूवेमबवइ-तिरूवप्पइ**, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस अवसर पर जिन पवित्र मंत्रों का उच्चारण किया जाता है उनका बहुत कुछ सम्बन्ध कम्बोडिया के **'देवराजसम्प्रदाय'** से है[18]।

सच तो यह है कि थाई राज-दरबार भी चमक-दमक, ठाट-बाट और आडम्बर में भारतीय राज-दरबार की तरह ही था जिसमें एक-से-एक ब्राह्मण पंडित, पुरोहित, राजगुरू, मंत्री, अधिकारी, ज्योतिषी तथा राजवैद्य थे। इन ब्राह्मण पंडितों का महत्त्व राज-दरबार में कितना था उसका अनुमान सिर्फ इस बात से लगाया जा सकता है कि राजा बोरोमत्रैलोकनाथ ने अपने शासन-काल में 'लुक खुन शाल लुआंग' (ब्राह्मणों का सर्वोच्च न्यायलय') अथवा 'राजदरबार के न्यायधीश' की स्थापना की थी जिसमें बारह ब्राह्मण सदस्य थे जो धर्मशास्त्र तथा अन्य शास्त्रीय विधाओं में दक्ष माने जाते थे[19]। बारह पंडितों में प्रधान 'फ्रा महाराज गुरु पुरोहित' तथा 'फ्रा महाराज गुरु महीघर' थे जिन्हें विशिष्टता के आधार पर 'चाओ फ्रय' अथवा सेनाध्यक्ष की श्रेणी में रखा गया था। ये न्यायाधीश तथा मूल्यांकन ('फु विखक्ष') का भी कार्य देखते थे।

सम्प्रति थाई राज-दरबार में ब्राह्मण पंडितों की संख्या बहुत ही कम रह गयी है। बैंकाक में आज भी एक ही स्थान पर तीन मंदिर हैं जिनमें शिव, विष्णु, महेश (त्रिमूर्ति) तथा गणेश की पूजा होती है[20]। इन पंक्तियों के लेखक ने भी उन मंदिरों का निरीक्षण किया है और उनमें आज भी उन्हीं ब्राह्मणों के वंशज पूजा-पाठ करते हैं। इनमें से कुछ तो वैष्णव सम्प्रदाय के हैं और कुछ शैव सम्प्रदाय के। ये अब संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते, यद्यपि पूजा अथवा पर्व-त्योहार के समय टूटे-फूटे संस्कृत मंत्रों का भी उच्चारण करते हैं, जिनके अर्थ से ये पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। इन संस्कृत मंत्रों में तमिल मंत्र की प्रधानता है[21]।

वहाँ के ब्राह्मणों की ऐसी धारणा है कि उनके पूर्वज भारत के उत्तर प्रदेश-स्थित बनारस अथवा वाराणसी से यहाँ आकर बसे थे, यद्यपि अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से यह स्पष्ट है कि प्रारंभ में कम्बोडिया (कम्बुज देश) से भी कुछ ब्राह्मण यहाँ लाये गये थे[22]। संभवतः दोनों विवरण सही हैं, कारण जैसा कि हम जानते हैं, भारत के विभिन्न भागों से समय-समय पर बौद्ध भिक्षुओं की तरह ब्राह्मण पंडित भी उन देशों में जाते रहे और स्थानीय महलिाओं से विवाह कर वहीं सदा के लिए बस गये। यही कारण है कि आज भी बैंकाक में उत्तर भारत और दक्षिण भारत के ब्राह्मण रहते हैं जो 'फ्राम' (ब्राह्मणः के नाम से लोकप्रिय हैं। ये ब्राह्मण अधिकतर उन्हीं तीन मंदिरों के आसपास रहते हैं।

इस प्रकार अति प्राचीन काल से आजतक वहां के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के विकास में ब्राह्मण पंडितों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहना उचित प्रतीत होता है कि बेन्डन की खाड़ी के चतुर्दिक का क्षेत्र बृहत्तर प्राच्य संस्कृति का उद्‌गम-स्थाल था जिसे तकुआ-पा के मार्ग से आनेवाली भारतीय संस्कृति की उद्दाम लहरें आप्लायित करती रहती थीं। आज भी हमें जहाँ एक ओर तकुआ-पा के निकट पश्चिमी किनारे पर भारतीय कद, वेश-भूषा के लोग मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर नेखोन-श्री धम्मरात तथा पातलुंग में भारतीय ब्राह्मणों के वंशजों की बस्ती मिलती है जिनका विश्वास है कि उनके पूर्वज मलय प्रायद्वीप के स्थल-मार्ग से आकर यहाँ बसे थे[23]।

कम्बोडिया

सुवर्णद्वीप में कम्बोडिया अथवा कम्बुज देश का स्थान कई दृष्टियों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यहां अबतक जितने संस्कृत अभिलेख मिले हैं उतने अभिलेख अन्यत्र कहीं नहीं पाये गये हैं। लगभग बारह सौ वर्षों तक ब्राह्मण धर्म एवं दर्शन का वह प्रधान केन्द्र रहा। भारतीय राजवंशों की परम्परा वहां कई सौ वर्षों तक अक्षुण्ण रही। सर्वप्रथम वहीं **'देवराज-सम्प्रदाय'** के नाम से एक नूतन शैव सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप राजवंश की भांति वहां पुरोहित वंश (पंडितों) की भी वंशानुगत परम्परा स्थापित की गयी जिसके सर्वप्रथम प्रधान शिवकैवल्य थे। वहां के अभिलेखों में ब्राह्मण-पंडितों के साथ-साथ उनकी कार्यविधियों की पहली बार विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है।

कम्बोडिया के कुछ संस्कृत अभिलेख तो ख़ण्डकाव्य की तरह हैं जिनकी विलक्षण शैली तथा काव्यात्मक भाषा पढ़ते ही बनती है। इन अभिलोखों से जहां एक ओर कम्बोडिया के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, वहीं दूसरी ओर उसके धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन में ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण भूमिका का रोचक वर्णन मिलता है। प्राचीन काल में कम्बुज राजवंश की यह विशेषता थी कि उसके सम्राट तथा आध्यात्मिक प्रधान के बीच घनिष्ट सम्बन्ध था, कारण वहां के राजकुमारों को प्रारंभ से ही दक्ष धार्मिक आचार्यों (ब्राह्मण पंडितों) द्वारा शिक्षा दी जाती थीं[24]।

कम्बोडिया के राज-परिवार तथा पुरोहित (ब्राह्मण) परिवार के बीच यदा-कदा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने के कारण भी वहां के सामाजिक, जीवन में ब्राह्मणों का बहुत ऊंचा स्थान हो चला था और इसका सारा श्रेय ब्राह्मण कौण्डिन्य को है जिसने फूनान तथा कम्बुज साम्राज्य की स्थापना कर सर्वप्रथम कम्बुज की राजकुमारी सोमा से विवाह किया था[25]। कम्बुज में प्रचलित एक जनश्रुति के अनुसार ब्राह्मणों का पहला दल जावा से यहां आया और उन्होंने राज्य की स्थापना की। कहते हैं, सर्वप्रथम ब्राह्मण पंडित वाराणसी (उत्तर प्रदेश) से आये जो सामान्यतया काले रंग के और लम्बे बाल वाले होते थे [26]। ऊपर इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि तुएन-सुइन गांव में एक हजार ब्राह्मण रहते थे स्थानीय महिलाओं से विवाह कर उन्हें धर्म में परिवर्तित कर दिया था।

कम्बुज के एक अभिलेख[27] (713 ई.) के अनुसार सम्राट जयवर्मन प्रथम की पुत्री का विवाह शैव सम्प्रदाय के ब्राहाण शक्र स्वामी से हुआ था जिनका जन्म भारत में हुआ था।

शक्रस्वामी वेद और वेदान्त के पारंगत विद्वान् थे । राजा जयवर्मन द्वितीय की पत्नी भासस्वामिनी एक वैष्वण ब्राह्मण की पुत्री थी[28] । दक्षिण भारत की कालिन्दी नदी के तट पर वास करने वाले पंडित-दिवाकर भट्ट ने राजा राजेन्द्रवर्मन की पुत्री तथा जयवर्मन पंचम की बहन राजकुमारी राजलक्ष्मी से विवाह किया था ।[29] प्राहबाट स्टेले अभिलेख[30] से ज्ञात होता है कि अगस्त्य नाम के एक ब्राह्मण पंडित का विवाह राजकुमारी यशोमति से हुआ था । कम्बुज के महान् शक्तिशाली सम्राट् जयवर्मन सप्तम के राजगुरु भारद्वाज गोत्र के पंडित हृषीकेश की बड़ी पुत्री प्रभा का विवाह जयवर्मन अष्टम से हुआ था ।[31] चेनला के प्रथम शासक राजा भववर्मन प्रथम की पुत्री का विवाह एक भारतीय ब्राह्मण से हुआ था और इन दोनों पति-पत्नी ने मेकांग नदी के तट पर स्थित एक मंदिर को रामायण, महाभारत तथा पुराण की प्रतियाँ भेंट की थीं [32] इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि कम्बुज के क्षत्रिय राज परिवार से ब्राह्मणों का वैवाहिक सम्बन्ध होने के फलस्वरूप कम्बुज देश में एक नये वर्ग 'ब्रह्मक्षत्र' वंश[33] का उदय हुआ जिसकी चर्चा वहाँ के अभिलेखों में यत्र-तत्र मिलती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कम्बोडिया के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म का प्रभुत्व कायम हो चुका था । और तो और, यहाँ के सम्राट्, सामंत तथा पुरोहित सब संस्कृत नाम धारण कर चुके थे । राज-दरबार के पंडित उच्च कोटि के कवि थे जिन्होंने संस्कृत में विलक्षण शैली में लम्बे-लम्बे अभिलेखों की रचना की थी । राजकुमारियों को पाणिनि व्याकरण (सिद्धान्तकौमुदी) और षड्दर्शन की शिक्षा दी जाती थी । शास्त्रोत्सव (साहित्यिक सभा) का आयोजन किया जाता था जिसमें ब्राह्मण विदुषियाँ भी भाग लेती थीं और उनकी विद्वत्ता के लिए उन्हें सम्मानित किया जाता था ।[34] छठी शताब्दी के एक अभिलेख में वेदों के अध्ययन तथा अनवरत रामायण, महाभारत तथा पुराणों के पाठ की चर्चा मिलती है । राजदरबार के पुस्तकालयों में शास्त्रों की सभी विधाओं के ग्रन्थ प्रचुर मात्रा में रखे जाते थे । शासकगण ब्राह्मणों के परामर्शानुसार जातिव्यवस्था का भी संगठन करते थे । आज भी कम्बोडिया में ऐसे ब्राह्मण-परिवार पाये जाते हैं जिनके पास बंगला लिपि में वैदिक मंत्र (वैदिक उच्चारण के साथ) भागवत-पुराण जैसे पौराणिक ग्रंथ तथा बर्मी भाषा में ज्योतिष ग्रन्थ अथवा चाणक्य-शतक (संस्कृत) सुरक्षित पाये जाते हैं ।[35]

अन्य ब्राह्मणों के अतिरिक्त कम्बुज अभिलेख में दो ऐसे भारतीय ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने सम्राट् जयवर्मन पंचम के समय कम्बुज देश में जमीन खरीदकर शिव-मंदिर का निर्माण कराया था । आर्यदेश (भारत) के एक दूसरे ब्राह्मण, वेदों और आगमों में पारंगत, पंडित सर्वज्ञ-मुनि थे जो इसी अवधि में कम्बुज देश आये थे ।[36] वह भगवान् शंकर के उपासक थे और उनके वंशज वहाँ बड़े-बड़े सरकारी पदों पर आसीन थे । वामशिव दूसरे ब्राह्मण पंडित थे जो भारत से आकर सम्राट् इन्द्रवर्मन के पुरोहित के रूप में काम कर रहे थे ।[37]

किन्तु कम्बुज राज-दरबार में भारत से आने वाले सभी पंडितों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिरण्यदास थे । तंत्र तथा संस्कृत वाङ्मय की समस्त विधाओं में पारंगत इस ब्राह्मण पंडित के

सम्बन्ध में हमलोगों को विस्तृत जानकारी सॉंक कॉंक टॉम अभिलेख से मिलती है। अभिलेख में कहा गया है कि पंडित हिरण्यदाम भारतवर्ष के निवासी थे और कम्बुज की राजधानी में देवराज सम्प्रदाय की स्थापना के लिए तांत्रिक पूजा सम्पन्न करने सम्राट् जयवर्मन ने उन्हें अपने दरबार में निमंत्रित किया था (802-850 ई.)[38]। अभिलखों में पंडित सदाशिव अपने परिवार का इतिहास बताते हुए कहते हैं कि देवराज सम्प्रदाय की पूजा का वंशानुगत अधिकार सम्राट् द्वारा उनके परिवार को ही दिया गया था।[39] अभिलेख में यह भी कहा गया है कि किस प्रकार सम्राट जयवर्मन द्वितीय जावा से कम्बुज-स्थित इन्द्रपुर आये और वहाँ उन्होंने शिवकैवल्य को अपना गुरु तथा राजपुरोहित नियुक्त किया और फिर महेन्द्रपर्वत पर नयी राजधानी स्थापित करने के बाद तांत्रिक हिरण्यदाम द्वारा देवराज सम्प्रदाय की स्थापना हुई जो राजपुरोहित शिवकैवल्य को तांत्रिक विद्या की सभी विधाओं में दीक्षित कर भारत लौट आये। तदनन्तर सम्राट् ने राजाज्ञा जारी कर शिवकैवल्य के परिवार को राजपुरोहित का वंशानुगत अधिकार प्रदान किया।[40] शिवकैवल्य के मरणोपरांत पंडित सूक्ष्मबिन्दु राजपुरोहित हुए और उनके बाद उनके अन्य उत्तराधिकारी–जिनका वर्णन उपरोक्त अभिलेख में मिलता है।

देवराज सम्प्रदाय के अंतिम पुरोहित पंडित सदाशिव (1050-1066 ई.) थे जो सम्राट यशोवर्मन के गुरु भी थे। वह एक अद्वितीय ब्राह्मण थे जिन्हें संगीत, कला, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, तंत्र आदि सभी विधाओं में समान दक्षता प्राप्त थी। उन्होंने व्याकरण की शिक्षा अपने गुरु स्वनामधन्य वागीन्द्र कवि[41] से ली थी। उक्त अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि पंडित सदाशिव का विवाह सम्राट् सूर्यवर्मन प्रथम (1002-1050 ई.) की बहन से हुआ था, जिसके फलस्वरूप वह धार्मिक समारोहों में सक्रिय भाग नहीं लेते थे। उन्हें राज-पुरोहितों की उपाधि से विभूषित कर सम्राट् ने राज्य के एक सर्वोच्च पदाधिकारी के रूप में सम्मानित किया था।[42] सूर्यवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् वह उदयादित्य वर्मन् द्वितीय के गुरु के रूप में आदृत हुए और उन्हें सर्वोच्च राजकीय उपाधि प्रदान की गयी।[43] सदाशिव ने एक अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाया था जिसका उद्देश्य अपने परिवार की महानता से आनेवाली पीढ़ियों को अवगत कराना था। साथ ही पंडित हिरण्यदाम की स्मृति में उन्होंने ब्रह्मा की मूर्ति तथा अपना पूर्वज शिवकैवल्य एवं पंडित शिवाश्रम की स्मृति में हरिहर की मूर्ति स्थापित की। ये दोनों शिवकैवल्य परिवार के शिवाश्रम के सह-संस्थापक थे जिनकी मूर्तियाँ भद्रनिकेतन (सॉक कॉक टॉम) के छोटे मंदिर में स्थापित की गयी थीं जिसमें उक्त अभिलेख उत्कीर्ण किया गया था।[44] इनके अतिरिक्त इस परिवार में पंडित शिवाचार्य भी हुए थे जो प्रतिदिन देवराज की अर्चा-पूजा बड़ी श्रद्धा से करते थे।[45] साथ ही यशोवर्मन के गुरु पंडित वामशिव तथा जयवर्मन चतुर्थ के 'होतार' (होतृः पुरोहित) ने यशोधर गिरि तथा कोन-केर-स्थित प्रोसात टॉम पर शिवलिंग की स्थापना की थी।

एक दूसरे अभिलेख (प्रसात कंडोल अभिलेख) से ज्ञात होता है कि पंडित शिवसोम सम्राट् इन्द्रवर्मन के गुरु थे। पुराण, महाकाव्य, शैव व्याकरण, पाणिनीय व्याकरण, तर्कशास्त्र, छन्दशास्त्र

(पिंगल) तथा अन्य विधाओं में उनकी ऐसी प्रखर प्रतिभा थी कि लोगों के बीच वे 'रुद्र' (शिवः) नाम से लोकप्रिय थे। एक अन्य अभिलेख में महापंडित विद्यादेश की चर्चा की गयी है जो व्याकरण, वैशेषिक, न्याय, सांख्य तथा बौद्धमत के अधिकारी विद्वान् माने जाते थे। उन्होंने ईशानवर्मन प्रथम के शासन-काल में एक शिवलिंग की स्थापना भी की थी।[46] इनके अतिरिक्त अभिलेखों में विद्यापुष्प, दुर्गस्वामिन्, शक्रस्वामिन्, श्रीस्वामिन्, अमरभव, श्रीसत्यश्रय, योगीश्वर, चैतन्यशिव, शिखाशिव, सोमेश्वर भट्ट, यज्ञवराह, विष्णु कुमार, राजेन्द्र वैद्य, कीर्त्ति पंडित, वागीश्वर पंडित, पंचगव्य, स्वनामधन्य कवीन्द्र पंडित योगीश्वर पंडित, भूपेन्द्र पंडित, हिरण्य, सिद्धर्शी, शिखर, कण्ठ पंडित, दिवाकर तथा अन्य कई महान् पंडितों का उल्लेख मिलता है जो राजदरबार में सम्मानित थे।[47]

ऊपर मात्र ऐसे ब्राह्मण पंडितों के क्रियाकलापों का परिचय दिया गया है जो कम्बुज देश जाकर बस गये और राज-परिवार से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर वहाँ के धार्मिक, आध्यात्मिक तथा साहित्यिक जीवन पर छा गये। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि इस सम्पर्क के फलस्वरूप डेढ़ हजार वर्षों तक कम्बुज का सांस्कृतिक जीवन भारतीय सांस्कृतिक जीवन का ही जीवित प्रतिबिम्ब था।[48] इस तरह भारतीय ब्राह्मण पंडित कम्बुज के सांस्कृतिक जीवन के अभिन्न अंग बन गये और उनके उपदेशों तथा विचारों को लोग अत्यन्त श्रद्धा से सुनते और स्वीकार करते थे। एक अभिलेख में तो यहां तक कहा गया है कि "इन पंडितों ने अपने ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान के अंधकार को समाप्त कर दिया और सूर्य रश्मि की भांति प्रखर इनके वेदान्त-ज्ञान से वहाँ का आध्यात्मिक जीवन चतुर्दिक आलोकित हो उठा"।[49]

V

चम्पा (वीयतनाम)

कम्बोडिया की भांति ही चम्पा में भी ब्राह्मण-संस्कृति का काफी प्रभाव था जिसका सबसे बड़ा प्रमाण वहाँ के राज-दरबार तथा सामान्य नागरिकों में संस्कृत भाषा और साहित्य की लोकप्रियता थी। चम्पा के प्रायः सभी शासकों नें संस्कृत भाषा और साहित्य के उत्तरोत्तर उत्थान और विकास के लिए अनवरत प्रयास किये। भारतीय महाकाव्यों–रामायण तथा महाभारत में तो उनकी रुचि अभूतपूर्ण थी।[50]

चीन के ऐतिहासिक विवरणों में चम्पा के वैवाहिक समारोह का जो वर्णन आया है, उससे हमें ज्ञात होता है कि वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में ब्राह्मण पंडितों की भूमिका सर्वोपरि थी। चम्पा के वैवाहिक समारोह तथा भारतीय वैवाहिक पद्धति में बहुत कुछ समानता थी। वैवाहिक सम्बन्धों का अंतिम निर्णय ब्राह्मण ज्योतिषियों द्वारा किया जाता था। सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर लग्न और तिथि निर्धारित करना और पवित्र वैदिक मंत्रोच्चारण द्वारा विवाह सम्पन्न कराना भी उन्हीं का उत्तरदायित्व था।

सुवर्ण द्वीप के अन्य देशों में ब्राह्मण पंडितों की भूमिका का जो वर्णन हमें मिलता है, वैसा चम्पा के सम्बन्ध में नहीं मिलता। फिर भी यत्र-तत्र अभिलेखों एवं वहां के साहित्य से जो साक्ष्य मिलते हैं, उनसे यह तो स्पष्ट है कि वहां के सामाजिक तथा धार्मिक जीवनमें ब्राह्मणों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था।

VI

मलय प्रायद्वीप (हिन्देशिया)

ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह अब निश्चित हो चुका है कि पांचवी शताब्दी के प्रारंभ में ही ब्राह्मण धर्म हिन्देशिया में अपनी जड़ जमा चुका था। चीनी यात्री फाहियान (414 ई,) के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि जावा में ब्राह्मणों का बोलवाला था तथा वहां बौद्धधर्म नहीं के बराबर था। दूसरे शब्दों में जावा के नागरिकों में ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी जिसकी पुष्टि ह्वेनसांग ने भी अपने विवरण में की है। उसके अनुसार वहाँ शैव सम्प्रदाय की प्रधानता थी और हिन्देशिया का सांस्कृतिक जीवन भारतीय संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित था।[51]

जावा के दो महत्त्वपूर्ण प्राचीन जावानी ऐतिहासिक ग्रन्थों—**नगरकृतगम** तथा **पररतन**—से हमें वहां के राज-दरबार तथा तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की भूमिका का पता चलता है। **पररतन** (शासकों की पुस्तक; 1613 ई,) में मजपहित शासकों के पूर्वज केन अंग्रोक से लेकर उस साम्राज्य के पतन (1478 ई.) तक की सारी घटनाओं का विशुद्ध वर्णन किया गया है। नगरकृतगम का प्रारंभ भी उसी समय (1613 ई.) से होता है, किन्तु उसमें हमें राजा हयम वुहल के शासन-काल (1365 ई.) तक की घटनाओं का ही उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता प्रपंच नामक एक ब्राह्मण पंडित थे जिन्हें उस सम्राट के द्वारा दरबारी कवि के रूप में संरक्षण प्राप्त था।[52] इन ग्रन्थों में कई ऐसी जनश्रुतियों का उल्लेख मिलता है जिनसे वहाँ के सामाजिक और धार्मिक जीवन में ब्राह्मणों के महत्व पर काफी प्रकाश पड़ता है।[53]

यह कहना तो कठिन है कि ब्राह्मण धर्म का उदय हिन्देशिया में कब हुआ, किन्तु पाँचवीं सदी के अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मण धर्म का प्रभाव इस समय तक यहाँ काफी फैल चुका था। ब्राह्मण, संस्कृति के उद्‌भव और विकास के पीछे कौन से कारण थे—इस सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं है और न ही हम उन ब्राह्मण पंडितों तथा गुरुओं के नाम जानते हैं जिन्होंने वहाँ के सम्राट् मूलवर्मन को, प्रस्तर-यूपों तथा उन पर उत्कीर्ण सात संस्कृत अभिलेखों के माध्यम से 'बहुसुवर्णक यज्ञ' करने के लिए अनुप्रेरित किया था। इन अभिलेखों में इस यज्ञ के अतिरिक्त अन्य अनुष्ठित यज्ञों तथा उनमें प्रदत्त दानदक्षिणा की भी चर्चा की गयी है। किन्तु इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि ये अभिलेख जावा और बोर्नियो के राजदरबार में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

जावा की विधि-व्यवस्था भी मूलतः ब्राह्मण-संस्कृति से प्रभावित थी यद्यपि स्थानीय परम्पराओं को दृष्टि में रखकर उसमें यत्र-तत्र संशोधन किये गये थे। बाली और जावा की लिखित

विधि-संहिता बहुत कुछ भारतीय धर्मशास्त्र अथवा स्मृति-ग्रन्थों से मिलती जुलती है। जावा में प्राप्त एक अभिलेख (दिनय अभिलेख, 760 ई.) में उल्लिखित अगस्तत्य-सम्प्रदाय ताथा अगस्त्य मंदिर का निर्माण तत्कालीन राजवंश तथा शैव सम्प्रदाय एवं दरबारी ब्राह्मण पंडित के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं।[54] इस कथन का समर्थन प्राचीन जावानी काव्य हरिवंश (1150 ई.) से भी होता है जिसमें कहा गया है कि दरबार में संरक्षण पाने वाले एक कवि-मुनि (अगस्त्य) के अवतार थे और उनके संरक्षक सम्राट् विष्णु के अवतार।[55]

मुसलमानी आक्रमण के फलस्वरूप मजपहित साम्राज्य का पतन हो जाने के पश्चात् हिन्दू संस्कृति को बाली में संरक्षण मिला। जहाँ तक हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रश्न है, दक्षिण-पूर्व एशिया में उसकी अंतिम शरण-स्थली के रूप में हिन्देशिया (बाली) ने वही भूमिका निभाई जो इससे पहले भारत पर मुसलमानी आक्रमण के बाद तिब्बत ने बौद्ध धर्म के लिए निभायी थी।[56] प्रचलित जनश्रुति के अनुसार मजपहित साम्राज्य के पतन के कुछ समय पहले भारत से यहाँ शैव सम्प्रदाय के अनेक ब्राह्मण पंडित आये थे जो भाग कर बाली चले गये। आज भी बाली के इन ब्राह्मणों की यह मान्यता है कि इनके पूर्वज पदण्ड (पंडित) बाहु रवुह 'नवागत' थे। वाली-स्थित ब्राह्मणों की पाँच शाखाएँ अपने को इसी पंडित ब्राह्मण का वंशज मानती हैं।

बाली का पूर्णरूपेण ब्राह्मणीकरण हो चुका था और वहां जानेपर किसी भी यात्री को वास्तविक भारतीय वातावरण का अनुभव होना स्वाभाविक है। स्वेलेनग्रेवेल महोदय के अनुसार आधुनिक काल में प्रकाशित बाली के अनेक ग्रंथों में हिन्दू शैली में ही धर्म, दर्शन, नैतिकता, पूजा आदि विषयों का प्रतिपादन मिलता है। आज भी इस दृष्टि से वहाँ इस्लाम निरर्थक-सा लगता है।[57] वहाँ पर वेद, आगम, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, उपदेश, व्याकरण, आयुर्वेद, इतिहास (काकविन), काव्य (छन्दशास्त्र), ऐतिहासिक ग्रन्थ, तथा तंत्र सम्बन्धी अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रंथ पाये गये हैं जिनका निरंतर अध्ययन किया जाता था। प्रसिद्ध फांसीसी विद्वान् सिलवाँ लेवी के अनुसार "किसी भी स्थानीय पुरोहित (पदंड) के घर पहुँचने पर वहां नियमित रूप से सन्ध्या (भगवती दुर्गा) वंदन तथा भारतीय शैली में मंत्रोच्चारण की ध्वनि सुनना स्वाभाविक है। रहस्यमयी मुद्राओं में साधना-आराधना उनके दैनिक जीवन का अभिन्न अंग है। किन्तु आश्चर्य का विषय तो यह है कि ये (पुरोहित) जिन संस्कृत ग्रन्थों से मंत्रोच्चारण करते हैं, उनके अर्थ से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं।"[58]

यद्यपि वहां से उपलब्ध साहित्य और अभिलेखों में बहुत कम ब्राह्मण-पंडितों के नाम मिलते हैं फिर भी ब्राह्मणों की उपाधि जैसे शर्मा, पंडित, (पदण्डः धर्म-'छत्र-धारक) 'पुजारी' आदि शब्द अभिलेखों में यत्र-तत्र पाये जाते हैं जिससे समाज में उनकी प्रधानता का बोध होता है। ये पंडित संस्कृत मंत्रों के द्वारा सारे पवित्र समारोहों का सम्पादन करते, कभी भी भिक्षा या धन के लिए किसी के आगे हाथ नहीं फैलाते। वहाँ यह एक परम्परा सी हो गयी थी कि जो कोई पंडितों के पास किसी कार्य से जाता, वह उनके समक्ष कुछ धन रख देता जिसका कुछ भाग तो पंडित ले लेते और 'शेष अस्वीकार के रूप में छोड़ देते।' पंडित किसी के घर, चाहे वह राजा हो अथवा साधारण नागरिक,

बिना निमन्त्रण नहीं जाते । निमंत्रण देने वाला स्वयं उनके घर जाता और पंडितजी के दूसरे सम्बन्धियों के साथ एक जुलूसके रूप में उन्हें अपने घर ले आता । उनके बैठने का स्थान ऊँचा होता था और राजा और रंक-सब उनको एक-सा सम्मान देते थे । उनका महत्त्व वहाँ के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में कितना अधिक था इसका अनुमान मात्र इसी बात से लगाया जा सकता है कि जावा के मजपहित साम्राज्य के पाँच सदस्यीय मंत्रिमण्डल ('विश्वस्त पंच') में सब "आर्य" (विद्वान् ब्राह्मण) थे । इनमें दो मुख्य न्यायाधीश भी होते थे, जो इतने "आर्य" (श्रेष्ठ) थे कि लोग उनकी जीवन-शैली का अनुकरण करते ।[59] राज दरबार में तो ऋषियों और ब्राह्मणों की ही प्रधानता थी ।

केन्द्रीय जावा में प्राप्त दिनय अभिलेख (जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है) कई दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं । उसमें कहा गया है कि सम्राट् गजयन ब्राह्मणों के प्रबन्धक, संरक्षक तथा अगस्त्य मुनि के घोर उपासक थे जिन्होंने ऋषियों और सामन्तों की सहायता से शक संवत् 628 (760 ई.) में सुन्दर 'महर्षिभवन' का निर्माण कर वैदिक रीति से अगस्त्य कुम्भयोनि की मूर्ति उसमें स्थापित की थी ।[60] अभिलेख की अंतिम पक्तियों में इस बात की कामना की गयी है कि "जावा में रहने वाले अगस्त्य के वंशजों की उत्तरोत्तर प्रगति और कल्याण हो ।' इससे यह स्पष्ट है कि जावा में अगस्त्य सम्प्रदाय की प्रधानता थी । विद्वानों का यह कथन सही है कि चम्पा, कम्बुज तथा जावा (हिन्दोशिया) में "एक शिवलिंग, एक ब्राह्मण तथा एक राजवंश के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध" की एक समान परम्परा दिखाई पड़ती है । कम्बुज में जहाँ एक ओर सम्राट् जयवर्मन द्वितीय तथा देवराज सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक ब्राह्मण हिरण्यदम हैं तो वहीं दूसरी ओर चम्पा में राजवंश के परम्परागत पूर्वज तथा शैव सम्प्रदाय के संस्थापक उरोज और जावा में अगस्त्य । ये सब तथ्य इन राज्यों की उत्पत्ति के समान स्रोत की ओर संकेत करते हैं जिसकी चर्चा **देवदारु माहात्म्य** तथा **स्कन्द-पुराण** में भी मिलता है ।[61]

VII
वर्मा

मूलतः बौद्ध देश होने पर भी वर्मा में ब्राह्मण धर्म का काफी प्रभाव था । वहाँ के ऐतिहासिक विवरणों तथा प्राप्त ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियों से यह स्पष्ट है कि वहाँ पर ब्राह्मण मत के अनुयायियों की संख्या काफी थी ।[62] वर्मा के कुछ स्थानों के नाम से भी इस कथन की पुष्टि होती है—यथा "विस्सुनोम्यो' (विष्णुपुर अथवा 'विष्णु का नगर') । यह नाम प्राचीन प्रोम (हावजा) का था । वर्मा के एक ऐतिहासिक ग्रन्थ **महायजविन** से ज्ञात होता है कि प्राचीन प्रोम की स्थापना भगवान् विष्णु तथा उनके वाहन गरुड़ तथा चंडी और परमेश्वर (दुर्गा और शिव) से जुड़ी हुई है ।[63] इस ग्रन्थ में विष्णु को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित नहीं कर उन्हें ऋषि कहा गया है और यह नाम विष्णु के लिए ही आया है जिसका सबसे बड़ा प्रमाण '**मोन साहित्य**' है जिसमें श्रीक्षेत्र (आधुनिक जगन्नाथ पुरी) की स्थापना की कथा बहुत विस्तृत रूप से कही गयी है ।[64]

प्राचीन हावजा (प्रोम) छठी शताब्दी में वैष्णव सम्प्रदाय का एक प्रधान केन्द्र था, जहाँ बहुत बड़ी संख्या में ब्राह्मण रहा करते थे जो वैदिक रीतिसे अपने देवी-देवताओं की पूजा आराधना करते। साथ ही, वहाँ पर ब्रह्मा, गणेश तथा अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त विष्णु की विभिन्न शैली की मूर्तियाँ काफी अधिक संख्या में पायी गयी हैं।[65]

प्राचीन मोन साहित्य में ब्राह्मण पंडितों और पुरोहितों के काफी प्रसंग आये हैं जो राज-दरबार में धार्मिक समारोहों के अवसर पर पुरोहित के रूप में प्रमुख भूमिका निभाते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, कारण सुवर्णद्वीप में वर्मा से चम्पा तथा जावा, बाली और सुमात्रा के राजदरबारों में सर्वत्र ब्राह्मण पंडितों की अहम् भूमिका थी, भले ही वहाँ राजधर्म के रूप में बौद्धधर्म रहा हो अथवा ब्राह्मण धर्म। वर्मा के बौद्ध राजदरबार में विष्णु अथवा नारायण (मोन साहित्य में भी नारायण कहा गया है) के उपासक ये पंडित अत्यन्त मर्यादित एवं सम्मानित थे। किसी भी समारोह में भाग लेने के पहले वे नियमतः भगवान् विष्णु की पूजा अवश्य कर लेते जो वहां के थरब गेह अभिलेख से स्पष्ट है।[66] इस अभिलेख में विष्णुपूजासे सम्बन्धित ब्राह्मण-पंडितों के कार्य-कलापों की जो विशद् चर्चा की गयी है, वैसा वर्णन सुवर्णद्वीप में प्राप्त किसी भी अभिलेख में नहीं मिलता। सबसे मनोरंजक बात तो यह है कि इस पूजा-अर्चा की चर्चा बार-बार अभिलेखों में मिलती हैं जिससे यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि ब्राह्मणों में नारायण-पूजा कितनी लोकप्रिय थी।[67] भारत की भांति ही वहां भी विष्णु की पूजा प्रतिदिन की जाती थी जिसकी पुष्टि 'नाट-हुलांग-क्याउंग-' (पैगनः वर्मा) में एक मात्र अवशिष्ट विष्णु मंदिर के अवशेष से होती है जिसमें विष्णु तथा उनके दस अवतारों की मूर्तियां स्थापित की गयी थीं।[68]

एक अभिलेख में पैगन (वर्मा) में एक विष्णु-मंदिर की स्थापना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मेलमंडलम्-स्थित मगोदयपर्थनम् के निवासी तथा श्री कुलशेखर के शिष्य इरायिर न सिरियन नाम के एक संत ने वहां एक मण्डप तथा एक द्वार बनवाये। हुल्ज तथा अन्य विद्वानों ने इस मंदिर की चर्चा करते हुए इस बात पर जोर दिया है कि इसके निर्माण में भारत के विभिन्न भागों से आये हुए वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायियों का सक्रिय योगदान था।[69] वर्मा के राजदरबार में ब्राह्मणों का इतना अधिक प्रभाव था कि यहाँ के महान् सम्राट् अनवरत्थ (अनिरुद्ध) ने अपने दरबार के सर्वाधिक सम्मानित ब्राह्मण पुरोहितों को विष्णु मंदिर बनाने की अनुमति दी थी, कारण वह उन्हें अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे।[70]

मोन साहित्य तो मानो ब्राह्मणों के प्रभाव का वर्णन करते अघाता ही नहीं। उसमें वर्मा के महान् शक्तिशाली सम्राट् क्यान्जित्य के पूर्व जन्म की कथा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह एक जन्म में विष्णु था और फिर दूसरे जन्म में अयोध्या के राजा राम के वंश में पैदा हुआ।[71] यह जनश्रुति अपने आप में विलक्षण है, कारण इसमें प्रथम बार पुनर्जन्म सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्त का ब्राह्मण जनश्रुतियों से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। मोन साहित्य में तो संस्कृत शब्दों की भरमार हैं जिससे संस्कृत भाषा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। साथ ही बौद्ध

शासकों का राज्याभिषेक ब्राह्मण पंडितों द्वारा विशुद्ध वैदिक रीति से ही किया जाता था जिसका विशद् वर्णन वहां के साहित्य में पाया जाता है।

वहाँ के साहित्य में **'चतुर्वर्ण'** (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इनका वास्तविक स्वरूप क्या था यह कहना बड़ा ही कठिन है। विद्वानों का ऐसा मत है कि इस शब्द का मात्र परम्परागत व्यवहार अभिलेखों में हुआ है, वहां के वास्तविक सामाजिक जीवन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। राज्याभिषेक के अवसर पर सम्राट् अपनी 'पवित्र भावना' की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करते थेः 'सभी संन्यासी (बौद्ध) सच्चरित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ होंगे, वेदों के पंडित ब्राह्मण ब्राह्मण धर्म के अनुकूल अपनी दिनचर्या रखेंगे और सभी राजकुमार न्यायसंगत कर्त्तव्य-पालन करेंगे।'[72]

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित होगा कि सम्प्रति बर्मा में प्रचलित विधि-संहिता (धम्मघट)[73] की रचना मूलतः भारतीय धर्मशास्त्र के आधार पर ही हुई थी। बर्मा ही क्यों, दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रायः सभी देशों की यही कहानी है यद्यपि 1750 ई. से निरंतर उसे श्रीलंका के बौद्ध धर्म ग्रन्थों से जोड़ने का प्रयास किया गया है।[74] फिर भी यह स्पष्ट है कि बर्मा की विधि-संहिता पर रंचमात्र भी सिंहली प्रभाव नहीं है। इन विधि-संहिताओं में सबसे प्राचीन **धम्मविलास** (1174 ई.) तथा मार्तवन के शासक वगुरू (1280ई.) की संहिताएँ हैं जो **मानवधर्मसंहिता** अथवा **मनुस्मृति** पर आधारित हैं। विद्वानों का ऐसा मत हैं कि जिन विधि-संहिताओं पर ये सामान्यतया आधारित हैं वे भारत के पश्चिमी भूभाग से बर्मा लायी गयी थीं और वे बहुत कुछ नारद-स्मृति (जो मूलतः विधिप्रधान है न कि धर्म-प्रधान) से मिलती-जुलती है।[75] कालान्तर में स्थानीय परंपराओं एवं रीति-रिवाजों को दृष्टिगत रख एक बर्मी सामंत कैंग्ज (1640 ई.) द्वारा प्राचीन संहिता महाराजधम्मघट्ट का संक्षिप्तीकरण किया गया जिससे प्रसन्न होकर बर्मा के शासक ने उसे 'मनुराज' की उपाधि से विभूषित किया और उसकी संहिता का नाम मनु के नाम पर रखा गया।[76] इस संहिता की रचना के बाद सभी प्राचीन विधि-संहिताएँ गौण हो गयीं और सम्राट् अलोम्परा के शासन-काल में जब प्रशासन का पुनर्गठन किया गया तो मनु के नाम से जुड़ी इस प्रकार की और भी कई संहिताएँ सामने आयीं।[77]

वर्तमान समय में भी रंगून तथा मंडाले में ब्राह्मणों की कई बस्तियाँ हैं जो स्थानीय भाषा में 'पोना-बस्ती' कही जाती हैं। इनके वंशज प्राचीन काल में राज-दरबार में ज्योतिषी, पंडित, वैद्य आदि के रूप में आदृत थे।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार दक्षिण-पूर्व तथा पूर्व एशिया में ब्राह्मण पंडितों एवं बौद्ध संन्यासियों के आगमन से एक नयी संस्कृति का उदय हुआ जिसकी प्रखर ज्योति से विश्व का एक विशाल भूभाग डेढ़ हजार वर्षों तक आलोकित रहा और जिसके फलस्वरूप भारत तथा उन देशों के बीच उत्तरोत्तर सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ता गया। इस महान् सांस्कृतिक आन्दोलन की प्रतिध्वनि आज भी थाईलैण्ड से जावा, बाली और सुमात्रा तथा श्रीलंका से चीन-जापान तक सुनाई पड़ रही हैं।

●

---

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपेन्द्र ठाकुर, **'इंडियन मिशनरीज इन दि लैंड ऑफ गोल्ड'**, अध्याय 1-2 तथा **साहित्य और संस्कृति; कुछ चिंतन**, अध्याय-7 ।
2. उपेन्द्र ठाकुर, उपरिवत्, अध्याय-7; **इंडियन मिशनरीज**, अध्याय-2-3 ।
3. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपेन्द्र ठाकुर, **इंडियन मिशनरीज**............,
अध्याय 2; रमेशचन्द्र मजुमदार, **हिन्दू कालोनीज इन दि फार इस्ट**, अध्याय-2 ।
4. मजुमदार, पृ. 9; ठाकुर, उपरिवत्, अध्याय-2 ।
5. अम्बासा, **दि स्टोरी आफ लेडी नम्बासा**, (बैंगकाक, 1964) ।
6. एच. जी. क्वैरिच वेल्स, **सियामीज स्टेट सिरीमनीज** (लंदन, 1937), पृ. 54 ।
7. एस. सिंगारवेनु, **प्रोसिंडिंग्स ऑफ दि फर्स्ट इंटरनेशनल कानफ्रेंस ऑफ तमिल स्टडीज**, भाग-1, पृ. 35 ।
8. **उपरिवत्**, पृ. 35 ।
9. डव्ल्यू. व्लैनचार्ड, **थाइलैंड, इट्स पिपुल**,.......... पृ. 27 ।
10. दावी दावीवार्न, **हिन्दुज्म इन साउथ ईस्ट एशिया**, पृ. 104 ।
11. कौण्डिन्य कम से कम तीन हो गये हैं । विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपेन्द्र ठाकुर, **सम आस्पेक्ट्स आफ एशियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर**, अध्याय 2 ।
12. बी. छाबड़ा, **जर्नल आफ प्रोसिंडिंग्स (आर्काईव सोसाइटी आफ बंगाल)**, कलकत्ता, 1935, पृ. 56 ।
13. डव्ल्यू. एफ. वेल्ल, **श्याम अंडर राम थर्ड**, पृ. 29-31 ।
14. दावी दावीवार्न **उपरिवत्**, पृ. 103 ।
15. एच. जी. क्यू, वेल्स, **उपरिवत्**, पृ. 12 ।
16. दावी दावीवार्न, उपरिवत्, पृ. 104 ।
17. ए. बी. ग्रिसवाल्ड, **टूवर्ड ए हिस्ट्री औफ सुखोदय आर्ट**, पृ. 15, श्यामासन्द रौंग **ए हिस्ट्री ऑफ थाइलैंड**, पृ. 48 ।
18. उपेन्द्र ठाकुर, इंडियन मिशनरीज़ अध्याय-2, विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य) ।
19. वेल्स, **उपरिवत्**, पृ. 108; उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
20. वेल्स, उपरिवत्; पृ. 54; उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
21. विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य, उपेन्द्र ठाकुर, **इंडियन मिशनरीज** अध्याय-2 ।
22. इ. क्रावफोर्ड, **एम्बैसी टू श्याम** (लंदन), 1928, पृ. 119 ।
23. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, डव्लू. एफ. वेल, श्याम अंडर राम थर्ड़, पृ. 29-31; आर. सी. मजुमदार, हिन्दू कॉलोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ. 20 ।
24. आर. सी. मजुमदार, उपरिवत् पृ. 210-11; उपेन्द्र ठाकुर, उपरिवत्, अध्याय 2 ।
25. वी. आर. चटर्जी, **इंडियन कल्चरल इन्फ्लुयेन्स इन कम्बोडिया**, पृ. 8 ।
26. बुलेटिन द ल' एकोल फ्रान्केस द एक्सट्रीम ओरऍट, भाग 3 (पेरिस) पृ. 277 ।
27. उपेन्द्र ठाकुर, **इंडियन मिशनरीज**, अध्याय-2 ।
28. उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
29. आ. सी. मजुमदार, इन्क्रीपशन्स आफ कम्बुज, पृ. 76, सं. 60 श्लोक-3 ।
30. उपरिवत्, सं. 3, पृ. 285 ।
31. आर. सी. मजुमदार, **उपरिवत्**, संख्या 190, पृ. 593, श्लोक 10-11; उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय 2 ।
32. मजुमदार, **उपरिवत्**, संख्या 13, पृ. 18 आगे ।
33. **उपरिवत्**, संख्या 62 पृ. 56, श्लोक-18; उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-1 ।
34. उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।

35. के. एस. लाल, **स्टडीज इन एशियन स्टडीज**, (सम्पादित), पृ. 182 ।
36. आर. सी. मजुमदार, **उपरिवत्**, पृ. 211; **कम्बुज इंस्क्रीपशनस**, संख्या 191, श्लोक-7 ।
37. **उपरिवत्** (सॉक कॉक टाम अभिलेख), पृ. 285 ।
38. हरमन कुल्के, दि देवराज कल्ट (न्यूयार्क, 1978), पृ. 14 ।
39. **उपरिवत्** पृ. 14-15 ।
40. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, **उपरिवत्**, पृ. 14-17 ।
41. **उपरिवत्**, पृ. 16 ।
42. **उपरिवत्**, पृ. 38 ।
43. **उपरिवत्**, पृ. 38 ।
44. **उपरिवत्**, पृ. 39 और आगे ।
45. **उपरिवत्**, पृ. 16-17 ।
46. जी. सेदेस, **इन्सक्रीपशन द कम्बोज**, भाग-1, पेरिस 1932, श्लोक 40-42 आ. सी. मजुमदार, **हिन्दू कोलोनीज इन दि फार ईस्ट**, पृ. 211 ।
47. विस्तृत विवरण के लिए उपेन्द्र ठाकुर, इंडियन मिशनरीज, अध्या.-2 ।
48. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपरिवत्, अध्याय-2 ।
49. **उपरिवत्**, अध्याय 2 ।
50. दावी दावीवार्न, **उपरिवत्**, पृ. 215 आगे ।
51. जी. गाइल्स, **दि ट्रेवेल्स आफ फाहियान** (लंदन, 1923), पृ. 78, **जर्नल ऑफ दि ग्रेटरइंडिया सोसाइटी**, भाग-16, 1957 (कलकत्ता), पृ. 31-32 ।
52. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, रैफ्ल्स, हिस्ट्री ऑफ जावा, भाग-2, पृ. 66, वी. आर. चटर्जी, हिस्ट्री ऑफ इंडोनेशिया, मेरठ, 1867, पृ. 25 ।
53. वी. आर. चटर्जी, **उपरिवत्**, पृ. 25 ।
54. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्या.-2, बर्नेट केम्पट, **एंसियेनट इंडोनेशियन आर्ट**, पृ. 8; एफ. डी. के. बोच. दि संस्कृत इंस्क्रीपशन, पृ. 410 ।
55. **हरिवंश** (तीउ द्वारा सम्पादित), अ. 1/2 ।
56. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
57. स्वलेनग्रबेल (सम्पादित) **बालीः स्टडीज इन लाइफ, थाट ऐण्ड रिच्युल** (प्राक्कथन); उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
58. **संस्कृत टेक्ट्स फ्रोम बाली**, सिल्वाँ लेवी द्वारा सम्पादित (गायकबाड़ ओरिएंटल सीरिज) ।
59. बी. आर. चटर्जी, **उपरिवत्**, पृ. 101 ।
60. **उपरिवत्**, पृ. 142, उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
61. उपरिवत्, अध्याय-2 ।
62. उपेन्द्र ठाकुर, **इंडियाज कंट्रिब्यूशन टू वर्ल्ड थॉट एंड कल्चर**, पृ. 421 और आगे ।
63. **एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्किओलोजिकल सर्वे आफ वर्मा**, 1910, पृ. 18 ।
64. एपिग्राफिया बर्मनिका, भाग-1, खंड-2 पृ, 90; दावी दावीपार्न, उपरिवत्, पृ, 68, 73, 80 ।
65. उपेन्द्र ठाकुर, **इंडियन मिशनरीज**, अध्याय-2 ।
66. **एपिग्राफिका वर्मनिका**, भाग-3, खंड 1, (मोन अभिलेख संख्या 1) ।
67. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, **उपरिवत्**, भाग-3, खंड 1, पृ, 404 ।

---

68. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, **साउथ इंडियन इमेजेस**, पृ. 70, दावी दावीनार्त, **उपरिवत्**, पृ, 84; उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
69. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, **साउथ इंडियन इमेजेस**, पृ. 70; दावी दावीबार्न, **उपरिवत्**, पृ. 84; उपेन्द्र ठाकुर, **उपरिवत्**, अध्याय-2 ।
70. दावी दावीवार्न, **उपरिवत्**, पृ. 91-92 ।
71. **एपिग्राफिका वर्मानिका**, भाग-1, खंड2, पृ. 76, 50-58 ।
72. **एपिग्राफिका वर्मनिका**, भाग-1, खंड 2 ।
73. दावी दावीवर्न, **उपरिवत्**, पृ. 223 ।
74. इलियट, **हिन्दूज्म एंड ब्राह्मणिज्म**, भाग-3, पृ. 66 ।
75. **उपरिवत्**, पृ. 67 ।
76. दावी दावीवर्न, **उपरवित्**, पृ. 223 ।
77. इलियट, **उपरिवत्**, पृ. 67 ।

अशोक के अभिलेखों में धर्म तथा बुद्ध-वचन

डॉ. कृष्णदेव

दीघ निकाय में कथा आती है। भगवान् बुद्ध राजगृह में वेणुवन के कलन्दक निवाप में निवास कर रहे थे। एक दिन पूर्वाह्ण मे भगवान् पात्र-चीवर ले भिक्षा के लिए नगर की ओर जाने लगे। उन्होंने देखा कि सिगाल नामक गृहपति (सेठ) का पुत्र नगर के बाहर भीगे वस्त्र और भीगे केश पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, तथा नीचे और ऊपर की दिशाओं को हाथ जोड़कर नमस्कार कर रहा है। भगवान् ने गृहपति-पुत्र से पूछा कि वह प्रातः उठकर नगर के बाहर सभी दिशाओं को क्यों नमस्कार कर रहा है। गृहपति-पुत्र ने उत्तर दिया कि मरते समय पिता ने उसे ऐसा आदेश दिया था—इसीलिए पिता के अन्तिम वचन का आदर करता हुआ वह ऐसा कर रहा है।

तब भगवान् ने गृहपति-पुत्र को ऐसा उपदेश दियाः—

"6 दिशाएँ इस प्रकार हैं:—माता-पिता को पूर्व दिशा, आचार्यों को दक्षिण दिशा, पुत्र-पत्नी को पश्चिम दिशा, मित्र-हितैषियों को उत्तर दिशा, दास-कर्मकरों को निचली दिशा तथा ब्राह्मण-श्रमणों को ऊपर की दिशा जानना चाहिए।" तदुपरान्त भगवान् बुद्ध ने प्रत्येक दिशा का विस्तार से विवेचन किया और कहाः—

"माता-पिता की सेवा पाँच प्रकार से करनी चाहिए—

(1) इन्होंने मेरा भरण-पोषण किया है, अतः मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिए। (2) बचपन में मेरा निजी (शारीरिक) काम किया है, अतः मुझे इनकी शारीरिक सेवा करनी चाहिए। (3) इन्होंने वंश कायम रखा है—इसलिए मुझे भी वंश चलाना चाहिए। (4) इन्होंने मुझे संपत्ति का उत्तराधिकारी समझा है, अतः उत्तराधिकार का यथोचित पालन करना चाहिए। (5) मृत पितरों को श्राद्ध-दान देना चाहिए। इस तरह पाँच प्रकार की सेवाओं से संतुष्ट माता-पिता पुत्र पर पाँच प्रकार का अनुग्रह करते हैं—(1) पाप से बचाते हैं। (2) पुण्य में लगाते हैं। (3) शिल्प सिखाते हैं। (4) योग्य स्त्री से संबन्ध कराते हैं। तथा (5) समय पर उत्तराधिकार देते हैं। इस प्रकार पुत्र द्वारा पूर्वदिशा की पूजा हुई।

"पाँच प्रकार से शिष्य द्वारा आचार्य की सेवा करनी चाहिए— (1) आलस्य छोड़कर तत्परता से, (2) सेवा से, (3) सुश्रूषा और समादर से, (4) सत्संग से तथा (5) विनय-पूर्वक विद्या सीखने से। सेवा से सन्तुष्ट आचार्य पाँच प्रकार से शिष्य पर अनुग्रह करते हैं—

(1) विनय से युक्त करते हैं, (2) विद्या यथाक्रम सिखाते हैं, (3) विद्या का ह्रास या लोप न हो अतः पूरी तरह सिखाते हैं, (4) मित्र-अमात्यों से परिचय कराते हैं तथा (5) दिशाओं को सुरक्षित करते हैं। दक्षिण-दिशा की पूजा हुई।

"पाँच प्रकार से पति को भार्या रूपी पश्चिम दिशा की पूजा करनी चाहिए–(1) आदर देकर, (2) अपमान न करके, (3) परस्त्री का आकर्षण छोड़कर, (4) ऐश्वर्य-प्रदान से तथा (5) अलंकार-प्रदान से। भार्या भी पति का पाँच प्रकार से प्रत्युपकार करती है–(1) घर का काम-काज सँभालती है, (2) नौकर-चाकरों को वश में रखती है और उनसे काम लेती है, (3) पतिव्रता रहती है। (4) संपत्ति की रक्षा करती है तथा (5) गृह-कार्य में दक्ष और निरालस रहती है।

"पाँच प्रकार से मित्र एवं हितैषी रूपी उत्तर दिशा की पूजा करनी चाहिए–(1) दान से, (2) मान से, (3) उनका काम कर देने से, (4) समानता प्रदर्शन से तथा (5) विश्वास-प्रदान से। मित्र एवं हितैषी पाँच प्रकार से प्रत्युपकार करते हैं–(1) दोष या भूल का निवारण करते हैं। (2) मित्र की संपत्ति की रक्षा करते हैं। (3) भय के समय शरण देते हैं। (4) आपत्ति में साथ नहीं छोड़ते तथा (5) मित्र या हितैषियों द्वारा सुरक्षित व्यक्ति का लोग भी आदर करते हैं।

"दास तथा कर्मकर रूपी निचली दिशा की पाँच प्रकार से सेवा करनी चाहिए–(1) आयु एवं सामर्थ्य के अनुसार काम लेने से, (2) उचित भोजन एवं वेतन प्रदान से, (3) रोगी की सुश्रूषा से, (4) उत्तम खाद्य पदार्थों के प्रदान से तथा (5) समय पर छुट्टी देने से। सेवक मालिक पर पाँच प्रकार से प्रत्युपकार करते हैं–(1) प्रातः गृहस्वामी से पहले उठते हैं तथा (2) रात्रि में बाद में सोते हैं, (3) दी हुई चीज ही लेते हैं। (4) काम कुशलता से और आलस्य छोड़कर करते हैं। तथा (5) घर की यश-कीर्त्ति फैलाते हैं।

"पाँच प्रकार से कुलपुत्र को श्रमण-ब्राह्मण रूपी ऊपर की दिशा की पूजा करनी चाहिए–(1) सद्भाव पूर्वक शारीरिक सेवा से, (2) आदर के साथ संभाषण से, (3) श्रद्धा एवं भक्ति से, (4) उनके लिये खुला द्वार रखने से तथा (5) उत्तम भोजन-प्रदान से। सम्मानित श्रमण-ब्राह्मण भी इन छः प्रकारों से कुल-पुत्र पर अनुग्रह करते हैं–(1) बुरे कर्म से निवारण करते हैं, (2) कल्याण की ओर प्रवृत्त करते हैं, (3) सदा मंगल-कामना करते हैं, (4) नई विद्या सिखाते हैं, (5) पुरानी विद्या को दृढ़ करते हैं तथा (6) परमार्थ का रास्ता दिखाते हैं।"

भगवान् बुद्ध का प्रवचन सुनकर गृहपति-पुत्र ने कहा "भगवान् आपने मुझे कृतार्थ कर दिया और चक्षु-प्रदान किया, आज से मुझे शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

बुद्ध के ये वचन गृहस्थ जीवन की सफलता की कुंजी हैं। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट छः दिशाओं में गृहस्थ जीवन के सभी अंग समाविष्ट हैं। प्रत्येक अंग के अपने-अपने कर्तव्य हैं और प्रत्येक के अपने-अपने अधिकार हैं। गृहस्थ जीवन स्वस्थ और सुखी तभी होता है जब प्रत्येक अंग अपने

दायित्व एवं विशेषाधिकारों का समुचित निर्वाह करता है। बौद्ध देशों में इस सूत्र का बहुत मान है तथा इसे गृहस्थ जीवन की आचार-संहिता का पद प्राप्त है।

अब हम अशोक के अभिलेखों की ओर मुड़ते हैं। अपने अभिलेखों में अशोक बार-बार धर्म की चर्चा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध-ग्रन्थों तथा बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक बौद्ध-धर्म का महान् पोषक था। उनमें अशोक को 'धर्माशोक' एवं 'धर्मराज' कहा गया है एवं उसके बनवाए स्तूपों को 'धर्मराजिका'। उसे 84,000 बौद्ध बिहारों तथा स्तूपों का निर्माता बताया गया है। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेन्द्र को सिंहल द्वीप भेजा था तथा अनेक बौद्ध आचार्य देश देशान्तर भेजे थे। उसने पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति बुलाई थी जिसका पालि त्रिपिटक के संकलन में विशेष महत्त्व हैं।

पर हम इस लेख में बौद्ध ग्रन्थों तथा अनुश्रुतियों का आश्रय न लेकर अशोक के अपने अभिलेखों पर ही निर्भर करेंगे। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अशोक स्वतः बौद्ध 'उपासक' था तथा बौद्ध धर्म में उसकी अनन्य आस्था थी। 'सम्बोधि' प्रभृति अनेक बौद्ध तीर्थ स्थलों की उसने यात्रा की थी। कनकमुनि के स्तूप को उसने दुगुना बड़ा करवाया, लुम्बिनी में भी निर्माण कार्य करवाया तथा वहां करों की छूट दी थी। साँची, कौशाम्बी, तथा सारनाथ के तीन स्तम्भ अभिलेख बौद्ध संघ की समग्रता तथा उसकी सुव्यवस्था से सम्बद्ध हैं। इन अभिलेखों में राजाज्ञा दी गई थी कि जो भिक्षु बौद्ध संघ में फूट पैदा करे उसे संघ से निकाल दिया जाय।

तो क्या 'धर्म-वृद्धि' से अशोक का आशय बौद्ध धर्म के प्रसार से था?

अभिलेखों के साक्ष्य से हम कह सकते हैं कि स्वतः बौद्ध होते हुए भी सम्राट् अशोक में बौद्ध संप्रदाय के लिए पक्षपात नहीं था। अपने अभिलेखों में श्रमणों के प्रति उसने सम्मान व्यक्त किया है पर सदा श्रमणों के पहले ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। अशोक सभी संप्रदायों को आदर की समदृष्टि से देखता था। उसका सिद्धान्त था 'समवायो एव साधुः'। अपने 12 वें शिलालेख में उसने स्पष्ट कहा है कि जो अपने संप्रदाय की स्तुति तथा दूसरे संप्रदाय की बुराई करता है वह अपने संप्रदाय को क्षति पहुँचाता है तथा हर प्रकार से निन्दा का पात्र है। इन उद्धरणों से स्पष्ट हैं कि सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए राजशक्ति अथवा बल का प्रयोग नहीं किया।

तो फिर अभिलेखों के 'धर्म' का क्या अभिप्राय था? अपने सात अभिलेखों में अशोक विभिन्न शब्दों में धर्म की व्याख्या की है। अपने द्वितीय स्तम्भ-लेख में वह कहता है–"धर्म क्या है? (वह है) 'अपासिनवे' अर्थात् दुष्कर्म का परित्याग, 'बहुकमाने' अथवा कल्याण कार्य की बहुलता, दया, दान, सत्य, तथा शौच (आचर-विचार की निर्मलता)।" सप्तम-लेख में वह 'धर्म' की परिभाषा में दया, दान सत्य तथा शौच को दोहराता है और उनके साथ मृदुता (शिष्ट व्यवहार) तथा साधुता (त्याग एवं सदाचारमय जीवन) जोड़ता है। इसी अभिलेख में 'धर्म' की विशद व्याख्या दी गई है– "मनुष्यों में धर्म की वृद्धि हुई। जीव-वध का त्याग, प्राणि-मात्र के प्रति अहिंसा का भाव, माता-पिता तथा गुरु-जन की सुश्रूषा, वयस्कों का समादर, ब्राह्मणों और श्रमणों का सम्मान, दीन और दुखियों

तथा दास और भृत्यों के प्रति समुचित व्यवहार की वृद्धि हुई होगी ।" ब्रह्म गिरि के लघु शिलालेख में अशोक फिर कहता है–"ये धर्म-गुण व्यवहार में लाने चाहिए–माता-पिता तथा गुरुजन की सुश्रूषा, प्राणियों पर दया, सत्य बोलना, शिष्यों द्वारा आचार्यों का सम्मान, (तथा) संबन्धियों के साथ समुचित वर्ताव । ये आचार के नियम प्राचीन हैं तथा चिरस्थायी रहेंगे ।" धर्म के इन्हीं तत्त्वों की पुनरावृत्ति वह तीसरे, चौथे, 9वें, 11वें और 13वें शिलालेखों में करता है ।

अभिलेखीय धर्म के ये लक्षण निबन्ध के पूर्व-भाग में दीघ निकाय से, उद्धृत बुद्ध-वचन से पूरी तरह मेल खाते हैं । तुलना करने से स्पष्ट है कि माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा, ब्राह्मण-श्रमणों की भक्ति, स्त्री और पुत्र प्रभृति समस्त परिवार का स्नेहपूर्ण पालन-पोषण, मित्र और हितैषियों का सम्मान तथा दास और भृत्यों के प्रति समुचित वर्ताव दोनों में समान हैं । इस धर्म का किसी संप्रदाय विशेष से या अध्यात्मवाद अथवा दर्शन से सम्बन्ध नहीं है, न किसी देश या काल विशेष से । ये तो सामान्य गृहस्थ जीवन के सामाजिक सदाचार के विश्वव्यापी नियम हैं जिनका भगवान् बुद्ध ने विशद प्रवचन किया था । धर्म की परिभाषा में अशोक ने इन्हीं तत्त्वों पर जोर दिया । दोनों की अभिन्न समानता बताती है कि इस बुद्ध वचन से अशोक इतना प्रभावित हुआ था कि इसके सभी तत्त्वों को उसने 'धर्म' के प्रधान नियमों में सम्मिलित कर लिया और अपने अभिलेखों में उनकी पुनरावृत्ति करते नहीं थका ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. दीघ निकाय पालि III (नालन्दा संस्करण, 1958), सिंगालसुत्त, पृ. 139-149 ।
2. राहुल सांकृत्यायन तथा जगदीश काश्यप, दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद), द्वितीय संस्करण (लखनऊ, 1979), पृ. 275-276 ।
3. सुमंगलविलासिनी III (नालन्दा संस्करण, 1976), सिगालोवादसुत्त, पृ. 285-292 ।

●

आर्यों का आदि देश भारत

डॉ. ठाकुर प्रसाद वर्मा

सरस्वती के वरदपुत्र डॉ. सम्पूर्णानन्द जी की जन्म शताब्दी समारोहों के अवसर पर उनकी स्मृति में समर्पित करने के लिये उनके प्रिय विषय "आर्यों का आदि देश भारत" से बढ़कर मैं कौन सी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करूँ, यह समझ नहीं पा रहा हूँ । डॉ. सम्पूर्णानन्द जी एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे और उन्होंने विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलायी थी, इसके साथ ही वे शिक्षाविद्, विचारक और राजनेता एवं कुशल प्रशासक थे । उनकी पुण्य स्मृति में यह अल्प श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करते हुए मुझको अपार हर्ष हो रहा है ।

जब से डॉ. साहब ने आर्यों का आदि देश लिखा, उसके बाद से बहुत कुछ वैचारिक और तथ्यात्मक सामग्री इस विषय पर प्रकाश में आ चुकी है । इसी के कुछ पक्षों पर प्रकाश डालने का यह लघु प्रयास है ।

भारत का परम्परागत इतिहास मनु से ही प्रारम्भ माना जाता है । मनु ने ही सबसे पहले अयोध्या नगरी को बसाया था और इसका राज्य इक्ष्वाकु को सौंप दिया था । मनु के अन्य पुत्रों द्वारा उत्तर प्रदेश एवं बिहार के अन्य क्षेत्रों में राज्य निर्माण किए गए तथा मनु की पुत्री इला से चन्द्र वंश की उत्पत्ति मानी जाती है । इस प्रकार भारतीय आर्यों के इतिहास को मूल रूप से अयोध्या (कोसल) से ही शुरू किया जाता है । भारतीय साहित्यिक परम्परा में व्यक्ति के पुत्रों और प्रपौत्रों आदि को उस व्यक्ति के नाम के बहुबचनान्त शब्द से व्यक्त किया जाता है जैसे—इक्ष्वाकु के वंशजों को इक्ष्वाकुओं आदि शब्दों से व्यंक्त किया गया है । इसी प्रकार ऐल-पुरुरवा के पुत्रों के नाम पर उनके वंशजों को अनु, दह्यु, कौरव, पौरव आदि बहुबचनान्त शब्दों से व्यक्त किया गया है । किन्तु भारतीय ऐतिहासिक परम्परा में सम्यक् रूपेण अनुशीलन न करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने केवल संहिताओं के उल्लेखों के आधार पर इनको जनजातियाँ तथा ट्राइब्स मानकर पश्चिम से पूरब की ओर प्रसार की एक काल्पनिक गाथा प्रस्तुत की, जो बार-बार दुहराये जाने के कारण वास्तविक इतिहास माना जाने लगा । इसके पीछे पाश्चात्य इतिहासकारों का अज्ञान ही नहीं वरन् उनका षडयंत्रपूर्ण दुराग्रह और मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने का प्रयास भी माना जाता है । अत: इस समस्या के कुछ पक्षों पर विचार कर लेना समीचीन होगा ।

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व (1786 में) अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम (कलकत्ता) के मुख्य न्यायाधीश विलियम जोन्स ने यह संभावना व्यक्त की कि यूनानी लतीनी, गाथिक, केल्टिक, फारसी और संस्कृत

आदि भाषाओं को बोलने वाले किसी एक ही स्थान पर साथ-साथ रहते थे। यों तो जब से प्रथम यूरोपीय उपनिवेश पुर्तगालियों ने गोवा में स्थापित किया तभी से उनको यह जानकर विस्मय होता था कि भारतीय भाषाओं में अनेक ऐसे शब्द हैं, जिससे मिलते-जुलते शब्द यूरोपीय भाषाओं में भी मिलते हैं। इस जिज्ञासा ने यूरोपीय विद्वानों को भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने को प्रेरित किया। इस जिज्ञासा का परिणाम यह निकला कि संस्कृत सहित जितनी भी अन्य प्राचीन भाषायें हैं—यथा जेन्द, फारसी, पश्तो, बलूचो बुर्द, आरमेनियन, यूनानी, गॉथिक, केल्टिक, लिथु अनियन, अल्बेनियन, तुखारी हिन्दी, फ्रेन्च, जर्मन ट्यूटॉनिक, स्लावानिक अंग्रेजी—आदि सबका अध्ययन किया गया और इस प्रकार तुलनात्मक भाषा विज्ञान की नींव पड़ी तथा एक भाषा परिवार की कल्पना की गयी। इन्डो-जर्मानिक, इण्डो-केल्टिक, इण्डोईरानी, इण्डो-यूरोपियन अथवा 'आर्यभाषा परिवार' आदि नाम सामने आये। कहा गया कि इनको बोलने वाली आर्य जाति कहीं भारत से बाहर निवास करती थी जो भारत में संक्रमण करके आई। इस प्रकार भारतीय इतिहास ही नहीं प्राचीन विश्व के इतिहास में दो मिथक प्रस्थापित किए गए जिन पर विगत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इतना ऊहापोह और इतनी गर्मागर्म बहसें हुयी कि वीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते यह एक पूर्णरूपेण स्थापित तथ्य बन गया कि आर्य एक जाति थी, वह कहीं बाहर रहती थी और पश्चिम के स्थल मार्ग से भारत में आई। कृषि और पशुपालन करने वाली, विकास के प्रारम्भिक अवस्था में रहने वाली यह आर्य जाति जब भारत में आयी तो यहाँ के मूल निवासियों को पराजित करके यहाँ बस गयी तथा धीरे-धीरे जंगलों को साफ करती हुयी पूर्व की ओर गंगा-जमुना की घाटियों की ओर बढ़ने लगी। सौभाग्य से इस समय बींसवी शताब्दी के प्रारम्भिक चरण के अंतिम वर्षों में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष प्रकाश में आये जो मिस्र, सुमेर एवं बेबीलोन की सभ्यताओं की समकालीन नागर सभ्यता सभ्यताएं सिद्ध हुई। इन उत्खंननों से प्राप्त प्रतिकूल तथ्यों को दबाने और अनुकूल तथ्यों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए यह कहा जाने लगा कि यह द्रविड़ों की सभ्यता थी जो अति विकसित थी और अर्धवर्बर आर्यों ने इनको नष्ट कर दिया। प्रमाण सोचे जाने लगे। इन्द्र द्वारा शत्रुओं के पुरों को नष्ट करने वाली बात को स्वीकार कर लिया गया किन्तु सैंकड़ों स्तंभों वाले भवनों, आठ सैक्टरों में विभक्त नौ प्रवेशद्वारों वाले नगर, पैदल और रथों के चलने के लिए विभक्त मार्ग की वैदिक उक्तियों को नजर अंदाज कर दिया गया। तथाकथित आर्य जाति के पूर्वाभिमुख प्रसार की बात को सिद्ध करने के लिए वेद की ऋचाओं तथा ब्राह्मणों के उल्लेखों का सहारा लिया गया। अथर्ववेद के 'गंधारिभ्यो मूजवदभ्यः काशीभ्यो मगधेभ्यः। प्रेष्यञ्जनमिव शवेधि नक्मानं परिदझसि' (5.22.14) इस बात के प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया जाने लगा कि काशी और मगध आर्यों के क्षेत्र से बाहर थे लेकिन गंधार और मूजवान प्रदेशों के लिये चुप्पी साध ली गयी। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के विदथमाथव की कथा को संदर्भ से अलग करके तथा कथित आर्यों के पूर्व की ओर प्रसार के लिये प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाने लगा।

इस प्रकार एक कल्पना ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठापित हो गयी। विदेशी और भारतीय विद्वानों ने इसे स्वीकार कर लिया और समस्त इतिहास ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया जाने लगा। इसने हमारे अन्तर्मन के अवचेतन पर अधिकार कर लिया। फलस्वरूप हमारे सभी शास्त्र इतिहास, भाषा शास्त्र, भाषा विज्ञान, ध्वनि विज्ञान, नृतत्व विज्ञान आदि इसी प्रभाव से ओत-प्रोत हैं। हम इससे बाहर जाकर सोच भी नहीं सकते। यही नहीं विदेशों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर ने जर्मनी के उत्थान का जो स्वप्न देखा था उसके मूल में जर्मन रक्त की शुद्धता और विशुद्ध आर्य जाति का होने का दावा ही था। समय-समय पर कुछ विद्वानों ने इस सोच के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया किन्तु मिथ्या के प्रचण्ड प्रवाह को सीमित नहीं किया जा सका। अब समय आ गया है कि हम इस विषय पर विस्तार से विचार करें और 'आर्य समस्या' के इस मिथक, जो हमारे लिए एक समस्या बन गयी है, नष्ट कर दें।

क्या आर्य कोई जाति थी ?

आर्य को एक जाति के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह कहा गया है कि अनुमानतः 2500 से 1500 ईसा पूर्व तक आर्य जाति दलों में उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त के पथ से भारत में प्रविष्ट हुई और उसने इस देश के आदिम निवासी कोल-भील और द्रविड़ आदि जातियों को पराजित करके क्रमशः उपनिवेशः स्थापित किया। ये आर्य हिन्दू, पारसी, काकेशीय, ग्रीक और अन्यान्य यूरोपीय जातियों के पूर्वज थे। भारत के बाहर किसी स्थान पर इनकी प्राचीन निवास भूमि थी। किन्तु यह 'आर्य' शब्द जिस भाषा और साहित्य से लिया गया है और जिस संस्कृति में इसका प्रचुरता से प्रयोग मिलता है उसमें कहीं भी यह शब्द जाति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया गया है। ईरानी और भारतीय दोनों ही साहित्यों में इसका प्रयोग जाति के अर्थ में नहीं मिलता, जिससे ऐसा लगे कि प्राचीन भारतीय किसी अन्य क्षेत्र से यहाँ आये। सबसे पहले आर्य शब्द को ही लिया जाये।

वैदिक साहित्य में 'अर्य' और 'आर्य' दोनों ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा दोनों ही परस्पर सम्बन्धित हैं। अमरकोश ने 'स्वामी' और वैश्य' ये दो अर्थ 'अर्य' शब्द के बताए हैं। (अर्यः स्वामि-वैश्ययोः)। यहाँ पर सम्भवतः वैश्य शब्द वर्तमान प्रचलित रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त है, जिसका मूल वैदिक 'विश्' शब्द है। जिसके अन्तर्गत सभी जनसाधारण आ जाते हैं न केवल व्यापारी वर्ग। वैदिक साहित्य में भी 'अर्य' शब्द का उल्लेख इसी सन्दर्भ में आया है। यजुर्वेद (26.2) में विभिन्न जनों का उल्लेख किया गया है जिनमें, ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य, चारण के नाम लिए गए हैं। 'यथेमा वाचं कल्याणीभाज दानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च'। इसी प्रकार अथर्ववेद में (19.32.8) भी 'ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्या च' कहकर समाज के चारों विभागों को इंगित किया गया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि 'अर्य' शब्द परवर्ती वैश्य के स्थान पर आया है। यदि इनको सन्दर्भच्युत करके देखा जायेगा तभी आर्य और शूद्र के दो विभिन्न जातियों के रूप में माना जा सकता है। यदि आर्य एक जाति मानी जाय तो शूद्र, ब्राह्मण और राजन्य (क्षत्रिय) को

भी जातियाँ मानना पड़ेगा जो आर्यों से अलग थीं। कई स्थानों पर शूद्र और आर्य शब्द साथ-साथ आये हैं और कुछ लोगों ने इनको दो पृथक-पृथक जातियों के सूचक शब्दों के रूप में लिया है। शूद्र कौन सी जाति थी यह कोई नहीं बता सकता। वे कौन से लोग हैं जो अपने को शूद्र नामक जाति से अभिहित करते हैं? वास्तव में शूद्र एक सामूहिक संबोधन हे जो सामाजिक स्तर की ओर संकेत करता है। इसका जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित 'आर्यविश्' (10.11.4) अथवा 'दासीविश्' (4.28.4 एवं 6.25.2) शब्द भी जाति बोधक शब्दों की ओर संकेत नहीं करते क्योंकि 'दासी' या 'दास' कोई जाति थी अथवा अभी भी है यह कहीं से सिद्ध नहीं हो पाता।

व्यक्ति अपने पूर्वजों को बदल नहीं सकता, अपने माता-पिता का चुनाव नहीं कर सकता, अपनी जाति बदलकर दूसरी जाति भी नहीं अपना सकता, किन्तु अपने आचार-व्यवहार अवश्य बदल सकता है। एक संस्कृति अथवा आचार का पालन न करने से उससे च्युत हो सकता है। इसके कारण समाज बहिष्कार जैसे दण्ड का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार आर्यत्व प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करने की वस्तु थी। जाति की भाँति स्वतः उपलब्ध होने वाली वस्तु नहीं। 'कृतेन ही भवेदार्यो न धनेन न विद्यया' धन या विद्या के प्रभाव से व्यक्ति आर्य नहीं होता वरन् अपने चरित्र एवं आचरण से आर्यत्व को प्राप्त होता है।

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् करने योग्य कर्मों का आचरण करके और न करने योग्य कर्मों का आचरण न करके प्रकृत आचार में स्थित रहने वाला आर्य है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' घोष भी यही संकेत करता है कि आर्य एक संस्कृति थी, जिसका प्रचार-प्रसार किया जा सकता है आर्य कहे जाने वाले व्यक्ति भी अपने आचार से च्युत होकर शूद्रत्व को प्राप्त कर सकते थे। मनु ने व्यवस्था दी हैः—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
मुखबाहूरूप्पज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

'(यज्ञादि) कर्मों के न करने से एवं ब्राह्मणों के अदर्शन क्षत्रिय जातियाँ शूद्रत्व अथवा वृषलत्व को प्राप्त होती है चाहे वह म्लेच्छ भाषा बोलने वाला हो अथवा आर्यभाषा, उसे दस्यु (दास अथवा शूद्र) ही कहा जायेगा।'

यदि प्राचीन भारतीय को ज्ञात जातियों (या संस्कृतियों) का विचार करें तभी हमें प्राचीनतम साहित्य में देव, दानव (दैत्य) असुर मनुष्य पिशाच यक्ष, राक्षस नाग विद्याधर गंधर्व किन्नर आदि नाम मिलते हैं। (दे. रामायण, गीता प्रेस, सुन्दरकाण्डम् 51; 41, 42, 43) युद्ध काण्डम् 60; 6 आदि। कहीं भी आर्य शब्द मानव समूह अथवा जाति के अर्थ में नहीं आया है। इनमें कुछ जातियाँ यथा-नाग, किन्नर आदि आज भी खोजी जा सकती हैं। पुराणों में आये देवासुर युद्धों में

उल्लिखित असुरों की पहचान अब पुरातत्त्वविदों द्वारा खोजे गये असीरिया के प्राचीन असुर साम्राज्य से की जा सकती है। ईराक के ध्वंसावशेषों में से असुर बनीपाल का मिट्टी के ठीकरों पर उत्कीर्ण पुस्तकालय पुरातत्वज्ञों ने खोज निकाला है जिसमें सिन्धु देश के बने कपास के कपड़े का उल्लेख़ मिलता है किसी ने भारतीय दृष्टिकोण से, प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रकाश में, इन तथ्यों का अध्ययन करने का प्रयास नहीं किया है। सैन्धव सभ्यता के समान मुद्राओं का इन स्थानों से प्राप्त होना भी दोनों सभ्यताओं के पारस्परिक सम्बन्धों की पुष्टि करता है। किन्तु अभी तक हमारी मानसिकता इस प्रकार का प्रयास करने वालों को परम्परावादी और प्रतिगामी मानने की रही है। यह अनुसंधान का विषय हो सकता है कि क्या असुरों की यह संस्कृति हमारे प्राचीन साहित्य में वर्णित असुरों की संस्कृति से कोई साम्य रखती है ? क्या दिति और अदिति के पुत्रों की कथा का कोई ऐतिहासिक महत्व है ? क्या यह मात्र एक संयोग की बात है कि हमारे भारतीय मानस में 'असुर' का जो भयंकर चित्र है वैसा ही ईरान और उसके पश्चिम के क्षेत्रों में 'देव' का भी है ? हमें इन बातों पर विचारपूर्वक शोध करना चाहिए तभी हम गोपथ ब्राह्मण (1.1.10) के 'असुर देव' छान्दोग्योपनिषद् (8.8.5) के 'असुराणा ह्योषोपनिषद्' शतपथ ब्राह्मण (11.4.14) के 'असुर ब्राह्मण' अथवा हरिवंश (48.6) के 'दानव ऋषि' के अर्थ वास्तविक परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे। हमें 'आर्यवेद', 'आर्य उपनिषद्', 'आर्य ब्राह्मण', अथवा 'आर्य ऋषि' के उल्लेख कहीं नहीं मिलते। बाल्मीकीय रामायण में जहाँ कहीं भी राक्षसों के मुख से राम अथवा इस क्षेत्र के लोगों का उल्लेख आया है उनमें उसे सदैव मनुज, मानव आदि ही कहा गया है जबकि वे स्वयं को गर्व से राक्षस कहते हैं। रावण के वध के उपरान्त मन्दोदरी विलाप करती हुई कहती है:-

पिता दानवराजो. भर्ता मे राक्षसेश्वरः।
पुत्रो मे शक्रनिर्जेतो इत्यहं गर्विता भृशम् ॥

युद्धकाण्डम्, 111/39-40

विभीषण रावण के अनार्यजुष्ट वचन को सुनकर उससे अपना मत व्यक्त करता है। (सुन्दरकाण्डम् 52.12)। युद्ध काण्ड के सोलहवें सर्ग में (11-15) रावण विभीषण को फटकारते हुए पाँच श्लोकों में 'तथानार्येषु सोहृदम्' कहता है। रावण की मृत्यु के पश्चात् राक्षस स्त्रियाँ रणभूमि में अपने पति को खोजती हुयी 'आर्य पुत्र' 'हा नाथ' आदि शब्दों का उच्चारण करती हैं। सुन्दरकाण्ड में सीता जी सुग्रीव को 'आर्य' कहती हैं। यदि राक्षस और बानर आर्य कहे जा सकते हैं तो इसे किस प्रकार जाति सूचक माना जा सकता है। अपने ब्राह्मणत्व व संस्कृति पर गर्व करने वाले लेखक वानर और राक्षस के लिए आर्य किस प्रकार लिख सकते थे ? अतः किसी भी विधा से 'आर्य' शब्द जाति बोधक नहीं हो सकता। यूरोपीय विद्वानों द्वारा किसी अन्य अधिक व्याप्ति वाले शब्द के अभाव में 'आर्य' शब्द को उन सभी लोगों के पूर्वजों के लिए प्रचलित कर लिया गया जो भारोपीय (इन्डो यूरोपीय) भाषाओं को बोलते थे। विगत दो शताब्दियों से हमने भी इसे इसी भाँति अपना

लिया तथा प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर उच्चतम डिग्रियों तक के लिए हमें यह पाठ इतनी बार पढ़ाया गया है कि अब हम इसे एक पूर्णतया स्थापित सत्य मानते हैं।

मूल स्थान की खोज :

जब आर्य जातिवाचक शब्द नहीं है तो उनके मूलस्थान की खोज करना व्यर्थ का बौद्धिक व्यायाम मात्र है। किन्तु अब आर्य शब्द का उपयोग वैदिक भारतीय के लिए रूढ़ हो गया है और यह एक पूर्णतया स्थापित तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है कि वैदिक भारतीयों के पूर्वज कहीं बाहर से भारत आये थे। अतः इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है। वैदिक भारतीयों के बाहर से आने के विचार के पीछे भाषा शास्त्रीय तथ्य थे जिन पर हम आगे विचार प्रकट करेंगे किन्तु इनके पीछे साम्राज्यवादी इरादे भी थे इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी दासता के युग में हमारे ऊपर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रहार किसी भी युग की अपेक्षा अधिक किए गए। आर्य समस्या उन्हीं में से एक सबसे प्रबल प्रहार है। इससे जहाँ एक ओर भारतीयों का मनोबल क्षीण किया गया कि यह उनका मूल देश नहीं है और इस पर गर्व और अभिमान करने की बात नहीं है। वहीं दूसरी ओर उत्तर भारतीय आर्य और दक्षिण भारतीय द्रविड़ हैं यह बताकर फूट का बीज डाला गया। यह भी प्रभाव डाला गया कि भारतवर्ष रूपी इस धर्मशाले में जिस प्रकार शक, पहलव, तुर्क, अफगान, मंगोल आए उसी प्रकार अंग्रेज भी आये हैं और उनका भी इस देश पर उतना ही अधिकार बनता है जितना अन्य किसी का। इसके लिए उनके तर्कों के अनुकूल प्रमाणों को पुरस्सर किया गया और प्रतिकूल प्रमाणों को दबा दिया गया। यहाँ पर उदाहरण के लिए मेगस्थेन के एक उद्धरण को प्रस्तुत करना श्रेयस्कर होगा, जो अब से 2300 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यवन राजदूत होकर आया था और भारत के विषय में उसके अनेक उद्धरणों को बड़े प्रामाणिक तथ्यों के रूप में बार-बार प्रस्तुत किया गया है। मैकक्रिन्डल द्वारा सम्पादित 'ऐन्शियंट इंडिया, 'मैगस्थनीज' के पृष्ठ 34 पर उद्धृत है कि" ऐसा कहा जाता है कि भारत एक विशाल देश होने के कारण, जब सम्पूर्ण रूप से लिया जाय तो उसमें विभिन्न व बहुसंख्यक जातियाँ बसती हैं, जिनमें से एक भी मूलतः विदेशी नहीं हैं, प्रत्यक्षतः सभी देशी हैं और यह भी कि भारत में न कोई उपनिवेश बाहर से आकर स्थापित हुआ और न कभी बाहर जाकर उपविनवेश स्थापित किया गया।'

इससे स्पष्ट है कि अब से 2300 वर्ष पूर्व भारतीयों एवं विदेशियों में भी किसी को यह पता नहीं था कि हम आर्य हैं और कहीं बाहर से आये हैं। कुछ विदेशी लेखकों ने भी इस तथ्य की ओर इशारा किया है। विगत शताब्दी में "भारत का इतिहास" लिखते समय एलन्सिटन ने स्वीकार किया है कि मनुस्मृति तथा वेदों में अथवा किसी भी भारतीय ग्रन्थ में भारत के बाहर रहने या भारत के अतिरिक्त किसी देश का संकेत नहीं मिलता। कीथ ने भी "कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" पृष्ठ (78) पर लिखा है कि "वैदिक भारतीय भारत में किस प्रकार आये इस विषय में ऋग्वेद से निश्चय ही कोई सहायता नहीं मिलती'। अतः उसने सावधान किया है कि 'इन सामग्रियों से निष्कर्ष निकालने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ेगी' किन्तु वह तो भारतीयों को आर्य सिद्ध करने एवं

उन्हें बाहर से आया हुआ सिद्ध करने के लिए तुला बैठा था और इसलिए उनके आने का मार्ग निर्धारित किया।

इसके साथ ही आर्यों की एक विशिष्ट छवि प्रस्तुत की गयी। आर्य गौर वर्ण और लम्बे थे। वे घोड़ों पर यात्रा एवं संक्रमण करते थे। वे कृषि कर्मों एवं ग्राम्य जीवन बिताने वाले लोग थे। आदि चित्र प्रस्तुत किये गये जो या तो अज्ञान पर आधारित थे अथवा धूर्तता से प्रेरित थे। हमारा भारतीय साहित्य बताता है कि अनेक ऋषि-महर्षि कृष्ण वर्ण के थे साक्षात् मनु के वंश में जन्म लेने वाले श्रीराम कृष्ण वर्ण थे। उनके भ्राता लक्ष्मण गौर वर्ण थे। यह बात आज भी हम भारतीय परिवारों में पाते हैं कि एक ही वंश में उत्पन्न कुछ भाई गौरवर्ण हैं और कुछ कृष्ण वर्ण है। महाभारत के भगवान् कृष्ण कृष्णवर्ण के थे। कुछ महर्षियों के भी कृष्ण वर्ण होने का उल्लेख आता है। आर्यों को अनिवार्य रूप से घोड़ों से जोड़कर छलपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सैन्धव सभ्यता से आर्यों का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वहाँ घोड़ों के अवशेष नहीं मिलते। इसे एक गंभीर तर्क के रूप में प्रस्तुत किया गया। भारतीयों को घोड़ों का ज्ञान नहीं था अथवा वे उसका उपयोग नहीं जानते थे ऐसी बात नहीं है किन्तु इस बात को एक प्रमाण के रूप में उपस्थित करना एक धूर्तबुद्धि का परिचायक है। इसी प्रकार कृषि कर्म और ग्राम्य जीवन को आर्य जाति से समीकृत करने वाली बात भी है। इसमें यह तर्क निहित है कि वैदिक लोग अन्य उद्योग धन्धे एवं व्यापार विकसित नहीं कर सके थे। अतः विकास के प्रारम्भिक स्तर पर थे और नागर सभ्यता से सर्वथा अपरिचित थे। डॉ. सत्यकाम वर्मा ने "वैदिक स्टडीज" (पृष्ठ 140) में अनेक प्रमाण देकर यह बताया है कि वैदिक समाज उद्योग प्रधान था। नगरवासी था, जो कृषि के क्षेत्र में भी काफी प्रगतिशील था। अथर्ववेद में अष्टचक्रा नवद्वार वाले नगर के उल्लेख को एक कल्पना मात्र स्वीकार किया जा रहा है। किन्तु इस प्रकार के काल्पनिक ही सही, एक नगर का उल्लेख क्या यह प्रकट नहीं करता कि वैदिक भारतीय नगर से परिचित थे ? रथों व पैदल चलने वाले लोगों के लिए पृथक-पृथक सड़कों की योजना (अथर्ववेद 12.1.47), सुनिर्मित द्यूतगृहों का अस्तित्व जिनके अपने नियमोपनियम थे (ऋग्वेद 10.34.5-6, अथर्ववेद 12.3.46), सुनिर्मित व वेगवान रथों (ऋग्वेद; 1.38.12, 1.39.6, 1.१64. 2-3 2.181.4-7) आदि के उल्लेख ग्राम्य सभ्यता की ओर तो इंगित नहीं करते ? इसलिए भारत में नगर नहीं थे और भारतीय नागर सभ्यता से अपरिचित थे अथवा वे नागर सभ्यता वाली जातियों के शत्रु थे और उन्होंने नागर सभ्यताओं का विनाश किया–

"डॉ. वाकणकर ने सरस्वती अभियान किया है। यह उल्लेखनीय है कि जितने हड़प्पीय सभ्यता के अवशेष सिन्धु नद के पूर्वी क्षेत्र में हैं उसका एक अत्यल्प अंश मात्र सिन्धु के पश्चिमी क्षेत्र में है अतः हड़प्पीय सभ्यता को यदि किसी नदी के साथ जोड़ना हो तो उसे सरस्वती से ही जोड़ना चाहिए।" आदि बातें निहित मन्तव्यों से प्रेरित एवं अज्ञान पर आधारित थीं। हमने स्वयं भी इस

दिशा में मौलिक शोध न करके विदेशियों द्वारा किए गए शोधों को स्वीकार कर लिया है या उनके अनुवादों तक ही अपने ज्ञान को सीमित रखा है।

पुरातत्त्व शास्त्र ने भी इस दिशा में अपना योगदान किया है। पुरातात्त्विक प्रमाणों को अधिक ठोस एवं अकाट्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तथा प्राचीन भारतीय साहित्यिक प्रमाणों को काल्पनिक व अप्रामाणिक मानकर एकदम उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। जॉन मार्शल व ह्वीलर की परम्परा में दीक्षित भारतीय पुरातत्वज्ञ अभी तक अपने को उनके द्वारा स्थापित मानदण्डों से पृथक नहीं कर पाये हैं। विडम्बना यह है कि उनकी परम्परा का पालन करते हुए उत्खनक स्वयं ही अपने द्वारा उत्खनित सामग्री का विश्लेषण एवं निष्कर्ष भी प्रस्तुत करता है जबकि वह अनिवार्य रूप से साहित्य व इतिहास का ज्ञाता नहीं होता। इसी कारण सम्प्रति तो स्थिति यह दिखाई पड़ती है कि भारतीय इतिहास के लिए साहित्य व पुरातत्व एक समान धरातल पर कभी खड़े नहीं हो सकेंगे। यह पुरातत्व में प्रारम्भ में किए गए भ्रान्तिपूर्ण विश्लेषण का परिणाम है। वर्तमान विश्लेषणों के आधार पर समस्त पुरातात्त्विक साक्ष्य इस ओर इंगित करते दिखायी पड़ते हैं कि भारत में मानव सभ्यता के प्रसार की दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर है। पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान को सम्मिलित करके) से पूर्व की दिशा में क्रमशः सभ्यता का विकास हुआ। किन्तु जब अखण्ड भारत के बाहर के पुरातात्त्विक अवशेषों पर इस दृष्टि से विचार करते हैं तो पश्चिम से आने वाले इस तथा कथित सभ्यता के प्रवाह के चिह्न कहीं नहीं मिलते। सैन्धव या हड़प्पीय सभ्यता के जो शताधिक वस्तियों के अवशेष खोजे जा चुके हैं उनमें दो तिहाई से अधिक स्वतन्त्रता-पूर्व के संम्पूर्ण भारत में और शेष थोड़े से इसके पश्चिम में मिलते हैं। सैन्धव सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त सामग्रियों के वैदिक सभ्यता के अनुरूप होने के प्रमाणों के विस्तार में न जाकर यहाँ यही कहना पर्याप्त होगा कि यह निश्चय ही भारतीय सभ्यता थी और वैदिक सभ्यता के अनुकूल थी तथा इसे सैन्धव सभ्यता न कहकर सारस्वत सभ्यता कहा जाना चाहिए।

यहाँ पर मैं पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान एक और तथ्य की ओर आकर्षित कराना चाहूँगा। साहित्यिक साक्ष्यों का उपहास करने वाले ये विद्वान् अपने स्तरों का वर्गीकरण करते समय गुप्त, कुषाण, शुंग मौर्य स्तरों तक के तो नामकरण इन राजवंशों के नाम के आधार पर करते हैं जो साहित्यिक स्रोतों पर ही मुख्य रूप से आधारित है। किन्तु उनके पूर्व के स्तरों के लिए मृद्‌भाण्डों के वर्गीकरण के आधार पर निर्मित संस्कृतियों का नाम देते हैं। इस प्रकार धूसर चित्रित्त मृद्‌भाण्डीय संस्कृति, कृष्ण परिमार्जित मृद्‌भाण्ड संस्कृति आदि नाम देकर उनका कालक्रम निर्धारित करते हैं। यह अंधेरे में तीर चलाने के समान है क्योंकि ज्यों ही कोई नवीन तथ्य उत्खनन से प्रकाश में आता है निष्कर्षों को पुनरीक्षित करना पड़ता है।

पुरातत्त्वज्ञों के तिथि निर्धारण में कुछ न कुछ त्रुटि अथवा भ्रम अवश्य है। इसको स्वीकार करना पड़ेगा। उदाहरण स्वरूप बुद्ध के काल को लेते हैं। गौतम बुद्ध का काल प्रायः सर्वसम्मति से-

ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में माना जाता है। उनके जीवन काल से सम्बन्धित स्थलों बोध गया काशी श्रावस्ती तथा वैशाली की पुरातात्विक खुदाइयाँ हो चुकी हैं। इनमें 5-6 शताब्दी ईसा पूर्व तक जाते-जाते सामग्रियों का अभाव होने लगता है। इन स्थलों की प्राचीनता पुरातात्त्विक उत्खननों के आधार पर आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व से अधिक नहीं जाती। पुरातात्त्विक कालगणना के अनुसार आठवीं शताब्दी ईसापूर्व में इन स्थलों पर मानव संचरण प्रारम्भ हुआ। काशी (राजघाट) में उपकाल 1 अ में, जो 800 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व के मध्य का काल माना गया है, रेड स्लिप्ड वेयर कल्चर कहा गया जो उत्खनकों के अनुसार अनार्यों की संस्कृति रही होगी। इस कालखण्ड में एक भी पेन्टेड ग्रे वेयर का एक भी टुकड़ा नहीं मिला जो विद्वानों के अनुसार परवर्ती आर्यों के संक्रमण से सम्बद्ध की गयी है। इनका मिलना 1ब कालखण्ड से प्रारम्भ होता है, जो 600 से 400 ईसा पूर्व का समय बताया गया है। अर्थात् इसी काल में आर्यों का आगमन इस काशी क्षेत्र में होता है। यही दशा ऊपर गिनाये गये सभी स्थलों की है जो बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित रहे हैं। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि बुद्ध की कथा और उनका धर्मचक्र प्रवर्तन काल्पनिक कथाएं हैं ? क्या यह समझा जाय कि बुद्ध अनार्य थे और उन्होंने अपने उपदेश अनार्यों के बीच दिया ? क्या ये क्षेत्र बुद्ध के जीवन काल में या उनके कुछ ही समय पूर्व आर्य संस्कृति के सम्पर्क में आये थे ?

इस क्षेत्र के सम्बन्ध में बौद्धसाहित्य से जो चित्र उभरते हैं वह इससे सर्वथा भिन्न हैं। षोडश महाजनपदों में सम्पूर्ण उत्तर भारत का क्षेत्र आ जाता है। बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के लिए महाभिनिष्क्रमण करते हैं तो वे पूर्व की ओर जाते हैं। यदि वे पुरातत्त्वज्ञों एवं आधुनिक इतिहासकारों (जिनमें यूरोपीय एवं भारतीय इतिहासकार दोनों ही शामिल हैं) के अनुसार इस तथाकथित आर्यसभ्यता का गुरुत्व केन्द्र पश्चिमी क्षेत्र में था तो बुद्ध को उस दिशा में जाना चाहिए था। उन्होंने जिन गुरुओं से सम्पर्क किया और फिर उनसे मिलकर आगे बढ़े, वे अपने समय के परम्परागत भारतीय ज्ञान एवं विद्या के महान् जानकार थे। बोधगया में बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् अपने धर्म चक्रप्रवर्तन के लिए उन्होंने काशी को चुना। उनके पूर्व के पाँच शिष्य जो पहले उन्हें छोड़कर चले आये थे वे भी काशी में ही गये थे। इस प्रकार कम से कम छठी शताब्दी ईसा पूर्व में काशी की ख्याति अवश्य रही होगी और इसके लिए उसकी स्थापना कई शताब्दियों पूर्व होनी चाहिए जिसके लिए पुराकालिक कालक्रम में कोई स्थान नहीं है। बौद्ध साहित्य यह बताता है कि उस समय उत्तर भारत के बड़े-बड़े नगर तक्षशिला, मथुरा, साकेत, श्रावस्ती, काशी, राजगृह आदि व्यापार मार्गों से जुड़े हुए थे और सार्थवाह व्यापार सामग्रियों के साथ नियमित यात्रायें करते थे, यह व्यापार प्रक्रिया भी काफी संश्लिष्ट थी जिसके विकास के लिए अनेक शताब्दियाँ अपेक्षित हैं। भारतीय इतिहासज्ञ व पुरातत्त्वविज्ञ भी छठी शताब्दी ईशापूर्व के काशी, कोशल, मगध के राजवंशों की सूची को कमोवेश मानते ही हैं। ये सभी बातें इस बात की ही ओर इंगित करती हैं कि इस क्षेत्र का इतिहास एवं संस्कृति आठवीं शताब्दी ईसापूर्व जितनी ही नहीं उससे भी अनेक शताब्दियों पुरानी हैं। एक और बात ध्यान देने

की है । ऐतिहासिक युग में तो यवन, कुषाण, तुर्क, पठान, मुगल आदि आक्रमणकारी लाहौर से राजमहल की पहाड़ियों (बिहार) तक पहुँचने में 6 मास से 2 वर्ष तक का समय लगाते थे और इस अवधि में सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते थे किन्तु आर्यों को सिन्धु घाटी से गंगा घाटी और काशी मगध आदि पहुँचने में छः शताब्दियों से अधिक लग जाने की बात की जाती है । क्या छठी शताब्दी ईसा पूर्व के पहले की शताब्दियों में उत्तरी भारत इतने अभेद्य बनो एवं प्राकृतिक बाधाओं से युक्त था कि इस कल्पित आर्य संस्कृति के प्रसार के कार्य में अनेक शताब्दियाँ लग गईं ? पुरातत्वविदों को इस दृष्टिकोण से विचार करना होगा तथा इन बिन्दुओं का उत्तर ढूढ़ना होगा तभी भारतीय इतिहास में पुरातत्व को उचित स्थान मिल पायेगा ।

आर्यों के मूल स्थान निर्धारण की दृष्टि से विगत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इतनी अधिक परिचर्चायें हुयीं कि भारतीय इतिहास अध्ययन की दृष्टि से यदि उस काल खण्ड को "आर्य स्थापना काल' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा । इस परिचर्चा का परिणाम यह निकला कि भारत के अतिरिक्त समस्त एशिया और यूरोप में आर्यों का मूल निवास स्थान खोजा गया और सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये । सूची बहुत लंबी है और सभी विद्वान् गण उसके विषय में जानते हैं अतः उसको यहाँ दुहराने का प्रयास नहीं किया जायेगा । यहाँ हम केवल भारत की दृष्टि से ही विचार करेंगे और यह जानने का प्रयास करेंगे कि हमारा प्राचीन साहित्य इस विषय में क्या कहता है और कुछ नवीन पुरातात्त्विक अनुसंधान क्या संकेत करते हैं ?

इस बात को तो अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है कि वैदिक एवं परवर्ती भारतीय साहित्य में कहीं भी ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि प्राचीन भारतीय किसी अन्य स्थान से भारत आये । मानव सभ्यता के आदिम काल से ही वे इसी भारत भूमि पर रहते आये हैं यही संकेत प्राचीन साहित्य देते हैं । पौराणिक साहित्य में गुफा-निवास से लेकर फल संग्राहक, कृषि के विभिन्न स्तरों से होते हुए नागर सभ्यता के उच्चतम आदर्श/ उत्कर्ष तक को प्राप्त करने तक के उल्लेख प्राप्त होते हैं । अत्यन्त सुदीर्घ काल के प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर भारतीय मानस काल की चक्रीय व्यवस्था की परिकल्पना कर सका, जिसमें व्यक्तियों ओर समाजों के जीवन में उत्थान एवं पतन, उत्कर्ष एवं अपकर्ष के इतिहास के बारम्बार दुहराये जाने की बात कही गई । मिश्र, बेबीलोन, मेसोपोटामिया आदि की प्राचीन सभ्यताओं के प्रकाश में आ जाने से इसी परिकल्पना की सत्यता सिद्ध हो रही है और मानव विकास की एक रेखीय परिकल्पना पर विश्वास करने वाले इतिहासज्ञों ने भी अब इस ओर विचार करना प्रारम्भ कर दिया है । कहने का तात्पर्य यह है कि मानव विकास की सम्पूर्ण कथा हमारे प्राचीन साहित्य में सुरक्षित है जिसे इस दृष्टि से देखना होगा, इस भारत भूमि में सहस्राब्दियों के भौगोलिक परिवर्तनों के भी हम द्रष्टा एवं साक्षी रहे हैं यह तो हमारा साहित्य हमें बताता है । विन्ध्य, पर्वत किस प्रकार झुका और हिमालय किस प्रकार अस्तित्व में आया । गंगा किस प्रकार पर्वत से निकल कर मैदानों में लाई गयी । सरस्वती किस प्रकार विलुप्त हो गई तथा मरुस्थलों का निर्माण किस प्रकार हुआ,

इन कार्यों में हमारे पूर्वजों का कितना योगदान रहा उसकी तो स्मृति हमको है। हमारे साहित्य में इसका वृत्त तो अंकित है किन्तु बाहर से आने का कोई उल्लेख नहीं है।

भारत भूमि मानवों की जन्मभूमि और उनके क्रियाकलापों की आदि भूमि क्यों नहीं हो सकती यह हमारी समझ में नहीं आता। संसार की जितनी प्राचीन सभ्यताएं पुष्पित पल्लवित हुयीं वे सब नदियों की घाटियों में हुयी बताई जाती हैं। फिर गंगा-यमुना और सरस्वती-सिन्धु इस दृष्टि से वन्ध्या क्यों मानी जाती है। यह बात समझ में नहीं आती है। क्यों यह क्षेत्र आठवीं-छठीं शताब्दी ईसापूर्व तक जंगल प्रदेश बना रहा और उन काल्पनिक आर्यों की प्रतीक्षा करता रहा जिन्होंने इसे अब से कथित रूप से तीन हजार वर्ष पूर्व आकर रहने योग्य बनाया। क्या विन्ध्य की पर्वत श्रेणियाँ इस योग्य नहीं थी कि वे आदिम-मानव को अपनी गुहाओं में स्थान देकर उनकी गतिविधियाँ जारी रखने के लिए उचित वातावरण व जल भोजन की सुविधा दे सकें ? क्यां गंगा-यमुना और सरस्वती की सुविस्तृत और उपजाऊ घाटियां मानव सभ्यता के विकास के लिए उचित संरक्षण या सुविधायें नहीं जुटा सकती थीं ? यदि ऐसा है तो यह आर्यों क्री आदि भूमि जन्मभूमि पितृभूमि क्यों नहीं बन सकती ? यह सम्पूर्ण आर्यावर्त्त आर्यों का मूलस्थान क्यों नहीं बन सकता ?

मनु ने इस क्षेत्र का वर्णन किया है (2.17.24)। वे पहले सरस्वती दृषद्वती की उपत्यका ब्रह्मावर्त्त का वर्णन करते हैं। इसके बाद कुरुक्षेत्र मत्स्य पाञ्चाल एवं सूरसेन को ब्रह्मर्षि देश कहते हैं। फिर हिमालय और मध्यभूमि जो विनशन और प्रयाग के बीच में पड़ती है मध्यदेश कहते हैं। स्पष्ट है कि भौगोलिक दृष्टि से ब्रह्मावर्त्त और ब्रह्मर्षि मध्यदेश के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके बाद आर्यावर्त्त की सीमा बताते हैं जो भौगोलिक दृष्टि से इससे भी अधिक व्याप्ति वाली है। पूर्व एवं पश्चिम में समुद्र से घिरी हुयी एवं उत्तर तथा दक्षिण में (हिमालय और विन्ध्य) पर्वतों के बीच की भूमि को उन्होंने आर्यावर्त कहा है:–

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ 17 ॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ 18 ॥
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ 19 ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ 20 ॥
हिमवद्-विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्रांग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ 21 ।
आसमुद्रात् तु वै पूर्वादासमुद्रात् तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरें गिर्योरार्यावर्तं बिदुरर्बुधाः ॥ 22 ॥

कृष्णसारस्तु चरितमृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो क्षत्रियो देशो म्लेच्छदेशात् त्वतः परः ॥ 23 ॥
एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकार्शितः ॥ 24 ॥

—मनुस्मृति, 2/17-14

इस परिभाषा में सम्पूर्ण उत्तर भारत आ गया। कुछ और परिभाषाएं भी मिलती हैं। पतंजलि महाभाष्य की परिभाषा (6.3.109) इससे प्राचीन लगती है। जिसका समर्थन कई अन्य धर्मसूत्र एवं स्मृतियाँ करती है। महाभाष्य के अनुसार दर्शन के पूर्व कालक वन से पश्चिम, हिमलाय से दक्षिण एवं परियात्र से उत्तर की भूमि आर्यावर्त्त है। कुछ स्मृतियों में दर्शन की जगह विनशन (बौद्धायन 1.27) और पारियात्र की जगह विन्ध्य (वशिष्ठ 1.7) आता है। किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि क्षेत्र लगभग वही है। गंगा-यमुना की घाटी को मध्यदेश कहा गया है। यही भौगोलिक दृष्टि से सम्पूर्ण आर्यावर्त की परिव्याप्ति कर लेता है। इस प्रकार यही भूमि प्राचीन भारतीय वैदिक संस्कृति का मूल स्थान रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

ऋग्वेद में (10.75.5-6) नदियों के नाम आते हैं जिनमे गंगा, यमुना, सरस्वती सतुद्रि, परुष्णी, असिवनी, वितस्तता, अर्जीकिया, सिन्धु गोमती, कुभा आदि के नाम भौगोलिक क्रम से उल्लिखित हैं। ये नदियाँ उत्तर भारत से लेकर अफगानिस्तान तक के क्षेत्र की हैं। इसमें भौगोलिक जानकारी तो मिलती है किन्तु यह सूक्त एक और बात की ओर संकेत करता है। इससे इन नदियों का क्रम गिनाने वाले की अपनी स्थिति की जानकारी भी मिलती है। जिस किसी ने भी इन नदियों का क्रम गिनाया है वह स्वयं गंगा की उपत्यका में बैठा इनको गिना रहा है इसमें संदेह नहीं। यह पुनः मध्यदेश की ओर संकेत करता है जो वेदों एवं वैदिक भारतीयों का मूलस्थान था।

पारसियों की अवेस्ता में आर्याना-वेइजो को आर्यों का मूल निवास स्थान बताया गया है। यह भी कहा गया है कि अत्यधिक ठंड बढ़ जाने के कारण वहाँ से निष्क्रमण हुआ और उन्होंने सोलह देश बसाये जिनमें पद्रहवाँ देश हप्तहिन्दु है। इस आयार्ना-वेइजो और हप्तहिन्दु की खोज पिछली शताब्दी का वाग्विलास बन गया था। किसी ने अजरं वाइजान को आर्याना-वेइजो माना और किसी ने उत्तरी ध्रुव को किन्तु आर्यावर्त को आर्याना-वेइजो (आयानां वर्तः) के रूप में नहीं देखा जहाँ इस समस्या का मूल छिपा है। वैदिक भारतीयों ने इसी क्षेत्र में अनेक हिमयुग (ग्लेशियन युगः) देखे हैं और प्रलय भी देखे है। अतः ऐसे कठिन समयों में कुछ लोगों का निष्क्रमण असम्भव नहीं है। ईरान में अहरहवैती एवं हरयू नदी के नामकरण भारतीयों के पश्चिमाभिनिष्क्रमण के अवशेष माने जा सकते हैं क्योंकि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में भी भारतीय नदियों एवं देशों के नाम मिलते हैं। ईराक के राजा 'यिमख्शाएत' की पहचान 'यम वैवस्वत' से की जा सकती है। जो मनु वैवस्वत (विवस्वान् के पुत्र) के भाई थे। प्रलय के पश्चात् मनु ने भारत में सन्तति विस्तार किया और यम ने ईरान-ईराक क्षेत्र में। इस संक्षिप्त लेख में इस विषय पर विस्तार में जाने का अवसर नहीं है किन्तु यह बता देना विषय के अनुकूल होगा कि जिस प्रकार वर्तमान युग में अंग्रेजी साम्राज्य के

विस्तार काल में संसार के अनेक क्षेत्रों में नगरों स्थानों आदि के नाम अंग्रेजी भाषा के आधार पर पड़े उसी प्रकार भारतीय नामों की छाप संसार के अनेक देशों, नगरों, पर्वतों नदियों में मिलते हैं, तथा भाषाओं पर भी इनकी छाप पड़ी है जो भारतीयों के विदेश निष्क्रमण के चिह्न के रूप में आज भी/अभी भी दिखाई पड़ते हैं। इसी तथ्य ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जन्म दिया और इण्डो-यूरोपीय भाषा परिवार की कल्पना की गयी तथा विभिन्न भाषा शास्त्रीय सिद्धान्त स्थिर किए गए। ऐसे सिद्धान्त के प्रतिपादकों को डॉ. सत्यकाम वर्मा की (वैदिक स्टडीज, पृष्ठ 145) चेतावनी का हम स्मरण दिलाना चाहेंगे कि भाषा शास्त्रियों को अपने विचार (Clue) इतिहास से ग्रहण करना चाहिए न कि इसके विपरीत अर्थात् भाषा शास्त्र के आधार पर इतिहास के सूत्रों के निर्धारण का प्रयास यदि किया जायेगा तो आर्य समस्या जैसी काल्पनिक समस्यायें खड़ी हो जायेंगी जिनके निवारण में शताब्दियाँ लग सकती हैं।

यहाँ 'हप्तहिन्दु' के विषय में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। सप्तसिन्धु के उल्लेख यर्जुवेद (38.6) और अथर्ववेद (4.6.2) में भी आते हैं और अविनाशचन्द्र दास का नाम सप्तसिन्धु के साथ अमर हो गया है। किन्तु समस्त वैदिक एवं परवर्ती भारतीय साहित्य में आर्यों (?) के मूल स्थान के विषय में स्पष्ट जानकारी होते हुए भी सप्तसिन्धु के अस्पष्ट एवं संक्षिप्त उल्लेख को लेकर आर्यों का मूलस्थान खोजना अत्यन्त हास्यास्पद है। वैदिक साहित्य और अवेस्ता में कहीं भी सप्तसिन्धु को आर्यों का मूल स्थान नहीं कहा गया है। अवेस्ता में तो हप्तहिन्दु को पन्द्रहवाँ देश कहा गया है, तो उसे मूलस्थान मानने का आग्रह क्यों किया जा रहा है। सप्तसिन्धु वैदिक साहित्य में किसी देश का नाम है यह भी स्पष्ट नहीं है। यदि है तो उसकी पहचान भी नहीं की जा सकती। यह सात नदियों का प्रदेश है जैसा कि कुछ लोगों ने प्रयास किया है अथवा सात समुद्रों का यह शब्द स्पष्ट नहीं करता है। अतः निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के विषय में विचार करने से बौद्धिक व्यायाम तो होता है किन्तु परिणाम नहीं निकलता।

अतः निष्कर्षतः यही कहना पड़ेगा कि आर्य समस्या कोई समस्या नहीं है। आर्यनाम की कोई जाति नहीं है यह कृत्रिम समस्या अज्ञान, निहित स्वार्थ और आधे-अधूरे शोध-कार्यों पर आधारित है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जो भवन खड़ा किया गया है इसके नींव की ईटें भ्रान्तिपूर्ण अवधारणाओं के आधार पर खड़ी की गई हैं। अतः इसमें आधारभूत चिंतन की आवश्यकता है। हम भारतीयों ने भी जो कुछ शोध-कार्य किया है वह इस झूठ की आँधी के आवर्त में फँस गया था। अब समय आ गया है कि हम इसे पहचानें और इसका पूरी शक्ति के साथ सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का मंथन करके निकाले गए तथ्यों के साथ इस भ्रांत धारणा को धराशायी कर दें। आर्य और द्रविड़ के काल्पनिक विभेदकारी अपवाद का मुँह तोड़ उत्तर देते हुए विष्णुपुराण (23.1) के इस घोष का उद्घोष करें–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चापि दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति॥

●

आर्यों का मूल-स्थान

डॉ. हर्षनारायण

आर्यों के मूल स्थल का निर्णय जितना दुस्साध्य हैं उस पर उतना ही कम विचार हुआ है और अब तो इस पर अन्वेषण प्रायः बन्द ही है ।

इस विषय के इतने आयाम हैं कि उन्हें एक निबन्ध में समेटना किसी प्रकार सम्भव नहीं । अतः मैं केवल वही मुद्दे उठाऊँगा जो मुझे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लगते हैं ।

आइए भारत से आरम्भ करें । भारत की सीमाएँ राष्ट्रभङ्ग के पूर्व क्या थीं ? पुराण से उत्तर मिलता है–

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चापि दक्षिणम् ।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥[1]

पुराणों में यह भी कहा गया है कि भरत का देश होने से इस देश को भारतवर्ष कहते हैं । भरत कौन ? उत्तरों की भरमार है–ऋषभ-पुत्र भरत[2] दुष्यन्त-पुत्र भरत[3], विश्वामित्र का भारत-जन[4], मनु भरत[5], अग्नि भरत[6], प्रजापति भरत[7] आदि । इस देश के कई अन्य नाम भी स्मृत हैं–हिमवर्ष, नाभिवर्ष अजनाभवर्ष, आदि[8] । किन्तु इस सम्पूर्ण देश को आर्यो का मूल-स्थान मानना कठिन है । आर्यस्थल-वाचक शब्द 'आर्यावर्त' है, जिसकी सीमा के अन्तर्गत अधिक से अधिक उत्तर भारत ही आ सकता है । मनु के अनुसार आर्यावर्त की सीमाएँ, इस प्रकार हैं–

आसमुद्रात् तु वै पूर्वादासमुद्रात् तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥[9],

महाभाष्य में आर्यावर्त का सीमाङ्कन इस प्रकार है–'कः पुनरार्यावर्तः ? प्रागादर्शात्, प्रत्यक्-कालकवनात्, दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् ।'[10], **बौधायन-धर्मसूत्र** में भी यही बात कही गयी है–'प्रागदर्शनात्, प्रत्यक् कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक् पारियात्रमेतदार्यावर्तम् ।'[11] **बौधायन-स्मृति** में 'प्रागदर्शनात्' के स्थान पर 'प्राग् विनशनात्' पाठ के साथ यही परिभाषा दुहरायी गयी है ।[12] **वसिष्ठ-धर्मपुत्र**[13] और **वसिष्ठ-स्मृति**[14] में भी किञ्चित् पाठभेद से यही परिभाषा दी गई है । **वसिष्ठ-स्मृति** में 'पारियात्र' के बदले 'विन्ध्य' का उल्लेख स्मरणीय है । तथापि ये परिभाषाएँ सर्वमान्य नहीं कही जा सकतीं । **बौधायन-स्मृति** में किन्हीं मन्त्रों की परिभाषा देते हुए कहा गया है–'गङ्गा-यमुनयोरन्तरमित्येके', अर्थात् कुछ के अनुसार गङ्गा और यमुना के मध्यवर्ती भूखण्ड को आर्यावर्त कहना चाहिए ।[15] **वसिष्ठ-स्मृति** में भी यह विप्रतिपत्ति दी हुई है और साथ ही यह भी

कहा गया है कि कुछ के अनुसार जहाँ तक कृष्ण मृग विचरण करता है वहाँ तक ब्रह्मवर्चस अथवा वैदिकों की भूमि है–'गङ्गायमुनयोरन्तरेऽप्येके । यावद् वा कृष्णमृगो विचरति तावद् ब्रह्मवर्चसमित्यन्ये ।'[16]

वस्तुतः सम्पूर्ण आर्यावर्त को मूल आर्य-स्थान मानने में भी कठिनाई होती है । आर्यावर्त के भिन्न-भिन्न खण्डों में किसी को पुण्यदेश और किसी को पापदेश मानने की प्रथा आरम्भ से ही पायी जाती है । **ऋग्वेद** के 'कीकटेषु'[17] का अर्थ यास्क के अनुसार 'अनार्यनिवास' है ।[18] मनु के अनुसार सरस्वती और हषद्वती नदियों के बीच का भूखण्ड ब्रह्मावर्त है, जो एक 'देव-निर्मित देश' है और जिसमें प्रचलित आचार ही सदाचार कहलाता है । उस के पूर्व की ओर और सम्भवतः उस के कुछ कम पुण्य देश ब्रह्मर्षिदेश है, जिसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पञ्चालदेश, और शूरसेन देश सम्मिलित हैं । मनु के अनुसार ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षिदेश इतने श्रेष्ठ है कि पृथिवी के सभी मनुष्यों को इन से सदाचार सीखना चाहिए । इन के पूर्व की ओर मध्यदेश स्थित है, जिस की सीमाएँ हिमालय, विन्ध्याचल, सरस्वती के लोप-स्थान और प्रयाग हैं । मध्यदेश की कतिपय अन्य, विलक्षण परिभाषाएँ भी प्राप्त होती हैं–'का प्रकृतिर्ब्राह्मणस्य ? मध्यदेशः । कतरो मध्यदेशः ? प्राग् दशार्णात्, प्रत्यक् काम्पिल्यादुदक् पारियात्राद्, दक्षिणे हिमवतः । गङ्गायमुनयोरन्तरमेके[19] मध्यदेशमित्याचक्षते ।' ये सभी देश आर्यावर्त के अङ्ग हैं । मनु यह भी सङ्केत करते हैं कि आर्यावर्त के दो भाग है–यज्ञिय देश और म्लेच्छ देश । जहाँ कृष्ण-मृग पाया जाता है वह भूभाग यज्ञिय देश है, शेष म्लेच्छ देश है । और यज्ञिय देश-ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, और मध्यदेश–ही वास्तविक आर्यस्थान है, शेष शूद्र आदि के लिए हैं ।[20] ऐसा लगता है कि मनु की दृष्टि में यद्यपि आर्य सम्पूर्ण आर्यावर्त पर अधिकार रखते थे, तथापि उसके खण्ड-विशेष ही वास्तविक आर्य-स्थान का महनीय अभिधान ग्रहण करने योग्य है ।

इससे भी अर्थगर्भ तथ्य यह है कि शास्त्रों में यत्र-तत्र आर्यावर्त के कई खण्ड निषिद्ध और अपवित्र माने गये हैं, जहाँ पदार्पण मात्र से पाप लगता है । बौधायन की व्यवस्था है कि जो कलिङ्ग-देश में पैर रखेगा वह पैर से पापी होगा, जिसके लिए वैश्वानर हवि रूपी प्रायश्चित्त का विधान है–

पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते ।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुवश्वानरं हविम् ॥[21]

सम्भवतः कालान्तर में कलिङ्ग पुण्यभूमियों में सम्मिलित कर लिया गया और वहाँ ऋषि-मुनि बसने लगे थे । यह भी हो सकता है कि वह पहले पुण्यभूमि रहा हो और कालान्तर में ब्राह्मणादर्शन आदि के कारण अपुण्य-भूमि बन गया हो । क्योंकि कहा गया है–

समानं देवयानेन यथा स्वर्गमुपेयुषः ।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुमिरीजिरे ॥[22]

अपुण्य-देशों की सूची लम्बी है–आरट्ट, कारस्कर, माहिषक, कुरण्ड, केरल, कर्कोट, वीरक, दुर्धर्म (?)[23] दक्षिणापथ, नरवरान्धुक,गुह, पुलिन्द,शबर, चुचुक, मद्रक, यौन, कम्बोज, गान्धार, किरात,

बर्बर;[24] वाहीक;[25] सिन्धु, सौवीर, प्रत्यन्तदेश, कलिङ्ग, कौङ्कण, बङ्ग;[26] त्रिशङ्कु, बर्बर, अन्ध्र, चीन, द्रविड, कौङ्कण, कर्णाटक, आभीर, कलिङ्ग, अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग;[27] सौराष्ट्र, मगध;[28] अवन्ति, अङ्ग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिन्धु, सौवीर;[29] आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वङ्ग, कलिङ्ग, प्रानून;[30] अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र, गुर्जर, आभीर, कौङ्गण, द्राविड, दक्षिणापथ ।[31] अपुण्य नदियों की भी चर्चा आती है–

कर्मनाशा-जलस्पर्शात्, करतोया-विलङ्घनात् ।
गण्डकी-बाहुतरणात् पुनः संस्कारमर्हति ॥[32]

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष ही नहीं सम्पूर्ण आर्यावर्त को आर्यों का मूल-निवास मानना सम्भव नहीं है । यास्ककृत आर्यनिवास और अनार्यनिवास का भेद अर्थवान् है ।

मनु के पूर्वोदाहृत 'देवनिर्मित देश' अधोऽङ्कित ऋङ्मन्त्र के 'योनिं देवकृतं' का पर्याय प्रतीत होता है–

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः ।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर् विप्रो नद्यो जोहवीति ॥[33]

यहाँ विपाश् (विपाशा, व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदियाँ कहती हैं कि वे देवकृत स्थान की ओर आती है । कहीं मनु का ब्रह्मावर्त ही तो वह स्थान नहीं है ?

किन्हीं वेदमन्त्रों से ध्वनित होता है कि आर्य सरस्वती नदी/सारस्वत देश के निवासी थे । यथा–

सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक् ।
जुषस्व नः सख्या वेश्या च, मा त्वत् क्षेत्राण्यरणानि गन्म ॥[34]

इस का अर्थ है–'हे सरस्वति ! हमें प्रशस्त धन की ओर ले चल । हमें अपने दुग्ध से वञ्चित न कर, और न हमें हीन कर । तू हमारा बन्धुत्व और स्थान स्वीकार कर । हम तेरे पास से दूर क्षेत्र में न जाँय ।' अन्तिम वाक्य 'मा त्वत् क्षेत्राण्यरणानि गन्म' से इस ऋचा के गायक का निवास सारस्वत क्षेत्र प्रतीत होता है ।

ऋग्वेद में सरस्वती के अतिरिक्त इला और भारती के क्षेत्रों की प्रशंसा पायी जाती है । इला-क्षेत्र को पृथिवी में सर्वोत्तम-प्राय बतलाया गया है, और सरस्वती तथा दृषद्वती को भी स्मरण किया गया है–

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास् पदे सुदिनत्वे अह्नाम् ।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि ॥[35]

यहाँ भी ब्रह्मावर्त का स्मरण हो जाता है ।

अन्यत्र सरस्वती, भारती और इला तत्तत् क्षेत्र के नाम पर तीन देवियों-अग्नियों के नाम भी है–

भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही
इमं नो यज्ञमागमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः ॥[36]

किन्तु सरस्वती की पहचान सरल नहीं है। एक सरस्वती ईरान में भी है, होरह्वैती। भारतीय सरस्वती पटियाला में विनशन नामक स्थान पर विलुप्त हो जाती है। ईरान की गोमल नदी प्रायः सर्वसम्मति से ऋग्वेद (10.75.6) की गोमती मानी जाती है। **ऋग्वेद** में सरस्वती का उल्लेख दृशद्वती के साथ देख कर,[37] सात बहनों वाली (सप्तस्वसा) कथित पाकर,[38] और सिन्धु आदि सात नदियों में परिगणित पाकर,[39] उसे हमारा भारतीय सरस्वती मानने की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है। पञ्चजनों को कुरुक्षेत्र में भरतों के पड़ोसी के रूप में समझा जाता है, जो सरस्वती के तट पर थे। इससे भी सरस्वती भारतीय सरस्वती ही प्रतीत होती है। और यह सरस्वती 'नदीतमा'[40] ही नहीं 'देवितमा' भी है,[41] और वेदोत्तर काल में भी निरन्तर रही है, जो वैशिष्ट्य होरह्वैती को कभी प्राप्त नहीं हुआ।

अस्तु वैदिक आर्य सारस्वत प्रदेश इसी सरस्वती के प्रदेश के निवासी थे। सरस्वती आदि सातों बहिनों, सातों नदियों (सप्तसिन्धवः)–पंजाब की पाँचों नदियों तथा सिन्धु और सरस्वती–[42]का देश सप्तसिन्धु (सप्तसिन्धुष)[43] ही वैदिक आर्यों का मूल निवास ज्ञात होता है। **ऋग्वेद** में विन्ध्य, दक्षिण के पर्वतों, और दक्षिण की नदियों के अनुल्लेख; शरन्मूलक वर्षमान; उत्तर-मध्य और उत्तर-पश्चिम भारत से लेकर अफगानिस्तान, ईरान, यूनान, जर्मनी, इटली तक आर्यभाषा-क्षेत्र के विस्तार, आदि के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। **ऋग्वेद** में सुदूर पूर्व भारत का भी,कीकट को छोड़कर कोई सङ्केत नहीं मिलता। **अथर्ववेद** में गन्धार, मूजवत्, अङ्ग, मगध,[44] और बाह्लीक[45] देशों के नाम मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि तब तक वैदिक आर्य मगध और अङ्ग से आगे नहीं बढ़े होगें। ब्राह्मणों में उत्तर दिशा भाषा-सौष्ठव के लिए प्रतिमान मानी गयी है–'उदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यते'–और कहा गया है कि भाषा सीखने के लिए लोग उत्तर दिशा की ओर जाते हैं– 'उदञ्चे उ एव यन्तिवाचं शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्ते, 'इति स्म आह'। एषा हि वाचो दिक् प्रज्ञाता।'[46] और हम कह आये हैं कि मनु लगभग इसी दिशा में वैदिक आचार-विचार का शुद्धतम अनुकरणीय रूप मानते हैं।

अब इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना चाहिए कि प्रस्तुत सन्दर्भ में 'आर्य' शब्द किसी जाति का बोधक है या केवल श्रेष्ठता-सभ्यता का बोधक। हम समझते हैं कि इस शब्द की चाहे अन्य जो व्युत्पत्ति की जाय, उस का सम्बन्ध 'अर्य' शब्द से अवश्य है। **अमरकोश** में 'अर्य' के दो अर्थ मिलते हैं–स्वामी और वैश्य (अर्यः स्वामि-वैश्ययोः)। इस का वैश्य अर्थ में प्रयोग वैदिक है–

> **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः–**
> **ब्रह्म-राजन्याभ्याऊँ, शूद्राय, चार्याय (च+अर्याय) च, स्वाय चारणाय (च+अरणाय) च।**[47]
> **प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु,**
> **प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये (उत+अर्ये)॥**[48]
> **प्रियं मा दर्त्रं कृणु ब्रह्म-राजन्याभ्यां, शूद्राय, चार्याय (च+अर्याय) च।**[49]

'अर्य' से स्वाम्यर्थक 'आर्य' शब्द निष्पन्न होता है। 'आर्य' शब्द **निघण्टु** (2.22) में 'ईश्वर' नामों में पठित है। 'ईश्वर' का स्वामी, राजा, अर्थ ही विवक्षित है (राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान्, इन इन इति चत्वारीश्वरनामानि)।[50] 'अर्य' का अपत्य 'आर्य' अत एव यास्क का वचन है–'आर्य ईश्वर-पुत्रः।'[51] इस प्रकार शूद्र की गणना अर्य अथवा आर्य में नहीं हो सकती। यही कारण है कि वेद में शूद्र और अर्य प्रत्यनीकभाव से प्रयुक्त पाये जाते हैं–'उत शूद्र उतार्यें',[52] 'यच् छूदे यदर्ये',[53] 'शूद्रार्यौ' (शूद्र+अर्य, पदपाठानुसार),[54] 'शूद्रार्यौ'[55]। **शतपथब्राह्मण** में तो आर्य शब्द स्पष्ट ही ब्राह्मण, क्षत्रिय,और वैश्य के लिए प्रयुक्त प्राप्त होता है।[56] ऋग्वेद में यह 'दास' के विलोम के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[57] कभी-कभी यह वैश्य आदि के पृथक् उल्लेखपूर्वक केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के लिए भी प्रयुक्त दिखायी देता है। **ऋग्वेद** में 'आर्या विश्' (आर्य जाति)[58] और 'दासी विश्' (दास-जाति) का सुस्पष्ट और पृथक्-पृथक् उल्लेख भी पाया जाता है। इसी प्रकार वेद में 'आर्य-वर्ण' और 'दास-वर्ण' की भी चर्चा आती है–'हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्,'[59] 'यो दासं वर्णमधरं गुहाकः'[60]। आर्य को श्वेत अथवा गोरा, 'श्वित्न्य[61]' तथा दास/दस्यु को 'कृष्णयोनि',[62] 'कृष्णत्वक्'[63] जैसे विशेषणों से विशेषित किया गया है। यह भी कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि दोनों वर्णों की रक्षा करते थे–"उभौ वर्णमृषिरुग्रः पुपोष'[64]। ऋग्वेद में कहीं-कहीं स्पष्टतर सङ्केत है कि 'आर्य' कोई जाति होनी चाहिए, श्रेष्ठ पुरुष मात्र नहीं। जैसे एकत्र कहा गया है कि इन्द्र दास और आर्य दोनों प्रकार के शत्रुओं का संहार करता है–

त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर ![65]

इसी प्रकार अन्यत्र इन्द्र को आर्य और दास दोनों के उपद्रवों को शान्त करने वाला कहा गया है–

हत्वा वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती[66]

यदि श्रेष्ठ पुरुष को ही आर्य कहते हैं, तो आर्य उपद्रवी कैसे हो सकता है ?

इस विवरण से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आर्यों की दासकों, दस्युओं, शूद्रों से भिन्न एक स्वतन्त्र जाति थी। ऋग्वेद की अधोंऽङ्कित ऋचाएँ इस प्रसङ्ग में रही-सही शङ्का भी निवृत्त कर देती हैं– 7.83.1 और 10.69.6, जिनमें दास शत्रुओं के साथ आर्य शत्रुओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है: 1.102.5,3.32.14, 6.22.10, 6.25.2, 3; 8.2.4, 27; 10.38.3; 10.83.1; और 10. 102.3, जिनमें आर्यों-आर्यों के युद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है। अधोलिखित ऋचा में दस्यु के विशेषणों पर ध्यान दीजिए–अन्यव्रत, अमानुष, अयज्वा, मदेवयु–

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥[67]

एक अन्य ऋचा में आर्य और दस्यु का भेद घोषित करते हुए दस्युओं को उनकी व्रतहीनता, अर्थात् आर्य-मर्यादा से विमुखता, के कारण दण्डनीय बतलाया गया है–

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत् ता ते सधमादेषु चाकन॥[68]

हाँ, यह अवश्य मानना होगा कि वंशानुवंश व्रतच्युत आर्य-समाज भी अनार्यों, वृषलों, की कोटि में परिगणित होने लगता था, जैसा मनु कहते हैं–

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च-
पौण्ड्रकाश्चौड्र-द्रविडाः, कम्बोजाः, यवनाः, शकाः,
पारदाः, पह्लवाश्चीनाः, किराता, दरदाः, खशाः ॥[69]

वस्तुतः मनु की व्यवस्था है कि वर्णव्यवस्था-बाह्य जातियाँ सबकी सब दस्यु हैं, चाहे वे आर्यों की भाषा ही क्यों न बोलती हों–

मुख-बाहूरु-पज्-जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥[70]

आर्य एक भिन्न जाति है, यह इससे भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों और ऋषियों के प्रतिरूप अन्य जातियों में भी सङ्केतित हुए हैं । **शतपथब्राह्मण** में 'असुर-ब्राह्मण'[71], **हरिवंस** में 'दानव-ऋषि,[72]' **गोपथब्राह्मण** में 'असुर-वेद',[73] **छान्दोग्योपनिषद्** में 'असुराणां ह्येषोपनिषद्',[74] का उल्लेख प्राप्त होता है । यदि श्रेष्ठ पुरुष सामान्य के अर्थ में 'आर्य' शब्द रूढ होता तो असुर-ब्राह्मण और दानव-ऋषि भी आर्य कहे जाते । वस्तुतः आर्यों को अपने व्रत (धर्म) के प्रचार की धुन भी प्रतीत होती है (आर्या व्रता विसृजन्तो अधि-क्षमि)[74क]।

अस्तु । आर्यजाति का मूल स्थान एक अन्य प्रकार से भी आर्यावर्त (का सप्तसिन्धु-प्रदेश) ही सिद्ध होता है । 'आर्य' नाम ईरान छोड़ किसी अन्य विदेशी भाषा में नहीं मिलता, केवल इसी देश में प्रचलित रहा है । आर्यत्व अपनी समग्रता में बस यहीं पाया जाता है, ईरान से भी अधिक । **ऋग्वेद** में सप्तसिन्धु की सिन्धु और सरस्वती नदियों के माहात्म्य का ही उद्घोष सुनायी देता है । वैदिक ऋषियों को किसी प्राचीनतर निवासस्थान की स्मृति भी नहीं है । आर्यभाषा और संस्कृति का शुद्धतम रूप भी यहीं दृष्टिगोचर होता है ।

पारसियों की अवेस्ता में मूल आर्य-निवास की संज्ञा 'आर्याना-वेइजो' निर्दिष्ट हुई है ।[75] ठंड अत्यधिक बढ़ जाने के कारण वहाँ से आर्यों का अभिनिष्क्रमण हुआ और उन्होंने सोलह देश बसाये, जिनमें से पन्द्रहवाँ देश 'हप्तहिन्दू' बतलाया गया है ।[76] इस आधार पर कहा जाता है कि सप्तसिन्धु मूल आर्य-निवास नहीं हो सकता । आर्याना-वेइजो की पहचान के विषय में भी मतभेद है । कोई उसे आजरबाइजान बतलाता है, कोई उत्तरी ध्रुव-प्रदेश । तिलक का उत्तरी ध्रुव सिद्धान्त प्रसिद्ध है । उसे तिब्बत भी माना जा सकता है । किन्तु अनेक अवेस्ता-विदों को इस विवरण की ऐतिहासिकता में ही सन्देह है । इसमें निर्दिष्ट सोलह देशों में ईरान का कहीं पता नहीं है ।

वैदिक आर्यों को प्राचीनतम आर्य मानने के पक्ष में एकाध प्रबल हेतु विद्यमान है । वैदिक आर्य प्रतिमोपासना और देवायतन से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं–स्मरण रहे प्रतिमोपासना और देवायतन के विरोधी नहीं, अनभिज्ञ और अपरिचित । उनके उपासना-विधान, यज्ञ, में प्रकृति-पूजा तो किसी सीमा तक है, किन्तु प्रतिमा-पूजा बिल्कुल नहीं । इसके विपरीत प्राचीन ईरानियों को छोड़

कर शेष अन्य सभी प्राचीन सभ्यताएँ–सुमेरीय, हड़प्पाई, आदि सभी–प्रतिमा-पूजक रही हैं । यदि वैदिक आर्य इनके पश्चाद्वर्ती, अथवा समसामयिक भी, होते तो उनमें प्रतिमा-पूजा का किसी न किसी सीमा तक प्रचार अवश्य हो गया होता, अथवा उनमें उसके प्रति विद्रोह-भाव अवश्य जाग्रत होता । प्रतिमा-पूजा में सर्वसाधारण के लिए विशेष, आकर्षण है । अतः कोई आस्तिक जाति इससे उदासीन नहीं रह सकती, वह या तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेगी या उसके प्रति विद्रोह कर बैठेगी । ईरान में जब यूनान से प्रतिमा-पूजा का प्रवेश हुआ तो उसका डटकर विरोध भी हुआ । इस सन्दर्भ में रुस्तम के प्रति इस्फिन्दियार की गर्वोक्ति फिर्दौसी इस प्रकार पद्यबद्ध करता है–

नखुस्तीं कमर बस्तम अज बहे दीं
तिही कर्दम अज बुतपरस्ताँ जमी
बर-अफ्रोख्तम आतिशे जर्दहिश्त
कि दर मिज्मर आउर्दः बुद अज बहिश्त

अर्थात् इस्फिन्दियार ने धर्म-रक्षार्थ कमर बाँधी, धरती को प्रतिमा-पूजकों से रिक्त कर दिया, और उस अग्नि को प्रज्वलित किया जो जरथुष्ट्र द्वारा स्वर्ग से लायी गयी थी ।

ऐसी दशा में वैदिक आर्य-समाज में प्रतिमा-पूजा का अप्रचार और अप्रतिषेध अर्थ रखता है । इसे अन्य समाजों-सभ्यताओं से प्राचीन ही होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त हड़प्पाई, सुमेरीय, आदि प्राचीन सभ्यताएँ व्यापार-प्रधान, नागर सभ्यताएँ थीं, जब कि वैदिक सभ्यता कृषि-प्रधान, ग्राम्य सभ्यता थी । उसी प्रकार उक्त सभ्यताओं ने लिपि और लेखन-कला का पर्याप्त विकास कर लिया था, जब कि वैदिक सभ्यता इस विषय में बहुत पीछे प्रतीत होती है । इस दृष्टि से भी वैदिक आर्यसभ्यता उनसे प्राचीनतर ठहरती है, और वैदिक आर्यों का निवास-स्थान सप्तसिन्धु मूल आर्य-स्थान सिद्ध होता है ।

तिलक का उत्तरीय ध्रुव सिद्धान्त अनेक वैदिक ऋचाओं के सन्दिग्ध अर्थ पर प्रतिष्ठित है, जिसे चुनौती दी गयी है । तथापि इतना लो माना ही जा सकता है कि आर्यों की किसी शाखा का उत्तरीय ध्रुव-प्रदेश से भी सम्बन्ध रहा हो । अन्यथा, क्या यह कम महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि **अवेस्ता** में सोलह आर्य-देशों की तालिका दी गयी है, जब कि ऋग्वैदिक आर्य आर्यावर्त के बाहर के किसी भी देश से परिचित नहीं प्रतीत होते ?

निबन्ध समाप्त करने के पूर्व सप्तसिन्धु-सिद्धान्त पर उठायी जाने वाली एक विप्रविपत्ति पर भी किञ्चित् विचार आवश्यक प्रतीत होता है । सप्तसिन्धु की सात नदियाँ कौन-सी है ? वेद में इसका कोई स्पष्ट सङ्केत नहीं प्राप्त होता है । आजकल उनमें प्रायः पंजाब की पांच नदियों–आर्जिकीया अथवा विपाशा (व्यास), शुतुद्री (सतलुज), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाब) और परुष्णी (रावी)–तथा सरस्वती और सिन्धु (सुषोमा) की गणना होती है । तदर्थ सायण अधोलिखित ऋचा में उल्लिखित गङ्गा आदि नदियों के नाम लेता है–

इमं मे गङ्गे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि ! स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे ! वितस्तयाऽऽर्जिकीये ! शृणु ह्या सुषोमया ॥[77]

किन्तु यहाँ तो दस नदियों का उल्लेख है !

वस्तुतः जब पूर्वोक्त प्रमाणों, विशेषतः अवेस्ता के हप्त-हिन्दू और वेद के सप्तसिन्धु में आश्चर्यजनक तादात्म्य अथवा एकत्व के आधार पर सप्तसिन्धु-वाद स्थापित नहीं तो उपोद्बलित अवश्य हो जाता है, तब इस सम्बन्ध में शङ्का का विशेष अवकाश नहीं रह जाता,

एक प्रश्न और । एक यजुर्मन्त्र है–

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो वितस्थिरे[78] ।
तावन्तमिन्द्र ! ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह् णाम्यक्षितम् ॥

इसी प्रकार एक अथर्व-मन्त्र है–

यावती द्यावा-पृथिवी वरिम्णा यावत् सप्तसिन्धवो वितष्ठिरे
वाचो विषस्य दूषर्णीं तामितो निरवादिषम् ॥[79]

इस मन्त्रद्वय में 'द्युलोक पृथिवी, और जहाँ तक सप्त सिन्धुओं का फैलाव है' उस समग्र विस्तार का उल्लेख हुआ है । सप्तसिन्धु-सिद्धान्त के विरोधी का तर्क है कि यहाँ यदि 'सप्त सिन्धवः' का अर्थ सात नदियाँ अथवा सप्तनद-प्रदेश किया जाय तो द्युलोक और पृथिवी के साथ 'सप्त सिन्धवः' की गणना बेमेल होगी । अतः उसकी दृष्टि से यहाँ सात समुद्र अभिप्रेत हैं । किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं कि वैदिक आर्यों को सात समुद्रों का पता था । इसके विपरीत, उनको चार समुद्रों का परिज्ञान था, इसकी पुष्टि 'समुद्रांश्चतुरः'[80] और 'चतुः समुद्रं'[81] से होती है, जिससे सम्भवतः पृथवी (अथवा सप्तसिन्धु-देश ?) के चारों ओर समुद्र की कल्पना का बोध होता है । एक स्थान पर तो 'उभौ समुद्रौ.........पूर्व उतापरः' की सूचना प्राप्त होती है,[82] यद्यपि वहाँ वर्णन आलङ्कारिक प्रतीत होता है . अस्तु इन समुद्रों की पहचान आज कठिन है । इस सम्बन्ध में अविनाशचन्द्र दास, सम्पूर्णानन्द, आदि ने जो कल्पनाएँ की हैं उनकी जाँच प्रस्तुत लेख में सम्भव नहीं ।

इस लेख का समापन हम महाभारत के अधोऽङ्कित श्लोक से करना चाहते हैं, जिसमें किसी स्थान-विशेष 'देविका' को ऋषियों का जन्मस्थान बतलाया गया है–

अथ गच्छेत राजेन्द्र ! देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ! ॥[83]

यह देविका कौन-सा स्थान है ?

●

---

1. **विष्णु-पुराण** 2.3.1.
2. **मार्कण्डेय-पु.** 5.3.41, **वायु-पु.**: 1.33.51-52 तु. **विष्णु-पु.** 2.1.32; **श्रीमद्भागवत** 5.4.7.
3. **ऐतरेय-ब्रा.** 8.23; **शतपथ.** 1.2.4.11; 13.5.4.13; **महाभारत,** आदि-पर्व 7.4.131.
4. 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्' । ऋ. 3.53.12 .

5. वायु-पु. 4.5.10; ब्रह्माण्ड-पु. 1.16.6. तु. मत्स्य-पु. 1.113.5-5; शिव-पु. उमा-संहिता 18.1.
6. 'अग्ने ! मंहाँ असि ब्राह्मण! भारतेति ।' तै. सं. 2.5.9.1; 'एष हि देवेभ्योहव्यं भरति, तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुः ।' शतपथं. 1.4.2.2 .
7. तत्रैव 6.8.1.14.
8. विष्णु-पु. 2.1.18, 27, 32; श्रीमद्भागवत 5.7.2-3 .
9. मनुः 2.22 .
10. महाभाष्य 6.3.109 .
11. बौधायन-धर्मसूत्र 1.2.10 .
12. बौधायन-स्मृति 1.27, ताण्ड्य-ब्राह्मण (15.10.16) के अनुसार सरस्वती के लोप-स्थान को विनशन कहते हैं।
13. वसिष्ठ-धर्मसूत्र 1.8-9
14. वसिष्ठ-स्मृ. 1.7.
15. बौधा.-स्मृ. 1.28
16. वसि.-स्मृ. 1.11-12
17. ऋ. 3.53.14
18. निरुक्त 6.32
19. यानुषप्रातिशाख्यपरिशिष्ट, भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 139, में उदाहृत
20. मनु. 2.17-24.
21. बौ. ध. सू. 1.2.16; बौ. स्मृ. 1.1.34.
22. महाभारत, वन-पर्व 114.6
23. तत्रैव, कर्ण-प. 44.31.38.41.43
24. तत्रैव, शान्ति 207.42-45
25. तत्रैव 328.20; कर्ण. 44.41-42
26. देवल-स्मृति 16
27. हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि .
28. सिद्धान्तकौमुदी-तत्त्वबोधिनी 3.2.115 में उदाहृत
29. बौ. ध. सू. 1.2.14-16; बौ. स्मृ. 1.1.31-34.
30. तत्रैव .
31. सौर-पुराण 17.56-59
32. त्रिस्थली-सेतु .
33. ऋ. 3.33.4
34. तत्रैव 6.61.14.
35. तत्रैव 3.23.4
36. तत्रैव 9.5.8
37. तत्रैव 2.23.4
38. तत्रैव 6.61.10
39. तत्रैव 7.36.6; 8.54.4
40. तत्रैव 2.41.16

41. तत्रैव .
42. इस पर आगे विचार किया गया है .
43. ऋ. 8.24.27
44. **अथर्व** 5.22, 14
45. तत्रैव 5.22.5-7
46. **शाङ्खायन/कौषीतकि-ब्राह्मण** 7.6
47. **यजुः** 26.2
48. अथर्व. 19.62.1
49. तत्रैव 19.32.8
50. **निघण्टु** 2.22
51. **निरुक्त** 6.26
52. **अथर्व** 19.62.1
53. **यजुः** 20.17
54. **तै. सं.** 4.3.10.8
55. यजुः 14.30
56. **शतपथः** (काण्वशाखीय) 4.16
57. ऋ. 1.51.8,9; 1.103.3;6.25.2
58. तत्रैव 4.28.4; 6.25.2
59, तत्रैव3.3.34.9
60. तत्रैव 2.12.4
61. तत्रैव 1.100.18
62. तत्रैव 2.20.7
63. तत्रैव 1.130.8
64. तत्रैव 1.179.6
65. तत्रैव 6.33.3
66. तत्रैव 6.60.6
67. तत्रैव 8.70.11
68. तत्रैव 1.51.8
69. मनु. 10.43-44
70. तत्रैव 10.45
71. **शतपथ.** 1.1.4.14
72. **हरिवंश-पु.** 48.6
73. **गोपथः** 1.1.10
74. **छान्दोग्यो.** 8.8.5
74क. ऋ. 10.65.11
75. वेन्दिदाद् प्रथम फ़र्गार्द (अध्याय)
76. तत्रैव .

77. ऋ. 10.75.5
78. यजुः 38. 26
79. अथर्व. 4.6.2
80. ऋ. 9.33.6
81. तत्रैव 10.47.2
82. तत्रैव 1.136.5
83. महाभारत, वन-पर्व 82-102

प्राचीन भारत में मनका निर्माण कला

डॉ. पुरुषोत्तम सिंह*

भूमिका

पुरातात्त्विक उत्खननों में प्राप्त एक विशिष्ट प्रकार की पुरावस्तुएँ जो सहज ही उत्खाता का ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं, नाना प्रकार के पत्थरों, हड्डियों धातुओं तथा पकाई मिट्टी आदि के बने मनके हैं। इन मनकों को गूँथकर (पिरोकर) माला बना लेते थे। ऐसी मालाओं से मानव शरीर को सुशोभित करने की परम्परा उत्तरी पुरापाषाण काल से चली आ रही है और आज भी समाज के कई वर्गों में विद्यमान हैं।

पुरातात्त्विक उत्खननों से प्राप्त इन पुरावस्तुओं से तत्कालीन सामाजिक जीवन की संरचना में विशेष सहायता मिल सकती है। मनके किसी समाज की विभिन्न रुचियां तथा उस समाज में प्रचलित फैशन की झलक देते हैं। मनकों के निर्माण में प्रयुक्त प्रविधि से तत्कालीन समाज की तकनीकी प्रगति के विषय में सूचना मिलती है। उदाहरणस्वरूप सिन्धु संस्कृति से हजारों की संख्या में स्टीएटाइट के बने मनकों से उस संस्कृति में प्रयुक्त उन्नत तकनीक का विकास परिलक्षित होता है। कुछ विशिष्ट प्रकार के मनकों की प्राप्ति दो संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध की सूचना देती है। उदाहरणस्वरूप सिन्धु संस्कृति में निर्मित इन्द्रगोप (रुधिराख्य, कार्नीलियन) के रसायनिक उत्कीर्णनयुक्त मनके मेसोपोटामिया के प्रचीन नगरों–उर, किश, टेल एस्मर आदि से प्राप्त हुए हैं। कुछ विशिष्ट आकृतियों के मनके किसी काल विशेष में मिलते हैं और कुछ शताब्दियों तक प्रचलित रहने के बाद विलुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन संस्कृतियों के काल निर्धारण में इनकी सहायता ली जा सकती है। उपर्युक्त तथ्यों से मनकों के वैज्ञानिक अध्ययन का महत्व निर्विवाद है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि इन विशिष्ट पुरावस्तुओं का स्वतन्त्र वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है।

पुरातात्विक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि जब कोई संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर होती है तो मनकों की संख्या, स्वरूप एवं विभिन्नता बढ़ जाती है, परन्तु यदि संस्कृति अवनति को प्राप्त होती है तो मनकों की संख्या, स्वरूप एवं प्रकारों में अभूतपूर्व ह्रास दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार

---

* प्रस्तुत निबन्ध में प्रयुक्त तकनीकी हिन्दी शब्दों को वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'बृहद् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान' (दो जिल्दों में) से लिया गया है तथा कुछ शब्दों को पं. राधाकृष्ण पाराशर कृत 'रत्न-विज्ञान' से लिया गया है।

नगर-निवासियों की तुलना में गाँव के निवासियों में मनकों की संख्या अत्यधिक अल्प रहती है। आद्य ऐतिहासिक नगरों, तक्षशिला के उत्खनन में आठ हजार पांच सौ, राजघाट (वाराणसी) के उत्खनन में लगभग दो हजार पांच सौ तथा कौशाम्बी के उत्खनन में कई हजार मनके प्राप्त हुए हैं। इनकी तुलना में ग्राम संस्कृति के केन्द्र नरहन (जिला गोरखपुर) में इनकी संख्या मात्र एक सौ नौ है।

पत्थर

प्राचीन संस्कृतियों में मनकों के निर्माण में जो बेशकीमती रत्न प्रयुक्त हुए हैं, उनमें जमुनिया (एमेथिस्ट), इन्द्रगोप (कार्नीलियन), कैल्सेडोनी, सूर्यकान्त (जैस्पर), पुलक तामड़ा (गार्नेट), स्फटिक (क्वार्ट्ज) एवं लाजवर्द (राजावर्त, लैपिस लैजुली) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से लाजवर्द को छोड़कर अन्य सभी पत्थर मध्य भारत, गुजरात तथा आन्ध्र-कर्नाटक क्षेत्र की पहाड़ियों एवं नदियों के गर्भ में प्राप्त होते हैं। लाजवर्द उत्तर पूर्वी अफगानिस्तान के बदरब्शाँ क्षेत्र[1] में विशेष रूप से पाया जाता है, जहाँ से सम्भवतः यह रत्न भारत में आयातित होता था। मनकों के निर्माण के कुछ अन्य रत्न भी प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु उपर्युक्त पत्थरों की तुलना में इनका प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। इन रत्नों में एमेजोनाइट बैदूर्य (बेरिल), पितोनिया (रक्तमणि या ब्लडस्टोन), चूना प्रस्तर (मैलेकाइट), दूधिया पत्थर (ओपल), सेलखड़ी (सोपस्टोन) तथा सर्पेन्टीन उल्लेख्य हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में मनकों के निर्माण में कुछ अन्य पत्थर भी प्रयुक्त हुए थे, परन्तु इनसे बने मनकों की संख्या नितान्त कम है। इन पत्थरों में बेरुज (एक्वामेरीन), फेल्सपार, ग्रेनाइट जेड, संगमरमर, ओनीक्स, पद्मराग (रुबी) शेल और शिस्ट हैं।

शोध का इतिहास

बीसवीं शताब्दी के तीसरे तथा चौथे दशकों में सिन्धु संस्कृति के नगरों के उत्खनन के साथ प्राचीन मनकों के अध्ययन सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। चन्हूदाड़ों के उत्खनन में मनका-निर्माता की एक कार्यशाला प्राप्त हुई थी जिससे इस युग में मनके बनाने की प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ा। 1913 से 1934 ई. के बीच तक्षशिला का जो बड़े पैमाने पर उत्खनन हुआ उससे बड़ी संख्या में मनके प्राप्त हुए थे। इनमें से नौ सौ पचास मनकों का अध्ययन होरेस सी. बेक[2] ने प्रस्तुत किया। प्राचीन मनकों से सम्बन्धित समस्या के विभिन्न पहलुओं पर आगस्टस समर्स,[3] ए.जे. आर्केल[4], अर्नेस्ट मैके[5], एन. आर. बनर्जी[6], बी. के. चटर्जी एवं बसु,[7] नीहारिका,[8] सी. मार्गबन्धु,[9] नारायण एवं सिंह[10] तथा एम. पिपर्नो[11] आदि ने अलग-अलग प्रकाश डाला है।

साहित्यिक साक्ष्य

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रत्नों के पाये जाने की सूचना मिलती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (तिथि 300 ई. पूर्व से 100 ई. के बीच) में विभिन्न प्रकार के बेशकीमती रत्नों के दक्षिण भारत की चट्टानों में पाये जाने का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के "रत्नपरीक्षा"

नामक प्रकरण में मुक्ता से लेकर वज्र तक का वर्णन मिलता है। इसमें प्रमुख मणियों में पद्मराग, वैदूर्य, इन्द्रनील, स्फटिक आदि का उल्लेख है। महाभारत के वनपर्व (अध्याय 64) में विन्ध्य की पहाड़ियों में रत्नों के पाये जाने का उल्लेख है। वात्स्यायनकृत कामसूत्र में निर्दिष्ट चतुःषष्टि कलाओं में रत्नपरीक्षा तथा मणिरागाकार-ज्ञान का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि उस काल में रत्नों को खानों से निकालने और तराशने की कला पूर्णज्ञात तथा विकसित थी। उत्तर गुप्त काल की बाणभट्ट की रचनाओं में भी रत्नों का प्रभूत निर्देश उपलब्ध होता है।[12] गरुड़ पुराण (अध्याय 79) में उल्लेख है कि इन्द्रगोप मणि नामक रत्न तथा पितोनिया (ब्लडस्टोन) नर्मदा की निचली तलहटी में तथा शैल स्फटिक नामक रत्न विन्ध्य पर्वतमाला में प्राप्त होते हैं। मानसोल्लास (अनुमानित तिथि 11वीं शती) से सूचना मिलती है कि क्रिस्टलिय स्फटिक (क्वार्टज) विन्ध्य क्षेत्र में तथा ताप्ती नदी के मुहाने से प्राप्त होता था।

विदेशी विवरण

टालमी के अनुसार सार्डोनिक्स नामक रत्न सार्डोनिक्स पर्वतों में मिलता है। इसका उल्लेख टेसियस भी करता है। विद्वानों ने इस पर्वत शृंखला का समीकरण विन्ध्य पर्वतमाला के उस भाग से किया है जो नर्मदा एवं ताप्ती नदियों के बीच में पड़ता है।[13]

रत्नों के प्राप्तिस्थल

भूगर्भशास्त्रियों, भूगोलवेत्ताओं तथा अन्य विद्वानों ने इन रत्नों के प्राप्ति-स्थानों की खोज की है। अकीक एवं कैल्सीडोनी गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों (अहमदाबाद एवं खेड़ा जिले, काठियावाड तथा राजपिपला क्षेत्र) में प्राप्त होता है। कश्मीर के रडोक जिले में, पेनगांग झील के ऊपरी भाग में उत्तम कोटि का अकीक प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विहार की राजमहल पहाड़ियों तथा सिंहभूम क्षेत्र में, नर्मदा नदी के गर्भ में, भेंड़ाघाट की संगमरमर की चट्टानों के पास तथा गोदावरी नदी में अकीक पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है, परन्तु अकीक का सबसे बड़ा प्राप्ति-स्थल गुजरात का राजपिपला क्षेत्र है। कागिन ब्राउन सूचना देते हैं कि इस राज्य में लिमोद्रा नामक स्थान सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पश्चिमी भारत में अकीक तराशने का सबसे बड़ा केन्द्र था। परन्तु बाद में इसका स्थान गुजरात के कैम्बे क्षेत्र ने ले लिया। राजपिपला और रतनपुर के क्षेत्रों से उत्तमकोटि का अकीक तराशने के लिए कैम्बे के कारीगरों के पास पहुँचता था। परन्तु 1918 ई. के बाद यह कारोबार बन्द हो गया। कागिन ब्राउन आगे सूचित करते हैं कि अकीक एवं इन्द्रगोप मायोसिन काल की पहाड़ियों में 25 से 60 फुट की गहराई में प्राप्त होते हैं। लिमोद्रा से दक्षिण-पूर्व दो से पाँच मील की दूरी पर रतनपुर, धोलाकुआ क्षेत्र से ये बेशकीमती रत्न नर्मदा के रास्ते भड़ौच लाये जाते थे जहाँ से जलयानों द्वारा इन्हें कैम्बे भेजा जाता था। कागिन ब्राउन[14] के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कुशल कारीगरों के 600 परिवार तथा 500 श्रमिक अकीक को तराशने में लगे हुए थे। कागिन ब्राउन लिखते हैं कि लिमोद्रा क्षेत्र में गड्ढे खोदकर अकीक एवं इन्द्रगोप प्राप्त किया जाता है। भूमिगत गड्ढ़ों से निकलने के बाद यह पत्थर दूधिया सफेद, धूसर या भूरे रंग का

होता है । प्रारम्भिक चिपिंग (CHIPPING) करके इसकी ऊपरी सतह निकाल दी जाती है । इस प्रक्रिया के बाद संगसुलेमानी (ओनीक्स) और कैट्स आई नामक रत्नों को अलग कर दिया जाता है तथा शेष अकीक और इन्द्रगोप को लिमोद्रा भेजा जाता है । इस दशा में ये पत्थर एक से तीन इंच व्यास के होते हैं । इन अपरिशोधित पत्थरों को शुद्ध करने तथा समुज्वल बनाने के लिए सर्वप्रथम प्रखर सूर्य-किरणों के नीचे लगभग 15-20 दिनों तक रखा जाता है । तत्पश्चात् मिट्टी के बड़े-बड़े हण्डों में मृदु गन्धकाम्ल (सल्फेरिक एसिड) में डुबाकर सुदृढ़ सन्धान कर दिया जाता है । एक सप्ताह बाद सन्धान हटाकर मन्द-मन्द आँच दी जाती है । तत्पश्चात् निकालकर सीतोदक और उष्णोदक में क्रमशः एक-एक दिन भली-भाँति प्रक्षालन करके और फिर सूर्य रश्मियों में सुखाकर अधिकाधिक समुज्वलता लाने के लिए चतुर हक्काक रुधिराख्य मणि की गुप्त मणिभता (क्रिप्टो क्रिस्टलाइन) का विचार रखते हुए पालिश करते हैं । इसके बाद इन्हें बाजार में लाया जाता है ।

पुरातात्त्विक प्रमाणों में मनके बनाने के लए जमुनिया पत्थर (एमेथिस्ट) का प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलता है । सर जान मार्शल सूचित करते हैं कि यह रत्न बिहार के संथाल परगना क्षेत्र में, उड़ीसा के कई स्थानों पर तथा पंजाब में सतलज नदी के ऊपरी हिस्से में प्राप्त होता है । जबलपुर के आसपास दकन ट्रैप में कभी-कभी यह रत्न मिलता है । परन्तु उत्तमकोटि का जमुनिया श्रीलंका में पाया जाता है । एमेजोनाइट, माइक्रोलाइन, फेल्सपार की हरे रंग की एक किस्म बिहार के मुंगेर जिले में झाझा के आसपास, आन्ध्र प्रदेश के नेल्लौर जिले में तथा अहमदाबाद के उत्तर देरोल नामक गाँव से मिलता है । इस रत्न के बने हुए मनके मध्य भारत एवं दक्कन की नवदाटोली एवं नेवासा से प्राप्त ताम्र-पाषाणकालीन संस्कृतियों में मिलते हैं । काँच भीष्णमणि[15] (क्रिस्टल) का प्रयोग प्राचीन संस्कृतियों में मनके बनाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक मिलता है । गोदावरी की उपत्यका में राजमहेन्द्री के पास, तमिलनाडु में तंजौर के पास तथा दिल्ली के समीपवर्ती औरंगपुर में यह रत्न मिलता है । पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त में मियांवाली जिले में लाल रंग का भीष्ममणि (क्रिस्टल) मिलता है । इसके अतिरिक्त यह रत्न उड़ीसा के सम्बलपुर जिले में भी कई स्थानों पर मिलता है । परन्तु सर्वोत्तम कोटि का क्रिस्टल गुजरात के काठियावाड़ क्षेत्र में मोर्वी के पास टंकारा से प्राप्त होता है । सूर्यकान्त (जैस्पर) धारवाड़ (कर्नाटक राज्य) के पास की चट्टानों में तथा राजपूताना के बिजावर क्षेत्र में प्राप्त होता है । लाल, हरे और पीले रंग के जैस्पर के पिण्ड (पेबुल्स) मध्य प्रदशके सतपुड़ा की पहाड़ियों से होकर बहने वाली नदियों के गर्भ में तथा राजपूताना की नदियों के पेटे में प्राप्त होता है ।[16] जेड नामक बेशकीमती रत्न भारत में प्रायः नहीं मिलता । आधुनिक खनिज वैज्ञानिक जेड के दो प्रमुख प्रकार मानते हैं । प्रथम जेडाइट जिसे चायनीज जेड भी कहा जाता है, तथा दूसरा नेफ्राइट जिसे न्यूजीलैण्ड जेड कहा जाता है । भारत में नेफ्राइट जेड का प्राप्ति-स्थल मध्य भारत का रीवाँ क्षेत्र हैं । यह रत्न पामीर के पहाड़ों एवं उत्तरी बरमा में प्राप्त होता है । भारत में इसकी अनुपलब्धता के कारण ही जेड के बने मनके या अन्य कलात्मक वस्तुएँ भारतीय पुरातत्त्व के प्रमाणों में नहीं मिलते । स्टीएटाइट या सोप स्टोन (सेलखड़ी) टाल्क का एक

प्रकार है। यह बहुत मुलायम पत्थर है। इसीलिए इसमें नक्काशी का काम अधिकाधिक मात्रा में हुआ है। इसका प्रमुख स्रोत दक्षिण भारत हैं जहाँ से इसे सिन्धु क्षेत्र को निर्यात किया जाता था।

लाजवर्द भारत में नहीं मिलता। इसका प्रमुख प्राप्ति-स्थल उत्तर-पूर्वी अफगानिस्तान का बदरब्शां क्षेत्र है जहाँ से यह रत्न तीसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व से ही पश्चिमी एशिया के नगरों को निर्यात किया जाता था। भारत में सीमित मात्रा में लाजवर्द के दो मनके मिले हैं उनके विषय में विद्वानों की धारणा है कि इनका आयात बदरब्शां क्षेत्र से ही हुआ होगा। वैसे तो कुछ लाजवर्द पामीर की पहाड़ियों में बैकल झील के आसपास, ईरान के अजरबैजान क्षेत्र तथा दक्षिणी ईरान में किरमान नगर की समीपवर्ती पहाड़ियों में भी प्राप्त होता है। परन्तु बदरब्शां के लाजवर्द की तुलना में इन सभी क्षेत्रों से प्राप्त लाजवर्द निम्नकोटि का है। सोफिया बाउल्बी नामक विदुषी ने बदरब्शां की खानों से लाजवर्द निकालने की प्रक्रिया का अध्ययन किया है। उनका कहना है कि इस दुर्गम उपत्यका में पहाड़ों की ऊँचाई पर ईधन और पानी बड़े परिश्रम से पहुँचाया जाता है। जिस क्षेत्र से पत्थर निकालना होता है उस पहाड़ पर सूखी लकड़ी बिछाकर उसमें आग लगा देते हैं और आग के बुझते ही उस पर ठण्डा पानी फेंकते हैं। गर्म और ठण्डे के तुरन्तसंयोजन के कारण चट्टाने टूटती हैं और फिर कुल्हाड़ी, छेनी और हथौड़े से तोड़कर इन चट्टानों से लाजवर्द निकाला जाता है। इसके उपरान्त अंजुमन दर्रे तथा पंजशीर नदी के किनारे-किनारे फैजाबाद तथा काबुल नगरों में लाजवर्द लाकर विदेशों को निर्यात किया जाता है।

मनकों की निर्माण-विधि

गुजरात के कई क्षेत्रों में बेशकीमती रत्नों के मनके आज भी बनते हैं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में सिन्ध के सेहवान क्षेत्र में इन्द्रगोप के मनकों पर रासायनिक उत्कीर्णन की कला प्रचलित थी। साथ ही पुरातात्विक उत्खननों में कई स्थानों से अधूरे (अनफिनिश्ड) मनके प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त तीन स्थानों से मनके बनाने के कारखानों के अवशेष पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। इन सभी प्रमाणों को एक साथ अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय हक्काकी कला के तकनीकी पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। 1935-36 ई. में सिन्धु के चन्हूदाड़ों के पुरातात्विक उत्खनन में 33 फुट $\times 12^1/_2$ फुट के एक भवन के अवशेष मिले थे जिसमें प्राप्त सामग्री के आधार पर इस स्थान के उत्खाता ई. जे. एच. मैके[17] ने इसे मनके निर्माण का कारखाना घोषित किया था। इस कमरे से कई अधूरे मनके धातु और पत्थर के बरमें (ड्रिल्स) रत्नों के अनगढ़ पिण्ड एवं तश्तरियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई पायी गयी थीं। $5^1/_2$ इंच चौड़ाई और 8 इंच ऊचाई में बने एक (फ्लू) के अवशेष भी मिले थे जिसके द्वारा गर्म हवा बाहर निकलती थी। इन सारे अवशेषों से सिन्धु संस्कृति में मनके निर्माण की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। इसी प्रकार का एक प्रमाण सिन्धु संस्कृति से ही सम्बन्धित गुजरात के लोथल नामक स्थान के उत्खनन में प्राप्त हुआ है। यहाँ पर कच्ची ईटों से निर्मित 500 वर्गमीटर क्षेत्र में बने हुए ग्यारह कमरों और उनसे सटे एक बड़े आँगन को उत्खाता श्री एस. आर. राव[18] ने मनके बनाने का करखाना माना है। इन कमरों में एक चबूतरे के समीप

दो घड़ों में लगभग 600 अपूर्ण मनके निर्माण की विभिन्न दशाओं सें प्राप्त हुए थे। अकीक के पिण्डों (पेबुल्स) को पकाने के लिए एक भट्ठी और उसके साथ ही इन्द्रगोप (रुधिराख्य) के मनके यत्र-तत्र बिखरे हुए पाये गये थे।

लोथल से मिलता-जुलता प्रमाण ईरान के सीस्तान क्षेत्र में स्थित शहर-ए-सोख्ता के उत्खनन से प्राप्त हुआ है, जो सिन्धु संस्कृति के समकालीन है। यहाँ पर 1968 ई. में इतालवी विद्वान् मारिजियों तोजी ने उत्खनन किया था। इस उत्खनन में एक कमरे की फर्श में दबाए हुए मिट्टी के सीलबन्द घड़े के भीतर से ढेर सारे आधे-अधूरे काम किये हुए रत्न और उनसे सम्बन्धित औजार प्राप्त हुए थे। इस घड़े से प्राप्त रत्नों तथा औजारों की एक लम्बी तालिका टोजी[19] महोदय ने प्रस्तुत की है, जिसमें लाजवर्द के सात मनके तथा इन्द्रगोप के पैंतीस टुकड़े और हरे कैल्सीडोनी से बने जेम कटर के दस टुकड़े मिले थे। इनके अतिरिक्त कुछ. अन्य औजार भी मिले थे। इन अवशेषों को मिलाकर टोजी ने मनके बनाने की प्राचीन कला का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ रत्नों का रंग तेज करने तथा परिशोधित करने के लिए उन्हें पकाया जाता था। चर्ट, अकीक एवं सूर्यकान्त (जैस्पर) को मिट्टी के घड़ों में रखकर लकड़ी के बुरादे की धीमी आँच में पकाया जाता था, जिससे ये रत्न नरम हो जाते थे। तदुपरान्त इनकी ऊपरी सतह को (फ्लेकिंग) के द्वारा उतार कर उपयुक्त आकार का बनाया जाता था।[20] मैके ने लिखा है कि अकीक की कुछ किस्में चीनी और सफलरिक एसिड से ट्रीट किये जाने पर काले रंग की हो जाती है। (फ्लेकिंग) के बाद अनुकूल आकार के पत्थरों को चीरकर उनको मनकों की आकृति प्रदान की जाती थी। चीरने की इस प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन होरेस सी. बेक ने दिया है। चीरने की प्रक्रिया को आसान बनाने के लिए महीन एमरी पाउडर या स्फटिक (क्वार्टज) का चूर्ण तथा पानी का प्रयोग करते हैं। मनकों को पालिश करने के पहले उनमें छेद किया जाता है जिसके लिए धातु या पत्थर के बरमों का प्रयोग होता है। ह्वीलर एवंमैके का सुझाव है कि सिन्धु संस्कृति में पत्थर के मनकों का छेद करने के लिए काले या भूरे चर्ट से बने बरमों का प्रयोग होता था। परन्तु एस. आर. राव का विचार है कि इस काल में कांसे के बने बरमें प्रयुक्त होते थे। सर जान मार्शल का विचार है कि ताँबे के बरमें तथा एमरी के चूर्ण के प्रयोग द्वारा मनकों में छेद किया जाता था परन्तु जहाँ तक स्टीएटाइट पत्थर के (माइक्रो बीड्स) के निर्माण का प्रश्न है, प्रत्येक मनके को हाथ में पकड़ कर उसमें इतना महीन छेद करना सम्भव न था। निश्चय ही उनके निर्माण एवं बेधन में किसी प्रकार की खराद मशीन (LATHE या JIGE) का प्रयोग हुआ होगा। शहर ए-सोख्ता उत्खनन में प्राप्त लकड़ी के तख्ते का प्रयोग इस काम में हुआ होगा-ऐसा विश्वास है। सम्भवतः छेद किये जाने के पूर्व मनकों को लकड़ी के इस तख्त में बने छेदों में फँसा दिया जाता था जिससे छेद करते वक्त मनके स्थिर रहें। शहर ए-सोख्ता में छेद करने के लिए धनुष के बरमें (BOW-DRILL) प्रयुक्त होते थे। छेदने की प्रक्रिया दोनों किनारे से इस सावधानी से की जाती थी कि ये छेद केन्द्र में मिल जाँय। पारदर्शी मनकों में तो बरमें से छेद करते समय सुराख दिखायी देती

रहती थी, परन्तु अपारदर्शी रत्नों के मनकों के बेधन में यह कार्य निश्चय ही अत्यन्त दुरूह होता होगा। परन्तु प्राचीन काल के कलाकारों को यह श्रेय जाता है कि शायद ही दोनों शिरों से किये हुए छेद केन्द्र में न मिलें।

मनके निर्माण का अन्तिम चरण इन्हें पालिश करने का था। मैके का विश्वास है कि जिस प्रकार वर्तमान युग में कैम्बे क्षेत्र में विभिन्न ग्रेड के (LATHE HONES) का प्रयोग मनकों को पालिस करने के लिए होता है कुछ उसी प्रकार की प्रक्रिया प्राचीन काल में भी अपनायी जाती होगी। इनके अनुसार चमड़े से आच्छादित बोर्ड तथा आइरन आक्साईड का उपयोग इस प्रक्रिया में हुआ होगा। आजकल इस कार्य के लिए चमड़े के थैले का उपयोग होता है। इस थैले में इन्द्रगोप का पाउडर, एमरी का चूर्ण तथा पालिस किये जाने वाले मनकों को भरकर कमरे में फर्श पर रखकर एक कोने से दूसरे कोने तक लगातार घसीटने से मनकों पर पालिस की क्रिया सम्पादित होती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, इन्द्रगोप या कार्नीलियन के मनकों पर रासायनिक उत्कीर्णन (एचिंग) की प्रक्रिया भारतीयों को पहले से ही ज्ञात थी। सिन्धु संस्कृति में इस कला से निर्मित सुन्दर मनके बनाये जाते थे तथा पश्चिम एशिया के तत्कालीन नगरों को निर्यात किये जाते थे। ऐसा विश्वास है कि सिन्धु संस्कृति के कलाकारों ने इस गुण को अन्य लोगों से बचाकर रखा जिससे किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी का सामना न करना पड़े। अनुमान है कि इस निर्यात में भारतीय व्यापारियों को काफी धनार्जन होता होगा। उत्खनन से प्राप्त इन मनकों का विस्तृत अध्ययन मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित[21] ने किया है। इनके अनुसार इन मनकों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं: (1) मनकों की लाल रंग की सतह पर सफेद रंग में उत्कीर्णन; (2) लाल रंग के मनकों पर काले रंग में उत्कीर्णन, (3) इन्द्रगोप के प्राकृतिक लाल रंग को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा श्वेत बनाकर उन पर काले रंग में उत्कीर्णन।

रासायनिक उत्कीर्णन की कला सिन्ध में उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रही। ए. एफ. बेलासिस ने लिखा है कि रासायनिक उत्कीर्णन के लिए पोटास, श्वेत सीसा (लेड) और किरार झाड़ी (कैपेरिस एफिला) के रस का एक तरल घोल बना लेते थे। मनके की सतह पर किसी चिकने नोंकदार कलम से इन घोल से डिजाइनें उत्कीर्णित करते थे। इस रंग के सूख जाने पर मनकों को अत्यधिक ऊँचे तापमान पर आग में पकाया जाता था। इस प्रक्रिया से उत्कीर्णित डिजाइनों का रंग मनकों के भीतर प्रवेश कर जाता था और डिजाइनें स्थायी हो जाती थीं। उत्कीर्णन की लगभग ऐसी ही प्रक्रिया का उल्लेख एन. जी. मजूमदार ने भी किया है।

मनका निर्माण उद्योग का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

भारत में विभिन्न संस्कृतियों से सम्बन्धित पुरास्थलों के जो वैज्ञानिक उत्खनन हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि नवपाषाण काल में मनके बनाने की कला अभी प्रारम्भिक अवस्था में थी। केवल कुछ ही नवपाषाण कालीन पुरा-स्थलों से सीमित संख्या में मनके प्राप्त हुए हैं। जिनमें दक्षिण भारत में स्थित ब्रह्मगिरि, हल्लूर, पालावाय, पिकलिहाल एवं तेक्कलकोटा का उल्लेख किया जा सकता है।

इस युग में स्टीएटाइट तथा इन्द्रगोप के मनके विशेष रूप से प्रचलित थे। हल्लूर के उत्खनन में स्टीएटाइट के पन्द्रह मनके प्राप्त हुए थे।[22] अकीक का केवल एक मनका ब्रह्मगिरि के उत्खनन से प्राप्त हुआ था। अन्य रत्नों में ग्रीन स्टोन, मैगनेसाइट, पेस्ट तथा स्फटिक का प्रयोग सीमित मात्रा में दिखायी देता है।

हड़प्पा संस्कृति में रत्नों को तराशने तथा मनके बनाने की कला में अभूतपूर्व विकास दिखायी देता है। इस काल में न केवल नानाप्रकार के रत्नों का प्रयोग देखने को मिलता है, बल्कि मनकों के स्वरूप भी काफी जटिल (इन्ट्रीकेट) मिलते हैं। स्टीएटाइट इस युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रत्न था। मोहनजोड़दों के उत्खनन से प्राप्त कुल मनकों के तीन चौथाई मनके स्टीएटाइट के ही बने थे। ये मनके या तो प्रकृति से उपलब्ध स्टीएटाइट के बने हैं या इसका अत्यन्त महीन चूर्ण बनाकर उसके पेस्ट से ढाले जाते थे। करुणाकार हेगड़े[23] तथा उनके सहयोगियों ने रासायनिक परीक्षण द्वारा यह पता लगाया है कि इस चूर्ण को तैयार करने में टाल्क और केयोलिनाइट को पाँच और एक के अनुपात में मिलाकर उनसे मनके तैयार किये जाते थे। इस सामग्री से बने कुछ मनके तो नितान्त छोटे हैं और उनकी लम्बाई एक से तीन मिलीमीटर से अधिक नहीं है, तथा बाहरी व्यास प्रायः एक मिलीमीटर है। इस श्रेणी के मनकों के निर्माण में सैन्धव सभ्यता के कारीगरों ने अभूतपूर्व कुशलता का परिचय दिया। ये मनके सिन्धु संस्कृति के अन्य पुरास्थलों यथा–चन्हूदाड़ों, कालीबंगा, लोथल, रोज्डी एवं जेकड़ा (बनास कांठा जिला, उत्तरी गुजरात) से ढेर सारी संख्या में प्राप्त हुए हैं। उल्लेख्य है कि इस संस्कृति में स्टीएटाइट के बने कुछ चित्रित मनके भी प्राप्त हुए हैं। अन्य पुरास्थलों से प्राप्त रत्नों में अकीक के बने मनके अधिकाधिक संख्या में मिले हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रगोप के बने मनकों का बाहुल्य है। साथ ही लाल इन्द्रगोप के मनकों पर रासायनिक उत्कीर्णन भी देखने को मिलता है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों से इन्द्रगोप से बने तीन से पाँच इंच तक लम्बे मनके भी देखने को मिले हैं। रासायनिक उत्कीर्णन से युक्त इन्द्रगोप के मनके लोथल से अधिकाधिक संख्या में मिले हैं जिससे अनुमान लगाया गया है कि उत्कीर्णन का काम गुजरात के इस क्षेत्र में प्रमुख रूप से होता था। सिन्धु संस्कृति में चर्ट और कैल्सीडोनी के मनके भी प्राप्त हुए हैं। परन्तु अकीक और इन्द्रगोप की तुलना में इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। लाजवर्द के मनकों की संख्या इस संस्कृति में अत्यन्त सीमित है, तथा विद्वानों की धारणा है कि यह रत्न उत्तर-पूर्व के अफगानिस्तान के बदख्शां क्षेत्र से आयातित होता था। इनके अतिरिक्त सूर्यकान्त (जैस्पर) तथा फिरोजा (टरक्वायज) के मनके लोथल एवं मोहनजोदड़ों से प्राप्त हुए हैं। परन्तु उल्लेख्य है कि स्फटिक की पारदर्शी किस्में जैसे-राक क्रिस्टल, पीला क्वार्टज और जमुनिया (एमेथिस्ट) आदि का प्रयोग सिन्धु संस्कृति में बिल्कुल नहीं होता था। जबकि आद्य ऐतिहासिक कालीन संस्कृतियों में इनका प्रयोग प्रायः देखने को मिलता है।

सिन्धु संस्कृति की तुलना में मध्य भारत एवं दक्कन की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों में यह कला अवनति को प्राप्त दिखायी देती है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः यह था कि सिन्धु संस्कृति के

नगरों की अपेक्षा यह संस्कृति मूलतः ग्राम्य थी तथा समाज में धनी, गुणग्राही एवं कला पारखी व्यक्तियों का अभाव था। इस क्षेत्र की संस्कृतियों में जोर्वे, नासिक एवं महेश्वर से तो कोई मनका नहीं प्राप्त हुआ परन्तु कायथा एवं नवदाटोली से अच्छी संख्या में मनके मिले हैं। स्टीएटाइट के बने चालीस हजार अत्यन्त सूक्ष्म मनके कायथा उतखनन से मिले थे तथा नवदाटोली से इसी सामग्री के सोलह हजार मनके मिले थे। उल्लेख्य है कि इस क्षेत्र की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ सिन्धु संस्कृति की अंशतः समकालीन थीं। अतः सम्भव है कि स्टीएटाइट के ये मनके इन निवासियों ने सिन्धु संस्कृति के लोगों से ही प्राप्त किया हो। अन्य रत्नों में इन्द्रगोप के बने मनके कायथा, नेवासा, प्रकाश एवं मास्की से मिले थे, परन्तु इनमें रासायनिक उत्कीर्णन का पूर्णतः अभाव है। इस प्रकर के उत्कीर्णित मनकों की संख्या अत्यन्त सीमित है। केवल पाँच मनके दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में उदयपुर के समीप स्थित अहाड़ से मिले हैं तथा एक मनका नवदाटोली से। अन्य रत्नों में अकीक एवं सूर्यकान्त तथा जेड के बने मनके कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। जिनमें नागदा (प्रथम काल 1500 से 800 ईसा पूर्व) का विशेष उल्लेख आवश्यक है।

प्रथम सहस्राब्दी ईसा पूर्व के प्रथम चरण में गंगा के मैदान में नगरीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ के साथ-साथ रत्नों को तराशने तथा मनके बनाने की प्रक्रिया में एक बार पुनः विकास दिखाई देता है। इस युग की एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी की नये प्रकार के रत्नों में क्रिस्टल का प्रयोग मनका निर्माण में पहली बार दिखायी देता है। इस युग में मनकों के स्वरूप में भी उल्लेखनीय वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है। इस काल के प्रमुख उत्खनित स्थलों में तक्षशिला, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, राजघाट एवं शिशुपाल गढ़ का नाम लिया जा सकता है जहाँ से बड़ी संख्या मे मनके प्राप्त हुए हैं। एन. बी. पी. काल (600-200 ईसा पूर्व) तथा शुंग-कुषाणकाल में मनके बनाने की कला पुष्पित पल्लवित होती रही। इन कालों में (PENDANTS) का प्रयोग भी बड़ी संख्या में दिखाई देता है जिनमें सोनपुर, चारसद्दा, तिलौराकोट (नेपाल) से उत्खनन में प्राप्त (PENDANTS) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

●

---

1. आल्विन एवं हेमाण्ड (सम्पा.), दि आर्कियोलाजी, ऑफ अफगानिस्तान, लन्दन, एकेडमिक प्रेस, 1978।
2. दि बीड्स फ्राम टैक्सिला, मेम्बायर्स ऑफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डियाँ नं. 65, दिल्ली, मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन, 1941.
3. समर्स, ए., एन एकाउण्ट ऑफ अगेट एण्ड कार्नीलियन ट्रेट ऑफ कैम्बे,. जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रान्च ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1849, नं. 30 पृ. 318-27.
4. आर्केल, एम. जे., कैम्बे एण्ड दि बीड ट्रेड, एन्टीक्विटी, जिल्द 10, 1936.
5. मैके, ई. जे. एच., बीड मेकिंग इन ऐंश्येण्ट सिन्ध, जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, जिल्द 57,1937, पृ. 1-15.

6. बनर्जी एन. आर., दि टेकनिक ऑफ दि मैन्यूफैक्चर ऑफ स्टोन बीड्स इन ऐंश्येण्ट उज्जैन, जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी, 1959, भाग 1, जिल्द 2.
7. चटर्जी, बी. के. एण्ड ए. बसु, ए हिस्टारिकल एकाउण्ट ऑफ दि अगेट इण्डस्ट्री एट कैम्बे एण्ड इट्स डिस्ट्रीब्यूशन इन इण्डिया, क्वार्टली-जर्नल ऑफ दि मिथिक सोसायटी, 1961, भाग 51, जिल्द 4. पृ. 149-152 .
8. नीहारिका, ए स्टडी ऑफ स्टोन बीड्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की पी एच. डी. थिसिस, 1985, अप्रकाशित,.
9. मार्गबन्धु सी., अर्कियोलाजी ऑफ दि सातवाहन-क्षेत्रप टाइम्स, सन्दीप प्रकाशन, दिल्ली, 1985.
10. नरायन, ए.के. एण्ड पी. सिंह, एक्शकेवेशन्स एट राजघाट, भाग 3, स्माल फाइण्डस, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1977.
11. पिपर्नो, एम., माइक्रो-ड्रिलिंग ऑफ शहर-ए सोख्ता, साउथ एशियन आर्कियोलाजी (सम्पा.) एन. हेमाण्ड, 1973, पृ. 119-129.
12. राधाकृष्ण पाराशर कृत, रत्नविज्ञान, वाराणसी, चौखम्भा विद्या भवन, 1972 पर डॉ. प्रियव्रत शर्मा की भूमिका, पृ. 8.
13. शुक्ल, मणिशंकर, ए हिस्ट्री ऑफ जेम इण्डस्ट्री इन ऐंश्येण्ट एण्ड मिडिवल इण्डिया, वाराणसी, भारत-भारती, 1972, पृ. 49.
14. कागिन ब्राउन, जे. एण्ड ए. के. डे, इण्डियाज मिनरल वेल्थ, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, तीसरा संस्करण, 1955, पृ. 622-623.
15. भीष्मरत्न या भीष्मणि शब्द गरुड़पुराण तथा युक्तिकल्पतरु में कांच या राकक्रिस्टल के लिए आया है। देखिए, पाराशर, राधाकृष्ण, रत्नविज्ञान, पृ. 240.
16. मार्शल सर जान; टैक्सिलाः एन इलस्ट्रेडेड एकाउण्ट ऑफ आर्कियोलाजिकल एक्सकेवेशन्स, भाग दो, 1951, पृ. 478.
17. मैके, ई.जे. एच., चन्हूदाडो एक्शकवेशन्स, 1935-36, कनेक्टीकट, न्यू हैवेन, 1943, पृ. 41.
18. राव, एस.आर.; लोथल एण्ड सिविलाइजेसन, बाम्बे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1973, पृ. 68 एवं राव, एस. आर.; लोथल-ए हरप्पन पोर्ट टाउन 1955-62, आर्कियोलजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1979, पृ. 118.
19. टोजी मारिजियो एम., एक्शकवेशन्स एट शहर ए-सोख्ता, प्रीलिमिनरी रिपोर्ट ऑफ दि सेकेण्ड कैम्पेन, ईस्ट एण्ड वेस्ट, न्यू सीरीज, जिल्द 19. संख्या 3-4, पृ. 283-385.
20. राव, एस. आर., लोथल एण्ड इण्जस सिविलाइजेशन, बाम्बे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1973, पृ.103.
21. दीक्षित,. एम. जी., इच्ड बीड्स इन इण्डिया, डेक्कन कालेज मोनोग्राफ सीरीज नं. 4 पूना, 1949.
22. नागराज राव एम. एस., प्री. हिस्टारिक कल्चर्स ऑफ दि तुंगभद्रा वैली, धारवाड, 1971, पृ.
23. हेगड़े करुणाकर, टी.एम. एवं अन्य, आन दि कम्पोजिशन एण्ड टेक्नोलाजी ऑफ हरप्पन माइक्रो बीड्स, हरप्पन सिविलाइजेशन, (सम्पा.) ग्रेगरी एल. पोशेल, नई दिल्ली, 1982, पृ. 239-244.

भारतीय जन-सन्निवेश का आदिम स्वरूप : संचरणशील निवास से ध्रुवाक्षित तक

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र, उपाचार्य

यायावरीय जीवन से शालेय जीवन की संक्रान्ति के अन्तरालवर्ती स्थितियों को स्पष्ट करने वाले अनेक शब्द वैदिक साहित्य में सुरक्षित हैं, जिनमें क्षय, गर्त्त, पस्त्य, व्रज, वृजन, गुहा, अरण्य निवास और दुरोण आदि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं मनोरंजक हैं । हम यहाँ इन शब्दों के अर्थ-विकास के आधार पर भारतीय जन-सन्निवेश के आदिम रूप की ओर इंगित करने का प्रयास करेंगे ।

क्षय :

संचरणशील जीवन से क्षिति-निवास तक की विभिन्न स्थितियों को समझने में 'क्षय' शब्द अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है । 'क्षय' शब्द √क्षि से व्युत्पन्न है । क्षि धातु महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ दोनों है–निवास और गति । क्षीरस्वामी, मैत्रेय, सायण, काशकृत्स्न, शाकटायन, कातन्त्र और हेमचन्द्र ने इसका अर्थ 'निवासगत्योः' बताया है ।[1] निघण्टु में इसका अर्थ 'गतिकर्मा' बताया गया है । बोपदेव ने भी इसका अर्थ 'वासगत्योः' बताया है । कतिपय भारोपीय भाषाओं में 'क्षय' के पर्यायवाची शब्द मिलते हैं । यथा 'कुसेई' (यूनानी) शब्द का प्रयोग निवसने, स्थापने अर्थ में किया गया है । 'सुएइति' (अवेस्ता) का प्रयोग क्षिति=क्षेत्रम के अर्थ में किया गया है ।[2] 'क्षय' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है गतिशील निवास ।[3] ऋग्वेद 5.12.6 में "तस्य प्रसस्रणिस्य नहुषस्य क्षयः" का उल्लेख संचरणशील मनुष्य के निवास के अर्थ में किया गया है । इसमें अग्नि से कहा गया है कि जो व्यक्ति हृदय से तुम्हारी स्तुति करता है तथा तुम्हारे लिये यज्ञ करता है, उसका गृह विस्तीर्ण होता है ।

ऋग्वेद 4. 20. 8 में 'चर्षणीनां क्षयस्य' और 'गोनाम् व्रजम्' का उल्लेख किया गया है, जिससे हमें मनुष्यों और पशुओं के अलग-अलग निवासों की सूचना मिलती है । मानुषी क्षय, निवास विभिन्न आकार के होते थे । ऋग्वेद में विष्णु, मित्र और वरुण को महान् क्षय (निवास) वाला कहा गया है ।[4] सम्भवतः सामान्य जनों के गृह छोटे-छोटे होते थे ।

वैदिक साहित्य में 'रण्वः क्षयः'[5] 'रथक्षयः'[6] तथा 'क्षम्यः क्षयः'[7] आदि का उल्लेख संचरणशील निवास के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'रण्वः क्षयः' शब्द का उल्लेख किया गया है । क्षीर-स्वामी, मैत्रेय, काशकृत्स्न और कातन्त्र के अनुसार 'रण्वः' शब्द का अर्थ संचरण अथवा संचरणशील है ।[8] पाणिनि इस शब्द की व्युत्पत्ति √रण (गतौ) से मानते हैं ।[9] सायण ने

'रण्वः' शब्द का अर्थ 'रमयिता' के साथ 'रमणशीलो' बतलाया है ।[10] ऋग्वेद १0.64.11 में उल्लिखित 'रण्वः क्षयः' को पितुमान् अर्थात् अन्नवान् कहा गया है । उपर्युक्त ऋचा में प्रयुक्त 'रण्वः क्षयः' शब्द तत्कालीन मनुष्य के यायावरीय जीवन की ओर संकेत करता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों के निवास भी इनकी ही भांति संचरणशील होते थे । ये लोग जब एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाते थे तो अपने साथ अपने गमनशील निवासों को भी ले जाया करते थे ।

रथक्षयः

ऋग्वेद में 'रण्वः क्षयः' की ही भांति 'रथक्षयः' का भी उल्लेख संचरणशील निवास के रूप में किया गया है । मैत्रेय, सायण, काशकृत्स्न, क्षीरस्वामी, बोपदेव, कातन्त्र, शाकटायन और हेमचन्द्र "रथ" शब्द को √रहं (रहि): गतौ और √रम् (रमु) = क्रीडायाम् से व्युत्पन्न मानते हैं ।[11] निघण्टु में इस शब्द की दी गई व्युत्पत्ति भी द्रष्टव्य है ।[12] अन्य भारोपीय भाषाओं में भी हमें रथ के सगोत्र शब्द उपलब्ध होते हैं । रेथिम (आइरिश) रहेडेग = दौड़ना (वेल्श)[13], रोत = पहिया (लैटिन), रेथिन्स-तथा रोथ-(आइरिश), रोद् (ब्रेटन), रद् (ओल्ड हाई जर्मन) रहोद (वेल्श), रत् (मिडिल हाई जर्मन), रत् (न्यू हाई जर्मन) रतस् (लिथुआनियन), रत्स् (लेहिक), रथ (संस्कृत), रथ (अवेस्ता), रोद् (यूनानी) और रुओत् (इटैलियन) भारोपीय रेथ् से सम्बद्ध हैं जिनमें गति अथवा संचरण का भाव विद्यमान है ।[14] अतः ऋग्वेद में प्रयुक्त 'रथक्षयः' का अर्थ हुआ ऐसा वाहन जो निवास भी हो । ऋग्वेद की एक ऋचा में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि "हे इन्द्र, हमारे पास कब निवासनीय रथ होंगे" "कदा भुवन्रथ क्षयाणिब्रह्म कदा सहस्र पोस्यं दाः" ऋग्वेद 6.35.1 इस पर सायण का भाष्य है–"हे इन्द्र ब्रह्म ब्रह्माणि स्तोत्राण्यस्मदीयानि रथक्षयाणि रथनिवासानि कदा कस्मिन् काले भुवन् भवेयुः ।" इससे प्रतीत होता है कि यायावरीय जीवन में रथ वाहन होने के साथ-साथ अस्थायी निवास भी था, जिसका उपयोग संचरणशील कबीले विश्राम के समय करते थे । इस प्रकार 'रथक्षयः' यायावरीय जीवन और स्थायी निवास के अन्तराल की संक्रमणकालीन विस्मृत कड़ी की ओर इंगित करता है । ऐतिहासिकं युग में रथाकार भवनों की परिकल्पना तथा तदनुकूल मन्दिरों के निर्माण में 'रथक्षयः' के प्रचलन का अवशिष्ट चिह्न देखा जा सकता है । इस दृष्टि से मामल्लपुरम्[15] के एकाश्मक रथ तथा कोणार्क का सूर्य-मन्दिर[16] हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं । इस प्रसंग में औदुम्बर नरेश रूद्रदास की एक मुद्रा पर मन्दिर का अंकन भी मनोरंजक एवं महत्वपूर्ण है । इसकी तुलना मामल्लपुरम् के "सहदेवरथ" से की जा सकती है । रूद्रदास की मुद्रा[17] पर अंकित मन्दिर तथा मामल्लपुरम् का 'सहदेवरथ'[18] -दोनों तिमंजिले हैं और दोनों की छतें 'गजपृष्ठाकृति' की हैं । क्या इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि 'रथक्षयः' = रथ निवास अवान्तरकालीन भवन-निर्माण का प्राग्रूप था ?

ऋग्वेद में 'क्षम्यः क्षयः' का प्रयोग भूमि पर निर्मित होने वाले निवास के अर्थ में हुआ है । "स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति । अवन्नवन्ती रूप नो दुरश्च रानमी वो रुद्र जासुनो भव" (ऋ. 7.46.2) । इस ऋचा में कहा गया है कि पृथिवी के मनुष्यों का ऐश्वर्य उनके क्षय

(निवास) के द्वारा और दिव्य मनुष्यों का ऐश्वर्य उनके साम्राज्य के द्वारा ज्ञापित होता है। इसमें रुद्र से प्रार्थना की गई है कि तुम हमारी प्रजा का पालन करते हुए हमारे घर में आओ। 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न 'क्षेम्य' शब्द का अर्थ पृथिवी पर निर्मित होने वाला अल्पकालिक निवास होता है। वैदिक साहित्य में 'क्षेम' तथा 'क्षेम्य' शब्दों का उल्लेख पृथिवी पर निर्मित होने वाले मनुष्य के अल्पकालिक निवास के अर्थ में किया गया है।[19] शतपथ ब्राह्मण में 'वात्सप्र' को एक दिन और एक रात्रि यात्रा करने के बाद दूसरे दिन और रात्रि में 'क्षेम्य' (खेमा) में विश्राम करते हुए दिखलाया गया है।[20] यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह विश्राम यात्रा के प्रसंग में है। अतः यहां प्रयुक्त 'क्षेम्य' शब्द का अर्थ अल्पकालिक निवास ही मानना चाहिये।

आर्यों के 'क्षेम्य' जीवन' के विकास में असुरों के जीवन-प्रकार का बहुत प्रभाव पड़ा। यथार्थतः असुरों की अनुकृति पर ही आर्यों ने 'शालेय' जीवन प्रारम्भ किया। इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण[21] में उल्लिखित एक आख्यायिका सर्वथा ध्यातव्य है। उसके अनुसार देवगण तथा असुर-समूह प्राजापत्य पद के लिये स्पर्धा कर रहे थे। देवगण चक्र (यान) के माध्यम से संचरणशील थे और असुर शालीन-शाला (गृह) बनाकर रहते थे। जब देवगण 'वनी' नामक वाहन में अग्नि लेकर संचरण कर रहे थे तब उन्होंने असुरों द्वारा सम्पादित यह कृत्य देखा। इसीलिये जो अग्नि को 'वनी' के द्वारा वहन करता है वह देवताओं का कृत्य करता है और जो बिना 'वनी' वाहन के यह कृत्य करता है, वह आसुरी कृत्य करता है। अन्यत्र यह कहा गया है कि 'विष्णुक्रम' से प्रयाण होता है और वात्सप्र' से अवसान होता है। एक दिन और एक रात्रि प्रयाण करने के बाद एक दिन और एक रात्रि का अवसान (निवास) होता है।[22] इसीलिये प्रयाण भी मानुषीय है और अवसान भी मानुषीय है।

आख्यायिका स्पष्टतः द्योतित करती है कि 'शालेय जीवन'-वास्तु परम्परा-आसुर है। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि वास्तुशास्त्र-प्रणेताओं की सूची में मय नामक असुर का भी परिगणन है।[23] महाभारत में मय ने स्वयं को दानवों का विश्वकर्मा कहा है--"अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः" (म. भा. सभापर्व, 2.5)। इस मय नामक असुर के वास्तु-कला का विवरण महाभारत में कई स्थानों पर मिलता है।[24] यह भी द्रष्टव्य है कि वास्तु-पूजन में वास्तु को असुर माना गया है[25] और उसके शरीर को खण्डित करके भवन-निर्माण की योजना बनाई जाती है। यायावरीय प्रवृत्ति और 'शालेय' जीवन में संक्रान्ति उपर्युक्त कृत्य में अभिनीत है। साथ ही इससे ज्ञात होता है कि संचरणशील आर्यों ने शालेय असुरों से गृह-निर्माण की प्रेरणा ग्रहण की।

"तस्माद् योगेऽन्यासां प्रजानां मनः क्षेमे न्यासां तस्माद् यायावरः क्षेम्यस्येशे तस्माद् यायावरः क्षेम्यमध्यवस्यति" (तैत्तिरीय संहिता 5.2.1) में कहा गया है कि यायावर का मन 'योग' और अन्यों का मन 'क्षेम' में है। इस प्रकार यायावर 'वात्सप्र' से क्षेम्य' में निवास करता है। काठक संहिता[26] में भी यही बात दुहरायी गयी है। "अन्येद्युरुपतिष्ठते, योगक्षेमं वा एतत् दाधार" (मैत्रायणी संहिता 3. 2. 2) में 'योग' शब्द अपने मूलार्थ में पशुओं को जोतने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा परवर्ती

साहित्य में भी मिलता है।[27] इस योग की प्रवृत्ति बतलाई गई है निरन्तर संचरण और इसका कर्म है 'विष्णुक्रम'। विष्णु अपने क्रम, पादनिक्षेप से सम्पूर्ण विश्व को नाप लेते हैं।[28] विष्णु का पादनिक्षेप ही योग, उद्योग है। इसलिये यायावर की संचरणशीलता 'विष्णुक्रम' की ही अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत विश्राम में निवास "क्षेम" है जो 'वात्सप्र' कर्म से सम्बद्ध है। संचरणशील जीवन से स्थिर जीवन में संक्रान्ति 'योग' से 'क्षेम' अथवा 'विष्णुक्रम' से 'वात्सप्र' में परिवर्तन है। मैत्रायणी संहिता में 'क्षेम्य' शब्द का उल्लेख अल्पकालिक निवास अथवा शिविर के अर्थ में किया गया है।[29] इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आज भी अल्पकालिक निवास अथवा शिविर के अर्थ में 'खेमा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्पष्टतः खेमा शब्द संस्कृत के 'क्षेम्य' शब्द का तद्भव रूप है।

गर्त्त :

'गर्त्त' शब्द का अर्थ–विकास वाहन के स्थायी निवास की संक्रान्ति के लिये विशिष्ट साक्ष्य उपस्थित करता है। 'गर्त्त' शब्द के दो[30] प्रमुख अर्थ हैं–(1) गाड़ी और (2) जन-सन्निवेश। गाड़ी अर्थ में दो भिन्न प्रयोग मिलते हैं–प्रथम रथ अथवा गाड़ी और दूसरा गाड़ी पर बना हुआ स्थूण जिस पर व्यक्ति बैठ सके। इसी प्रकार जन-सन्निवेश के अर्थ में भी दो भिन्न प्रयोग हैं–गृह तथा सभा-स्थान के वाचक। इन चार प्रयोगों से संक्रान्ति की विभिन्न स्थितियों का बोध होता है

गाड़ी के अर्थ में 'गर्त्त" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, ब्राह्मण संहिता और निरुक्त में दिखाई देता है। यास्क का कथन है–'रथोऽपि गर्त्त उच्यते' (3.5) ऋग्वेद[31] में 'वृहन्तं गर्त्तं' का उल्लेख है, जो 'गर्त्त' अथवा गाड़ी की विशालता का द्योतन करता है। इसी प्रकार 'अस्तेव गर्त्ते' ऋ. 6.20.9 में "शर-सन्धान करने वाले शूर का गर्त्त अथवा गाड़ी-रथ पर आरोहण" करने की बात कहीं गयी है।

किन्तु "गर्त्त" शब्द के प्रयोग प्रायः 'आसन युक्त' गाड़ी अथवा गाड़ी के लिये हुये। यह आसन 'स्थूण' के आकार का था। ऋग्वेद 6.62.8 तथा काठक संहिता 15.7 में एक मन्त्र आता है, जिसमें 'स्थूण गर्त्त' स्थूणयुक्त गर्त्त का उल्लेख है, जिस पर वरुण और मित्र आरोहण करते हैं। शतपथ-ब्राह्मण 5.4.1.15 में सम्भवतः इसी मन्त्र की और इंगित करते हुए कहा गया है–"आरोहतं वरुण मित्र गर्त्त ततश्च क्षामदितिं दितिं च" यहाँ पर भी वही अर्थ प्रतीत होता है। अन्यत्र उस गर्त्त के यूप, जिसे अन्य स्थान पर स्थूण कहा गया, की लम्बाई सप्तदश बालिश्त की बताई गई है।[32]

'गर्त्त' शब्द का तीसरा प्रयोग गृह अथवा जन-सन्निवेश के अर्थ में हुआ। निरुक्तकार 'गर्त्त' को गृह के बाइस समानार्थी शब्दों में गिनते हैं और दुर्गाचार्य की टीका है–"गर्त्त इति गृहनाम"। पाणिनि और काशिकाकार 'गर्त्त' को जन-सन्निवेश के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं। 'गर्त्त' का प्रसिद्ध उदाहरण है 'त्रिगर्त्त'[33] काशिका के दूसरे उदाहरण हैं 'चक्रगर्त्त' और 'बहुगर्त्त'[34] तथा 'शृगालगर्त्त' और 'वृकगर्त्त'।

'गर्त्त का चौथा अर्थ है–सभा-स्थान। ऋग्वेद 1.124.7 के भाष्य में सायण लिखते हैं–"अत्रौचित्येन राजपुरुषैः न्यायनिर्णेतृभिश्च अधिष्ठितं स्थानमुच्यते तदारोहतीति इति गर्त्तारुक्"–जहाँ न्याय का निर्णय करने वाले बैठते हों, उनका अधिष्ठान, स्थान हो वह भी गर्त्त है। यास्क का कथन है–'गर्त्तः सभास्थाणुः'। स्कन्द के द्वारा दिया गया पाठान्तर है–'सभास्थानम्'।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में 'गर्त्त' का अर्थ विकास वाहन, वाहन का आसन अथवा आसनयुक्त वाहन, सभास्थान, गृह एवं जन-सन्निवेश, जन-निवास के रूप में दिखाई देता है।

निरुक्तकार 'गर्त्त' शब्द की व्युत्पत्ति √गृ = स्तुति करना, √गृ = निगलना से करते हैं, यथा "गृणातेः सत्संगरो भवति", "गूरते अपगूर्णो भवति" आदि। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा स्तुतिवाची गृ धातु को भारोपीय 'गुएर' = शब्द करना, से सम्बद्ध मानते हैं।[35]

यथार्थतः 'गर्त्त' शब्द भारोपीय धातु परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है। यूनानी 'खोर्तोस' (खलिहान), आइरिश 'गोर्त्त' (क्षेत्र), वेल्श 'गार्थ' (घेरा अथवा उद्यान), रूसी 'गोरोद' (प्रासाद अथवा उद्यान) आदि शब्द सम्बद्ध हैं और इसी से 'सभास्थान' अर्थ भी सम्बद्ध है।[36] दूसरी शब्द-परम्परा से सम्बन्ध संदिग्ध है। कुछ विद्वान् गर्त्त-गड्डी-गाड़ी 'कार्त्र' (नार्स) 'क्रेत' (ओल्ड इंग्लिश), 'कार्ट' (इंग्लिश) से 'गर्त्त' को सम्बद्ध मानते हैं।[37] किन्तु वाल्दे 'कार्ट' को 'क्रत्तो' = टोकरी (ओल्ड हाई जर्मन) आदि से सम्बद्ध मानते हैं, जिसकी धातु 'कृत्' = छेदने होगी।[38]

इस प्रकार 'गर्त्त' के दो अर्थसमूह उपलब्ध हुए–प्रथम, गाड़ी, आसन और दूसरा सभास्थान, जन-निवास। प्रथम अर्थसमूह से द्वितीय अर्थसमूह में संक्रान्ति का कारण वही है, जो 'रथ' से 'रथः क्षयः' के विकास में निहित है–यायावरीय जीवन से शालेय जीवन में संक्रान्ति।

इस प्रसंग में निरुक्त का निम्नोक्त अंश मनोरंजक तथ्य उपस्थित करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र (1.124.7) की व्याख्या निरुक्त में निम्नांकित है–"अभ्रातृका स्त्री जैसे पिता आदि के पास सन्तान का कार्य करने के लिये, धन-लाभ के लिए, दक्षिण देश की स्त्री स्थाणु का आरोहण करने वाली, सत्य का प्रण, प्रतिज्ञा करती है और दाय उपलब्ध करती है। श्मशान-संचयको भी गर्त्त कहते हैं—— रथ को भी गर्त्त कहते हैं——।"[39]

दुर्ग की टीका के अनुसार 'दक्षिणाजी गर्त्तारुक' का अर्थ है "काचित् दक्षिणात्यां स्त्री सा यथा गर्त्तः सभास्थाणुः तमारोहति सनये लब्धये धनानाम्"। दुर्गाचार्य का दूसरा अर्थ है–"गर्त्तः सभास्थाणुः अक्षनिर्वयणपीठमित्यर्थः। गृणातेः स हि सत्यसंगरो भवति संगीर्यते हि तत्र सत्यमिदमत्र पतितमित्येवं प्रायेण कितवास्तत्रानृतं ब्रुवते। तं एवं लक्षणं गर्त्तमारोहति।"

'सभास्थाणु' वह स्थान है जहाँ 'सत्यसंगर' होता है–यह कहा जाता है कि यही सत्य है और दूसरा अनृत है। पुनः इसकी परीक्षा होती है। इसीलिये सायण ने 'सभास्थाणु' का अर्थ 'न्यायनिर्णेतृभिः अधिष्ठितं स्थानं' किया है और प्रसंग में भी यही अर्थ ठीक लगता है। 'अक्षनिर्वयणपीठिका' की भी इसी प्रकार की व्याख्या की जा सकती है।

इस प्रकार "गर्त्त" का स्थूण ही क्रमशः 'सभास्थाणु' बन गया जहां 'सत्यसंगर' होता था। इस प्रसंग में स्वर्गीय प्रोफेसर डी. डी. कोसम्बी का एक शोध निबन्ध ध्यातव्य है।[40]

उनके अनुसार आज भी दक्षिण भारत के बहुत से देवालयों के समीप 'बगद' अथवा अंकुशझूला के 'स्थूण', 'स्तम्भ' दिखायी देते हैं। इस कृत्य के लिये एक व्यक्ति का चयन किया जाता है, जिसके नितम्ब के कुछ ऊपर धातु-निर्मित दो तीक्ष्ण अंकुशों को घुसाया जाता है। इसके बाद इस व्यक्ति को

अंकुश-झूला पर झूलने के लिये भूमि से उत्थापित किया जाता है। यह कृत्य प्रतिवर्ष एक निश्चित तिथि पर सम्पन्न किया जाता है। इस कृत्य का आयोजन 'म्हतोब' देवता के सम्मान में किया जाता है। यह मान्यता प्राप्त है कि इस कृत्य के आयोजकों ने ही सर्वप्रथम इस क्षेत्र में प्रव्रजन किया था।

प्रोफेसर कोसम्बी ने 'म्हतोब' देवता को उन गोचारकों से सम्बद्ध माना है जिन्होंने उत्तर भारत से दक्षिण भारत में प्रव्रजन किया था। अतः 'म्हतोब' देवता से सम्बद्ध जन-जाति में अद्यावधि प्रचलित 'बगद गाड़ी', स्थाणुयुक्त अथवा दो स्तम्भों से युक्त गाड़ी, पर अंकुश-झूला झूलना उस काल की ओर संकेत करता है जब लोग स्थाणुयुक्त अथवा स्तम्भयुक्त 'गर्त्त' का प्रयोग वाहन के रूप में करते थे और वही "गर्त्त" क्रमशः 'सभा-स्थान' और 'गृह' के रूप में परिणत हो गया।

इस प्रकार यायावरीय जीवन से स्थायी निवास में 'गर्त्त' का प्रयोग वाहन से सभा-भवन के बीच की श्रृंखला व्यक्त करता है।

पस्त्य :

यायावरीय जीवन से क्षेम (निवास) के रूप में 'पस्त्य' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद की ऋचा है–"अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः" (ऋ. 1.164.30)। यहाँ जीव के द्विविध रूपों–जीवनकालीन और मरणोत्तर, का उल्लेख है। इन दोनों रूपों की यायावरीय जीवन से रूपक के द्वारा व्याख्या की गई। सायण के अनुसार है–प्राण होने पर जीव त्वरा के साथ चलता है और (फिर) पस्त्यों के मध्य में स्थिर होता है।[41] यहाँ यायावरियों का जीवन तुलनीय है। यायावर पहले दिन पराक्रम करता है और बाद के दिन बैठता है–यायावर क्षेम में निवास करता है।[42] जो यायावरों के जीवन में "क्षेम्य-मध्यवस्यति" से कहा गया है वही प्रस्तुत ऋचा में 'पस्यानां मध्य ध्रुवं' से निर्दिष्ट किया गया और इसलिये 'पस्त्य' का अर्थ 'क्षेम' (खेमा) अथवा इसीसे मिलती-जुलती वस्तु है। ऋग्वेद 10.46.6 में इसी को 'पस्त्यासु सीदत्' कहा गया है। इसमें अग्नि को पस्त्यों, गोचारकों के भवनों के समूह के मध्य में बैठते हुये कहा गया है।

निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थों और भाष्यों में 'पस्त्य' के विभिन्न अर्थ किये गये। निरुक्त[43] का वचन है 'पस्त्यमिति गृहनाम' और सायण ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में 'पस्त्य' का यही अर्थ करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पस्त्य' का अर्थ 'साधारण जनता' किया गया–'विशों वै पस्त्या'[44]। ऋग्वेद की एक ऋचा (4.54.5) में प्रयुक्त 'पस्त्यावतः क्षयान्' का अर्थ सायण-भाष्य में है–"गृहवतः ग्रामनगरादीन्"। "य आर्जीकिषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पंचषु" (ऋग्वेद 9.65.23) में प्रयुक्त 'पस्त्यानाम्' का अर्थ सायण ने नदी किया है–"पस्त्यानां सर वत्यादीनां नदीनां मध्ये"। इस प्रकार 'पस्त्य' के चार अर्थ–गृह, गृह में निवास करने वाली जनता, गृह से युक्त ग्राम नगर और नदी उपलब्ध होते हैं।

रॉथ और जिमर भी 'पस्त्य' को गृह के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।[45] पिशेल कुछ स्थानों पर 'पस्त्य' का अर्थ नदी अथवा जल करते हैं।[46]

गृह के अर्थ में 'पस्त्य' के अनेक प्रयोग ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। "देव्यदिते सदने पस्त्ये" (ऋ. 8.27.5), हे अदिति देवि, तुम पस्त्य गृह में आसीन हो, 'पस्त्य सदः' (ऋ. 6.51.9), 'पस्त्ये गृहे सीदो निष्णान्' (उपर्युक्त ऋचा पर सायण–भाष्य) तथा "पस्त्यासु योनौ सीदत्" (ऋ. 10.46.6) आदि इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'वीर पस्त्य' (ऋ. 5. 50.4) तथा 'त्रिपस्त्य' (ऋ. 8. 39. 8) में 'पस्त्य' का अर्थ गृह ही प्रतीत होता है। किन्तु 'पस्त्य सदन' साधारण गृह नहीं है उनकी अपनी कुछ विशेषतायें भी वर्णित हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा[47] में इन्द्र से नये-नये प्रिय गायों के स्पृहणीय 'पस्त्य' (स्थान) को ढूढ़ने की प्रार्थना की गई है। इस ऋचा पर सायण का भाष्य है–"गवां हर्यतं स्पृहणीयं पस्त्यं गृहं गोरुदकस्योक्तगुणकं स्थानं"–गायों के पीने के पानी से युक्त स्पृहणीय स्थान। यहाँ ऐसी भूमि का संकेत है, जहाँ नदियाँ प्रवाहित हों और इसलिये जहाँ गायों को पानी आदि की सुविधा हो।

इसी से 'पस्त्य' का चतुर्थ अर्थ नदी भी सम्बद्ध है। "वृषभस्य नीले पस्त्यासु महो रजसो योनौ" (ऋ. 4.1.11) च चरति–"वह पस्त्यों में जहां बैलों का घर है और जहाँ महान् जलधारा का स्रोत है" चलता है। यहाँ पस्त्य की विशेषता "रजसः योनौ उदकस्य स्थाने" तथा 'वृषभनीड़' बताई गई। ऋग्वेद 9.65.23 के "ये मध्ये पस्त्यानां" में "पस्त्यानां सरस्वत्यादीनां मध्ये". का अर्थ सरस्वती की जलधारा के मध्य न कर सरस्वती क्षेत्र के मध्य में ही करना पड़ेगा। 'अश्व पस्त्य' ऋ. 9. 86. 41 से भी यही ध्वनित होता है–ऐसा क्षेत्र जहाँ अश्व हों–अश्व चरते हों।

ऐसे क्षेत्रों में अनेक गृहों अथवा सदनों का विकास हुआ और इसीलिए 'पस्त्य' का अर्थ विकसित होकर गृह-समूह-'ग्राम नगरादीन्' हो गया।[48] ऋग्वेद 1.40.7 में "अन्तर्वावत्क्षयं पस्त्याभिः" का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य ऐसे गृहों से है, जिनके अन्दर पुत्र और पशु जाते थे– "अन्तर्वान्ति गच्छन्ति पुत्र पशुवादयः, यस्मिन् क्षये गृहे" ऋग्वेद 1.40.7 पर सायण-भाष्य)।

अन्त में 'पस्त्य' का अर्थ इन 'पस्त्यों' के निवासियों, साधारण जनता से लिया जाने लगा। उदाहरणार्थ "निषसाद् धृतव्रतो वरुणः पस्त्या इस्वा साम्राज्याय सुक्रतुः" ऋग्वेद 1.25.10 में कहा गया है कि शोभनकर्मा वरुण पस्त्यों में निवास करने वाले लोगों के साम्राज्य के लिए उनके मध्य में बैठ गये। इसी प्रकार ऋग्वेद 7. 97. 5 में "पस्त्यानां यजतं बृहस्पतिम्" का उल्लेख पस्त्य निवासियों द्वारा पूजित बृहस्पति के आवाहन करने के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[49] में भी 'पस्त्यानां' का प्रयोग गृहस्थों, साधारण जनता के अर्थ में किया गया है।

'पस्त्य' से सम्बद्ध प्रतीत होने वाले कतिपय भारोपीय शब्दों का अध्ययन इस प्रसंग में अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं मनोरंजक है।

'पोसरे' (लैटिन), 'पस्ति' (चर्चस्लावी), 'पस्ति' (बोहेमियन) तथा 'पस्ति' (सर्वो क्रोटियन) शब्दों का प्रयोग घास चरने, घास चराने अथवा घास खाने और घास खिलाने के अर्थ में किया गया है।[50] इसी प्रकार 'पस्तिविस्के' (चेकोस्लाविया की बोहेमियन) तथा 'पस्तिविस्को' (पोलिस) का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त शब्द आधुनिक अंग्रेजी भाषा के 'पास्चर' (चरागाह) शब्द के जनक हैं।

उपर्युक्त शब्दों के अर्थ से मनुष्यों का पशुओं से सम्बन्ध ज्ञापित होता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'पस्त्य' शब्द का प्रयोग मूलतः गोचारण कराने वाले व्यक्तियों के अर्थ में किया जाता था और कालान्तर में उनके निवास अथवा गृह के अर्थ में परिगृहीत हुआ। इसीलिये निरुक्त में गृह के वाइस पर्यायवाची शब्दों में 'पस्त्य' का भी उल्लेख किया गया है।[51]

ऋग्वेद में विभिन्न नदियों के पास स्थित पस्त्यों का उल्लेख किया गया है–"य आर्जीकिषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पन्वषु" ऋग्वेद 9.65.23 में आर्जीक पस्त्य, कृत्व (कर्मनिष्ठ) पस्त्य और सरस्वती नदी के तट पर अवस्थित पस्त्य का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार "सुषोमे शर्यणावत्यार्जीकि पस्त्यावति ययुर्निचक्रया नरः" ऋ. 8. 7. 29 में सुषोम, शर्यणावति और आर्जीक पस्त्यों का उल्लेख हुआ है। किन्तु वैदिक विद्वानों में इनकी पहचान के सम्बन्ध में मतभेद है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'पस्त्य' गोचारकों का एक ऐसा अल्पकालिक गृह-सन्निवेश था, जिसमें वे अपने पशुओं के लिए घास और पानी की उपलब्धता के अनुसार कुछ दिनों तक निवास करते थे और घास तथा पानी की समाप्ति के बाद वे किसी अन्य स्थान पर चले जाते थे, जहाँ उनके पशुओं के लिए घास और पानी सहज ही सुलभ हो सके।

व्रज और वृजन :

मनुष्य के यायावरीय जीवन से 'क्षिति-निवास' (स्थायी निवास) तक की विभिन्न स्थितियों को समझने के लिये उपयोगी शब्दों में 'व्रज' और 'वृजन' शब्द भी हैं। 'व्रज' शब्द की व्युत्पत्ति व्रज् धातु (गतौ) से हुई है। और 'वृजन' शब्द की व्युत्पत्ति वृज् (वर्जने) धातु से हुई है। किन्तु ये दोनों शब्द मूलतः एक ही प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ में दोनों शब्दों में संचरण का भाव था। उससे विकसित हुए अर्थ निवास थे फिर ऐसे निवास जिसमें अन्य का प्रवेश वर्जित हो।

भारोपीय भाषाओं में 'वृजन' के सगोत्रीय शब्द मिलते हैं–यथा संस्कृत 'वृजन' (आवृत स्थान), प्राचीन पारसीक 'वर्दन' (कस्बा) अवेस्ता 'वॅरॅज़ॅन', खोर्द अवेस्ता 'वॅरॅज़ॉन', जिनका अर्थ समुदाय अथवा समूह होता है। ये शब्द यूनानी 'एर्गो' के समानार्थी प्रतीत होते हैं। अनुवर्ती अवेस्ता का 'वॅरॅजॉन' शब्द सम्भवतः अवेस्तां के धातु रूप 'वर्ज' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है अलग करना अथवा प्रवाह रोकना। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इस शब्द का तात्पर्य किसी आवृत स्थान से था और कालान्तर में इसका प्रयोग उस आवृत स्थान में रहने वाले लोगों अथवा जन-समूह के अर्थ में होने लगा। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि प्राचीन पारसीक भाषा का 'वर्दन' शब्द संस्कृत भाषा के 'वर्धन' शब्द का समानार्थक है, जिसका प्रयोग आज नगरों के नाम के साथ किया जाता है–यथा 'पुण्डवर्धन' आदि।[52] श्री आर. ए. हल्ल ने 'वर्दन' शब्द की व्युत्पत्ति प्राचीन अंग्रेजी भाषा के 'वर्दोन' शब्द से बतलाई है, जिसका अर्थ देख-रेख करना, चौकीदारी करना तथा रक्षा करना होता है।[53] इसी 'वर्दोन' शब्द से अंग्रेजी भाषा का 'वार्डेन' शब्द निकला है जिसका हिन्दी रूपान्तर अभिरक्षक है और जिसमें रक्षा करने अथवा देख-रेख करने का भाव निहित है।

'वॅरॅज़न' शब्द के अर्थ और अर्थ-विकास के लिए अवेस्ता के साक्ष्य का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए किंचित् विस्तार के साथ इसका विवेचन अपेक्षित है। अवेस्ता में यायावरों का उल्लेख है और उनको 'अवास्त्रय' कहा गया है–"नोइत मज़दा अवास्त्र्यो दवांस्विना हुमॅरॅतोश् वक्ष्ता" (यस्न 31.10)–हे मज़्दा अवास्त्र्य–जिनके पास "वास्त्र्य" अर्थात् खेत-युक्त चरागाह न हो वे शुभ कर्म के भागीदार न हों। यहाँ 'अवास्त्र्य' का विशेषण "दवांस्विना' है, जिसका अर्थ नेरयोसिंग ने प्रतारण करना बतलाया है और जो यायावरों के प्रति दुर्भावना का द्योतन करता है। इसके विपरीत यस्न 31. 9 में 'वास्त्र्य' अर्थात् कृषक को शुभकर्म से युक्त बतलाया गया है।

[54]अवेस्ता में निवास के लिए कई शब्द हैं, जिनमें 'क्षथ्रं' 'मृचा' और 'वॅरॅज़न' प्रमुख हैं। 'वॅरॅज़न' का अर्थ निवास, ग्राम तथा 'वॅरॅज़्न्य' का अर्थ ग्राम निवासी आदि के रूप में क्रमशः विकसित हुए–"अषह्या वॅरॅज़्ने कह्माइचीत् हा ताँम् जीजिवाँम्" (यस्न 35. 8) - धर्म शासन के आश्रम में वॅरॅज़न में रहने वाले जीवन के योग्य प्राणियों की। यहाँ 'वॅरॅज़न' का अर्थ निवास प्रतीत होता है।[55] "ख्वअेतू वा अत् वा वॅरॅज़न्यो अइर्यम्ना" (यस्न 33.3)–चाहे शासक हो, चाहे ग्राम्य श्रमिक हो और चाहे अर्य (स्वामी) हो–यहाँ 'वॅरॅज़्न्य' का अर्थ ग्राम्य कृषक अथवा ग्राम्य श्रमिक है। "मज्दो क्षथ्रा वॅरॅज़्न्यो द्यात् अहुरो" (यस्न 45.9)–अहुर्मज़्दा वॅरॅज़्न्य क्षथ्र को लायें। यहाँ वॅरॅज़्न्य क्षथ्र की तुलना 'वृजनस्य गोपा' (ऋ. 1. 91. 21) तता 'वृजनस्य राजा' (ऋ. 9. 97. 23) से की जा सकती है। और इसका निष्कर्ष होगा कि वृजन और वॅरॅजॅन प्रायः समानार्थक शब्द है। इस प्रसंग में अवेस्ता के विद्वान् हर्मेन लोमेल का निम्नोक्त कथन विचारणीय है–

"The word *vrzān* means as Andreas has taught for sometime, the tribal confederacy which has it's settlement in the tribal Village; *Varzān* means also the settlement itself. This explanation leads to a Correct text interpretation in most cases of the Vedic *Vṛjan* as well and it is not necessary to adopt the complicated varieties of meaning for the word which, for instance, Geldner assumes in his Rigveda Glossary. In Vedic Sanskrit we donot find an adjective *Vṛjanya*- Corresponding to our *Varzānya*, but the Vedic word which occasionally occurs in this form is identical in meaning with *Vṛjan*a-*Vṛjanasya* rājā RV. 9.97.23. Instead of a possessive adjective the genitive is used in Rigveda and God as the protector of Community or ruler over the village is called *Vṛjanasya Gopā* or *Vṛjanasya rājā*" [56]

वॅरॅज़न का पुनः विकास हुआ जिसका साक्ष्य हॉरवामनी अभिलेखों में उपलब्ध होता है। दारयवौस अपने बेहस्तून अभिलेख में कई वॅरॅज़नों का उल्खेख करता है[57] –"झज़ान नाम वर्दनम्" (डी. बी. 1.92), "कुद्रसनाम वर्दनम्" (डी. बी. 2.65-66) तथा "विसपौजातिस नाम वर्दनम्" (डी. बी. 2.95)। यहां वर्दन का अर्थ ग्राम के स्थान पर नगर हो गया।

ग्राम के लिए इन अभिलेखों में आवहन शब्द मिलता है[58]–उदाहरणार्थ "जुझाह्य नाम आवहनं" (दारयवौस् का सूसा अभिलेख, पंक्ति, 46)

संस्कृत की 'व्रज्' धातु से व्युत्पन्न 'व्रज' शब्द का उल्लेख प्रथमतः गोष्ठ के अर्थ में किया गया है, जहां पशु निवास करने के लिए जाते हैं।[59] "याद्राध्यं वरुणों योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः। विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः" (ऋग्वेद 2.38.8) में प्रयुक्त 'व्रज' शब्द का अर्थ सायण ने गोष्ठ किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि "सविता के अस्त होने पर सदा गमनशील वरुण सारे जंगम पदार्थों को सुखकर, वांछनीय और सुगम निवास-स्थान प्रदान करते हैं। जिस समय सविता सारे भूतों को स्थान-स्थान पर सदा अलग कर देते हैं, उस समय पशु-पक्षिगण सारे भूतों को स्थान-स्थान पर सदा अलग कर देते हैं, उस समय पशु-पक्षिगण भी अपने-अपने स्थान को जाते हैं।" इसी प्रकार ऋग्वेद 10.26.3 में भी प्रयुक्त 'व्रज' शब्द का अर्थ सायण ने गोष्ठ किया है। इस ऋचा में कहा गया है कि पूषा हमारे 'व्रज' (गोष्ठ) को जल से सींचते हैं।

'व्रज' का दूसरा अर्थ गोचर भूमि बतलाया गया है, जहां दूध देने वाले पशु तो प्रातः ही ग्राम से चले जाते हैं और अन्य पशु दिन-रात में ही रुक जाते हैं।[60] गेल्डनर ने 'व्रज' शब्द का अर्थ पशु-समूह बतलाया है।[61] ऋग्वेद 4.20.8 में भी 'गोनाम व्रजम्' का उल्लेख किया गया है। सायण ने इसका अर्थ 'गवां समूहम्' किया है। किन्तु रॉथ ने इसका अर्थ घेरा किया है।[62] ऋग्वेद में 'गोमति व्रजे' का अर्थ सायण ने "गवोपेते गवाश्वादि पशुसमूहे" किया है।

'वृजन' शब्द का अर्थ विभिन्न रूपों में विकसित हुआ। इसका प्रारम्भिक अर्थ गोष्ठ अथवा पशुओं के लिए बनाया डेरा अथवा बाड़ा था, जो सम्भवतः द्वार-विहीन होता ता, जिसके कारण दूध देने वाली गायों के भाग जाने की सम्भावना बनी रहती थी। इसीलिये "तमा नूनं वृजनमन्यथा चिच्छूरो यच्छक्रविदुरो गृणीषे। मा निररं शुक्रदुघस्य धेनोराङ्गिरसान्ब्रह्मणा विप्र जिन्व" (ऋ. 6.35.5) में इन्द्र से प्रार्थना की गई है वे 'वृजन' को 'अन्यथाचित्'–भिन्न प्रकार का बनावें, जिसमें 'विदुर'–अच्छे द्वार हों ताकि जिससे दूध देने वाली धेनु-समूह 'मा निररं'-भाग न जांय। ऋग्वेद के कई मन्त्रों में 'वृजन' के प्रकारों का उल्लेख किया गया है। यथा ऋ. 5.44.1 में 'प्रतीचीनं वृजनं' का उल्लेख 'प्राचीन वृजन' के अर्थ में किया गया है। "यद्वा मरुत्वः परमे सधस्थे यद्वावमे वृजने मादयासे। अत आ याह्यध्वरं नो अच्छात्वाया हविश्चकृमा सत्यराधः" ऋ. 1.101.8 में प्रयुक्त 'अवम वृजन' (अर्वाचीन वृजन) प्राचीन वृजन से सर्वथा भिन्न था। इस ऋचा में मरुत् तथा इन्द्र से नवनिर्मित वृजन में आने की प्रार्थना की गई है। ऋ. 2.24.11 में 'अवरे वृजने' का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ सायण ने 'निकृष्टवृजने' किया है। इसी प्रकार अन्यर्थ एक 'मानुष वृजन'[63] किया गया है, जो पशु-वृजन से भिन्न था।

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में 'वृजन्' शब्द का प्रयोग निवास के अर्थ में किया गया है। "गोषु जानन् वृषभो वृजने तिष्ठति" ऋ. 9.96.7 में प्रयुक्त 'वृजन' शब्द का अर्थ निवास ही है। इस ऋचा

का अर्थ है कि गायों को जानता हुआ वृषभ वृजन में बैठता है । ऋग्वेद 1.164.9 में वृजन के सम्बन्ध में एक पहेली का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

"वृजनीषु अन्तः गर्भः अतिष्ठत् अनु विश्वरूप्यं गाम् अपश्यत्" । इसका अर्थ है कि जैसे गर्भ से वस्तुएं बाहर आ जाती हैं, उसी प्रकार 'वृजनी' (पशुओं के निवास) से गायें बाहर आ जाती हैं । इसी प्रकार "प्रभुञ्जन्ती सूनरी उषा योषेव वृजनं यान्ति" (ऋग्वेद 1.48.5) में कहा गया है कि जिस प्रकार गृहपत्नी वृजन (निवास) में आती है, उसी प्रकार सबका पालन करने वाली उषा संसार में आती है । ऋग्वेद की ही एक अन्य ऋचा में प्रार्थना की गई है कि वृजन (गृह) में पुत्र उत्पन्न हो ।[64] वृजन के विकास का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ऋ. 1.173.6 में किया गया है, जिसमें कहा गया है कि समस्त भूमि वृजन में समाहित है और आकाश उसके सिर का आभरण है ।

ऋग्वेद के कई मन्त्रों में 'वृजन' शब्द का प्रयोग समूह के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद 1.166.14 में "अप्सां सुक्षितिं" के साथ "वृजनस्य गोपा" का उल्लेख किया गया है । स्पष्टतः यहां 'वृजन' शब्द का अर्थ समूह ही है । "सत्यमन्मा देवो क्रत्वा विश्वा वृजनानि निपाति" ऋ. स1.73.2 में कहा गया है कि "सत्यमिति देव अपने कर्मों से सम्पूर्ण वृजनों की रक्षा करते हैं ।" इसी प्रकार ऋ. 1.128.7 में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि यज्ञ में सुखकारी होता है, उसी प्रकार मनुष्यों के वृजन में विश्पति सुखकारी होता है । यहां 'वृजन' का अर्थ निवास-गृहों के समूह से है ।

ऋग्वेद में 'वृजन' शब्द का चौथा अर्थ सेना अथवा संग्राम भी किया गया है ।[65] "एनाङ्गपेण वयमिन्द्रवन्तोऽभिष्याम वृजने सर्ववीराः" ऋग्वेद 1.105.19 में कहा गया है कि हम सब मनुष्य घोष करते हुए 'वृजन' में जावें । इस ऋचा में प्रयुक्त 'वृजने' शब्द का अर्थ सायण ने 'संग्रामे' किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए लोग जयघोष करते हुए संग्राम में जाते थे ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'वृजन' शब्द का अर्थविकास घेरा, गोष्ठ, निवास, निवास-समूह, ऐसे निवास गृहों में रहने वाले निवासियों का समूह तथा सेना अथवा संग्राम के रूप में हुआ रॉथ ने भी ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वृजन' शब्द का अर्थ निवास या ग्राम और उसमें रहने वाले लोगों का समूह किया है ।[66] जिमर ने भी 'वृजन' का अर्थ सुरक्षित निवास (क्षिति-धुवा) किया है, जहॉ जन-जाति के लोग रहते थे ।[67]

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास के बीच गोचारण की स्थिति रही होगी । इस स्थिति में सामान्य जन-समुदाय गोचारण करते हुए पशुओं के लिए निर्मित घेरों अथवा गोष्ठों में निवास करता होगा । कालान्तर में उसने अपने लिए अलग 'वृजन' (निवास) का निर्माण किया, जिसकी संख्या बढ़ जाने पर 'वृजन' शब्द का अर्थ निवास-समूह तथा इन निवासों में रहने वाले लोगों का समूह हो गया और अन्ततोगत्वा इस शब्द का अर्थ संख्या के आधार पर संग्राम अथवा सेना हो गया ।

गुहा-निवास :

यायावरीय जीवन से स्थायी निवास के मध्य की विभिन्न स्थितियों में गुहा-निवास की भी एक स्थिति थी। ऋग्वेद में 'गोह', 'गुहा-क्षय" तथा "गुहा-सदन' के उल्लेख से इस प्रसंग में रोचक प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में इन गुहाओं की भौगोलिक स्थिति, उनके निर्माण, उनके द्वार तथा उनमें निवास करने वाले मनुष्यों और पशुओं के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। एक ऋचा से स्पष्ट होता है कि गुहाएँ लता-कण्टकों से 'परिवीत' होती थीं तथा उनके द्वार विशाल पाषाण-खण्डों, से आवृत होते थे। ऐसे 'परिवीत गुहाओं' में निधियों की स्थापना की जाती थी।[68] ऐसी गुहाओं में गो-समूह के निवास की भी हमें सूचना मिलती है।[69] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि बैल समान' नील (निवास) में रहने वाले महिष और घोड़ियों के साथ-साथ जाता है। कविगण अपने ऋत पद की रक्षा करते हैं तथा गुहा जल को धारण करती है।[70] इससे स्पष्ट होता है कि कविगण गुहा में निवास करते थे। बैल, महिष तथा घोड़ियों आदि पशुओं के लिए समान नील (निवास) होते थे। इन गुहाओं की स्थिति जल के समीप होती थी, जहाँ से गुहा-निवासी मनुष्यों और पशुओं को सुगमता से पेय जल की प्राप्ति होती थी। ऋग्वेद की ही एक अन्य ऋचा से ज्ञात होता है कि गुहा में निवास करने वाले पशुओं के प्रिय स्थान-गोचर-भूमि गुहा के समीप ही स्थित होती थी।[71] ऐसा प्रतीत होता है कि गुहा में निवास करने वाले पशु दिन में अपने प्रिय स्थान-गोचर भूमि में जाया करते थे। कभी-कभी लोग गायों के पद-चिह्नों को देखकर उनके गुहा-निवास तक पहुँच जाते थे।[72] इतना ही नहीं वरन् वे कभी-कभी चोरों को ढूंढते हुए भी गुहा में स्थित गायों तक पहुँच जाते थे।[73] पणियों द्वारा गो-समूह को चुराकर गुहा में स्थापित करने का आख्यान ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों में उल्लिखित है।[74]

'गुहा-सदन' में गायों के निवास की स्थिति की सूचना हमें ऋग्वेद के अन्य मन्त्रों से भी मिलती है।[75] ऋग्वेद 10.68.7 में कहा गया है कि बृहस्पति ने 'गुहा-सदन' से स्वर करती हुई निकलने वाली गायों का ज्ञान प्राप्त किया। पर्वत से गायें उसी प्रकार निकलती हैं जिस प्रकार अण्डों से पक्षी निकलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार के लोग गुहा में निवास करते थे।[76] ऋग्वेद 2.12.4 में "दासं वर्णमधरं गुहाकः" के उल्लेख से ज्ञात होता है कि दास तथा असुर लोग गुहा में निवास करते थे। 'गुहा' में अनार्यों का निवास एक अन्य ऋचा[77] से प्रमाणित होता है। एक दूसरे मंत्र[78] से 'गुहा' में मायावियों के निवास का प्रमाण मिलता है। इस मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने अस्त्र, वज्र से मायावियों की 'गुहा' का नाश करें। अन्यत्र[79] अरण्य-जनित अग्नि के दाह से बचने के लिए अरण्य को छोड़कर 'गुहा' में निवास करने की बात कही गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी आपदाओं के कारण लोग अरण्य को छोड़कर गुहा में निवास करना श्रेयष्कर समझते थे। किन्तु गुहा-निवास भी सर्वथा निरापद न था। गुहा से चोरी होने की सूचना ऋग्वेद से उपलब्ध होती है।[80]

अरण्य-निवास :

यायावरीय जीवन से क्षिति-निवास के मध्य की विभिन्न स्थितियों में 'अरण्य-निवास' की भी एक स्थिति थी। वैदिक साहित्य में अरण्य को अमा[81] (गृह), ग्राम[82] तथा कृषि[83] से भिन्न बतलाया गया है।[84]

अरण्य में त्रिविध जीवन-पद्धतियों का उल्लेख मिलता है। प्रथमतः अरण्य में ऐसे जनों का वास था, जो मूलतः मृगया पर ही अवलम्बित थे। परवर्ती संहिताओं[85] तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'मृगयु' शब्द का उल्लेख किया गया है। वाजसनेयी संहिता[86] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[87] में पुरुषमेध यज्ञ के प्रसंग में उन लोगों के नामों का उल्लेख किया गया है, जो मछली मारकर अथवा मृगया द्वारा अपना जीवन यापन करते थे-उदाहरणार्थ मार्गार (शिकारी), कैवर्त, पांजिष्ठ तथा दाश मछली मारने वाले ही थे।[88] वेन्द तथा अन्द भी एक प्रकार के मछली मारने वाले ही थे।[89] ऋग्वेद में मृगया सम्बन्धी विविध उपकरणों के उल्लेख से इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मृगया के लिए यदा-कदा बाण का प्रयोग किया जाता था।[90] मृगया में पशुओं को पकड़ने के लिए मुख्य रूप से जाल तथा गड्ढों का प्रयोग किया जाता था।[91] पक्षियों को पाश[92], निधा[93] तथा जाल[94] के द्वारा पकड़ने के उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलते हैं। पक्षियों को पकड़ने वाले व्यक्ति को "निधापति"[95] कहा जाता था।

मछली मारने की विधियों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम सूचनायें उपलब्ध हैं। सायण ने 'धैवर' शब्द का अर्थ किया है—वह व्यक्ति जो तालाब में जाल फेंक कर मछली पकड़ता है।[96] दाश और शोस्कल 'बडिश'. की सहायता से मछली पकड़ते थे। वैण्ड, कैवर्त और मैनाल जाल की सहायता से मछली पकड़ते थे।[97]

द्वितीयतः इन मृगया-वृत्ति के अतिरिक्त वे लोग थे, जिनकी आजीविका फल और अकृष्टपच्य अन्न पर अवलम्बित थी। ऋग्वेद 10.146.6 में कहा गया है कि मैं उस अरण्यानि की स्तुति करता हूं जो आंजनगन्धयुक्त है, जो बिना कृषि के सुरभित अन्न प्रदान करती है तथा जो पशुओं की मातृ-रूपिणी है। अतः स्पष्ट है कि अरण्य-निवासी बिना कृषि के उत्पन्न होने वाले अन्न पर जीवन-यापन करते थे। उपर्युक्त ऋचा में अरण्य को पशुओं की माता कहा गया है। ऋग्वेद से हमें गोपवनों की स्थिति की भी सूचना मिलती है।[98] इससे स्पष्ट होता है कि अरण्य-निवासी पशुपालक भी थे। ऋग्वेद के कई मन्त्रो[99] से गायों तथा अन्य पशुओं के अरण्य में विचरण करने की सूचना मिलती है। ऋग्वेद 10.146.3 में कहा गया है कि अरण्य में कहीं गायें तृणादि चरती हैं, कहीं लता, गुल्म आदि से निर्मित गृह दिखाई देते हैं और सन्ध्या समय अरण्य से बहुत से शकट निकलते हैं। इस प्रकार इस ऋचा से अरण्य निवासियों की गोचारण-वृत्ति का प्रमाण मिलता है। वे गोचारण के लिए उपयुक्त गोचर-भूमि में अपनी गायों को तृणादि चराते थे तथा वहीं अपने लिए लता, गुल्म आदि से अल्पकालिक गृह का निर्माण करते थे ताकि तृण की समाप्ति के बाद वे अपनी गायों को दूसरी गोचर-भूमि में ले जा सकें और वहां पुनः अपने लिए दूसरा अल्पकालिक गृह बना सकें। ये

गोचारक अरण्य से लकड़ी तोड़ते थे तथा उसे शकट पर रख कर अरण्य से बाहर ले जाते थे। सम्भवतः काष्ठ-विक्रय उनकी जीविका का सहायक साधन था।

तीसरी कोटि के अरण्य-निवासी वे थे, जो विपिन में सहज ही उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल आदि से अपना भरण-पोषण करते थे। "स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते" ऋग्वेद 10.146.5 में कहा गया है कि वन में स्वादिष्ट फलों को खाकर निवास किया जाता है।

अतः स्पष्ट होता है कि यायावरीय जीवन और ध्रुवाक्षितिभूमि पर स्थायी निवास, के मध्य अरण्य-निवास की भी स्थिति थी। ऐसी स्थिति में निवास करने वाले लोगों की आजीविका के तीन प्रमुख साधन थे–(1) मृगया (2) पशु-पालन तथा उनसे प्राप्त होने वाला दुग्ध आदि तथा (3) अरण्य में सहज ही उत्पन्न होने वाले अकृष्टपच्य अन्न, कन्द-मूल फलादि। ऋग्वेद में जहाँ एक ओर अरण्य में बिना कृषि के उत्पन्न होने वाले 'सुरभित अन्न' और मधुर फलों की प्राप्ति का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर गायों तथा अन्य पशुओं की स्थिति का उल्लेख किया गया है। मृगया तथा मृगया से सम्बन्धित विविध उपकरणों का उल्लेख वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। इस प्रकार अरण्य-निवासियों के लिए जहाँ 'सुरभिन्त अन्न', स्वादिष्ट फलादि और मृगया में प्राप्त मांस भोज्य पदार्थ के रूप में सहज सुलभ थे, वहीं उनके पशुओं के पालनार्थ विस्तृत अरण्य गोचर-भूमि के रूप में सुलभ था। इसीलिए 'अरण्यानि' पशुओं की माता कहा गया है।[100]

दुरोण :

यायावरीय जीवन क्रमशः शालेय जीवन में परिणत हुआ। इस क्रम में, एक ऐसी स्थिति का आगमन हुआ जिसमें लोग द्वार-युक्त निवास (गृहों) में रहने लगे। ऐसे निवासों को वैदिक साहित्य में 'दुरोण' अथवा द्वार-युक्त की संज्ञा प्रदान की गयी। निरुक्त का वचन है "दुरोण इति गृहनाम, दुखा भवति इति यास्कः" (निरुक्त 4.5)। "दुर" शब्द अनेकशः द्वार के अर्थ में ऋग्वेद में प्रयुक्त है। इस अर्थ में "दुर" एक भारोपीय शब्द है। भारोपीय भाषाओं में "दुर" के अनेक सगोत्रीय शब्द उपलब्ध होते हैं–यथा युनानी 'फोर', लैटिन 'फोरेस', इरानी 'दोरसुं,' परवर्ती इरानी, "दोरस्", ब्रिटेन 'दोर', गोथिक 'दौर; प्राचीन इंग्लिश 'दुरु' और ओल्ड हाई जर्मन 'तुरि' आदि। इसी प्रकार प्राचीन इंग्लिश 'दोर्' (दरवाजा) ओल्ड हाई जर्मन और न्यू हाईजर्मन 'तोर्', प्राचीन पारसीक 'दुवार', अर्वाचीन पारसीक 'दर्', अरमेइक 'दुरिन' और अल्बेनियन 'देरे', संस्कृत के 'द्वार' शब्द के सगोत्र हैं।[101] इस प्रकार दुरोण का अर्थ होगा ऐसा गृह जो द्वार से युक्त हो। इसी प्रकार "दुर्य" का अर्थ होगा 'दुर-युक्त'। दुर्य के भी द्वार-युक्त गृह के अर्थ में अनेक प्रयोग ऋग्वेद में मिलते हैं।

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में 'मानुषी दुर' अथवा 'मानुषी दुरोण' का उल्लेख किया गया है।[102] "विदा दियो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनोगुः। अपावृत व्रजनीरूत्स्वर्गाद्वि दुरो मानुषीर्देव आवः" ऋग्वेद 5.45.1 में स्पष्टतः 'मानुषीदुर' का उल्लेख किया गया है, जिसका भाष्य सायण ने मनुष्य सम्बन्धिनीः द्वाराणि' किया है। इस ऋचा का पारम्परिक अर्थ है कि अंगिराओं की स्तुतियों से इन्द्र ने स्वर्ग से वज्र निक्षेप करके पणियों द्वारा अपहृत-निगूढ धेनुओं का पुनरुद्धार किया था।

आगामिनी उषा की रश्मियाँ सर्वत्र व्याप्त होती हैं। पुंजीभूत अंधकार को विनष्ट करके सूर्य उदित होते हैं। मनुष्यों के गृह-द्वारों को उन्होंने उन्मुक्त किया है। इसी प्रकार "आयोः दुर्यासु अदब्धा कवयः निधारयन्तः। अर्यः एतान् अद्भुतान् पण्भिः एवैः पश्येः" ऋग्वेद 4.2.12 में प्रयुक्त "आयोः दुर्यासु" का अर्थ "मनुष्यस्य गृहेषु" है। अतः इसका अर्थ हुआ कि मनुष्यों के गृह में अर्य अद्भुत गमनशील पदचारियों का देवता है। ऋग्वेद 1.121.4 में स्पष्टतः "मानुषस्य दुरो" का उल्लेख किया गया है।

"मा शूने अग्ने नि पदाम नृणां मा शेषसोऽवीरता परि त्वा प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्यः" ऋग्वेद 7.1.11 में प्रयुक्त "प्रजावतीषु दुर्यासु" का उल्लेख भी "मानुषी दुर्य" (मनुष्यों के गृह अथवा निवास) के अर्थ में किया गया है। इस ऋचा में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हम पुत्रादि से रहित गृह में निवास न करें। हम दूसरे के घर में भी निवास न करें। तुम्हारी परिचर्या करते हुए हम प्रजा से परिपूर्ण गृह में निवास करें। ऋग्वेद 1.117.1 में "पितृसदे दुरोणे घोषायै पतिं अदत्तम्" का उल्लेख किया गया है। इसमें प्रयुक्त "पितृसदे दुरोणे" का अर्थ सायण ने 'स्वकीयजनकगृहे' किया है। इस ऋचा का अर्थ है कि अश्विनी कुमारों ने धोषा को पितृसदन में पति प्रदान किया। एक अन्य ऋचा[103] में 'शतदुरेषु' का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ निश्चय ही 'शतद्वारेषु' है। इससे सौ द्वारों से युक्त गृह की स्थिति प्रमाणित होती है।

ऋग्वेद में 'दुर' अथवा 'दुरोण' की भौगोलिक स्थिति का भी उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद 10.139.6 में नदियों के चरण-देश में "अपां दुरः" की स्थिति का उल्लेख किया गया है। इस ऋचा में कहा गया है कि इन्द्र ने प्रस्तरमय द्वार का उद्घाटन किया। अन्यत्र 'अद्रौचित् दुरोणे' का उल्लेख किया गया है।[104] इसमें कहा गया है कि लोग अग्नि को यज्ञगृह और पर्वत के ऊपर (सम्भवतः वहाँ निर्मित होने वाले दुरोण में) हवि प्रदान करते हैं। इसमें प्रार्थना की गयी है कि जैसे राजा प्रजा के हित का कार्य करता है, वैसे ही अग्नि हमारे हितकारी कार्यों का सम्पादन करें।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'दुरोण' के साथ अग्नि का उल्लेख किया गया है। प्रसंग से प्रतीत होता है कि 'दुरोण' अथवा 'दुर' में प्रज्वलित अग्नि विद्यमान रहती थी और उससे अनेक भौतिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना की जाती थी। ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा[105] में दुरोण स्थित प्रज्वलित अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि, अन्न की इच्छा करने पर जो कोई तुम्हें देने के लिए हविरन्न धारण करता है, जो कोई तुम्हें हर्षकर सोम प्रदान करता है, जो अतिथि रूप से तुम्हारा उत्तर वेदि पर प्रणयन करता है और जो व्यक्ति देवत्व की इच्छा करके तुम्हें गृह में समृद्ध करता है, धर्मपथ में निश्चल और औदार्य-विशिष्ट हो। अतः स्पष्ट है कि यहाँ प्रज्वलित अग्नि से अन्न, धन और पुत्र की प्राप्ति की कामना की गई है। ऋग्वेद 1.69.3 में गृह में अग्नि के प्रज्वलन की तुलना गृह में पुत्रोत्पत्ति के साथ की गई है और कहा गया है कि गृह में प्रज्वलित होने वाली अग्नि आनन्द प्रदान करती है।

ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में 'दुर' अथवा 'दुरोण' को गाय से सम्बद्ध बताया गया है–"अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णां अरुषैर्धामभिर्गात् । प्रसूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ।" (ऋग्वेद 3.31.21) । इस ऋचा का अर्थ है कि वृत्र हन्ता और गायों के स्वामी हमें गो प्रदान करें । कृष्णों अथवा यज्ञ विघातक असुरों को दीप्ति युक्त तेज के द्वारा विनष्ट करें । उन्होंने सत्य वचन से अंगिरा लोगों को प्रियतम गाय का दान करके सारे द्वारों को बन्द कर दिया था– "विश्वाः स्वाः दुरः अवृणोत्" ऋग्वेद 1.188.5 में "दुरो घृतानि अक्षरन्" का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ हुआ ऐसा दुर अथवा गृह जहां घृत बह रहा हो । स्पष्टतः यहाँ उस दुर से तात्पर्य है, जिसमें गो-समूह निवास करता हो । इसी प्रकार ऋग्वेद 7.16.8 में घृतहस्ता, अन्नरूपा और हविर्लक्षणा देवी के पूर्ण होकर दुरोण में आसीन होने की बात कही गई है । यहाँ अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह द्रोहियों और निन्दकों से उस दुरोणगृह की रक्षा करें । एक दूसरी ऋचा[106] में कहा गया है कि मेधावी, निरहंकारी और कर्माकर्मज्ञाता अग्नि गौ के स्तन की तरह गृह के सारे अन्न को स्वादिष्ट करते हैं । स्पष्टतः यहाँ भी दुरोण को गोधन और स्वादु अन्न से सम्बद्ध बताया गया है । "ऊस्रियाभ्यो गाः विदृहा दुरः विऔर्णोः गाः असृजः" (ऋग्वेद 6.17.6) में इन्द्र से कहा गया है कि हे इन्द्र, तुम ने गौओं को बाहर आने के लिए पाषाणादि के दृढ़ द्वारों को उद्घाटित किया है। उपर्युक्त ऋचा में 'दुर' शब्द का प्रयोग द्वार के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद 4.4.6 में "अर्यः रायः द्युम्नानि दुरः अभिद्यौत" का उल्लेख किया गया है । सायण ने उपर्युक्त ऋचा में प्रयुक्त 'अर्यः' का अर्थ 'यज्ञानां स्वामी' 'रायः' का अर्थ 'रान्ति क्षीरादीनीति रायो गोधनानि' तथा 'दुरः' का अर्थ गृहानभि' किया है । अतः इसका अर्थ हुआ कि अर्य गोधन से युक्त दुर-गृह को अभिद्योतित करता है ।

उपर्युक्त विवेचन से हमें मानव-निवास की निम्नलिखित तीन अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त होता है–

1–गुहा एवं पर्वत-निवास
2–अरण्य-निवास और
3–क्षेत्र-निवास-'क्षय' से ध्रुवा-क्षिति तक ।

विकास की तीसरी अवस्था में ही प्रशासन, सामाजिक आवश्यकता, कर-व्यवस्था, धार्मिक दान, व्यवसाय, वर्ण अथवा जाति तथा जनसंख्या के आधार पर मानवनिवास के विविध वर्गीकरणों के उल्लेख हमें प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में मिलते हैं, जिन्हें 'ग्राम' और 'नगर' शब्दों से सम्बोधित किया गया है ।[107]

उपर्युक्त विवेचन से हमें जन-सन्निवेश अथवा 'ग्राम' के विकास की भी मुख्य रूप से तीन अवस्थाओं का बोध होता है । ग्राम-विकास की प्रारम्भिक अवस्था यायावरीय थी । स्थायी-निवासविहीन, संचरणशील ग्रामों का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों से प्राप्त होता है, जहां 'ग्राम' शब्द का अर्थ जन-समूह मात्र है । स्थायी जनसन्निवेश की स्थापना के पश्चात् भी यायावरीय ग्रामों की परम्परा जीवित रही, इसीलिए मैत्रायणी और काठक संहिताओं में 'क्षेम्या प्रजा' के साथ ही

'यायावर प्रजाः' का उल्लेख किया गया। इसी का प्रतीकात्मक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में क्रमशः 'वात्सप्र' और 'विष्णुक्रम' के माध्यम से किया गया। इस प्रसंग में 'योग' और 'क्षेम' शब्द भी ध्यातव्य हैं, जो वैदिक युग में क्रमशः संचरणशील एवं स्थायी निवास के बोधक थे। गीतोक्त 'योग-क्षेम' में भी मूलतः उपर्युक्त भाव ही सन्निहित हैं।

जन-सन्निवेश अथवा ग्राम-विकास की प्राथमिक यायावरीय स्थिति के बाद द्वितीय अवस्था में अस्थायी निवास अस्तित्व में आये। वैदिक युग के संचरणशील जन-समूहों ने वाहनों का उपयोग अस्थायी निवास के रूप में करना प्रारम्भ किया, जो अनेक शब्दों के भाषा-वैज्ञानिक विवेचन से प्रमाणित होता है। इस दृष्टि से 'रथ-क्षयः' 'रण्वः क्षयः' 'गर्त्त' और 'अनस्' आदि शब्दों में रोचक एवं मनोरंजक ऐतिहासिक तथ्य निहित हैं। क्षि धातु से व्युत्पन्न 'क्षय' शब्द गति और निवास दोनों का बोधक है। ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में प्रयुक्त 'क्षय' शब्द मानवीय निवास का बोधक है। 'रण्वः क्षयः' गतिशील अथवा संचरणशील निवास का तथा 'रथ-क्षयः' रथ-निवास का बोधक है। ऐतिहासिक काल के रथाकार मंदिरों का निर्माण तथा कतिपय मन्दिरों के लिए रथ शब्द के प्रयोग भी हमें रथनिवास की परम्परा का स्मरण दिलाते हैं। अस्थायी निवास की पुष्टि 'गर्त्त' शब्द के विवेचन से भी होती है। 'गर्त्त' शब्द का प्रयोग वाहन एवं गृह दोनों ही अर्थों में हुआ है। यास्क ने "गर्त्त" को रथ का पर्यायवाची माना है—'रथोऽपि गर्त्त उच्यते'। साथ ही 'गर्त्त' को गृह का समानार्थी कहा गया है। ऐसी स्थिति में वाहन और निवास दोनों का बोधक 'गर्त्त' संचरणशील अस्थायी निवास ही हो सकता है। गर्त्त की भांति ही 'अनस्' जो भारवाही शकट था, वाहन के साथ-साथ शाला के अर्थ में वैदिक सन्दर्भों में प्रयुक्त हैं।

जन-सन्निवेश के विकास की तीसरी अवस्था 'ध्रुवा-स्थिति' अथवा स्थायी निवास की थी। इसका विकास दो दिशाओं में दिखाई देता है। पशु-पालक जन-समूह ने, अधिकांशतः नदियों के ऐसे तटवर्ती क्षेत्रों में, जहाँ पशुओं के लिए घास और जल की सहज सुलभता थी, बाड़ों अथवा घेरों के रूप में स्थायी निवास बनायें। इस प्रकार के पशुपालक-निवासों के लिए वैदिक साहित्य में "पस्त्य" "व्रज" और "वृजन" शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। निरुक्त में पस्त्य को गृह का पर्यायवाची कहा गया—'पस्त्यमिति गृहनाम'। सायण ने भी ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में प्रयुक्त 'पस्त्य' शब्द का यही अर्थ किया है। ऋग्वेद में 'पस्त्य' का सम्बन्ध गायों, बैलों और घोड़ों से दिखाई देता है। अतएव इससे प्रतीत होता है कि 'पस्त्य' प्रारम्भ में केवल पशुओं का ही निवास था, जो क्रमशः पशुओं तथा पशु-पालकों का भी निवास बन गया। 'पस्त्य' की ही भांति 'व्रज' और 'वृजन' शब्दों का गोचारण और गोचारकों से सम्बन्ध ऋग्वेद के विभिन्न सन्दर्भों में दिखाई देता है। प्रारम्भ में 'वृजन' शब्द का तात्पर्य किसी आवृत स्थान से था। ऐसे आवृत स्थान में पहले केवल पशुओं के रहने की व्यवस्था थी। किन्तु पशुओं के ये बाड़े बाद में पशुचारकों के भी निवास हो गये। इसकी पुष्टि ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में प्रयुक्त 'व्रज' "वृजन" और "व्राजपति" आदि शब्दों के विवेचन से होती है।

कृषि-कर्म के क्रमिक विकास से मानव-जीवन में स्थायित्व आया, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य ध्रुवा-क्षिति अथवा स्थायी निवास में रहने लगा। कृषि-कर्म से होने वाले अतिरिक्त सस्योत्पादन ने विविध व्यवसायों एवं उद्योगों को जन्म दिया। परिणामतः जन-सन्निवेश, अथवा ग्राम-सन्निवेश के स्वरूप में परिवर्तन आया। अब ग्रामों का निर्माण व्यवसाय, जाति, प्रशासन, सामजिक आवश्यकता, कर-व्यवस्था, धार्मिक दान एवं जनसंख्या आदि के आधार पर किया जाने लगा और इस प्रकार ऐतिहासिक काल तक विभिन्न प्रकार के ग्राम सन्निवेश विकसित हुए। जातक साहित्य में 'श्रेष्ठिग्राम', 'ब्राह्मणग्राम', 'आरामिकग्राम' आदि का उल्लेख मिलता है तथा अर्थशास्त्र में 'स्थानीय' एवं 'द्रोणमुख' आदि प्रशासनिक ग्रामों का उल्लेख मिलने लगता है।

●

---

1. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी–पाणिनि-धातुपाठसमीक्षा, पृष्ठ, 393।
2. वाल्दे पोकॉर्नी–वर्ग्लेसिन्दिस/वोर्टरबुक/इण्डोजर्मेनिशेन स्प्राखेन, 1.504।
3. (अ) यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरूषस्य वृष्णः।
   तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसस्रण्स्यि नहुषस्य शेषः ॥ ऋ., 5.12. 6 .
   (ब) ऋ. 3. 8. 1, 7.66.5, 8.15.9, 8.64.4।
4. त्वां विष्णुर्वृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।
   त्वां शथो भदत्युनु मारुतम् ॥ ऋ. 8. 15. 9 .
5. ऋग्वेद -1. 64. 11 .
6. ऋ. –6. 35. 1 .
7. ऋ. 7. 46. 2 .
8. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी–पूर्वोक्त, पृष्ठ 393 .
9. अष्टाध्यायी–1. 789 .
10. ऋ. –1. 144. 7 पर सायणभाष्य।
11. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी–पूर्वोक्त, पृष्ठ 685 .
12. निघण्टु–5. 3. 7 .
13. वाल्दे पोकॉर्नी–पूर्वोक्त, 2. 368 .
14. सी. डी. बक–डिक्शनरी ऑफ सेलेक्टेड सीनानिम्स इन दी प्रिंसिपल इण्डोयोरोपीयन लैंग्वेजेज, 10. 76. 2 .
15. पर्सी ब्राउन–इण्डियन आर्किटेक्चर, पृष्ठ 93, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मामल्लपुरम् में स्थित भीम, सहदेव और गणेश के एकाश्मक मन्दिरों को "रथ" की संज्ञा प्रदान की गयी है। अतः यहाँ हमें "रथ-निवास" का "नाम" दिखाई देता है।
16. वही, पृष्ठ 129, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोणार्क के सूर्य-मन्दिरका निर्माण रथ के आकार पर किया गया है जिससे "रथ-निवास" के "रूप" का हमें दर्शन होता है।
17. जॉन एलन-कैटेलॉग ऑफ दी क्वायन्स ऑफ ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृष्ठ 122, प्लेट 15, 10 .
18. एच. जिमर-दी आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया, प्लेट 270।
19. (अ) तैत्तिरीय-संहिता–5.2.।
   (ब) शतपथ. ब्राह्मण–6. 7. 4. 10।

20. 'तद्वा अहो रात्रे एव विष्णुक्रमा भवति
    अहो रात्रे वात्सप्रमहोरात्रे एव तद्यात्यहोरात्रे
    क्षेम्यो भवति तस्मादु हेदमुत मानुषो
    ग्रामो अहोरात्रे यात्वाहोरात्रे क्षेम्यो भवति । शतपथ ब्रा., 6. 7. 4. 10 .
21. शतपथ ब्राह्मण–6. 8. 5. 1-2
22. शतपथ ब्राह्मण–6. 7. 4. 10
23. मत्स्य पुराण, अ. 129, 130, 131, 132, 133 एवं 140
24. महाभारत, सभापर्व प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।
25. एस. क्रैम्रिश-दी हिन्दू टेम्पुल्स, पृष्ठ 82, की पा. टि. 63
26. काठक संहिता 19. 12 (29)
27. 'अयूयुजन्नुष्ट्र रथान्खरांश्च नागान्हयांश्चैव कुलप्रसूतान्' वाल्मीकि रामायण 2. 82. 32
28. (अ) 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' ऋ. 1. 22. 17
    (ब) त्रीणि पदाविचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ॥ ऋ. 1. 22. 18
29. मैत्रायणी संहिता 3,2,2
30. निरुक्त में 'गर्त्त' शब्द के तीन अर्थ बतलाये गये हैं–(1) गाड़ी (2) जन-सन्निवेश और (3) श्मशान-गड्ढा। किन्तु श्मशान अथवा गड्ढा के अप्रासंगिक होने के कारण इस पर यहाँ विचार नहीं किया गया है।
31. 'वृष्टिघावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः वृहन्तं गर्त्तमाशाते' ऋ. 5.68.5
32. शतपथ ब्राह्मण–5.2.1.7
33. वासुदेव शरण अग्रवाल–इण्डिय ऐज नोन टु पाणिनि, पृष्ठ 53, 66, 450, 45१
34. वही, पृष्ठ 65 एवं 66
35. सिद्धेश्वर वर्मा–एटीमालॉजी ऑफ यास्क, पृष्ठ 69
36. सी. डी. बक–पूर्वोक्त, 7. 15. 2
37. सी. डी. बक–पूर्वोक्त, 10. 75. 5
38. वाल्दे पोकॉर्नी–पूर्वोक्त, 1. 595
39. 'अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्यभिमुखी सन्तानकर्ममे पिण्डदानाय नयति गर्त्तारोहिणीव धनलाभाय दक्षिणाजी गर्त्तः सभास्थाणुर्गृणातेः सत्यसंगरो भवति तं तत्र यापुत्रा यापतिका सारोहति तां तत्राक्षैराघ्नन्ति सा रिक्थं लभते श्मशान संचयोऽपि गर्त्त उच्यते———रथोऽपि गर्त्त उच्यते—— ।' निरुक्त 3.5
40. साइन्टिफिक अमेरिकन, फरवरी 1967, खण्ड 216, संख्या 2, पृष्ठ 109 से 111 तक।
41. 'अनत् प्राणनं कुर्वत् जीवं तुरगातुस्व व्यापाराय तुर्णगमनं सत् एजद्—ध्रुवं आविचलित सत् पस्त्यानां मध्ये आ शेते ।' ऋ. 1. १64. 30 पर सायण भाष्य।
42. 'पूर्वेद्युः प्रकामयत्युस्तरेद्युरूपतिष्ठते । तस्माद्योगेऽन्यासां प्रजानां मनः क्षेमेन्यासां तस्माद्यायावरः क्षेमेस्येशो तस्माद्यायावरः क्षेम्यवध्यवस्यति ।'

    तै. सं., 5. 2.।

43. निरुक्त 3. 4. 6
44. शतपथ ब्राह्मण 5. 3. 5. 19 तथा 5. 4. 4. 5 पर सायणभाष्य।
45. मैक्डॉनेल एण्ड कीथ–वैदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृष्ठ 512।
46. तत्रैव,

47. आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यं नव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ ऋ. 10. 96. 11
48. ऋग्वेद 4. 54. 5
49. ऋग्वेद, 6. 49. 9
50. सी. डी. बक–पूर्वोक्त, 3. 16. 6
51. "पस्त्यमिति गृहनाम", निरुक्त, 3. 4. 6
52. "जाजान नाम वर्दनम् अनुव् उफ्रातुवा अवदा होत्" । वेहिस्तून अभिलेख, प्रथम पटल, पंक्ति, ९२
53. सी. डी. बक–पूर्वोक्त, 19. 15. 7
54. तत्रैव
55. सी. डी. बक–पूर्वोक्त, पृष्ठ, 1309 पर उद्धृत ।
56. ओरियण्टल स्टडीज, पृष्ठ 284
57. रॉलैण्ड जी. केण्ट-ओल्डपरशियन, पृष्ठ 117-18
58. वही, पृष्ठ 143
59. यहाँ मनुस्मृति 4-45 तथा महाभारत 1.41.15 में प्रयुक्त "गोव्रज" शब्द ध्यातव्य हैं, जिसका अर्थ गोष्ठ है । महाभारत 1.40.17 में प्रयुक्त "गवां प्रचार" का अर्थ भी गायों के रहने का स्थान है ।
60. वेदिक इण्डेक्स, भाग-2, पृष्ठ 340
61. तत्रैव
62. वेदिक इण्डेक्स, भाग-2, पृष्ठ 340
63. स मानुषे वृजने शंतमो हितोइग्निर्यज्ञेु, जेन्यो न विश्पतिः प्रियो यज्ञेषु विश्यतिः । स हव्या मानुषाणामिळा कृतानि पत्यते न नसम्रासते वरुणस्य धूर्तेर्महो देवस्य धूर्तेः । ऋग्वेद 1.128.7
64. "वृजने मानुषासः आयवो जीयनन्त" ऋग्वेद 1.60.3
65. ऋग्वेद 10.42.10, 10.43.10, 10.44.10
66. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 320
67. तत्रैव
68. ऋग्वेद 4.21.7
69. ऋग्वेद 1.130.3
70. "समानं नीलं वषणो वासनाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः ।
ऋतस्यपदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि" ॥ ऋ. 10.5.2
71. ऋग्वेद 10.67.4 तथा 10.68.7
72. ऋग्वेद 10.46.2
73. ऋग्वेद 1.65.1
74. ऋग्वेद 2.24.6, 4.21.7, 8,14.8, 10.67.4 तथा 10.68.7
75. ऋग्वेद 10.67.4 तथा 10.68.7
76. ऋग्वेद 10.22.1
77. ऋग्वेद 10.124.2
78. ऋग्वेद 2.11.5
79. ऋग्वेद 4.7.6
80. ऋग्वेद 5.15.5

81. ऋग्वेद 6.26.10
82. ऋग्वेद 1.163.11, 10.146.1; अथर्ववेद 12.1.56 वाज. सं. 3.45.20.17
83. अथर्ववेद 2.4.5
84. शतपथ ब्राह्मण 13.6.2.20
85. अथर्ववेद 10.1.26; वाजसनेयी संहिता 16.27.30.7 इस प्रसंग में 'मृगयुरु' शब्द (ऋ. 10.4.4) तुलनीय है।
86. वाज. सं. 30. 7
87. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.4
88. वैदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 173
89. वाजसनेयी संहिता-30.16
90. ऋग्वेद 2.42.2
91. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 173
92. ऋग्वेद 3.45.1
93. ऋग्वेद 0.83.4, 10.73.11
94. अथर्ववेद 10.1.30
95. ऋग्वेद 9.38.4
96. वेदिक इण्डेक्स, भाग 2, पृष्ठ 173
97. तत्रैव
98. यं त्वा गोपवनो गिराचनिष्टदग्ने अंगिरः। स पावक श्रुधी हवम् 'ऋ. 8.74.11
99. ऋग्वेद 10.146.3, 10.146.4
100. ऋग्वेद 10.146.6
101. सी. डी. बक-पूर्वोक्त 7.22.1
102. ऋग्वेद 1.121.4, 4.2.12, 4.4.7, 5.45.1 तथा 7.1.11
103. ऋग्वेद 1.51.3
104. ऋग्वेद 1.70.3-4
105. 'यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।
या देवयुरिनधते दुरोणे तस्मित्रथिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान्॥ ऋ. 4.2.7
106. ऋग्वेद 1.69.2
107. वाहीक प्रदेश में ग्राम-नगर शब्दों का प्रयोग बिना किसी विशेष विभेद के किया जाता था। फलतः यहाँ इन शब्दों के अर्थ का वह पारम्परिक विभेद स्थापित नहीं किया जा सका, जो भारत के पूर्वी भाग में था। डॉ. अग्रवाल ने इसका कारण वाहीक प्रदेश के ग्रामों का नगरों की ही भांति समृद्धशाली होना बतलाया है। इनके अनुसार इस प्रदेश में ग्राम शब्द के अर्थ में नगर शब्द का अर्थ भी निहित समझा जाने लगा। यूनानी विवरणों में इस प्रदेश में ऐसे लगभग पांच सौ ग्रामों के अस्तित्व की सूचनायें मिलती हैं, जो नगरों के ही समान समृद्धिशाली और उन्नतिशील थे।

वासुदेव शरण अग्रवाल-इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, पृष्ठ 63

प्राचीन भारत में लौहयुग

डॉ. विभा त्रिपाठी

मानव इतिहास के सांकृतिक अभ्युदय में लौह का अमूल्य योगदान है। लौह धातु के आविष्कार के साथ एक नए युग का प्रारम्भ होता है। सांस्कृतिक उत्कर्ष के इस सोपान को लौहयुग की संज्ञा दी गई है। लौह का प्राचीनतम परिचय आकाश से गिरने वाली उल्का पिण्डों के रूप में हुआ जिसको पत्थर की ही भाँति तराश कर अतिविशिष्ट वस्तुओं के निर्माण के लिये लगभग तीसरी सहस्राब्दी से प्रयोग में लाया गया तथा इसे 'स्वर्ग से प्राप्त धातु' की संज्ञा भी दी गई। इसकी आंतरिक संरचना तथा गुण मानव निर्मित धातु से भिन्न होने से वैज्ञानिक अपने परीक्षणों से इसे सरलता से पहचान सकते हैं। भारतवर्ष में इसके प्रयोग के साक्ष्य अब तक नहीं मिले हैं। प्रस्तुत निबंध में भारतवर्ष में लौह धातु के प्रारम्भ–उत्पत्ति, विकास क्रम एवं प्रचलन का अध्ययन करते हुए सांस्कृतिक उत्थान में उसके योगदान पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

भारतवर्ष में लगभग प्रथम सहस्राब्दी के प्रारम्भ से लौह के प्रयोग का शुभारम्भ हुआ। पिछले कई दशकों के शोध के बावजूद भी अब तक लौह की उत्पत्ति का देश, काल एवं परिस्थितियाँ निर्विवाद रूप से सुनिश्चित नहीं की जा सकी हैं–इस पर सर्वप्रथम विचार किया जायगा। तकनीकी विकास की दृष्टि से भी किस काल में धातु कर्म की कौन-सी तकनीकें ज्ञात थीं तथा किस अंश तक उनका प्रयोग प्रचलित था इस पर यथेष्ट शोध का अभाव है, यह दूसरा महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। लौह धातु के आविष्कार के तुरन्त बाद उसका प्रयोग अत्यंत लघु मात्रा में ही हुआ तथा यह परिस्थिति बहुत लम्बे समय तक बनी रही। लौह के प्रयोग के परिमाण को ध्यान में रखते हुए इसको लौहयुग प्रथम, द्वितीय एंव तृतीय इन तीन चरणों में बाँट कर इनका अध्ययन किया जाना उचित है। इस संदर्भ में आर्थिक समृद्धि में लौह के योगदान के प्रश्न पर भी विचार किया जाएगा। इस क्रम में सर्वप्रथम लौह की उत्पत्ति एवं प्रारम्भ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

भारत में लौह की उत्पत्ति

खनिज के रूप में लौह अयस्क प्रचुर मात्रा में पृथ्वी की ऊपरी सतह पर विद्यमान है। भारत अपने लौह अयस्कों के लिये आज भी विश्वविख्यात है फिर भी ताँबे-काँसे, सोने, चाँदी आदि धातुओं के बहुत बाद में लोहे का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। जबकि लौह अयस्क का प्रयोग रंग बनाने के लिये पाषाण काल से ही होता था। यह क्रम विश्व की सभी सभ्यताओं में देखा गया है। इसका एक कारण लौह अयस्कों का धातु के रूप में अनाकर्षक होना भी माना जा सकता है किंतु वस्तुतः

इसका प्रमुख कारण लौह विगलन एवं उससे वस्तु निर्माण का अपेक्षाकृत अधिक जटिल होना माना जाता है। जहाँ एक ओर अन्य धातुओं को गलाने के लिये मृद्भाण्ड निर्माण करने में जितना तापमान (900^{0}-1000^{0}) पर्याप्त था वहीं लौह के लिये उससे कहीं अधिक तापमान की आवश्यकता थी, तब वह विगलित होता। 1500^{0} सें॰ तक ताप उत्पन्न कर पाना सम्भवतः प्रारम्भिक धातुकर्मियों के लिये सम्भव नहीं था। न ही अन्य चमकीली एवं चित्ताकर्षक धातु अयस्कों के रहते काले मटमैले लौह धातु अयस्कों की ओर मानव आकर्षित ही हुआ होगा और उसे धातु रूप में शोधित करने और स्वीकार करने की आवश्यकता ही महसूस हुई होगी। लोहे का धातु रूप में खोज किसी संयोगवश ही हुई होगी अथवा विश्व की कुछ सभ्यताओं में ताँबे या कांसे के निर्माण में बाधा पड़ने पर पूरक धातु के रूप में इसकी ओर ध्यान गया होगा। कारण जो भी हो इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ताम्र-कांस्य युग के बाद मानव ने लौहयुग में प्रवेश किया तथा उसके सुलभ एवं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण बड़ी मात्रा में सर्वतः उपयोग के साथ संस्कृति का स्वरूप प्रभावित हुआ।

भारतवर्ष में लौह का प्रयोग सर्वप्रथम धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति तथा कृष्ण लोहित संस्कृति के साथ उत्तर भारत के क्रमशः पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में प्रकाश में आया है। दक्षिण भारत में लौह का प्रारम्भ सर्वप्रथम महाष्मीय संस्कृति के साथ लगभग उसी काल में हुआ। मोटे तौर पर यह प्रथम सहस्राब्दी के प्रारम्भ के आस-पास का काल था। भारतवर्ष में लौह के प्रारम्भ के संदर्भ में इन संस्कृतियों का किंचित् विस्तृत विवेचन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कौन-कौन से सांस्कृतिक समूह लौह के आविष्कार से जुड़े थे। साथ ही इस विषय पर भी प्रकाश पड़ेगा कि भारत में लौह धातु का प्रयोग किसी विदेशी संस्कृति की देन है अथवा यहीं स्वतंत्र रूप से विकसित है।

धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति

धूसर वर्ण के चित्रित मृद्भाण्ड इस सांस्कृतिक युग की पहचान बनाते हैं। यह अत्यंत उच्च कोटि का अति विशिष्ट मृत्पात्र है जो प्रो. बी. बी. लाल[1] के शब्दों में इस काल का 'डीलक्स वेयर' था। किंतु यह कुल पात्रों का मात्र 10-15 प्रतिशत ही है। इसके अतिरिक्त लाल रंग के पात्र, सलेटी रंग के अचित्रित पात्र, कृष्ण लोहित पात्र तथा कृष्ण मार्जित पात्र इस संस्कृति के अन्य मुख्य मृत्पात्र हैं। तकनीकी विकास की दृष्टि से अपसे पूर्ववर्ती संस्कृतियों की अपेक्षा यह अधिक विकसित थी तथा नगरीकरण की नींव इसी काल में पड़ती हुई दिखाई देने लगती है। काँच का प्रयोग, लोहे के अतिरिक्त इस काल की दूसरी प्रमुख देन है। जखेड़ा, जो एटा जिले में स्थित है, का उत्खनन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के डा. साही के द्वारा किया गया यह उत्खनन अब तक का इस संस्कृति का सबसे बड़े क्षेत्र में उत्खनित स्थल होने के कारण अनेक तथ्यों को उजागर करता है। सोने की अतिसुंदर वस्तुएँ, भाँति-भाँति की मनकाएँ, नदी के जल को ग्राम तक

लाने की व्यवस्था तथा कूट कर बनाया गया मार्ग इसकी विशेष उपलब्धियाँ हैं ।[2] किंतु बहुधा इस संस्कृति का स्वरूप एक विकासोन्मुख ग्राम का ही है ।

धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति का विस्तार पश्चिम में सरस्वती दृषद्वती घाटी के बहाबलपुर (आधुनिक पाकिस्तान) से लेकर पूर्व में प्रायग में कौशाम्बी तक तथा उत्तर में हिमाचल प्रदेश के थापली एवं काशीपुर से दक्षिण में उज्जैन तक मिलता है । किंतु इसका सघनतम एवं सर्वाधिक विकसित स्वरूप गंगा-यमुना के दोआब में दृष्टिगोचर होता है । इसका काल प्रथम सहस्राब्दी का पूर्वार्ध है ।

लौह के प्रयोग के प्रारम्भ की दृष्टि से यह अति महत्वपूर्ण है । हरियाणा तथा पंजाब के भगवानपुरा तथा रोपड़ जैसे स्थानों से धूसर चित्रित मृद्भाण्ड के साथ लौह का प्रयोग नहीं मिलता जबकि राजस्थान के जयपुर जिले के जोधपुरा[3] उत्खनन से इसके पूर्व के सांस्कृतिक चरणों में जो कृष्णलोहित संस्कृति का है, लोहे के अति सूक्ष्म टुकड़े मिले हैं तथा लोहे का नियमित प्रयोग धू. चि. मृ. के निम्नतम स्तरों से ही होने लगता है । यहाँ इस सम्भावना की ओर ध्यानाकर्षण करना उचित है कि सम्भवतः ताँबें बनाने के साथ किसी संयोगवश लोहा बन गया जिसे उस समय अनुपयोगी समझ कर फेंक दिया गया किंतु कालांतर में उसका विकास कर उसका प्रयोग किया जाने लगा ।

कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड संस्कृति

पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा बंगाल से सामान्यतः प्राप्त यह मृद्भाण्ड इस क्षेत्र की ताम्राश्मीय संस्कृति से जुड़ा हुआ है । यद्यपि यह पात्र सिंधुघाटी से लेकर लगभग ऐतिहासिक युग तक मिलता रहता है किंतु अलग-अलग संदर्भों में इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है । पूर्व में ताम्राश्मीय संस्कृति के साथ प्रारम्भ हो कर यह आगे उत्तरी कृष्ण मार्जित संस्कृति तक एक अलग रूप में मिलता है । कौशाम्बी में लोहे के साक्ष्य सर्वप्रथम इसी चरण से मिले हैं, तथा इसकी तिथि 1025-955 ई. पू. मानी गई है[4] । यह चरण यहाँ धू. चि. मृ. काल के नीचे मिली है, किंतु स्मरणीय है कि कौशाम्बी में इस संस्कृति की उपस्थिति शंका से परे नहीं मानी गई है ।[5] उनको अपेक्षाकृत बाद का तो माना ही जाना चाहिये तदनुसार उसके नीचे स्थित कृष्ण लोहित संस्कृति का काल 800-700 ई. पू. में रखना समीचीन जान पड़ता है ।

एरण (मध्य प्रदेश, जि. सागर) में ताम्राश्मीय संस्कृति के बाद के चरण से लौह उपकरण प्राप्त होने लगते हैं । चक्रवती[6] के अनुसार यहाँ ताम्राश्मीय संस्कृति के परिवेश में ही लोहे का प्रादुर्भाव होता है । अतः इसकी तिथि उसी के तुरत बाद की मानी जानी चाहिये । एरण से 1300 तथा 1100 की दो कार्बन तिथियाँ ताम्राश्मीय संस्कृति से मिली हैं । इस विषय मे अन्यत्र विशद चर्चा की जा चुकी है[7] । यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि मध्यप्रदेश के अनेक पुरास्थलों से ताम्राश्मीय तथा लौहयुगीन संस्कृतियों के बीच अंतराल है । लौहयुग के ऊपरी स्तरों से सिक्के भी प्राप्त होने लगते हैं अतः इनके आधार पर इन चरणों की तिथि 600-700 से 300 ई. पू. के बीच रखना अधिक उचित जान पड़ता है ।

किंतु बंगाल के पाण्डु राजार ढिबी (जिला बर्दवान) हाथीगढा मंगलकोट तथा बिहार में बारुडीह आदि स्थानों से कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड के साथ, (उत्तरी कृष्ण मार्जित संस्कृति के नीचे स्थित) लौह के साक्ष्य मिलते हैं। इनका स्वरूप मूलतः ताम्राश्मीय ही है केवल लोहे का मिलना ही इसकी विशेषता है। उत्तरी कृष्ण मार्जित संस्कृति का प्रारम्भ इस क्षेत्र में 600 ई. पू. के लगभग माना जाता है यही लौह युक्त ताम्राश्मीय स्तरों का अंत माना जाना चाहिये। इसका प्रारम्भ 200 वर्षों पूर्व का माना जाय तो इन स्थानों पर लौह का प्रारम्भ 900 ई. पू. निश्चित रूप से माना जा सकता है। पाण्डु राजार ढिबी से 1012 ई. पू. ताम्राश्मीय संस्कृति की तिथि है। इस आधार पर लौह की तिथि इसके 100 वर्ष बाद रक्खें तो लगभग 900 ई. पू. में यहाँ लौह का आरम्भ माना जा सकता है।

आहाड़

राजस्थान के उदयपुर जिले में स्थित आहाड़ नामक स्थान प्राचीन काल में ताम्बवती नाम से सुविख्यात था। धातु के अध्ययन की दृष्टि से इस ताम्राश्मीय संस्कृति के केन्द्र का विशेष महत्व है। ताम्राश्मीय काल में यहाँ केवल ताम्र के उपकरणों का ही प्रयोग किया गया था। पत्थर की बनी वस्तुएँ यहाँ नहीं मिलीं। सांकलिया[8] एवं उनके सहयोगियों द्वारा यहाँ से लौह का प्रयोग सर्वप्रथम लगभग छठीं श. ई. पू. में बताया गया किंतु 1979 में साही[9] ने रिपोर्ट में वर्णित साक्ष्यों में विरोधाभास की ओर इंगित करते हुए ताम्राश्मीय संस्कृति के I बी, स्तर से ही दो लौह उपकरणों की उपस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित किया। तभी से I सी तत्पश्चात् नियमित रूप से ही लौह का प्रयोग आहाड़ में मिलता है। 1550 तथा 1270 की कार्बन तिथियाँ क्रमशः उपरोक्त बी तथा सी स्तरों से मिली हैं जिनके आधार पर साही महोदय आहाड़ में लौह के प्रयोग को 16वीं शताब्दी ई. पू. से मानते हैं।

यहाँ इस तथ्य की ओर इंगित न करना अनुचित होगा कि यद्यपि उत्खननकर्ताओं ने अपनी ओर से कोई सफाई नहीं दी है परंतु इतना अवश्य कहा जाना चाहिये कि रिपोर्ट में इस उत्खनन स्थल को ढाल पर स्थित तथा 'डिस्टर्ब्ड' स्तर कहा है, उसे गढ्ढ़ा भी माना गया है अतः ऊपर की सतह से सामग्री के निचली सतहों में मिलने की सम्भावना से नकारा नहीं जा सकता। इस आधार पर अनेक विद्वान् साही द्वारा प्रतिपादित लौह की विधि को मान्यता नहीं प्रदान करते। प्रस्तुत लेखिका[10] ने इस विषय पर अन्यत्र विस्तार से चर्चा करते हुए इस आवश्यकता पर बल दिया है कि चूंकि आहाड़ के उपकरणों का विश्लेषण एवं परीक्षण वैज्ञानिक रीति से नहीं किया गया है। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि आहाड़ में 'चाल्को पाइराइट' नामक अयस्क का प्रयोग ताँबा बनाने के लिये किया जाता था जो ताँबा-लोहा मिश्रित अयस्क होता है। विशेष परिस्थितियों में लौह युक्त ताम्र धातु बन गई हो जिससे प्रारम्भिक चरणों के उपकरणों का निर्माण किया गया है। इस शंका का निराकरण अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उत्खनन स्थल से 1600 ई. पू. में लौह के साक्ष्य न उपलब्ध होने के कारण यहाँ विशेष सतर्कता की आवश्यकता है।

दक्षिण भारत

देश के दक्षिणी भागों विशेषकर तमिलनाडु के शवाधानों से लौह के प्रारम्भ के अति प्राचीन साक्ष्य मिले हैं। हल्लूट, टडकन हल्लि तथा कुमरन हल्लि जैसे कुछ शवाधान तथा उससे सम्बद्ध संस्कृति से नवपाषाण काल-शवाधानों के मिले-जुले स्तरों से 1100 ई. पू. में लौह का प्रयोग प्रकाश में आया है।[11] यद्यपि यहाँ से थर्मो ल्यूमिनिसेंस् तिथियाँ मिलती हैं जिनकी विश्वसनीयता असंदिग्ध नहीं है किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दक्षिण भारतीय शवाधान प्रथम सहस्राब्दी के प्रारम्भिक काल के थे तथा उनके साथ प्राप्त लौह का काल भी यही था।

उपरोक्त विवरण भारत में लौह के प्रारम्भिक प्रसंगों के संदर्भ में इस तथ्य की ओर स्पष्टतः इंगित करते हैं कि यहाँ प्रथम सहस्राब्दी के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के साथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इस धातु का प्रारम्भ हुआ। दो तथ्य विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं–प्रथम तो यह कि मोटे तौर पर लौह का प्रयोग लगभग 1000 ई. पू. में प्रारम्भ हुआ-चाहे यह धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति में हो अथवा दक्षिण भारतीय शवाश्मों में अथवा बिहार बंगाल के कृष्ण लोहित संस्कृति में हो। दूसरा यह कि ऊपर वर्णित सांस्कृतिक संदर्भ भौगोलिक पर्यावरण के कारण कम से कम विवेच्य युग में एक दूसरे से पूरी तरह अपरिचित प्रतीत होते हैं। इस आधार पर यह सम्भावना बलवती प्रतीत होती है कि इन क्षेत्रों में लौह का प्रयोग अलग-अलग प्रारम्भ हुआ। बजाय एक प्रदेश से दूसरे में जांने को एक ही काल में इस विशाल भू-भाग में लौह का प्रयोग एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में फैला हो यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। सांस्कृतिक उपकरणों की भिन्नता इस धारणा की पुष्टि करती है। क्या लौह का प्रयोग यहाँ स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ अथवा विदेश से आने वाली किसी संस्कृति के साथ आया। विशेषतः आर्यों के भारत में आगमन के साथ लौह के प्रयोग को भी जोड़ा गया है। इस प्रश्न पर विचार करना यहाँ आवश्यक है।

आर्य तथा लौह

यह मान्यता कि भारत में आर्य योद्धा एवं विजेता के रूप में आए तथा अपने युद्ध-कौशल, वेगवान अश्वों एवं अस्त्र-शस्त्रों के कारण यहाँ के मूलवासियों को पराजित कर यहाँ बस गए यह सदियों से प्रचलित मान्यता है। यद्यपि आज भी इस धारणा के पक्ष एवं विपक्ष दोनों ही सशक्त ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। इस समस्या का सर्वमान्य हल ढूँढना सम्भव नहीं लगता। इसी संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि हत्ती साम्राज्य के पतन के साथ लगभग 1200 ई. पू. में लौह की तकनीक का ज्ञान आसपास के प्रदेशों में फैला तथा उसके बाद विश्व के अन्य भागों में इन्हीं लोगों ने इसका प्रचार-प्रसार किया। एशिया माइनर, तुर्किस्तान, सोवियत मध्य एशिया, इरान आदि देशों से होते हुए यही मानव समूह जिन्हें आर्य कह सकते हैं भारत आया। चूंकि वहाँ लौह का प्रचलन था अतः वे अपने साथ यह ज्ञान भारत भी ले आए यह प्रचलित धारणाओं में से है। इस धारणा को गहराई से परखने के लिये इस लेखिका ने सोवियत मध्य एशिया तथा इरान, अफगानिस्तान जैसे प्रदेशों के पुरातात्विक सामग्रियों तथा प्रारम्भिक स्तरों के लौह उपकरणों का अध्ययन किया। यद्यपि

यहाँ इसका विशद विवेचन सम्भव नहीं है किंतु इतना स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि मृत्पात्र, गृह निर्माण कला, कृषि एवं सिंचाई के साधनों के प्रयोग का ढंग सभी उपरोक्त प्रदेशों में भारत के 1000-1200 ई. पू. की संस्कृतियों से भिन्न है। लौह अथवा अन्य धातुओं से निर्मित वस्तुएँ भी बहुत अलग तरह की निर्मित हैं। दूसरी बात यह कि इन प्रदेशों में भी लौह का नियमित प्रयोग 1000-900 ई.पू. से ही प्रारम्भ होता है। यद्यपि कहीं-कहीं इक्के-दुक्के लौह उपकरण इससे प्राचीन स्तरों से मृतकों के साथ दफनाए हुए मिल जाते हैं[12 - 14] किंतु वे स्वयं कहीं से आये व्यक्तियों के प्रतीत होते हैं। किन्तु इन प्रदेशों में स्वयं इस स्तर का तकनीकी विकास नहीं दिखाई देता कि वे अन्य प्रदेशों में इसका विकास कर सकें। इरान से लगे बलूचिस्तान के शवाधानों में कहीं-कहीं लौह निर्मित वस्तुएँ मिली हैं किन्तु इनकी तिथि 900-800 ई. पू. से लेकर 200-300 शताब्दी या कभी-कभी उसके भी बाद की मानी जा सकती है। कश्मीर घाटी से भी शवाधानों से लौह प्राप्त हुआ है किंतु इनकी तिथि भी अनिश्चित ही है। यही वह प्रदेश है जो बाहर से आए आर्यों को पहले सुगम्य था। राजस्थान-पंजाब हरियाणा का सरस्वती दृषद्वती नदी घाटी के पुरास्थलों के उत्खननों से तो कृष्णलोहित संस्कृति तथा धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति के निम्नतम चरणों से भी लोहा नहीं मिलता। इस आधार पर आर्यों के साथ लौह धातु का भारत में आना साक्ष्यों द्वारा अनुमोदित नहीं होता। ऋग्वेद जो आर्यों द्वारा उद्बोधित है उसमें लौह का वर्णन है अथवा नहीं यह एक अति महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका थोड़े विस्तार से विवेचन यहाँ वांछनीय है।

ऋग्वेद में लौह

ऋग्वेद तथा अवेस्ता के साम्य तथा 1365 ई. पू. के बोगाज़ कुई अभिलेख में उल्लिखित देवताओं के नामों (वरुण, मित्र, नासात्य, अर्यमाण, इन्द्र) तथा किक्कुली लेख की गिनती 'ऐक' त्र.... 'पञ्च', 'सप्त' के संस्कृत की समानता के कारण तुर्किस्तान तथा वैदिक आर्यों के एक दूसरे की भाषा तथा संस्कृति, धर्म की एकरूपता अति महत्वपूर्ण मानी जाती है। मित्तान्नी तथा हत्ती भी आर्य थे तथा उन्हीं देवताओं के उपासक थे जिनके ऋग्वैदिक आर्य। अतः इस सम्भावना से पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता कि वे लौह या उसकी तकनीक भी एक ही स्रोत से लाए। इस दृष्टि से ऋग्वेद में लौह की उपस्थिति या उसके ज्ञान का प्रश्न अति महत्वपूर्ण है।

ऋग्वेद में 'अयस्' शब्द का प्रयोग लगभग 10 बार हुआ है। इस शब्द का अर्थ कालांतर में लौह के लिये हुआ किन्तु क्या ऋग्वैदिक अयस् का अर्थ भी लौह ही था ? इस विषय पर अनेक विद्वानों ने चर्चा कर अपने मत व्यक्त किये हैं,[15-18]। एम. एन. बनर्जी ने ऋग्वेद में लौह का अध्ययन सूक्ष्मता से करते हुए-यह निष्कर्ष निकाला है कि इसके प्रणेता लौह धातु से परिचित थे। अयस् (1) गाढ़े (गहरे) रंग (2) धातु के अति तीक्ष्णता एवं प्रखरता तथा (3) तकनीकी विशेषता के कारण लौह माना गया है। कतिपय उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं–

1 ऋग्वेद I.ClXIII 9. इन्द्र के अश्व का वर्णन करते हुए उसे अयस् के समान वर्ण वाला कहा गया है। जो सुनहरे के विरोधी रंग के कारण विशेष रूप से उल्लिखित है।

2. ऋग्वेद X 99,8 में 'अयोपाष्टि' शब्द ऐसे व्यक्ति के संदर्भ में प्रयुक्त हआ है जिसका हाथ इतना पुष्ट, बलवान तथा तीक्ष्ण है जितना अयस्।

3,4. ऋग्वेद X 79, 6 अत्यन्त धारदार असि या कुल्हाड़ी तथा I, 162,20, अत्यधिक तीक्ष्ण धार वाली तलवार को अयस् का कहा गया है।

5,6. ऋग्वेद, IX, 112,2 तथा X 72,2 में कर्मार शब्द आया है जिसे बनर्जी[15] उसके द्वारा प्रयुक्त भाथी को लौहकार का ही उपकरण मानते हुए पुनः अयस् को लौह के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।

7. ऋग्वेद VI 3,4 में 'द्रवी' या विगलित होते हुए अयस् का विवरण है जिसे बनर्जी(15) लौह को पिघला कर धातु बनाने के अर्थ में लेते हैं।

8. ऋग्वेद 81,3 में 'दम्धमन्ति' या 'सम् दमन्ति' जिसे सायण प्रेरयति के अर्थ में लेते हैं। ग्रिफिथ के अनुवाद के अनुसार लोहे को जोड़ने (वेल्ड) के अर्थ में प्रयुक्त है। बनर्जी(15) के अनुसार 'जैसे अयस् (लोहे) के दो टुकड़े अच्छी तरह तपाए जाने पर जुड़ जाते हैं'।

उपरोक्त सभी संदर्भ लोहे तथा ताँबे दोनों धातुओं के लिये लागू हो सकते हैं वरन् तकनीकी दृष्टि से ताम्र के लिये अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। पहला प्रसंग मात्र आलंकारिक है अतः वह कृष्ण वर्ण या ताम्बई वर्ण कोई भी हो सकता है। हाथ या पंजे या नख की तीक्ष्णता के अर्थ में भी लौह से ताम्र अधिक उपयुक्त रहा होगा। विशेषतः अपने आविष्कार एवं प्रयोग के प्रारम्भिक तथ्य इसी बात की पुष्टि करते हैं। ऐसा लोहा जिसमें कार्बन आत्मसात न हुआ हो और केवल शुद्ध लोहा हो उसकी शक्ति मात्र 40,000 पी. एस. आई. होती है जब कि बारबार गर्म कर के पीटे गए ताम्र की शक्ति 120,000 पी. एस. आई. तक हो जाती है। यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतवर्ष में कार्बन को लोहे में आत्मसात करने की तकनीक 600-500 ई. पू. में कही-कहीं दिखाई पड़नी शुरू भर हुई थी उसके पहले केवल शुद्ध लौह का प्रयोग ही होता था। अतः प्रस्तुत संदर्भ तीक्ष्णता या अधिक शक्ति के अर्थ में ताम्र के लिये अधिक समीचीन जान पड़ता है। तीसरा अर्थ तकनीक पर प्रकाश डालता है अर्थात् 'द्रवी' होने या पिघलने के अर्थ में आधुनिक धातु की शोधकर्ताओं ने इस बात को सिद्ध कर दिया है[19] कि प्राचीनतम भट्ठियों में इतना तापमान नहीं पैदा हो सकता था कि लोहा गलाया जा सके। केवल ताँबा या काँसा ही द्रवीभूत हो कर बिगलित किया जा सकता था लोहा नहीं। लोहा तो अर्ध-गलित अवस्था में भट्ठी से बाहर निकाला जाता था उसे पीट कर धातु तथा बचे हुए स्लैग को अलग करते थे। इन तकनीकी आधारों पर उपरोक्त विवरण लौह से अधिक ताम्र के पक्ष में दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद के उपरोक्त सभी साक्ष्य प्रथम या दशम मण्डल के हैं सिवाय एक के जो छठे मण्डल का है इस प्रकार वे संदर्भ अपेक्षाकृत बाद के भी हैं।

उपरोक्त ऋग्वैदिक साक्ष्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी 'अयस्' शब्द के धातु के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किये जाने पक्ष में जाते हैं। इसका सबसे सशक्त प्रमाण यह है कि कालांतर में

(अथर्ववेद में) 'कृष्णायस' तथा 'लोहितायस' इन दो अलग-अलग शब्दों की संरचना हुई। इस बात की प्रबल सम्भावना है कि लौह के आविष्कार के साथ उसके लिये नये शब्द अथवा संज्ञा की संरचना अपरिहार्य हो गई। 'अयस' जो मूलतः ताम्र धातु का परिचायक था काले रंग के लौह धातु के विशेष्य के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा। यहाँ मिलिन्द प्रश्न जैसे बहुत बाद के ग्रन्थ में भी 'लौह' तथा 'अयस' अलग-अलग धातुओं के लिये प्रयुक्त दिखाई देता है। एक ही बड़ी सूची में यहाँ विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख करते हुए 'अयकाराः' तथा लौहकाराः दो भिन्न व्यवसायों के लिये प्रयुक्त है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि लौह के प्रारम्भ के कई शताब्दियों बाद तक अयस शब्द ताम्र तथा लौह दोनों के लिये उनके रंग के विवरण के साथ प्रयोग में लाया गया तथा बाद तक भी अयस ताम्र को इंगित करने के लिए प्रयुक्त हुआ। इस आधार पर प्राचीन भारत में ऋग्वैदिक आर्यों के लौह के ज्ञान पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। यदि वे स्वयं इस धातु से परिचित नहीं थे तो उनके द्वारा इस धातु के पश्चिम से लाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः भारत में इस धातु के प्रारम्भ का प्रश्न जहाँ का तहाँ बना रह गया अथवा इतना ही आगे बढ़ा कि आर्यों के साथ इसके विदेशों से आगमन की पुष्टि नहीं होती दिखाई देती। विकल्प के रूप में इस सम्भावना पर विचार करना उचित होगा कि क्या भारतवर्ष में लौह का आविष्कार स्वतंत्र रूप से हुआ ?[20]

भारत में लौह तकनीक का स्वतंत्र विकास

लौह अयस्क का प्रयोग रंग बनाने के लिये पाषाण काल से ही किया जाता था। भारत के विभिन्न भागों में शैलचित्रों के अंकन के लिये प्रयुक्त रंग इन्हीं अयस्कों को पीस कर बनाए गए थे। कालांतर में धातु के प्रयोग प्रारम्भ के साथ लौह तथा ताम्र के मिश्रित अयस्कों का प्रयोग होने लगा। सिंधुघाटी सभ्यता के अनेक केन्द्रों पर 'चाल्को पाइराइट' के नाम से ज्ञात ताम्र अयस्क प्रयोग किया जाता था जिसमें बड़ी मात्रा में लौह भी स्वाभाविक प्राकृतिक रूप से विद्यमान होता है। इस काल के धातुकर्मियों ने अपनी तकनीकी कुशलता के कारण सफलतापूर्वक ताम्र का दोहन करते हुए उसमें से लोहे को अलग कर लिया था। इतनी दक्षता के बावजूद भी इस काल के ताम्र उपकरणों में लोहे का कुछ अंश विद्यमान पाया गया है।[21] रंगपुर[22] (गुजरात) के उपकरणों में 1.88% से 1.08% तक लौह परीक्षण में उपस्थित देखा गया। ताम्राश्मीय संस्कृति के धातुकार कम कुशल थे अतः उनके द्वारा निर्मित ताँबे में और अधिक लोहा देखा गया। इस संदर्भ में अहाड़[23] विशेष उल्लेखनीय है। उदयपुर जिले में स्थित धातु निर्माण के प्रमुख ताम्राश्मीय संस्कृति-केन्द्रों में था। यहां के ताम्र-उपकरणों में 6.48% तथा 'स्लैग' में 48% तक लोहा पाया गया है। इस प्रकार के उदाहरण इस सम्भावना के संकेत हैं कि धातु कर्म में कम कुशल धातुकार पूरा नियंत्रण न रहने के कारण गलती से अधिक लौह वाली ताम्र उपकरण गलती या असावधानी से बना सकते थे। टाइलकोट जैसे आधुनिक धातुकी विद्वान् यह मानते हैं कि लौह का आविष्कार वस्तुतः ऐसे ही धातु-कर्मियों द्वारा किया गया हो जो धातुकर्म में कम प्रवीण थे। भारत में राजस्थान, मध्य-प्रदेश, बिहार-बंगाल तथा दक्षिण भारत में ताम्राश्मीय संस्कृति के छोटे-छोटे ग्राम जिनमें अति सीमित मात्रा

में ताम्र उपकरण मिलते हैं तथा जो बहुधा स्थानीय रूप से ही बनाए जाते थे इसके लिये उपयुक्त परिवेश प्रतीत होते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि लौह का सर्वप्रथम प्रयोग इसी परिवेश में होता है। ऊपर वर्णित अहाड़ एक ऐसा ही उदाहरण है।

नोह (भरतपुर) तथा जोधपुरा (जयपुर) से लोहे के नियमित प्रयोग प्रारम्भ होने से पहले इस प्रकार के प्रयोग किये गए थे इसके स्पष्ट साक्ष्य विद्यमान हैं। इन दोनों ही पुरास्थलों से लौह का प्रयोग धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति के निम्नतम चरणों से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसके नीचे कृष्ण-लोहित संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इस चरण में ताँबे का प्रयोग किया जाता था किन्तु इसी के साथ लोहे के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े जो सम्भवतः धातुकर्मियों द्वारा फेंक दिये गये थे, मिले हैं। यह अपनी तरह का अति महत्वपूर्ण साक्ष्य है जिस ओर पुरातत्त्वविदों ने अब तक ध्यान नहीं दिया है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि ताम्र निर्माण की प्रक्रिया में विशेष परिस्थिति बन जाने के कारण लौह धातु के कण निर्मित हो गये जिन्हें फेंक दिया गया। किन्तु इसके साथ ही इसकी अलग पहचान की जा सकी। भविष्य में प्रयोग करके, अलग से उन्हीं परिस्थितियों को उत्पन्न करके लौह का निर्माण तकनीक का विकास कर लिया गया जो अगले काल में होने वाले लौह उपकरणों से सिद्ध होता है। तकनीकी विकास तथा सही अयस्कों की पहचान के साथ लौह का प्रयोग बढ़ता गया।

बंगाल तथा बिहार प्रदेशों में भी ऐसे ही ताम्राश्मीय सांस्कृतिक परिवेश में ही लौह निर्माण का प्रारम्भ होता है। पाण्डुराजार ढिबी, हाथीगढ़ा, बाहिरी, मंगल (बंगाल) तथा बारूडीह (बिहार) आदि स्थानों से ताम्राश्मीय संस्कृति के परिवेश में ही 1100/1000-800 ई. पू. में लौह का प्राचीनतम साक्ष्य उपलब्ध होने लगता है। दक्षिण में लौह के आगमन से पूर्व बहुधा नव पाषाण कालीन संस्कृतियाँ ही मिलती हैं वहाँ धातु का प्रारम्भ लौह से ही होता है। सम्भवतः अतिसमृद्ध लौह अयस्कों की उपलब्धि के कारण उनकी पहचान तथा प्रयोग किया गया होगा तथा धातु की खोज में उन्हें उस रूप में पहचानना आसान रहा होगा। हल्लूर, टडकन हल्लि आदि पुरास्थलों का उल्लेख पहले भी किया गया है यहाँ से नवपाषाण काल-शवाष्म संस्कृति के मिले-जुले चरणों से सर्वप्रथम 11वीं शताब्दी ई. पू. से लौह सर्वप्रथम उपलब्ध हुआ है।

इन साक्ष्यों से जो तथ्य स्पष्ट होते हैं वे यह हैं कि–1. भारत में भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवेश में लौह निर्माण प्रारम्भ हुआ। 2. उपरोक्त संस्कृतियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि उनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध की परिकल्पना उचित नहीं प्रतीत होती जैसे धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति तथा दक्षिण के शवाधान एकदम अलग परिवेश, सांस्कृतिक उपकरण एवं स्वरूप के हैं। यह अलग बात है कि इनमें लौह का प्रयोग जरूर लगभग एक ही काल में प्रारम्भ होता दिखाई देता है। इस आधार पर इतना साधिकार कहा जा सकता है कि इन संस्कृतियों में लौह निर्माण का स्वतंत्र विकास हुआ। 3. धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति के प्राचीनतम चरणों में लौह का न होना (भगवानपुरा, रोपड़ आदि) यह सिद्ध करता है कि यदि यह संस्कृति आर्यों की थी तो

इन्होंने लौह का विकास भारत भूमि पर ही किया वे इसे बाहर से नहीं लाए। 4. ऋग्वेद में लौह के ज्ञान के प्रति उठाई गई शंका भी इसी तथ्य की ओर इंगित करती है।

५. आधुनिक धातुकी विद्वानों के शोध भी इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि लौह निर्माण की तकनीक का विकास ताम्र निर्माण की ही देन है।24-25 पूर्व की प्रचलित यह धारणा अब भ्रामक मानी जाती है कि लौह निर्माण एक ही केन्द्र से विश्व के विभिन्न भागों में फैला। अतः इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि भारतवर्ष में लौह निर्माण तकनीक का विकास स्वतंत्र रूप से इसी भूमि पर हुआ।

लौहयुग—सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन

लौह धातु के प्रारम्भ एवं उसके आविष्कार की समस्या पर विचार करने के पश्चात् इसके तकनीकी विकास एवं उसके बदले प्रयोग के साथ होने वाले सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन पर प्रकाश डालना समीचींन होगा। लौह का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ा, साथ ही तकनीकी दक्षता भी पुष्टकर होती गई, इसके साथ ही समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन दिखलाई देने लगा। इन दोनों तथ्यों को अन्योन्याश्रित माना जाना चाहिये अथवा नहीं इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। जहाँ कुछ विद्वान् आर्थिक समृद्धि तथा तज्जनित परिवर्तन के लिये लौह धातु का योगदान अति महत्वपूर्ण मानते हैं वहीं अन्य विद्वानों के अनुसार इस प्रक्रिया में लौह की कुछ विशेष देन नहीं है। दोनों ही पक्षों द्वारा सशक्त तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। यह तो उचित ही है कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन तथा परिणामस्वरूप आई द्वितीय नागरिक संस्कृति श्रेय किसी एक कारक के द्वारा प्रदत्त नहीं हो सकती। स्वाभाविक रूप से इसमें अनेक कारकों की सूची में तकनीकी विकास का स्थान बहुत ऊपर आना चाहिये। सामाजिक जीवन में आने वाले परिवर्तन जिन्होंने अन्ततः तकनीकी विकास की प्रगति एवं उसकी गति में भी निर्णायक भूमिका अपनाई होगी, क्रमिक एवं अत्यंत धीमी रही होगी। अतः उसे अचानक दिखा पाना पुरातात्त्विक साक्ष्यों के सामर्थ्य से बाहर है। किन्तु इस सीमा के कारण उसे नकारा नहीं जा सकता। यदि इस युग का नामकरण ही देखें तो लौह के नाम पर इस युग का परिभाषित किया जाना इसका महत्व स्वयं सिद्ध करता है। आगे के विवरण में पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा प्रदत्त सामग्री का संक्षिप्त विवेचन करते हुए उसमें लौह के महत्त्व की विवेचना की चेष्टा की जा रही है।

लौह युग का प्रारम्भ मात्र लौह के एकाध उपकरणों के साथ नहीं मान लिया जाना चाहिये। परिमाण में वृद्धि के साथ प्रभाव में भी वृद्धि होगी और यह दोनों ही बातें तकनीकी कुशलता एवं लौह अयस्क की प्राप्ति पर निर्भर करेगी। इसी के अनुसार लौह **युग** के चरण निर्धारित किये जाते हैं। यह विभाजन सभी चरणों लौह युग—प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय में किया जा रहा है। यहाँ लौह उपकरणों के प्रकार, संख्या अथवा परिमाण तथा दूसरी ओर सांस्कृतिक उपकरणों की समीक्षा करते हुए उनके आधार पर निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जायेगा।

लौह युग-प्रथम –(11/1000-700-600 ई. पू.)

लौह के धातुरूप में पहचाने जाने के साथ ही प्रथम युग का प्रारम्भ होता है। वस्तुतः सही अर्थों में इस काल की प्रारम्भिक शताब्दियों में एक नये युग का प्रारम्भ तो नहीं माना जाना चाहिये किन्तु एक नई तकनीकी विकास की प्रक्रिया का जन्म अवश्य माना जा सकता है। इसी कारण इसे लौह युग का प्रथम चरण माना गया है।

जोधपुरा तथा कौशाम्बी से कृष्ण-लोहित संस्कृति से प्राप्त लोहे के छोटे-छोटे टुकड़ों से इस काल का प्रारम्भ माना जा सकता है किन्तु इसकी नियमित प्रारम्भ धूसर चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति तथा और पूर्वी भागों में कृष्ण लोहित संस्कृति के साथ होता है। इस काल में भाले तथा तीर ही मुख्य रूप से प्राप्त होते हैं। यदा-कदा कुल्हाड़ियाँ, हँसिया तथा छोटी-छोटी कीलें, कुंडियाँ आदि बनाने के लिये लौह का प्रयोग किया गया है।

इस युग के पुरास्थलों के उत्खनन के परिणामस्वरूप जो चित्र उभरते हैं वे विकासोन्मुख ग्राम के लगते हैं। सीमित क्षेत्र में बसे ग्राम जिनमें कच्ची मिट्टी या सरकंडों के बने आवास थे तथा आखेट एवं कृषि-पशुपालन जीविकोपार्जन के प्रमुख साधन थे। जौ, गेहूँ तथा चावल मुख्य उपज थी। लगभग सभी उत्खननों से बड़ी मात्रा में वध किये हुए पशुओं की अस्थियाँ इनके मांसाहारी होने की पुष्टि करती हैं। गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी तथा सूअर पाले जाते थे। अतिरंजीरबेड़ा[26] से प्राप्त कुत्ते की अस्थियाँ उसके भी पाले जाने की ओर संकेत कराती हैं।

कला एवं शिल्प के उदाहरण के रूप में केवल पशु मृणमूर्तियाँ ही उपलब्ध होती हैं। पत्थरों एवं पकी मिट्टी के मनके आभूषण के रूप में प्रचलित थे। शीशे का प्रयोग एवं उसका निर्माण इसी काल में प्रारम्भ हुआ इस काल से रंगीन शीशे की चूड़ियाँ सर्वप्रथम मिलती हैं।

ताम्र के उपकरण जैसे तीर तथा भालाग्र, सुरमा लगाने की शलाकाएँ आदि मिलते हैं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे पात्र भी प्रयोग में देखे गए हैं।

इस काल में ही आगे चल कर जखेड़ा (एटा जिला) से सोने के बने अति आकर्षक आभूषण, तथा बड़ी संख्या में भाँति-भाँति के मनके मिलते हैं। यहाँ कच्ची ईंटे भी गृह-निर्माण में प्रयुक्त हुई तथा सड़क बनाई गई (मिट्टी, ठिकरे तथा अन्य टूटू-फूटी वस्तुओं को कूट कर)। कृषि के लिये सिंचाई तथा सुरक्षा के लिये बाँधों का निर्माण भी आरम्भ हो गया था (अतिरंजीखेड़ा, कौशाम्बी)।

लौह युग-द्वितीय–(700/600-200 ई. पू.)

लोहे का प्रयोग पिछले युग की तुलना में इस काल में संख्या एवं विविधता दोनों में ही परिवर्धित होता हुआ दिखाई देता है। अस्त्र-शस्त्र की संख्या एवं प्रकार इस युग में लगभग दुगने हो गए। पहले से चले आ रहे तीर-भाले अब अति उत्कृष्ट कोटि के प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त बरछी, फरसे, छुरे, खंजर तथा हाथी के अंकुश का भी प्रचलन हो गया। कृषि-कार्य में लौह का प्रयोग इसी युग में सही अर्थों में प्रारम्भ हुआ–हँसिया, कुदाली, कुल्हाड़ी, हल के फाल आदि बनने

लगे । गृह निर्माण कार्य में सांकल, पाइप, 'क्लेम्प' कीलें तथा काँटे या आँकड़े प्राप्त होते हैं । छुरे जिनका प्रयोग उस्तरे के रूप में होता होगा इस युग से प्रयोग में आने लगते हैं ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि इस काल में तकनीकी दृष्टि से लौह निर्माण कला में विकास हुआ । लौह में कार्बन को आत्मसात कर उसकी तीक्ष्णता एवं मजबूती दोनों बढ़ाई जाने लगी । 'स्टीलिंग' की प्रक्रिया का प्रारम्भ इसी काल में हुआ । परीक्षण से इस युग के उपकरणों में 1.4% कार्बन तक प्राप्त होता है[27] जिसे हलके स्टील की श्रेणी में रखा जा सकता है । यह पूर्ववर्ती नर्म लोहे की तुलना में अधिक कठोर एवं तीक्ष्ण अंलकरण बनाने की क्षमता में वृद्धि का सूचक है ।

इस युग की सर्वप्रमुख संस्कृति उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड से सम्बद्ध है । इस काल में ग्रामों का आकार पिछले युग की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ा-गाँव जो टीले के एक ही भाग तक सीमित थे फैल कर बड़े भाग में बस गए । नदी के किनारे-किनारे बसने के स्थान पर दूर तक उनका विस्तार हुआ । राजघाट, कौशाम्बी, अतिरंजी खेड़ा आदि सभी स्थानों पर इस काल के प्रारम्भ में कच्ची मिट्टी का किन्तु उत्तरार्ध में पकी मिट्टी का प्रयोग गृह-निर्माण में होने लगा । मकानों से पानी की निकासी की समुचित व्यवस्था की जाने लगी । कौशाम्बी तथा अतिरंजी खेड़ा के पिछले काल के बने तटबंधों को इस काल में और पुष्ट किये जाने के प्रमाण हैं ।

कृषि के क्षेत्र में भी इस युग में समुचित विकास हुआ । न केवल चने एवं उसके कुछ अन्य प्रकारों की खेती प्रारम्भ हुई वरन् अच्छी उपज के कारण उनके भण्डारण के लिये व्यवस्था की जाने लगी । कृषि के समुन्नत उपकरणों के प्रयोग एवं सर्वतोमुखी विकास का प्रभाव समृद्धि पर परिलक्षित होता है ।

कला के क्षेत्र में भी परिष्कार दिखाई देता है । इस युग में मानव मूर्ति बननी प्रारम्भ हुई साथ ही पशु-मूर्तियाँ उत्कृष्टतर एवं वैविध्य सम्पन्न है । आभूषण के लिये विविध प्रकार के चमकीले, आकर्षक पत्थरों के मनके बनने लगे । हाथी दाँत की बनी सुन्दर कारीगरी की वस्तुएं उपलब्ध होने लगीं । ताँबे का प्रयोग अब केवल प्रसाधन एवं अलंकरण की वस्तुएँ बनाने के लिये ही किया जाता था । इसी काल के उत्तरार्ध में भारत में सर्वप्रथम सिक्कों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ ।

लौहयुग-तृतीय–(ई. पू. 200-400 ईस्वी)

यह काल शुंग-कुषाण एवं गुप्त साम्राज्य के उत्थान का है । यह लौहयुग के चरम उत्कर्ष का काल भी माना जा सकता है । इस काल तक तकनीकी दृष्टि से लौह निर्माण कला अति विकसित हो चुकी थी । देश-विदेश में (सिकंदर के इतिहासकारों द्वारा सराही गई तलवारों से लेकर दिल्ली लौहस्तम्भ तक) इस काल में भारत निर्मित लौह उपकरणों की ख्याति थी । इस युग के सर्वतोमुखी विकास के विवरण की विस्तृत चर्चा अनिवार्य नहीं । भारत की आर्थिक-सांस्कृतिक समृद्धि ने विदेशी विजेताओं को अपनी ओर आकृष्ट करना आरम्भ कर दिया था । गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है । राजनीतिक सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से यह युग चरमोत्कर्ष का युग था ।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से लौहयुग में तकनीकी विकास एवं आर्थिक विकास में एक प्रकार का स्पष्ट सम्बन्ध देखा जा सकता है। एक ओर लौह उपकरणों का वैविध्य एवं उनकी संख्या एवं गुणवत्ता में वृद्धि होती परिलक्षित होती है दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से समृद्धि कुछ मानकों द्वारा मापी जा सकती है। उदाहरण के लिये विकास के सूचक अपेक्षाकृत बड़े, सुसम्पन्न एवं विकसित ग्राम, कला के उत्कृष्ट नमूने, बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग यह सभी इस ओर इंगित करते हैं। यहाँ बहुधा यह शंका उठाई जाती है कि यदि लोहे का योगदान आर्थिक समृद्धि में था तो क्यों उसके आविष्कार के कई शताब्दियों बाद तक भी नगरों या समृद्ध केन्द्रों का विकास नहीं होता। इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। लोहे का प्रयोग प्रारम्भ में बहुत कम मात्रा में तथा अति सीमित कार्यों के लिये किया गया। दूसरे तकनीकी दृष्टि से शुद्ध लौह जो प्रारम्भ में प्रयुक्त हुआ वह अच्छे बने ताँबे से अधिक मजबूत नहीं रहा होगा। आर्थिक समृद्धि के लिये उसका प्रयोग कालान्तर में ही प्रारम्भ हुआ अतः स्वभाविक है कि इस नयी तकनीक का लाभ युद्धों में विजय पाने के लिये तो उठाया गया (प्रारम्भिक चरण में केवल आयुध-अस्त्र-शस्त्र ही बनाए गए)। कालांतर में अधिक से अधिक नए क्षेत्रों में लौह का प्रयोग होने लगा। लम्बे-चौड़े अयस्क सम्पन्न क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने तथा उनकी आसान प्राप्ति एवं तकनीक के अधिक विकसित होने पर बड़ी मात्रा में अच्छे उपकरणों का निर्माण एवं प्रयोग ही चतुर्दिक समृद्धि ला सकी।

इस निष्कर्ष का यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये कि यहाँ लौह को ही एकमात्र कारण मानकर आर्थिक समृद्धि एवं सामाजिक चेतना का श्रेय दिया जा रहा है। किन्तु छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक परिवेश में निश्चित रूप से तकनीकी प्रगति होने में अन्य कारणों का (जैसे राजनीतिक प्रश्रय) योगदान नगण्यमान ही रहा होगा। वस्तुतः समृद्धि एवं विकास के बाद ही उसे संचालित करने के लिये राजनीतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ होगा। यह अवश्य है कि समाज के संगठन एवं राजनीतिक शक्तियों के अभ्युदय के साथ सुव्यवस्थित ढंग से प्रगति सम्भव हुई होगी। जनपदों से महाजनपद तथा उससे प्रथम साम्राज्य की स्थापना का इतिहास साथ ही नगरों एवं नागरिक सभ्यता का विकास तकनीकी विकास एवं तज्जनित आर्थिक सम्पन्नता के सोपान पर आरूढ़ होते हुए हुआ—यह कहना गलत नहीं होगा। विश्व के अन्य भागों में इस प्रकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं। यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् एक अंधकार युग का प्रारम्भ माना जाता है। किन्तु ससकिंड[28] ने उसके गहन अध्ययन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि राजनीतिक पतन के बाद भी तकनीकी विकास की प्रक्रिया सतत रूप से चलती रही साथ ही जनसाधारण की समृद्धि पर भी राजनीतिक पतन का बहुत कुप्रभाव नहीं पड़ा। भारतवर्ष में राजतंत्र की नींव ही आर्थिक समृद्धि के बाद पड़ी तथा आर्थिक विकास एवं तकनीकी विकास दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

●

1. लाल, बी. बी., एन्शियेन्ट इण्डिया नं. 10-11 जर्नल ऑफ आकेथोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1954-55।
2. साही, एम. डी. एन. 'उत्तर प्रदेश में पुरातात्त्विक गतिविधियाँ एवं भविष्य की सम्भावनाएँ' विषयक संगोष्ठी में पढ़े गए पर्चे से–1990 (अक्टूबर) लखनऊ।
3. अग्रवाल, आर. सी. 'द प्रॉब्लम ऑफ पी. जी. डब्ल्यू एण्ड आयरन इन नॉर्दन राजस्थान' **महाभारत मिथ एण्ड रियॅलिटी**, संपादक एस. पी. गुप्ता, के. एस. रामचन्द्रन, 1976, नई दिल्ली।
4. शर्मा, जी. आर., एक्सकेवेशन ऍट कौशाम्बी-इलाहाबाद 1960।
5. सिन्हा, के. के. 'स्ट्रैटिग्राफी ऍण्ड क्रॉनॉलोजी ऑफ अर्ली कौशाम्बी–ए रि अप्रेज़ल' **रेडियो कार्बन ऍण्ड इण्डियन आर्कियॉलोजी**, सं. डी. पी. अग्रवाल तथा ए. घोष, 1973।
6. चक्रवर्ती, डी. के. 'द बिगिनिंग ऑफ आयरन इन इण्डिया' **ऐन्टिक्विटी**, 40, 1976।
7. त्रिपाठी, विभा, 'एन्टिक्विटी ऑफ आयरन इन मध्य प्रदेश' **इण्डियन आर्कयॉलोजी–न्यू पर्सपेक्टिव्स**, सं. शर्मा, 1982।
8. सांकलिया, एच. डी. देव, एस. बी. अंसारी, एच. डी. एक्सकेवेशन्स ऍट अहाड़, 1969, पुणे।
9. साही, एम. डी. एन., 'आयरन ऍट अहाड़' **एसेज़ इन इण्डियन प्रोटो हिस्टरी** सं. डी. पी. अग्रवाल, पी. के. चक्रवर्ती 1979।
10. त्रिपाठी, विभा, फ्रॉम कॉपर टू आयरन-ए ट्रान्ज़िशन, **पुरातत्त्व** नं. 15, 1985।
11. नागराजा राव, प्रोटोहिस्टॉरिक कल्चर्स ऑफ द तुंगभद्रा वैली, एम., एस. 1971।
12. घिर्शमैन, आर. ईरान 1954।
13. यंग, टी. सी. 'द ईरानियन माइग्रेशन इन्टू द ज़ैग्रॉस' **ईरान** 5, 1967।
14. मैसॉन, वी. एम. 'तुर्कमेनिया बिफोर द एकायमेनिड्स' **सेन्ट्रल एशिया** सुरियानिदि, बी. आई. सं. ग्लिन डेनियल, 1972।
15. बैनर्जी, एम., एन 'ऑन मेटल्स एण्ड मेटलर्जी इन एन्शियेन्ट इण्डिया' इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली, वॉल्यूम III।
16. बैनर्जी, एम. आर. आयरन एज इन इण्डिया, 1965।
17. गोपाल, लल्लन जी, एंटिक्विटी ऑफ आयरन इन इण्डिया, **उत्तर** भारती IX, 1961।
18. रॉय, एस. एन. अर्ली लिटरेरी डाटा ऑन द यूज़ ऑफ आयरन इन इण्डिया **वर्ल्ड आर्कयालोजिकल कॉन्फ्रेंस** 1984 में पढ़े पर्चे से।
19. मैडिन, आर. 'द बिगिनिंग ऑफ द आयरन एज इन द ईस्टर्न मेडिटरेनियन' ट्रान्ज़ैक्शन्स ऑफ द इण्डियन इन्टीट्यूट आफ मेटल्स 1982।
20. रॉय, यू. एन. प्राचीन भारती में नगर तथा नगर जीवन, 1965।
21. त्रिपाठी, विभा फ्रॉम कॉपट टू आयरन-ए ट्रान्जिशन, पुरातत्व नं. 15, 1985।
22. डॉ. लाल., बी. बी., एक्सकेवेशन्स ऍट रंगपुर, **एन्शियन्ट इंडिया** नं. 18।
23. हैगडे, के. टी. एम. एक्स केवेशन्स ऍट अहाड़ में।
24. मैडिन-आट. अर्ली आयरन मेटलर्जीइन द नियर ईस्ट ट्रान्जैक्शन्स ऑफ जापान 1974।
25. पिगॉट, वी.–'द इनोवेशन ऑफ आयरन: कलचरल डायनॅमिक्स इन टेकनॉलॉजिकल चेन्ज' **एक्सपेडिशन** 1982।
26. गौड़, आर. सी. एक्स केवेशन्स ऍट्र अतिरंजीखेड़ा 1983।
27. भारद्वाज, एच. सी. आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शियॅन्ट इण्डियन टेक्नॉलॉजी, 1979।
28. ससकिंड, सी.-अन्डर स्टैंडिंग टेकनॉलॉजी, पर्सपेक्टिव सीरीज़ 1973।

ताम्र-प्रस्तर युग का धातु शिल्प

डॉ. पृथ्वीकुमार अग्रवाल

भारत में ताम्र या कांस्यशिल्प का प्राचीनतम विकास ताम्र-प्रस्तर युगीन सभ्यताओं के माध्यम से देखा जा सकता है । वस्तुतः उपकरण और आयुध बनाने के लिये ताम्र-प्रस्तर युगीन सभ्यताओं में धातु का व्यापक प्रयोग मिलता है । हड़प्पा सभ्यता के अतिरिक्त इस सांस्कृतिक युग के अवशेष मध्य भारत, दक्षिणापथ, राजस्थान, आदि से मिले हैं ।

सिन्धु-सभ्यता अपने ढंग की अलग और अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र पर फैली हुई तथा समय की दृष्टि से तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. के मध्य से लगभग दूसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भिक भाग तक फैली हुई है । इस सभ्यता के प्रधान केन्द्रों से अर्थात् हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से धातुशिल्प के कलात्मक नमूने मिलने लगते हैं । सोने-चाँदी के विभिन्न आभूषणों के अतिरिक्त ताम्बे या कांसे की बनी हुई कई सुन्दर पशु आकृतियाँ उपलब्ध हैं । सिन्धु-सभ्यता के बाद लगभग एक सहस्राब्दी का व्यवधान भारतीय धातुशिल्प के ऐतिहासिक युग को अलग करता है, यद्यपि इस बीच के काल की कलात्मक गतिविधि की कुछ कल्पना दाइमाबाद तथा गंगाघाटी के ताम्र निधानों से की जा सकती है ।

महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि हड़प्पा सभ्यता में कांसे का प्रयोग लोकप्रिय मिलता है, जब कि अन्य प्राचीन भारतीय संस्कृतियों के केन्द्रों में ताम्बे का प्रयोग अधिक दिखाई देता है । जैसे गंगाघाटी के ताम्रनिधान, आहत मुद्रायें, आदि । वैधानिक दृष्टि से विचार है कि काँसा बनाने की विधि सैन्धव लोगों ने पश्चिम से सीखी थी । किन्तु इस प्रकार के मत की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं है । सम्भवतः कांसे के लिये त्रपु अर्थात् राँगा सैन्धव लोगों को अफगानिस्तान, बिहार के हजारीबाग जिले अथवा राजस्थान, गुजरात से प्राप्त होता था । काँसे का प्रयोग उन्होंने मुक्त रूप से बर्तन के लिये किया है जो स्पष्ट करता है कि उन्हें राँगा सुविधा से उपलब्ध होता था । ताम्र-त्रपु मिश्रण के अतिरिक्त ताम्बे तथा नैपाल (अं. आर्सेनिक) को मिलाकर भी कांसे जैसी धातु प्रयुक्त हुई है अथवा सीसा और अञ्जन (अ. एन्टीमनी) मिलाकर भी मिश्रित धातु बनाई गई है । इन विभिन्न धातु मिश्रणों से स्पष्ट है कि सिन्धु शिल्पी वैधानिक दृष्टि से पर्याप्त सक्षम थे । उन्होंने पर्याप्त बड़ी संख्या में ताम्बे और कांसे के बर्तन बनाये थे ।

जहाँ तक कलाकृतियों का प्रश्न है धातु-शिल्पी की महत्त्वपूर्ण कृति बलुचिस्तान की मेही सभ्यता से प्राप्त 5 इंच का एक दर्पण है । इसमें हत्था भी ताम्बे का है और उसके ऊपरी हिस्से में हाथ जैसे बनाकर एक रोचक स्वरूप प्रदान किया गया । बीच में स्तन जैसे उभार भी है और स्पष्ट ही

प्रयोग के समय स्त्री-मुख की छाया दर्पण में पड़ने से स्त्री का आकार पूरा होता था। यह अपने ढंग का अनोखा नमूना है तथा स्टुअर्ट पिगट के अनुसार यह प्राचीन विश्व में प्राप्त प्रसाधन-वस्तुओं में अपने ढंग का अद्‌भुत नमूना है, जिसकी कलात्मक कल्पना बलुचिस्तान धातु-शिल्पी की प्रतिभा का द्योतक है। धातु के सामान्य दर्पण हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थानों से मिले हैं। स्त्री-प्रसाधनों में अन्य रोचक वस्तु धातु के बने बालों के काँटे या सुइयाँ हैं। मोहनजोदड़ो, ईरान में मुण्डीगाक, हरियाणा में बगावली से मिले ऐसे काँटों के नमूनों में उनके सिरे पर दो आवर्त या घुण्डियों दिखाई गयीं हैं। इस शैली के काँटे ईरान और सुमेर में भी प्रचलित थे। किन्तु सब से महत्त्वपूर्ण कलात्मक काँटा मोहनजोदड़ो का है जिसमें विपरीत दिशा में देखते हुए हिरणों के दो सिर बने हैं। इसकी तुलना में अत्यधिक विकसित पशु-अंकन हड़प्पा के एक काँटे के शीर्ष पर मिलता है जिसमें हिरण पर झपटते हुये कुत्ते का अंकन है। कुत्ते के द्वारा हिरण का एक कान मुंह में पकड़ा हुआ है, जबकि भयभीत हिरण पलायन की मुद्रा में है। समूचे दृश्य में शिल्पी ने दोनों पशुओं की पर्याप्त सजीव मुद्रा कल्पित की है। अत्यन्त सूक्ष्म होते हुये भी ये आकार अत्यन्त सफाई से निर्मित हैं और स्पष्ट ही उन्हें मधूच्छिष्ट पद्धति से ढाला गया था। इसका नाम सिक्थक विधान भी था।

मोहनजोदड़ो की नर्तकी आकृति

धातु की विभिन्न वस्तुओं के बहुसंख्यक नमूनों के बावजूद भी कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से केवल कुछ ही कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। इनमें सब से प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट नर्तकी की कांस्य आकृति है। यह लगभग 4.25 ईंच ऊंची है। टखनों के नीचे पैर टूटे हैं, अन्यथा यह अत्यन्त सुरक्षित बची है। अनुमान है कि इसे मधूच्छिष्ट विधान द्वारा ढाल कर शिल्पी ने सावधानी से विभिन्न विवरण सूक्ष्म उपकरण द्वारा परिष्कृत किये गये थे। इस नमूने में भारतीय धातु-शिल्प् व उचित प्रारम्भ मिलता है जो आगे चलकर ऐतिहासिक युग में उत्कर्ष प्राप्त करता है। यह कृति नृत्य की सामान्य मुद्रा में खड़ी हैं, जिसमें दाहिना पैर भूमि में प्रायः लम्बवत् है जब कि बाँया नृत्यात्मक लय में थोड़ा उठा हुआ है। दाहिना हाथ कट्यवलम्बित मुद्रा में कमर पर लटका है, जबकि बांया घुटने तक नीचे लटक रहा है। इसमें वह ऊपर से नीचे तक कड़े पहने हुये है। तनिक भंगिमा (अर्थात् अदा के साथ खम लिए) उसका सिर ऊपर की ओर थोड़ा उठा हुआ है। उसकी लम्बोतरी कटी हुई आँखें और समूची भाव-भंगिमा किसी आकर्षक राजनर्तकी की है। यह मूर्ति नितान्त नग्न है और किशोर वय की लड़की का प्रदर्शन करती है। किन्तु नग्न होते हुए भी यह विशद आभूषण पहने हैं। हाथों के अतिरिक्त गले में एक हार है। केश भली-भाँति सज्जित और जूड़े के रूप में पीछे कँधों पर टिके हैं। ऊपर से नीचे तक सारा शरीर पतला और दुर्बल है। हाथ और पैर अत्यन्त पतले हैं और आनुपातिक दृष्टि से लम्बे। लता की भाँति निर्मित मृदु अवयव नाट्य में उसके अनवरत कौशल के द्योतक हैं। मानों नाचते-नाचते नर्तकी किसी मुद्रा में रुकी हुई कल्पित की गई है। दोनों हाथों से वह भावपूर्ण मुद्रा प्रदर्शित कर रही है। जहाँ तक हस्तमुद्राओं का प्रश्न है वे अत्यन्त रोचक हैं। अपने एक अध्ययन में हमने बाएँ हाथ की हस्त-मुद्रा को नाट्यशास्त्र में वर्णित "मुकुल" मुद्रा के

समकक्ष माना है; जब कि कमर पर रखा दाहिना हाथ हंसास्य मुद्रा के रूप में पहचाना है। इस प्रकार लगता है कि प्रागैतिहासिक युग से ही नर्त्तकियाँ किन्हीं अर्थपूर्ण सांकेतिक शरीर भंगिमाओं एवं हस्तमुद्राओं का प्रयोग करती आरही थीं। मुकुल मुद्रा का उद्देश्य नाट्यशास्त्र के अनुसार पूजा, घृणा, प्रेम, निमन्त्रण, चुम्बन, आदि बताया गया है। स्ट्रेला क्रेमरिश ने सिर की ईषत् भंगिमा (अर्थात् खम) और शरीर के खड़े होने की मुद्रा की दृष्टि से इसकी तुलना मौर्यकालीन दीदारगंज यक्षी से की है और उनका कहना है कि दक्षिण भारतीय लक्ष्मी, पार्वती आदि देवियों की धातु मूर्त्तियों में भी यह शारीरिक मुद्रा मिलती है। जहाँ तक शिल्पी का अपने कला-माध्यम में कौशल का प्रश्न है, उसने मानो पतले और लम्बे अवयव सुविधानुसार धातु की प्रकृति के अनुरूप ढाले हैं। आनुपातिक दृष्टि से सिर थोड़ा छोटा है और सम्भवतः यह प्राचीन विश्व की कलाओं में स्त्री-सौन्दर्य का आदर्श था। स्टुअर्ट पीगट के अनुसार इस नर्त्तकी की तुलना कुल्ली से प्राप्त मृण्मूर्तियों से हो सकती है, जिनमें हाथों में ऊपर से नीचे तक कड़े पहनने का फैशन मिलता है। उनके शब्दों में यह नमूना मानो किसी कुल्ली युवती की मोहनजोदड़ो नगर में उपस्थिति का द्योतक है। नृतत्त्व की दृष्टि से कुछ विद्वानों ने इस नर्त्तकी के मोटे और लटकते ओठों से तथा नाक-नक्श में अभिव्यक्त स्वरूप में द्रविड़ जाति को पहचाना है। यह कहाँ तक कहना उचित है कठिन है।

लगभग इसी ढंग की एक अन्य नर्तकी भी मोहनजोदड़ो से मिली है। दुर्भाग्य से वह अधिक सुरक्षित नहीं बची है। यद्यपि आकृति समूची है, किन्तु उसकी सतह खराब हो चुकी है। फिर भी इस प्रसिद्ध नर्तकी नमूने से उसकी पूर्ण समानता है। साथ ही मुद्रा का थोड़ा भेद होने पर भी प्रायः कलात्मक उपलब्धि उसी प्रकार है। यह लगभग 5 ईंच ऊँची है और इसमें दोनों पैर सटाये खड़ी आकृति अपना बाँया हाथ कमर पर टिकाये तथा दाहिना हाथ सामने की ओर जाँघों के पास उठाये है। शिरोभूषा की विशेषता दोनों ओर का निकला हुआ धनुष-जैसा आकार है। यह आकृति भी हार और कड़े पहने नितान्त नग्न कल्पित की गई थी। सामान्यतया विद्वानों ने इस नमूने की अधिक प्रशंसा नहीं की है। किन्तु शायद यह किसी भी अर्थ में प्रसिद्ध नर्त्तकी नमूने से घट कर नहीं थी। एक विद्वान् का विचार है शायद इसे किसी आधार पर खड़ा कर के चारों ओर घुमाया जाता था, क्योंकि आगे और पीछे दोनों ओर से लगभग एक ही जैसा आकार प्रदर्शित है। सम्भवतः इस नमूने में भी नूपुर मौजूद नहीं है। किन्तु नूपुर पहने पैर का काँसे में ढला एक सुन्दर टुकड़ा किसी तीसरी नर्तकी आकृति के प्रमाणस्वरूप मोहनजोदड़ो से उपलब्ध है। वैधानिक एवं कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से यह अत्यन्त कलात्मक नमूना है।

इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य की दो मानव आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। किन्तु वे अत्यन्त नष्ट हैं। एक तो प्राप्ति के तुरन्त बाद चोरी चली गई थी। एक में आकृति के सिर पर सींग जैसे हैं जब कि दूसरे नमूने में आकृति अपना दाहिना हाथ उठाये हुये है। ये दोनों ही ढाई इंच से छोटी कृतियां हैं। मानव अंकन का एक नमूना हड़प्पा से प्राप्त रथ के रूप में मिलता है

जिसमें रथ या गाड़ी के अगले भाग में सारथी बैठा दिखाया गया है। यह सामान्य ढंग की बनी आकृति है, जिसके मोटे लटकते ओठ उल्लेखनीय हैं।

गोलाई में ढली इन मूर्त्तियों से नितान्त भिन्न मानव तथा पशु आकारों का अंकन मोहनजोदड़ो से प्राप्त ताम्बे के चौकोर टुकड़ों से मिलता है। ये ताम्रफलक प्रायः पत्थर की मुद्राओं के समान हैं यद्यपि संख्या में उतने अधिक नहीं है। उन पर भी मुहरों की भाँति आकृतियाँ और चित्रलिपि के अक्षर अंकित हैं किन्तु स्वरूप और कला प्रदर्शन की दृष्टि से इन ताम्र-पत्रों का उपयोग मुद्राओं के रूप में होना सम्भव नहीं दिखाई देता। क्योंकि यह ताम्बे के पत्र या टिक्कियाँ नितान्त पतली हैं और एक ओर पशु या मानव आकृति और दूसरी ओर अभिलेख हैं। पकड़ने के लिये कोई साधन नहीं है। कम से कम चार ऐसे नमूने ज्ञात हैं जिनके एक तरफ लगभग एक जैसी मानव आकृति अंकित है। यह आकार किसी सैनिक या लुब्धक की जान पड़ता है। दुर्भाग्य से ये टिक्कियाँ काफी बड़ी संख्या में होने पर भी बहुत पतली तथा चपटी होने के कारण प्रायः नष्ट हो गई हैं।

इन ताम्र-फलकों पर अंकित योद्धा या सैनिक या शिकारी आकृति वृषभ-शृंगों की शिरोभूषा और किसी पशु का चमड़ा पहने है। अथवा उसका वस्त्र पत्तियों का बना है। किन्तु पशु की पूँछ स्पष्ट दिखाई गई है। इसे एक ओर को घात लगाये मुद्रा में चेष्टायुक्त दिखाया गया है। आगे बढ़े हाथ में धनुष और पीछे हाथ में वह बाण लिये हुये हैं। समस्त आकृति कुछ ही रेखाओं से बनी होने पर भी अत्यन्त प्रभावशाली और स्वाभाविक लगती है। कलात्मक दृष्टि से ये निश्चय 'ही अत्यन्त शक्तिशाली कृतियों के नमूने हैं।

इस प्रकार के ताम्र-पत्रों के अनेक नमूने उपलब्ध हैं। जिनपर पशु आकृतियां बनी हैं और पृष्ठ भाग पर अभिलेख हैं। इनपर खरगोश, बैल, भैंसा, हाथी, बाघ, हिरण और एकश्रृंग तथा अन्य काल्पनिक पशु अंकित हैं। इनकी शैली मुद्राओं की ही भाँति अत्यन्त प्रभावशाली और सशक्त हैं। ये सभी मोहनजोदड़ो से मिली हैं। हड़प्पा, लोथल या कालीबंगा से ऐसा कोई अंकन ताम्र-पत्र नहीं मिलता।

ढलाई की दृष्टि से हड़प्पा और चह्नुदड़ों से मिले गाड़ी के तीन नमूने उल्लेखनीय हैं। उनमें से दो में हाँकने वाला व्यक्ति भी प्रदर्शित है। हड़प्पा का नमूना विशेष आकर्षक है।

मानव आकृतियों के समान ही पशु आकृतियों के उदाहरण भी अत्यन्त कम हैं। अधिकांश नमूने आकार में बहुत छोटे हैं और प्रायः इनकी सतह खराब हो चुकी है। फिर भी एक दो उदाहरण तत्कालीन धातु शिल्पी के कौशल और प्रतिभा को प्रकट करते हैं। सभी प्रायः ढले हुये नमूने हैं और कुछ में सम्भवतः मधूच्छिष्ट विधि प्रयुक्त हुई थी। सबसे प्रसिद्ध नमूना एक जंगली भैंसे का अंकन करता है, जिसकी स्थूल काया और आगे को उठा हुआ क्रुद्ध मुद्रा में सिर अत्यन्त सजीव है। आकार में दो इंच से भी छोटी कृति होने पर भी इसका प्रभाव विशाल आकृति का है। हाल ही में कालीबंगा से ठीक इसी ढंग की भैंसे की आकृति मिली है। लगभग इसी भाँति की प्रभावशाली मृण्मय पशु आकृतियाँ मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि से मिलीं हैं। अन्य उल्लेखनीय नमूना

एक छोटे सींग वाले कूबड़रहित बैल का है, जिसे आराम से खड़ी मुद्रा में दिखाया है। इसके स्थूल शरीर की बनावट शिल्पी ने मानों लम्बाई में अधिक बढ़ाकर दिखाई है।

इसी टक्कर की आकृति बैठे हुये बकरे या मेढे की है। ढलाई की दृष्टि से यह अत्यन्त उच्चकोटि की है। अन्य उल्लेखनीय नमूनों में हिरन, मेढ़ा, चिड़िया, कुत्ता, भालू या हाथी जैसी आकृति, आदि हैं। लोथल से प्राप्त चार नमूने कुत्ता, खरगोश और चिड़ियों का अंकन करते हैं। मोहनजोदड़ो में अनेक धातु कृतियाँ आकार में अत्यन्त छोटीं हैं और उनका कलात्मक मूल्यांकन कठिन है।

सैन्धव स्थलों में खुरब (ईरानी मकरान में) से प्राप्त धातु की छेद युक्त अलंकृत कुल्हाड़ी उल्लेखनीय हैं, जिसका निचला हिस्सा बैठे हुए ऊँट का अंकन करता है। छेद युक्त कुल्हाड़ियों के कई ढले हुये नमूने सैन्धव स्थलों से मिले हैं, किन्तु ऊंट की यह आकृति विश्वकला में अत्यन्त पुरानी है और सजीव बनी है।

स्वर्ण और रजत कृतियाँ

सोने और चाँदी के बने विभिन्न आभूषणों के कई संग्रह हड़प्पा से मिले हैं। हड़प्पा से दो, और मोहनजोदड़ों से चार निधान मिले हैं। मोहनजोदड़ो के निधान चाँदी के बर्तनों में रखे हुये थे। हड़प्पा के एक निधान में हार, भुजबंद आदि के लगभग 500 टुकड़े थे। इसमें पशु या मानव आकार नहीं मिलते। किन्तु अनेक प्रकार के आभूषण सोने-चांदी या विभिन्न मणियों से बनाये गये थे। स्त्री और पुरुषों के विशिष्ट गहनों में गोल और चौकोर खुदाई से युक्त पदक, सोने के भुजबंद कर्णफूल, अनेक लड़ियों वाले हार या मेखलायें हैं। माथे पर बांधने के सुनहरे पत्र (हि. पात), कानों के कुल्फीनुमा आभूषण, कुछ विशेष आकार प्रकट करते हैं। मेखलाओं के अनेक प्रकार हैं। एक मेखला लगभग $3\,^{1}/_{2}$ फुट लम्बी हैं, जिसमें छह लड़ियाँ हैं। सिन्धु सभ्यता के स्वर्णकार अत्यन्त श्रेष्ठ कलाकारी में समर्थ थे, जिसका उदाहरण यह मेखला है। एक कंठे में सोने के मटर-जैसे दानों की छह लड़ियाँ पिरोई गई हैं, जिनके बीच-बीच में सोने की चौकार पत्तियाँ और सिरों पर अर्द्धचन्द्रक पिरोये गये हैं। निःसन्देह विभिन्न धातुओं और मणियों के आभूषण बनाने में सैन्धव शिल्पी निपुण थे।

सिन्धु सभ्यता के अतिरिक्त अन्य ताम्र प्रस्तर युगीन सभ्यताओं का धातु शिल्प–पश्चिमोत्तर भारत, राजस्थान, मध्य प्रदेश, दकन, दक्षिणी भारत, पूर्वी भारत आदि के विभिन्न क्षेत्रों से ताम्रप्रस्तर युगीन सभ्यताओं के अवशेष प्राप्त हैं। सामान्यतः इनका समय सैन्धव सभ्यता के बाद का है और उनके सांस्कृतिक एवं कलात्मक विकास नितान्त भिन्न और प्रायः आदिम दशा में है। कुछ प्रमुख धातु की कृतियों में उल्लेखनीय हैं–(१) अफगानिस्तान की सीमा पर खुर्रम घाटी से प्राप्त ताम्बे की कुल्हाड़ी, (२) सिन्धु के पश्चिम मुनरो किले से प्राप्त ताम्बे का खड्ग (तलवार); (३) नावदाटोली और जोरवे से प्राप्त ताम्बे की चपटी कुल्हाड़ी; (४) कर्नाटक में कल्लूर से प्राप्त ताम्बे के खड्ग आदि; (५) राजस्थान में खुरदी नामक स्थान से प्राप्त ताम्बे के बर्तनों का संग्रह;

(६) गंगाघाटी के ताम्र-निधान, जो गंगाघाटी, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के लगभग ४0 स्थानों में मिले हैं और एक ही जैसे ताम्बे के बने हथियारों के संग्रह हैं। (७) दाइमाबाद (महाराष्ट्र) से १९७४ ई. में मिली कांस्य की चार महत्त्वपूर्ण कृतियाँ; (८) पेशावर संग्रहालय में रखा हजारा जिले से प्राप्त सोने का एक हिरण जिसे कुछ विद्वानों ने लगभग एक हजार ई. पू. का माना है, इत्यादि।

दाइमाबाद से प्राप्त काँसे की चार कृतियाँ

दाइमाबाद की इस खोज के टक्कर की कलात्मक वस्तु सिन्धुघाटी के बाद के और ऐतिहासिक युग से पहले के काल से एक भी नहीं मिली। दुर्भाग्य से इनकी प्राप्ति उत्खनन के सुनिश्चित स्तर से नहीं हुई है, किन्तु दाइमाबाद स्थल प्रागैतिहासिक दृष्टि से समृद्ध है। अधिकांश विद्वानों ने इन्हें सैंधवोत्तर अर्थात् सिन्धु काल के बाद का और मौर्यकाल से पहले का माना है। इनमें एक अलग विशिष्ट धातु शिल्प-शैली दिखाई पड़ती है। यद्यपि कुछ विद्वानों को इनकी प्राचीनता में सन्देह है, किन्तु सैन्धव धातु-शिल्प से इनकी दूरवर्त्ती समानता के आधार पर सम्भवतः इन्हें प्रागैतिहासिक माना जा सकता है।

चारों कृतियाँ ठोस ढली हुई हैं तथा कुल मिलाकर ६४ किलोग्राम वजन की हैं, जिनमें से हाथी की आकृति लगभग ३0 कि. की है। अन्य कृतियों में एक जंगली भैंसे का आकार है। दूसरा रूप लम्बी नाक वाले गैंडे का है और तीसरा दो बैलों से खींचा जाता हुआ रथ है, जिसे एक नग्न एवं संभवतः ऊर्ध्वमेढ्र पुरुष-आकृति हाँक रही है। हाथी लगभग १४ इंच ऊँचा है। गैंडा ११ इंच, भैंसा ११ इंच, और धातु का रथ ऊँचाई में लगभग १९ इंच या २0 इंच है। इस प्रकार की सशक्त शैली में पर्याप्त भारी बनी हुई ऐसी अन्य पशु-आकृतियाँ अज्ञात हैं। लगता है सभी खिलौने के रूप में कल्पित थीं, क्योंकि उन्हें चौकी के ऊपर खड़ा किया गया है जिसमें ठोस पहिये बने हैं। यद्यपि वजन और आकार की दृष्टि से ये बच्चों के खिलौने नहीं माने जा सकते, किन्तु पहियों की दृष्टि से इनका वैसा उपयोग संभव हो सकता था जिसे देखकर वे प्रसन्न हो सकें।

शैली की दृष्टि से दकन के धातु-शिल्प से संबंधित अद्‌भुत जानकारी इन नमूनों से प्राप्त होती है। ठोस आकार से स्पष्ट है कि इन शिल्पियों को काँसे के लिए ताँबे और त्रपु की कमी नहीं थी। धातु शिल्पी द्वारा अपने काम करने के माध्यम में निजी विशिष्ट शैली का प्रमाण यहाँ दिखाई देता है। कुछ विद्वानों के अनुसार हड़प्पा की धातु कृतियों से कुछ शैलीगत समानता मौजूद है। जो भी हो, पशु तथा सारथी आकृतियों में आकार को उत्कृष्ट एवं सशक्त शैली में ढाला गया है। उनका शारीरिक स्वरूप और सजीव हावभाव अत्यन्त प्रभावशाली है। फिर भी सभी आकृतियों में एक प्रकार का खिलौने-जैसा जकड़ापन और रूढ़िवादिता दिखाई देती है। सम्भवतः यही कठोर मुद्रा पुरुष-आकृति को एक विशिष्ट राजसी भाव प्रदान करती है। यह मानव आकार अपेक्षाकृत लम्बा और पतले अवयवों वाला है, यद्यपि नितम्ब प्रदेश अत्यन्त चौड़ा और पुष्ट बनाया गया है, जो सम्भवतः प्रागैतिहासिक मातृ-देवियों से तुलनीय है। नाक स्थूल और उभरी हुई है तथा माथा ढालुआ है, जिसके कारण कुछ लोगों ने इसमें आदिम आग्नेय या द्रविड़ जाति का रूप देखा है।

सिर पर बाल सावधानी से सँजोये गये हैं। किन्हीं दृष्टियों से यह आकार मोहनजोदड़ो की नर्तकी आकृति से तुलनीय है। इसी प्रकार भैंसे की आकृति पर मोहनजोदड़ो के कांसे के भैंसे का प्रभाव माना गया है। फिर भी दाइमाबाद धातुशिल्प में अपने ढंग की एक अत्यन्त सशक्त दकनी कलाशैली विद्यमान है, जिसकी पूर्व और उत्तर परम्परा प्रायः अज्ञात है।

गंगा के मैदान, उड़ीसा, म. प्र. और राजस्थान में (खुर्दी आदि) लगभग ४0 स्थानों से उत्तरी भारत में ताम्र-वस्तुओं के निधान या संग्रह मिले हैं, जो प्राचीन धातु उद्योग की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ६00 से भी अधिक उपलब्ध ताम्र आयुधों के अध्ययन से इन निधानों के लगभग आठ प्रमुख आकार या आयुध ज्ञात हैं। जैसे चपटी बसूली, पंखदार बसूली और लम्बी बसूलियाँ, पंखदार भाले या बरछे, भालों के फल, खड्ग। इनके अतिरिक्त कला की दृष्टि से सबसे प्रमुख भावात्मक मानव आकार या माणवक रूप है। इनमें उठा हुआ सिर, अन्दर की ओर घूमे हाथ और नीचे दोनों ओर फैले पैरों का सांकेतिक रूप मिलाकर प्रतीकात्मक मानव अंकन है। इस ढंग की आकृतियाँ अन्यत्र अज्ञात हैं। ताम्र-निधानों की सभी वस्तुएँ अत्यन्त कुशलता से शुद्ध ताम्बे में चपटे साँचों में ढाली हुई हैं। कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से शिल्पियों का काम अत्यन्त उच्च कोटि का और सफाई वाला है। विभिन्न विद्वानों ने इन ताम्रनिधानों की संस्कृति को आर्य या भागे हुये हड़प्पा-वासी, या निषाद अथवा द्रविड़ जन-जातियों से सम्बन्धित किया है, जो आर्यों से पहले गंगा-प्रदेश के वासी थे। किन्तु इनका ठीक-ठीक सम्बन्ध अज्ञात है। तिथि की दृष्टि से इन्हें १४00 ई. पू. में रखा गया है जिसकी पुष्टि 'कार्बन १४' विधि से हुई है। बिसौली, सरथौली, शिवराजपुर (उ. प्र.) आदि संग्रहों के 'माणवक' या मानव आकार कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सम्भवतः उनका महत्त्व धार्मिक था। कुछ नमूने तो लगभग सवा फुट ऊँचे हैं और भार में सात से आठ किलो तक हैं। कुछ लोगों के अनुसार इनका उपयोग बुमरेंङ के लिये था। इनसे भिन्न एक अपेक्षाकृत सुनिश्चित आकार और पहचान वाला आकार मानभूमि (धनबाद) जिले से मिला है। इसमें पर्याप्त यथार्थ पुरुषचिह्न के अंकन के कारण पहचान असंदिग्ध है। हमने इन आकारों का सैद्धांतिक संबंध प्राचीन 'श्रीवत्स' प्रतीक के स्वरूपात्मक विकास के संदर्भ में अनुमान किया है। इतना तो स्पष्ट है कि इनका उपयोग आयुध के रूप में व्यवहार्य नहीं जान पड़ता है। अवश्य ही वह कल्पात्मक या कर्मकाण्डीय रहा होगा।

विशिष्ट संदर्भ-ग्रन्थ

1. जॉन मार्शल एवं अन्य,
   मोहनजोदड़ो एण्ड दी इन्डस सिविलिजेशन, ३ भाग, लंदन, 1931
2. अर्नेस्ट जे. मैके,
   फरदर एक्सकवेशंस एट मोहनजोदड़ो, २ भाग, नई दिल्ली, 1938

3. माधो स्वरूप वत्स,
एक्सकवेशंस एट हडप्पा, २ भाग, दिल्ली, 1941
4. हंसमुख धी. साँकलिया,
प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान, द्वि. सं., पूना, 1974
5. वासुदेवशरण अग्रवाल,
भारतीय कला, द्वि. सं. वाराणसी, 1977
6. पृथ्वीकुमार अग्रवाल, अर्ली इंडियन ब्रांचेज़, वाराणसी, 1977

●

अरब देश में प्राचीन भारतीयों की बस्ती

प्रो. मायाप्रसाद त्रिपाठी

पचीसों वर्ष के अनुसंधान, विशद् गवेषणाओं तथा अनेकानेक पर्यटनों के आधार पर प्रस्तुत लेखक को ऐसे बहुसंख्यक अन्तः और बाह्य साक्ष्य मिले हैं जिनके विश्लेषण के द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि अरब देश के कई भागों में प्राचीन भारतीयों की बड़ी समृद्ध बस्ती और उपनिवेश था। इन स्थानों में उस समय संस्कृत सामान्य बोलचाल की भाषा या मातृभाषा थी।

इस दृष्टिकोण से उस पुरातन काल में अरब में संस्कृत भाषा एवं भारतीय सभ्यता का सबसे बड़ा केन्द्र "ओमान" था। आज भी वह "ओमान" नाम सहस्रों वर्ष पश्चात् भी पूर्ववत् चला जा रहा है। "ओमान" अभिधान शुद्ध संस्कृत शब्द "ओमन" ओमन से निकला है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ है। तत्पश्चात् मैत्रायणी संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में इसका प्रयोग आया है। ये दोनों ग्रंथ वैदिक वाङ्मय के ही अभिन्न अंग हैं।

वैदिक वाङ्मय–उपर्युक्त तीनों ग्रंथों में "ओमन" शब्द मित्र सहायक वा रक्षक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ओमन् शब्द का ही पुलिंग बहुवचन, संस्कृत में व्याकरणानुसार "ओमान" है। किसी देश के निवासी के लिए देशवासी शब्द बहुवचनान्त हो जाता है।

"ओमन" का सुहृत्, सहायक वा रक्षककार्य यह द्योतित करते हैं कि "ओमान" के निवासी भारतीय वैदिक आर्यों की ही एक शाखा रहे होंगे। इस रूप में वे उनके इतने अङ्गाङ्गीभूत थे, कि वे वैदिक आर्य वा भारतीय उनको अपना परममित्र वा सहायक मानते थे। दूसरी बात यह है कि ओमान देश भारतवर्ष से अत्यन्त निकट है। उसकी कुल दूरी केवल 175 मील है।

इस "ओमान" प्रान्त के पास ही उत्तर पश्चिम दिशा में अरब में ही "हास" नाम का प्रदेश है। हास भी संस्कृत का ही शब्द है। हास के दो जगत् विख्यात बन्दरगाह हैं "धाहरन और बहरीन" इनका प्राचीन नाम था "धारण" और "बाह्यार्ण"।

अरब देश के एक भू-भाग का नाम आज भी "यमन" है। इसके सुप्रसिद्ध नगर का वर्तमान नाम है सान, इन दोनों को प्राचीन काल में भी "यमन" तथा शाण कहा जाता था। इस अरब देश के आशीर प्रदेश, श्रद्धामत् भूखण्ड (वर्तमान हध्रमत्) अंशुमान् (आधुनिक-आशुमान), अर्धधर्म (वर्तमान अधधर्म मध्यअरब में), इसके दक्षिण हनुमान (आधुनिक हमान) शन्नो (वर्तमान शन्न), हध्रमत प्रान्त के उत्तर पश्चिम का नगर-शिवम् आधुनिक नाम भी वही इसी तथ्य का पूर्ण

प्रतिनिवेश करते हैं। महाकवि कालिदास कृत रघुवंश के रघु-दिग्विजय प्रसंग के सभी विवरण इस कथन की पुष्टि करते हैं।

प्राचीन काल में न केवल अरब इरान से प्रत्युत असीरिया, मैसोपोटानिया, मिश्र, रोम, ग्रीस आदि यूनान (ग्रीस) आदि से भी भारत का व्यापार बहुत समुन्नत था। अरब से अरबी घोड़ों, मिट्टी के तेल का भारत में आयात होता था। एक बौद्ध ग्रंथ "आर्य मञ्जु-श्री मूलकल्प" (100 या 200 ई.) में मिट्टी के तेल को तुरुष्क तैल कहा गया है। भारत से अरब को ऊर्णवस्त्र (ऊनी), क्षौम वस्त्र (रेशमी) तथा नील, धातव सामान औषधियाँ तथा अन्नादि निर्यात किए जाते थे।

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी प्राचीन अरब में भारत से बहुत कुछ आयात हुआ था। बहुत से साहित्य तथा प्राविधिक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया था। बहुसंख्यक आमन्त्रित भारतीय विद्वानों ने तो वहाँ अपने जीवन का अधिकांश समय ही काट दिया था। आयुर्वेद तथा ज्योतिषशास्त्र के क्षेत्र में दीर्घकाल तक अरब के लोग भारतीयों से बहुत कुछ सीखते रहे। आज भी गणित के अंकों को भारतीयों के उसी सम्मान एवं भ्रातृत्व की स्मृति में हिन्दसा कहा जाता है। अरबी भाषा का यह जगद् विख्यात अभिधान है।

अरब देश का आज भी एक परम विख्यात पोतपत्तन वा बन्दरगाह है—अदन। "अदन" शब्द बिल्कुल इसी रूप में ऋग्वेद 6/59। 3 मन्त्र में भी आया है। यहाँ भी इसका अर्थ है खाद्य अथवा खाद्य क्षेत्र, जैसा आज भी यह मरुभूमि के दक्षिण उपसंहार में एक अच्छा मैदान है।

अरब देश का आज भी एक नगर है अलकाल्ल जिसका प्राचीन नाम था "अलकालय"। इसके समीप ही अफ्रिका का एक देश एथीओपिया है। जहाँ आज भी एक नगर को बर्बर नाम से अभिहित किया जाता है। इनका नाम ही यही प्राचीन इतिहास और भारतीय प्रभाव परिलक्षित करते हैं।

अरब के पास ही समुद्र में अरब देश के दक्षिण लगभग १७५ मील पर सकोला द्वीप है। इसका प्राचीन नाम सुखोदय था। मिश्र तथा सुखोदय के प्राचीन उपनिवेशों के सम्बन्ध में आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व कर्नल विल्फोर्ड ने एशियार्टिक रिसर्चेज में बहुत सुन्दर ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने तो मिश्र आदि को बिल्कुल भारतीयों की प्राचीन बस्ती कहा है।

मध्य एशिया, आर्पाना (इरान), सुखोदय, मिश्र आदि के प्राचीन वृत्तान्त और उनका तार्किक विवेचन भी यही सिद्ध करते हैं। समग्र अरब में प्राचीन भारतीयों की बस्ती थी और उस ऐतिहासिक युग में सर्वत्र संस्कृत मातृ-भाषा के रूप में व्यवहरित होती थी। प्राचीन भारतीय, संस्कृत भाषा तथा उनकी संस्कृति इस प्रकार यूरोप तक एक श्रृंखला वा सन्तानकता के रूप में फैले हुये थे।

इस प्रकार के और आनुषंगिक प्रसंगों के लिए और विशद देखिए—

प्रो. मायाप्रसाद त्रिपाठी विरचित "कथाशेष" नामक ग्रंथ का निबंध "भारत और मिश्र का प्राचीन संबंध" तथा उक्त प्रो. त्रिपाठी का ही देखिये वृहद्ग्रंथ "Development of Geographic Knowledge in Ancient India."

आगे की सारिणी और मानचित्र उपर्युक्त तथ्यों को पूर्णतया सिद्ध कर देते हैं। कालासागर तटपर और बाकू नगर के समीपवर्ती भूभागों में मिले पुरातन भारतीय शैली के निर्माणों एवं स्थापत्य के ध्वंसावशेष तथा प्राचीन भारतीयों की समृद्धशाली बस्तियों के जीर्ण-शीर्ण रिक्थ इसी ऐतिहासिक सन्तता को और निर्विवाद बनाते हैं। रोम और यूनान से प्राचीन भारतीयों के समृद्ध बहु आयामी व्यापार तथा राजनयिक और घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध यही तर्क प्रतिपादित करते हैं। ऊपर इस पर इंगित किया ही जा चुका है।

तुलना के लिए एवं भाषावैज्ञानिक अकाट्य पैठ एवं विवेचन के लिए मिलाइए–

आधुनिक नाम	प्राचीन नाम (संस्कृत)
१. मक्का	१. मक्का, मख
२. मदीना	२. मदिन, मदिनु, मदीणु, मद्वन
३. आशीर्	३. आशीर्, आशीः
४. ओमान	४. ओमन्, ओमानः
५. हास	५. हास
६. धाहरन (धहरन)	६. धारण
७. बेहरिन	७. वाह्यार्ण
८. यमन	८. यमन
९. सान	९. शाण
१०. हध्रमत्	१०. श्रद्धामत् (प्रदेश)
११. आशुमान	११. अंशुमान्
१२. हमान	१२. हनुमान्
१३. शन्न	१३. शन्नो
१४. शिवम्	१४. शिवम्
१५. अदन	१५. अदन
१६. ईरान	१६. आर्याना
१७. बर्बर (एथिओपिया)	१७. बर्बर
१८. सीकोत्रा (द्वीप)	१८. सुखोदय
१९. दम्मम	१९. धर्मः, धर्म्यम्, वा दमन
२०. अधधर्म	२०. अर्धधर्म
२१. अलकाल्ल	२१. अलकालय
२२. जबल	२२. जाबालि

इसी प्रकार अन्य सैकड़ों भाषा वैज्ञानिक साम्य एवं विकास के साक्ष्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों की एतादृश श्रृंखलाएँ गणनानीत हैं। प्रस्तुत हैं तीन और अभिधान-दृष्टान्त–

२३. सूडान	२३. सूद्यान
२४. एथीओपिया	२४. अथ-अवाप्त (अथवापः वा)
२५. एडिसअबाबा	२५. आदिः अवाप्तः (आदिवापः वा)

२६. अर्व, अर्वन्–अग्नि तथा इन्द्र के विशेषण–क्षिप्रवेगवाचक, (ऋग्वेद तथा अथर्ववेद), "अरबदेश" अभिधान की एक व्युत्पत्ति।

मुझे तो प्रतीत होता है कि अफ्रीका (भारत के पश्चिम का महाद्वीप) शब्द का उद्भव कुछ इस प्रकार हुआ है–अपरान्तिका (पश्चिमी भूखण्ड)>अपरातिका>अपरिका>अफ्रीका। "अपरान्तिका" शब्द दो सहस्र वर्ष से अधिक प्राचीन है।

कभी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृत भाषा का क्रीडोद्यान–अरब (अर्व, आरव्य, अरव) देश तथा उनसे समुद्भासित दूर तक फैले भू-भाग

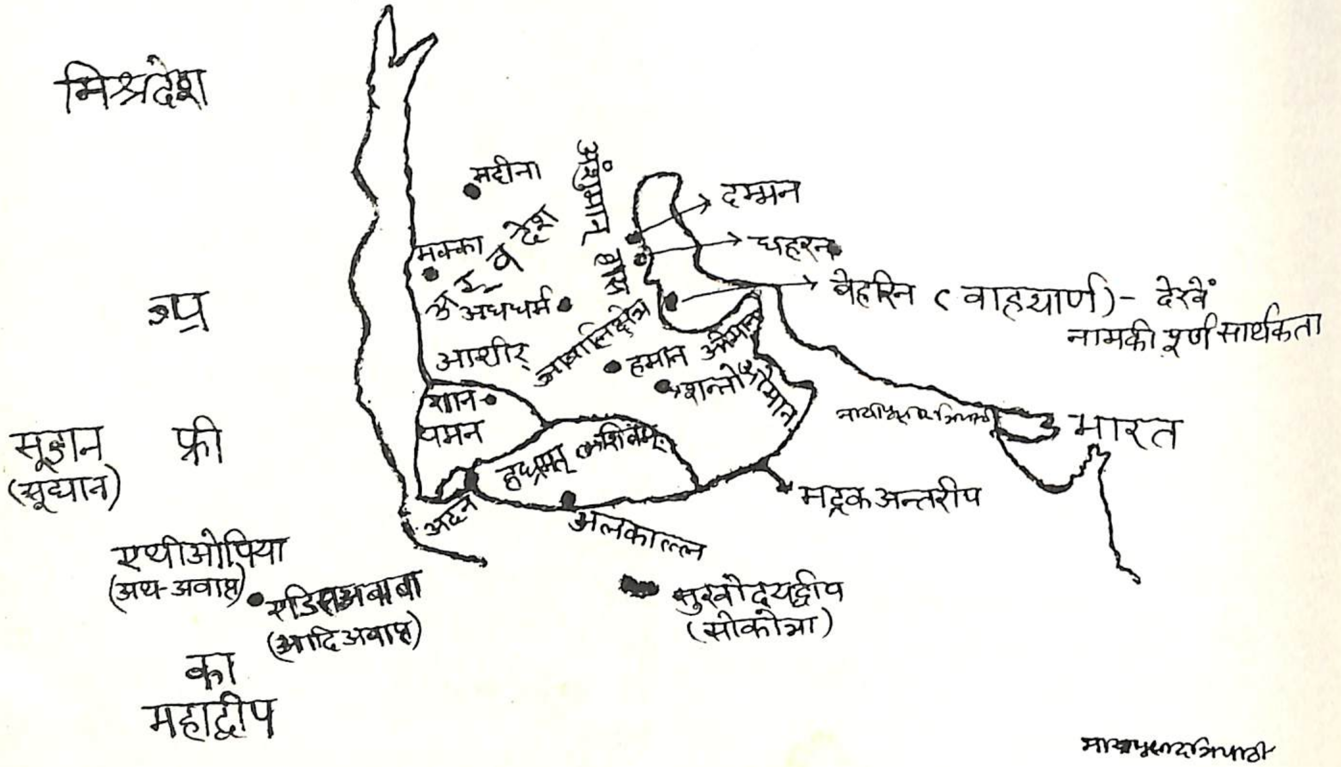
मिश्रदेश
अप्र
सूडान
(सूद्यान)
फ्री
एथीओपिया
(अथ-अवाप्त)
एडिसअबाबा
(आदिअवाप्त)
का
महाद्वीप
मदीना
मक्का
अरब देश
अशुमान
अधधर्म
आसीर्
यान
यमन
हद्रमूत
अदन
अलकाल्ला
सुखोदयद्वीप
(सोकोत्रा)
दम्मन
धहरन
बेहरिन (वाहयार्ण) - देखें
नामकी पूर्ण सार्थकता
हमान
ओमान
मद्रक अन्तरीप
भारत

माधवप्रसादत्रिपाठी

पारस्परिक व्यापार-निवास आदि के आधार पर यह सर्वथा सिद्ध है कि प्राचीन देश मैसोपटामिया से भारत का संबंध पाँच सहस्र वर्ष से भी पुराना है। यही देश आज इराक में सम्मिलित है। यहां की नदियों (दजला=टाइग्रिस=अक्षु तथा फरात=यूफ्रेटिज़=वक्षु वा वंक्षु का निःसंदिग्ध संकीर्तन ऋग्वेद, महाभारत, पुराणों तथा वराहमिहिर की बृहत्संहिता (ईसा की पंचम शती) में बहुत बार आया है। अक्षु और वंक्षु संस्कृत अभिधान हैं। वंक्षु वस्तुतः गंगा का ही एक नाम है और उतना ही पवित्र माना जाता है। अतः उपर्युक्त अरब का इतिवृत्त इससे और निःसंदिग्ध हो जाता है।

●

सम्राट् अशोक का लोककल्याणकारी धर्म

डॉ. अमिताभ तिवारी

विश्व-इतिहास में मौर्य सम्राट् अशोक को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसकी धर्मनीति उसके शासन का आधार थी, जिसके अन्तर्गत उसने प्रेम और शान्ति का संदेश लोगों तक पहुँचाया। उसने कलिंग-युद्ध में हुए नरसंहार पर पश्चात्ताप किया और भविष्य में शस्त्र-युद्ध न करने का प्रण लिया। उसने अनुभव किया कि शस्त्रों द्वारा प्राप्त की गयी विजय का प्रभाव स्थायी नहीं होता है; धर्म-विजय ही स्थायी है और इसके द्वारा लोगों के हृदय को जीता जा सकता है। इसके लिये अशोक ने अपने 'धम्म' (धर्म) की अवधारणा की स्थापना की, जो रूढ़िवादी मान्यताओं पर आधारित न होकर मानव-कल्याण की भावना से अभिप्रेत था। अपने धर्म में वह इस लोक से दूर अन्य लोक अथवा स्वर्ग इत्यादि की प्राप्ति का मार्ग लोगों को न बता कर आपसी प्रेम, सामंजस्य तथा शान्ति के सन्देश को सामान्य जन तक पहुँचाना अपना कर्तव्य मानता था। प्राचीन भारतीय परम्पराओं तथा दर्शनों को मथकर निकले हुए तत्त्व को उसने 'सारवढी' अर्थात् सभी धर्मों के सार की वृद्धि कहा और इसी पर अपने धर्म की अवधारणा की आधारशिला रखी।

गिरनार शिला के बारहवें अभिलेख में उसने 'सारवढी' के बारे में निम्नलिखित भावना उत्कीर्ण करवायी–

"न तु तथा दानं व पूजा व देवानां पिञो मंञते यथा किति साखढी अस सबपासंडानं सारवढी तु बहुविधा"[1]।

अर्थात् दान और पूजा को देवानांप्रिय (उतना) नहीं मानते जितना इस बात को कि सभी सम्प्रदायों में (धर्म के) सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सारवृद्धि कई प्रकार की होती है।

सारवढी (सारवृद्धि) की इस अवधारणा से सम्राट् ने अपने कलिंग-विजय के दौरान हुए हिंसक कृत्य पर पश्चात्ताप किया, जिसमें बड़ी संख्या में लोग मारे गये थे। उसे उसी युद्ध के बाद धर्म के प्रति अनुताप हुआ था।[2] धर्म के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण था, इसे समझना आवश्यक है। उसने अपने अभिलेखों में 'धम्म' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है, जिसको उसके धर्म के रूप में निरूपित किया जाता है। इस धर्म की व्याख्या अशोक ने देहली टोपरा स्थित स्तम्भ लेख के द्वितीय अभिलेख में की है[3]–

"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा–धर्म साधु है। धर्म क्या है ? अल्प पाप (अपासिनवे),[4] बहुकल्याण, दया, दान, शौच। चक्षु-दान भी मेरे द्वारा विविध प्रकार का दिया गया। द्विपद, चतुष्पद,

पक्षी और जलचर पर विविध प्रकार के मेरे द्वारा अनुग्रह किये गये अभयदान तक, और अन्य भी बहुत कल्याण किये गये। मेरे द्वारा इस प्रयोजन के लिये यह धर्मलिपि लिखाई गयी, जिससे लोग इसका अनुसरण करें और यह चिरस्थायी हो। जो इस प्रकार इसको स्वीकार करेंगे वे सुकृत करेंगे"।

अशोक का सम्बन्ध बौद्ध-धर्म के साथ क्या था, इस पर विभिन्न मत हैं। बौद्ध वाङ्मय के 'दिव्यावदान' एवं 'महावंस' इत्यादि ग्रन्थों में उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित बताया गया है। ये ग्रन्थ उसे बौद्ध होने के पूर्व नृशंस, आततायी और रक्तपिपासु बताते हैं। बौद्ध धर्म अपनाने के कई कारण बताये गये हैं परन्तु उन सभी में उसकी पूर्व की नृशंसता का वर्णन है। 'महावंस' की टीका के उल्लेखानुसार उसे अपने क्रूर कर्मों के कारण 'चण्डाशोक' की संज्ञा मिली थी। दिव्यावदान का कथन है कि अपने कोष, महापृथिवी, अंतःपुर, अमात्यगण, आत्मा और कुणाल को आर्यसंघ को सौंप कर भी अशोक का मन प्रसन्न नहीं हुआ। इस पर राधगुप्त आमात्य ने पूछा 'आप उदास क्यों हैं ?' अशोक ने कहा–'संघ से मैं विप्रयुक्त हूँ, इसलिये दुःखी हूँ।'[5]

आधुनिक इतिहासकार भी अशोक के बौद्ध-धर्म के साथ के सम्बन्ध पर विभिन्न विचार व्यक्त करते हैं। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि वह कुछ समय के लिये बौद्ध भिक्षुक हो गया था। स्मिथ ने इत्सिंग के विचारों को उद्धृत करते हुए यह माना है कि अशोक एक ही समय में सम्राट् तथा भिक्षु दोनों था।[6] मुकर्जी के मतानुसार अशोक 'भिक्खुघटिक' था;[7] अर्थात् उसकी अवस्थिति उपासक एवं भिक्षु के बीच की थी। इसी प्रकार का विचार भण्डारकर द्वारा भी व्यक्त किया गया है।[8] 'भिक्खुघटिक' गृहस्थ होता था और इसी रूप में वह बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को ग्रहण करता था; साथ ही वह कुछ समय के लिये बौद्ध-संघ का सदस्य भी होता था। कुछ इतिहासकार अशोक का बौद्ध-धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं तथा उसे ब्राह्मण धर्म मानने वाला हिन्दू बताते हैं।[9] तिब्बती इतिहासकार अशोक को बौद्ध-धर्म की तान्त्रिक शाखा से सम्पृक्त मानते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि अशोक ने बौद्ध-धर्म में दीक्षा ले ली थी तो यह घटना कब हुई थी। इस पर भी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। अधिकांश इतिहासकार अशोक के बौद्ध-धर्म ग्रहण करने की घटना को कलिंग युद्ध के बाद होना स्वीकार करते हैं, जब अशोक युद्ध के परिणाम को देख कर द्रवित हो गया था और उसके हृदय में भारी 'अनुशोचन' उदित हुआ था। उसने उसी समय यह निश्चय किया कि वह भविष्य में शस्त्र-युद्ध नहीं करेगा और वह अहिंसक बौद्ध-धर्म की ओर प्रवृत्त हो गया। उसने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को समझा और बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया। परन्तु कुछ इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते।[10] इनमें से प्रमुख हैं इगरमोष्ट, जिन्होंने यह मान लिया है कि अशोक का बौद्ध-धर्म में परिवर्तन कलिंग-युद्ध के पूर्व ही हो चुका था। पर इस मत को मानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि क्या अहिंसक बौद्ध-धर्म अपनाने के बाद अशोक उतने बड़े कलिंग युद्ध में शामिल होता, जिसके परिणाम ने उसे व्यथित कर दिया था।[11]

इस सन्दर्भ में अशोक द्वारा रूपनाथ लघु शिलालेख में उत्कीर्ण करवाया गया है–

देवानांप्रिय ने ऐसा कहा–ढाई वर्ष और कुछ अधिक व्यतीत हुए मैं व्यक्त रूप से उपासक था; किन्तु मैंने अधिक पराक्रम नहीं किया। किन्तु एक वर्ष और कुछ अधिक व्यतीत हुए, जब मैंने संघ की शरण ली है।[12]

इसी तरह के विचार उसने अन्य लघु शिलालेखों में भी व्यक्त किये हैं, जिससे यह पुष्टि हो जाती है कि वह उपासक तो था ही, साथ ही बौद्ध-संघ के साथ भी उसके संबंध अवश्य थे। अशोक के बौद्ध-धर्म अंगीकार करने की धारणा पर रोमिला थापर ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि रूढ़िवादी बौद्ध साक्ष्यों के अलावा हमें कोई अन्य ऐसा साक्ष्य नहीं मिलता है, जिससे यह पुष्टि हो सके कि उस युग में विभिन्न मतों में वैमनस्य इतना बढ़ा हो कि उनमें हिंसक प्रतिद्वन्द्विता हो और इसके फलस्वरूप धर्मान्तरण होता हो। हिन्दुओं और बौद्धों में विवाद के उदाहरण तो मिलते हैं, पर यह उस रूप का नहीं था, जैसा बाद की शताब्दियों में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच उत्पन्न हुआ था। बौद्ध मत को मानने के लिये ऐसे किसी धार्मिक कृत्य को करने की आवश्यकता नहीं थी, जैसा कि इस्लाम अथवा ईसाई धर्म अपनाने पर करनी होती है। साधारण मनुष्य के लिये बौद्ध मत अपनाने के लिये सिर्फ यह होना आवश्यक था कि वह बौद्ध विचारधारा तथा बौद्ध भिक्षुओं को सम्मान प्रदान करे। इससे उसके धार्मिक क्रियाकलापों पर कोई अन्तर नहीं पड़ता था।[13] मास्की लघु शिलालेख में, जिसमें अशोक का नाम दिया हुआ है जो उसके अभिलेखों की लम्बी श्रृंखला में एकमात्र उसके नाम का उल्लेख करता है, स्पष्ट लिखा है–"अं सुमि बुधशके"[14] अर्थात् मैं शाक्य बुद्ध का अनुयायी हूँ। तृतीय लघु शिलालेख में उसके द्वारा त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म एवं संघ) में भक्ति प्रकट की गयी है और इसमें 'विनयसमुसके', 'लाघुलोवादे' आदि बुद्धवचन का उल्लेख है। साथ ही 'विनयपिटक' की अट्ठकथा 'समन्तपासादिका' में तृतीय संगीति का जो वर्णन प्राप्त है, उससे यह विदित होता है कि वह विंशिष्ट रूप से बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट हुआ था। इन सभी सन्दर्भों से विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध के उपदेशों ने उसके चित्त पर गहरी छाप छोड़ी थी और इससे यही व्यक्त होता है कि एक उपासक के रूप में ही वह बौद्धधर्मानुयायी था। इन सभी उदाहरणों से यह परिलक्षित होता है कि अशोक के मन पर बुद्ध के उपदेश की गहरी छाप पड़ी थी और वह एक गृहस्थ की भांति अपने आपको बौद्धधर्मानुयायी मानने लगा था।

संघ में जाने (संघमुपगते) की घटना भी ऐतिहासिक सत्य है, किन्तु इससे यह कहना कठिन है कि अशोक ने संघ में दीक्षित होकर चीवर पहन लिया था। संघ का जो विशेष प्रभाव उस पर पड़ा वह बौद्धधर्म के बाहरी रूप के बाहरी प्रचार के लिये नहीं था, क्योंकि उस विषय में उसने बारबार सब संप्रदायों के लिये अपने समान व्यवहार का उल्लेख किया है, बल्कि जिस तत्त्व को उसने धर्म रूप में ग्रहण किया था उसके सर्वात्मना प्रचार के लिये अपनी सारी शक्ति से कटिबद्ध हो जाना, यह विशेष परिवर्तन संघ में आने के बाद उसके जीवन में हुआ। अपने राज्य आसन को सुरक्षित रखते

हुए साम्राज्य की भारी शक्ति को धर्म-विजय के आदर्श से संचालित करना, यही अब उसके उत्थान और उग्र पराक्रम का ध्येय बन गया ।[15]

अब प्रश्न यह उठता है कि अशोक का धम्म अथवा धर्म से क्या अभिप्राय था ? क्या वह सिर्फ बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहता था अथवा उसकी मान्यता कुछ और थी । उसने अपने अभिलेखों में कई स्थानों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिससे यह पुष्टि हो जाती है कि वह रूढ़िवादी धर्म प्रचारक न था अपितु वह प्राचीन भारतीय परम्परा का संवाहक था । गिरनार शिला पर उत्कीर्ण प्रथम अभिलेख में उसने लिखवाया–

"यह धर्मलिपि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखवायी गयी । यहाँ पर जीव को मारकर हवन न किया जाय नाही समाज किया जाय । क्योंकि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखते हैं ।"[16]

अपने एकादश अभिलेख में उसने धर्म की अपनी अवधारणा इस प्रकार से प्रस्तुत की है–

"वह (धर्म) यह है कि दासों और भृतकों के प्रति सम्यक् व्यवहार साधु (किया जाए); माता और पिता की सेवा साधु (की जाए). मित्र, परिचित, जातिजन और ब्राह्मण-श्रमणों को दान साधु (दिया जाए), प्राणियों का वध न (किया जाए) साधु, पिता व पुत्र व भाई व मित्र, परिचित, जातिजन और पड़ोसी–सब द्वारा यह कहा जाना चाहिये–यह साधु है, यह कर्तव्य है । जो इस प्रकार से आचरण करता है उसे इस लोक में सुख प्राप्त होता है और परलोक में वह उस धर्मदान से अनन्त पुण्य का सृजन करता है ।"[17]

इस प्रकार अशोक का धर्म उसकी मौलिक उपज थी जिसमें उसने बौद्ध और हिन्दू-धर्म के सुन्दर विचारों का समन्वय किया था । इसके द्वारा उसने जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ आचार-विचार बनाये थे । अपने बुजुर्गों की सेवा करना, समवयस्कों तथा छोटों के साथ प्रेम सम्बन्ध बनाये रखना समाज के लिये सर्वथा उचित है और यही सम्राट् चाहता भी था । उसकी इस भावना में ही उसके धर्म का सार निहित था और इस बात का कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है कि उसने बौद्ध-धर्म अंगीकार किया था अथवा नहीं । उसका धर्म सबके कल्याण के लिये था । उसने ब्राह्मणों तथा श्रमणों दोनों को दान देने की बात कही । उसने यह इच्छा भी व्यक्त की कि सर्वत्र सभी सम्प्रदाय के लोग निवास करें–

"देवानंपिये पियदसि लाजा सवता इछति सवपासंड वसेतु" ।[18]

इन उद्धरणों के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अशोक ने जिस धर्म के प्रसार के लिये महान् पराक्रम किया था वह कोई विशिष्ट सम्प्रदाय या पाषण्ड नहीं था । धम्म से अशोक को सदाचरण के वे सर्वसम्मत नियम ही अभिप्रेत थे । जिनका उपदेश सभी धर्मों व सम्प्रदायों द्वारा किया जाता है । अशोक ने अनेक अभिलेखों में एक ही बात को बार-बार उत्कीर्ण करवाया है । इससे यह पता लगता है कि उन बातों को वह कितना महत्व देता था तथा चाहता था कि उसके प्रजाजन भी उसे अधिक से अधिक पढ़ें और अभिप्रेरित हों । उसका सदैव यह प्रयत्न

रहता था कि वह अपने धर्म की इस अवधारणा को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयुक्त करे और समाज का अधिक से अधिक कल्याण कर सके । देहली टोपरा स्तम्भ के प्रथम अभिलेख में उल्लिखित है–

"बिना उच्चतम धर्मकामता, उच्चतम आत्मपरीक्षा, उच्चतम शुश्रूषा, उच्चतम भय तथा उच्चतम उत्साह के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण नहीं हो सकता" ।[19]

इसी स्तम्भ के तृतीय अभिलेख में यह आया है–

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है"–कल्याण या अच्छाई को ही हर कोई देखता है कि यह मैंने अच्छा काम किया है । पर पाप को कोई नहीं देखता कि यह मैंने पाप किया है अथवा यह जो आचारहीनता मुझसे हुई है । इस प्रकार का देखना बहुत कठिन है परन्तु इसे इस तरह देखना ही चाहिये" ।[20]

इस प्रकार अशोक ने मनुष्य की स्वभावगत कमजोरी की ओर इशारा करते हुए इससे मनुष्य को छुटकारा पाने की प्रेरणा दी । प्राचीन भारतीय परम्परा के धर्म की इस अवधारणा को कि जो धारण कर सके वही धर्म है–को अशोक ने भी अपनाया । धर्म को उसने नित्य माना और धर्म विषय को फलदायी कहा । मंगल कार्य को उसने अल्प फल वाला माना और कहा कि स्त्रियाँ तो घृणास्पद और निरर्थक मंगल कार्य करती हैं । इन मंगल कार्यों के स्थान पर उसने धर्म-मंगल करने को कहा क्योंकि यह निश्चित महाफल वाला है । यह धर्म-मंगल क्या है ? शहबाजगढ़ी शिला पर उत्कीर्ण नवम अभिलेख में उसने इस धर्म-मंगल के बारे में यह विचार व्यक्त किये–

"वह यह है–दास और नौकरों के साथ शिष्टाचार, गुरुजनों के प्रति आदर, प्राणियों के प्रति संयम, श्रमण-ब्राह्मणों को दान । पिता, पुत्र, भ्राता, स्वामी, मित्र, परिचित और पड़ोसी द्वारा कहना चाहिये–यह साधु है । यह कर्तव्य है । यह मंगल की प्राप्ति तक तथा उसके पश्चात् भी पुनः करना चाहिये" ।[21]

अशोक ने धर्म प्रचार के लिये जो तरीके अपनाये उसमें से एक था प्रजा को विमान, हाथी, अग्निस्कन्ध तथा अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराना–

"धमंचरणेन भेरीघोसो अहो धमंघोसो विमानदर्सणा च हस्तिदसणा च अगि खंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्वा जनं" ।[22]

जनता को इन दिव्य रूपों का दर्शन करवा कर सम्राट् यह व्यक्त करना चाहते थे कि धर्माचरण का परिणाम परम आनन्द और स्वर्गीय उपहारों की उपलब्धि है । धर्माचरण से स्वर्ग के अनंत सुख की प्राप्ति होती है और मनुष्य स्वयं दिव्यरूप हो जाता है । इससे मनुष्य में माता-पिता की सेवा, जीवधारियों के प्रति अहिंसा, जातियों के प्रति उचित व्यवहार, ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति सम्मान की भावना बढ़ती है । हो सकता है कि अशोक के इस प्रयोग को कुछ अंश तक सफलता मिली हो । परन्तु इनकी व्यापकता से राज्य को कुछ परेशानी भी उठानी पड़ी होगी क्योंकि उसने कालांतर में समाज पर रोक लगा दी थी । यद्यपि ये दिव्यरूप समाज में ही प्रदर्शित किये जाते होंगे परन्तु इन

समाजों में कुछ ऐसे कार्य भी होते थे जिन्हें सम्राट् कभी पसन्द नहीं कर सकता था। इन समाजों में नृत्य और संगीत के लिये बहुत बड़ी संख्या में जनता एकत्र होकर आनंद मनाती थी और इस आनंद के दौरान मांस और मदिरा का खुल कर प्रयोग किया जाता था। पशुओं के परस्पर युद्ध से जनता आनंदित होती थी। अहिंसा का पुजारी अशोक भला इसे कैसे स्वीकार कर सकता था फलतः उसने इन समाजों पर रोक लगा दी।[23]

अशोक की अहिंसा की अवधारणा तब तक निरर्थक थी जब तक पशुओं के वध का निषेध न कर दिया जाय। भारत में धार्मिक प्रयोजन से पशुओं की बलि देने की प्रथा प्राचीन काल से आ रही थी। यज्ञ कार्य सम्पादित करते समय इनका वध किया जाता था और अग्निकुण्ड में उनकी आहुति दे दी जाती थी। पशुओं को इस प्रकार मारकर होम करने पर उसने रोक लगा दी।[24]

आगे उसने यह उत्कीर्ण कराया कि पूर्वकाल में देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन लाखों जीवधारी सूप के लिये मारे जाते थे परन्तु आज जब यह धर्मलिपि लिखायी गयी तब से केवल तीन जीवधारी मारे जायेंगे—दो मोर और एक मृग। बाद में ये तीन जीवधारी भी नहीं मारे जायेंगे। देहली टोपरा स्तम्भ के पांचवें अभिलेख में उसने पशु-पक्षियों की एक लम्बी सूची दी है जिनका वध उसने निषेध कर दिया था। उसने कुछ निश्चित दिनों में पशुओं को दागने (लांछित) की प्रथा भी रोक दी थी।

उसने मनुष्य के साथ पशुओं के चिकित्सा की भी व्यवस्था की थी। औषधियों को रोपा गया था अथवा बाहर से मंगाया गया था[25]।

अपनी धर्म-विजय को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से उसने प्रजाजनों की सुख-सुविधा बढ़ाने के अनेकानेक उपाय किये। मार्गों में वृक्ष लगवाये गये, कुएँ खुदवाये गये, धर्मशालाओं इत्यादि का निर्माण करवाया गया। देहली टोपरा स्तम्भ के सातवें अभिलेख में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया—

"देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—"मार्गों में मेरे द्वारा न्यग्रोथ (वट-वृक्ष) रोपे गये। वे पशु और मनुष्यों को छाया प्रदान करेंगे। आम्र-वाटिका लगायी गयी। आधे-आधे कोस पर कुएँ खोदे गये और विश्राम गृह बनवाये गये। पशु और मनुष्यों के उपयोग के लिये बहुत से प्याऊ चलाये गये। किन्तु ये उपयोगी काम छोटे हैं क्योंकि विविध प्रकार के सुख पहुँचाने वाले कार्यों से पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा तथा मेरे द्वारा लोग सुखी बनाये गये। यह इस प्रयोजन के लिये किया गया कि इस धर्माचरण का लोग अनुसरण करें।"[26]

ये सारे उपाय उसने अपनी उस प्रजा के लिये किये जिसे वह अपनी संतान समझता था। उसका कथन था कि जिस प्रकार वह अपनी प्रजा को अपनी संतान मानकर उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखता है वैसी सुविधा सभी मनुष्यों को मिले।[27]

भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न मत-मतान्तरों के अनुयायिओं का देश रहा है। उनमें वैचारिक मतभेद भी रहे हैं परन्तु उनमें विवाद न पैदा हो अन्यथा इससे समाज की

सुख-शान्ति में बाधा पड़ेगी–इस पर भी सम्राट् का पूरा ध्यान था। उसने इसके लिये जिसे राज्य-नीति को अपनाया वह आज के भारत में भी उतनी ही प्रासंगिक है। अशोक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ मनुष्यों का किसी सम्प्रदाय में विश्वास नहीं है जहाँ मनुष्यों का किसी सम्प्रदाय में विश्वास न हो–"**म्हि यत्र नास्ति मानुसानं एकतरम्हि पासंडम्हि न नाम प्रसादो**"[28] और इस प्रकार समाज में अनेक धर्मों का होना एक अनिवार्य तथ्य है। इन परिस्थितियों में राज्य का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह धर्मों के बीच सामंजस्य बनाये और उनमें आपसी संघर्ष न होने दे।

गिरनार शिला के द्वादश अभिलेख में यह उल्लिखित है–

"बिना प्रकरण के अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की आलोचना नहीं होना चाहिये। प्रकरण होने पर थोड़ी बहुत हो सकती है परन्तु उन अवसरों पर दूसरे सम्प्रदाय पूजनीय है, ऐसा करते हुए मनुष्य अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है और दूसरे सम्प्रदाय का उपकार।"[29]

आज की परिस्थिति में इसे देखा जाय तो आज इसी विचार की हमें सर्वाधिक आवश्यकता है। धार्मिक विभेद की भावना ने मनुष्यों के बीच एक ऐसी दीवार खड़ी कर दी है कि सर्वत्र धार्मिक तनाव ही दृष्टिगोचर हो रहा है और इसके कारण सभी सामाजिक मान्यतायें छिन्न-भिन्न हो जा रही हैं। धार्मिक सद्भाव का विचार अशोक की धर्मनीति का अंग था।

अपने अभिलेखों में यत्र-यत्र उसने ब्राह्मणों तथा श्रमणों का दान देने की व्यवस्था का उल्लेख किया है। बराबर गुहा अभिलेख में उसके द्वारा आजीवकों को दान में दी गई गुहाओं का वर्णन है। प्रथम अभिलेख में उत्कीर्ण है–

"राजा प्रियदर्शी द्वादशवर्षाभिषिक्त द्वारा यह न्यग्रोथगुहा आजीवकों को दी गई।"[30]

आजीवक, ब्राह्मण तथा निर्ग्रन्थों के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करने वाले सम्राट् ने बौद्धों के आचार-विचार मानने वालों पर संघ भंग न करने की पाबंदी लगा दी थी। साँची, सारनाथ तथा कौशाम्बी स्तम्भ अभिलेखों में उसने कहा है कि जो भी भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ को भंग करेगा उसे चीवर के स्थान पर श्वेत वस्त्र पहना दिया जायगा तथा संघ से निष्कासित कर अयोग्य स्थान पर रख दिया जायगा।[31]

उसके उन विचारों से यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि सर्वधर्म समभाव रखने वाला सम्राट् बौद्धधर्म के प्रति इतना कटु विचार क्यों रखता था? इसके जवाब में यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म उसका अपना धर्म था और वह अपने धर्म के उत्थान तथा उसमें अनुशासन बनाये रखने के लिये कृतसंकल्प था। जहाँ तक अन्य मतों की बात है तो उसने उन्हें भी सम्मान दिया और अपने धर्मावलम्बियों को कहीं भी यह निर्देश नहीं दिया कि अन्य मतों के प्रति असम्मान प्रदर्शित करें।

सभी धर्मों को एकता के मार्ग पर सिर्फ निर्देशों के माध्यम से नहीं लाया जा सकता अतः अशोक ने इस कार्य को करने हेतु अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति की। अपने

राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष उसने धर्ममहामात्र नामक अधिकारियों की नियुक्ति की ।[32] इन धर्म महामांत्रों के कार्यों का वर्णन कालसी शिला पंचम अभिलेख में किया गया है जिसके अनुसार इनका प्रधान कार्य था–धर्म की रक्षा, धर्म की वृद्धि, धर्मयुक्त नामक कर्मचारियों के हित और सुख की रक्षा, सभी सम्प्रदायों तथा यवन, कम्बोज, गान्धार एवं पश्चिमी सीमा पर रहने वाली अन्य जातियों की उन्नति । साथ ही ये भृत्यों, स्वामियों, ब्राह्मणों, धनिकों, अनाथों, वृद्धों के हित और सुख का भी ध्यान रखते थे ।[33]

धर्म के कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए धर्म महामात्रों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारी भी नियुक्त किये गये थे । स्त्रियों में कार्य करने के लिये 'इथिधियख महामात' अर्थात् स्त्री-अध्यक्ष महामात्रों की नियुक्ति की गई थी । उस समय के समाज में स्त्री तथा निम्न जाति के लोगों को सम्मान नहीं दिया जाता था । उनके साथ अनेक प्रकार से विभेद किया जाता था अतः इस पर ध्यान देना सम्राट् ने अपना कर्तव्य समझा और इस दिशा में कार्य करने के लिये ही अधिकारियों की नियुक्ति की । इससे उसके व्यापक दृष्टिकोण की झलक मिलती है ।

धर्मविजय के लिये अशोक़ द्वारा अपनाया गया एक साधन 'धर्मयात्रा' का था । पूर्वकाल में राजा आखेट इत्यादि के लिये निकला करते थे । वे आमोद-प्रमोद इत्यादि अभिरामों के उद्देश्य से भी निकलते थे, परन्तु उनकी इस यात्रा का कारण अपना मनोरंजन करना होता था । इस प्रकार की यात्राओं पर अशोक ने रोक लगा दी क्योंकि एक तो अंहिसा के सिद्धान्त का प्रतिपादक राजा आखेट के दौरान जीव-हत्या को बंद करना चाहता था तथा दूसरे इसमें व्यय होने वाले धन तथा श्रम की बचत करना चाहता था । इन बिहार यात्राओं के स्थान पर उसने धर्मयात्रा प्रारम्भ की ।

"बहुत समय व्यतीत हुआ राजा लोग बिहार यात्रा करते थे । इसमें मृगया और अन्य सभी प्रकार के आमोद होते थे । किन्तु देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिलेख के दसवें वर्ष में संबोधि (बोधगया) गये इससे धर्मयात्रा की प्रथा आरम्भ हुयी ।"[34]

धर्मयात्रा के दौरान बौद्धधर्म पवित्र स्थानों का दर्शन और पूजन किया जाता था । इन यात्राओं के दौरान श्रमणों एवं स्थविरों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के भी दर्शन किये जाते थे और उनको दान इत्यादि देकर संतुष्ट किया जाता था । इसी तरह जनपद के निवासियों से भेंट-मुलाकात कर उन्हें धर्म का उपदेश दिया जाता था और उनकी जिज्ञासा का समाधान किया जाता था । इस प्रकार इन धर्मयात्राओं का उद्देश्य सिर्फ धार्मिक न था अपितु धार्मिक स्थानों पर जाना इसका एक अंश मात्र था । इस धर्मयात्रा को हम इस रूप में ले सकते हैं कि यह सम्राट् द्वारा अपने प्रजाजनों तथा विभिन्न सम्प्रदाय के अनुयायियों से मिलने तथा उनके बीच अपनी धर्मनीति का प्रसार करने का एक माध्यम था । एक योग्य और दूरदर्शी राजा इसके द्वारा जनपद के प्रशासन का निरीक्षण कर लेता था तथा प्रजाजनों के साथ उसका सम्पर्क बना रहता था । धर्मयात्राओं के दौरान उसने राज्य के सुदूर क्षेत्रों का भी व्यापक दौरा किया ।

अशोक ने अपने अधिकारियों को निर्देश दे रखा था कि चाहे वह भोजन करता रहे, चाहे अन्तःपुर में रहे, शयनगृह में रहे, पशुशाला, पालकी अथवा उद्यान में रहे, जनता की समस्या उस तक पहुँचायी जाय।[35] इस प्रकार उसने सदैव ही प्रजाजनों के कष्ट को ध्यान में रखा और यह प्रयास किया कि उनका निराकरण हो जाय। यह उसकी धर्मनीति का एक अंश था।

इस प्रकार देखा जाय तो सम्राट् अशोक का धर्म लोककल्याणकारी था। उसने रूढ़िवादी विचार को धर्म का आधार न मान भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्परा से अपने प्रजाजनों को अवगत कराना अपना पुनीत कर्तव्य समझा। कोई भी समृद्धिशाली समाज लोगों से यही अपेक्षा करता है कि वो अपने से बड़ों का आदर करें, उनकी सेवा करें तथा एक दूसरे की भावनाओं को सम्मान देते हुए शान्तिपूर्वक जीवनयापन करें और अशोक ने इन्हीं विचारों को अपने धर्म की अवधारणा में शामिल किया। हिंसक प्रवृत्तियों से दुराव और सात्त्विक प्रवृत्तियों से लगाव का सन्देश उसने अपने प्रजाजनों तक पहुँचाया। जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखना, उन्हें चिकित्सा की सेवा उपलब्ध कराना, राज्य में हो रहे अपव्यय पर रोक लगाना किसी भी उन्नत राज्य की मांग होती है और अशोक ने इसी मांग को पूरा करते हुए एक गौरवशाली परम्परा की स्थापना की।

◆

---

1. राजबली पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, वाराणसी (संवत् 2022), पृ. 16।
2. वहीं, पृ. 19 (त्रयोदश शिलालेख)।
3. वहीं, पृ. 141 (द्वितीय स्तम्भ लेख)।
4. 'अपासिनवे' अप+आसिनव इन दो शब्दों से निष्पन्न है।
5. दिव्यावदान, पृ. ४३०।
6. विन्सेन्ट स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (आक्सफोर्ड, 1924), पृ. 168।
7. राधाकमल मुखर्जी, अशोक (लन्दन, 1928), पृ. 23।
8. डी. आर. भण्डारकर, अशोक (कलकत्ता, 1925), पृ. 79-80।
9. वी. आर. दीक्षितार, मौर्यन पालिटी (मद्रास, 1932), पृ. 576।
10. नीलकण्ठ शास्त्री, दि एज ऑफ नन्दाज ऐण्ड मौर्याज (बनारस, 1952), पृ. 200।
11. रोमिला थापर, अशोक ऐण्ड दि डिकलाइन ऑफ मौर्याज (आक्सफोर्ड, 1961), पृ. 33।
12. राजबली पाण्डेय (पूर्वोक्त), पृ. 111।
13. रोमिला थापर (पूर्वोक्त), पृ. 33-34।
14. राजबली पाण्डेय (पूर्वोक्त), पृ. 118।
15. वासुदेव शरण अग्रवाल का लेख 'श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2007), पृ. 16।
16. राजबली पाण्डेय (पूर्वोक्त), पृ. 1।
17. वहीं, पृ. 15।
18. वहीं, पृ. 31।
19. वहीं, पृ. 139 (देहली टोपरा स्तम्भ, प्रथम अभिलेख)।

20. वहीं, पृ. 142 (देहली टोपरा स्तम्भ, तृतीय अभिलेख)।
21. वहीं, पृ. 53 (शाहबाजगढ़ी, नवम शिलालेख)।
22. वहीं, पृ. 5 (गिरनार, चतुर्थ शिलालेख)।
23. वहीं, पृ. 1 (गिरनार, प्रथम शिलालेख)।
24. वहीं, पृ. 94 (जौगढ़, प्रथम शिलालेख)।
25. वहीं, पृ. 95 (जौगढ़, द्वितीय शिलालेख)।
26. वहीं, पृ. 148 (देहली टोपरा स्तम्भ सप्तम अभिलेख)।
27. वहीं, पृ. (जौगढ़ का प्रथम पृथक अभिलेख)।
28. वहीं, पृ. 18
29. वहीं, पृ. 16 (गिरनार शिला द्वादश अभिलेख)।
30. वहीं, पृ.133 (बराबर गुहा प्रथम अभिलेख)।
31. वहीं.पृ. 185 (सारनाथ स्तम्भ अभिलेख)।
32. वहीं, पृ. 6 (गिरनार शिला पंचम अभिलेख)।
33. वहीं. पृ. 26 (कालसी शिला पंचम अभिलेख)।
34. वहीं, पृ. 132 (गिरनार शिला अष्टम अभिलेख)।
35. वहीं पृ. 49 (शहबाजगढ़ी शिला षष्ठ अभिलेख)।

SOME UNDERLYING CONCEPTS OF THE INDIAN CULTURAL HERITAGE

Dr. Kapila Vatsyayan

In India, as in some other countries of the Non-Aligned world, great civilizations and cultures have flourished from times immemorial. Elsewhere the link has been broken. Contemporary India reverberates with the echoes of the past, gives them new shape and form each day. Into its shaping were many influences and interactions with other ancient civilizations, Messopotamia and Babylonia, Egypt and Central Asia in the West, China, Japan, Indonesia in the East, Nepal in the North and Sri Lanka in the South.

Pre-dating all these interactions was the geological proximity with ancient Africa. By some accounts, the African Continent and India were conjoined. (Racial strands from this Sub-Continent continued to flourish in India). The Indian heritage exemplifies processes of this active dialogue never abandoning its distinctive vision and personality.

The cultural heritage of India lies in its recongnition of sustaining and inner landscapeof man which is the centre and the recognition that it expresses itself in an outer landscape of man comprising myriad petals of a lotus flower. Whenever, however, the vision many have come, it is clear that had this not been the guiding star of this country, it would not have been possible for it to have a staggering multiplicity of racist strands, languages, religions, philosophic systems, social structures and artistic expressions, all webbed together in one wholeness. The proverbial staggering multiplicity is held together as planets in a single astronomical orbit. Stated differently all manifestations in time and space, varied and different are the rainbow colours of a single white luminosity. Whoever came to this country fell into this pattern and the Prime Minister Smt. Indira Gandhi has succinctly summed it up in a nutrshell :

> If you wish to know something about India, you must empty your mind of all preconceived notions, of what you have heard or read. Why be imprisoned by the limited vision of the prejudiced? Also don't try to

compare, India is different and exasperating as it must seem, would like to remain so. You will not find any of your familiar labels useful. India is many and it is one. It has incredible diversity, yet is bound in a unity that stretches way back into unwritten history.

There is hardly a thought in philosophy, science or the arts of which you will not find some grain in India. Even the passing fashion or cults which rock the West from time to time were found without the raising of an eyebrow or affecting others. This is the secret of India, the acceptance of life in all its fullness, the good and the evil, and, at the same time, trying to rise above it all.

In all the ups and downs of its long history, India's culture, mores and traditions have been continuously evolving, shaped by its many experiences within itself and influences from outside. It has not hesitated to adopt, adapt an absorb new idea. But these, like the foreigners (all except European conquerors), became merged in Indian society, became Indians, contributed to Indianness. The most remarkable thing was that through the ages, thousands of year's our roots remaind strong and healthy". (Indian Experiences).

This unseen but real Indianness transformed all those who made India their home, whether they came as migrants or conquerors, plunderers or rulers. The Indian cultural heritage particularly its poetry, architecture, sculpture, painting, music and dance reflect this vision and evolves methodologies of structure and form through multi-media communication systems only once again to evoke this wholeness.

Two fundamental paradigms evolved for comprehending the physical phenomena, the rhythm of the universe and the mind and spirit of man as one ecological system. The first was the simple but most potent paradigm of the human body (Purusha). This body was made up of different systems, the digestive, the circulatory, the nervous each inter-related and inter-dependent in which matter and the spirit, the physical and meta-physical, were contained. The body of man was the microcosm representing the macrocosm. The second was the paradigm of a chariot wheel with a centre, a hub, spokes and a circumference. Here also the insistence was on the relationship of the still centre, the hub with the periphery. Centripetal and centre-fugal forces were juxtaposed. There was an inner still centre formless beyond form and an outer movement capable of multiplicity, plurality but all contained within the circle. The centre was the symbol of the life of reflection, of individual introspection, *stasis, nirvana, moksha*, the spokes and the area between different radii was the life of dynamic action comprising, desire, pleasure, prosperity, knowledge, power, duty and conduct but all harnessed. Time was cyclic, the beginning was the end and the end the beginning. As in other ancient civilizations of the world, the awareness of outer space and the consciousness of the inner landscape of man was interrelated. The Rig Veda stated it as "Truth is one but its expressions many". The Katha Upanishad spoke of the body of the man as the charioteer and the chariot wheel:

"Know thou the soul (atman) as riding in a chariot,
The body as the chariot.
Know thou the intellect (buddhi) as the chariot-driver,
And the mind (manas) as the reins.
The senses (indriya), they say, are the horses:
The objects of sense, what they range over.
The self combined with senses and mind
Wise men call 'the enjoyer' (bhoktri).

and again

"Higher than the senses are the objects of sense.
Higher than the objects of sense is the mind (manas):
And higher than the mind is the intellect (buddhi).
Higher than the intellect is the Great Self (atman)."

Here we can do no more than draw attention to how aesthetic theories and artistic expressions in India developed on the ground plan of this understanding of the universe. The aesthetic experience born out of life bound by it but in the ultimate was universal and transcendental: the artistic creations were the embodiment in specific form of this experience. The form was guided by cultural boundaries specificity of periods, regions, life-styles, motifs but all individually and together was an expression at the micro or macro level the experiences of balance proportion, harmony and concord.

Indian architecutre whether the stupas or the temples or the mosques or the city plans or domestic architecture, humble and modest embodies this world view: the mud walls, the brick and stone, ground or elevation plans are an orchestration of multiple forms flowing out of and flowing into a centr. Invariably it begins with a point of unity and manifests it through a spectrum of multiple form which in turn evoke harmoney and equanimity. There is a first and foremost a centre. This centre enlarges itself into a vast comlex either as a circle or as a square, is filled with crowded abundance of life in all its variety. The ornamentation and the decoration, representational or abstract, play their role to an ascending oneness vertically and a closing in and gathering of all energies horizontally from the outer to the inner. Brick by brick, stone by stone, an immense epic poem of the infinite is made. Each detail can be separated, but in fact none is autonomous: each unit is the part of the whole, interwoven and interlocked. In its totality, it represents heaven on earth, the central mountain, the *Sumeru*. Ultimately it is the cosmic order on earth, arousing the dominant mood of wonder (Vismaya) and evoking a transcendental experience of bliss. Whether the observer, participator or pilgrim moves from the outside to the inside or circumbulates the stupa temple or mosque until he reaches the centre which epresents the ultimate void, the *Sunya, Nirvana* or *Moksha*. Alternately, he figuratively ascends the pinnacle whether in the austere simplicity of the spherical dome of the stupa or the Masjid or through the crowded multipliciy of the temple. Sanchi and Bharut the temples of North, South, Western or Eastern India or the mosques speak the same language of transcendence and of heightened experience despite the cultural specifics of each of these monuments. Impersonality and intensity are the twin paradoxical demands of this art which is life bound and beyond it. The cultural heritage exemplified by these monuments bears testimony to the concretisation of this vision through a perfect language of art which was as universal pan-Indian as specific in time, region or locality.

Sculpture likewise manifests this vision of wholeness through a methodology of impersonalisation. Indian figurative art is not portraiture of the specific. Each image is an embodiment of a dominant abstracted impersonalised state or mood in a given stance or pose evoking stillness and dynamic movement together. Each is a complete world into itself related to life born of life, part of the cultural fabric, but not it. Buddha is Buddha, the historical prince Siddhartha, and Sakyamuni, but he is more; he is compassion, pathos and grace in absolute. The spirit and soul of the cosmic infinite is contained in the body of he particular but impersonal form. The image is not the historical figure–it is and it is not the cultural specific in which it is articulated: a Kushan, Gupta, Pala or for that matter an Indonesian. Cambodian, a Khmer, Japanese and Chinese Buddha can be clearly indentifiable. They are distinguishable and dateable, but in the last analysis, they are beyond their cultural boundaries and are each a hypothesis, an aspect of the vast ocean of *Karuna* compassion in all its multitudes of shades, tones and subtleties. The dominant mood of compassion (Karuna) is encircled sometimes with many transient states represented as the vegetation, flora, founa, *yakshis,* dryads, *gandharvas* and *apsaras* each playing a specific role in building the totality or it may be the single austere simple statement of the still centre of peace and enlightenment suggested through the symbols of the Buddha, the BO tree, sandals, etc., or the human figure. Some contain the variety and some eschew it, but the impersonalised intensity of the mood of compassion is the residual taste, everlasting and universal.

The images of Siva and Vishnu, in their benign or demonic moods, as the *yogis or Sadasivas*, as the lovers or ascetics containing bi-unity as endrogynes (Ardhanarivesvara) or combining the three principles of involution, evolution and devolution, as conjoined images of Brahma, Vishnu and Mahesa or only the principle of creation and destruction as Harihara or as four faced or three faced *lingas*, all articulate once again the same attribute of the internalised intangible experience of the unmanifested unity. The multiple faces and arms of the image are parts of whole and vehicles for the final evocation of the transcendental experience of bliss (*rasa*). The famous image of Siva in Elephanta called Trimurti is Siva as Sadasiva, as Ṗarvati and as Aghora, the fierce one. Through a juxtaposition of three impersonalised states, a fourth that of complete equanimity is evoked. The multiple faces, the multiple arms are the artistic expression of this without form, beyond form oneness and unity which is reflected through a spectrum of multiple forms each interlocked in a chohesive meaningful structure. In its totality, whether the ani-iconical lingam or the Trimurti or the images with many faces all evoke the response of an aesthetic experience heightened, subtle, and chiselled. The sculptural form, the particular stalk of lotus, the contours of vegetative creeper, the acquatic and terrestrial animals, the *gandharvas* and *apsaras* and the human form accopanied by them or in isolation, standing, sitting or lying upon these or serpents, animals or dwarfs, is but the vehicle of a soul, meaning a concrete embodiment of an inner lower of inmost psychic significance and universal validity and meaning. Everything in the sculptural relief or the individual stone or bronze image, whether the monumental reliefs of Sanchi, Amaravati, Halebid, Belur, Hampi, Konark are constituents of a cosmic design, almost a geometric diagram of an impersonalised state, an archetypa dominant mood with its concomitant transient emotions as symbols. In turn, the relief or the image evokes an analogous state of whether love *Shringara* or heroism, or valour or fierceness or humour or sheer joy. One has only to look at the images of the dancing Nataraja of Siva or the figures of Durga slaying the demon Mahisha and the vast variety of Vishnu images to be convinced of the fact that as in architecture, the sculptor begins from a still centre, builds upon a central axis and again makes a construct of expanding circles with diameters, radii, all moving into the centre and moving out of the centre. In short, theory and technique of plastic expression is based on a system of multilayered correspondences. There is a correspondence of lines, straight, erect, symmetrical, diagonal or curved in spiral or otherwise and impersonalised mood or emotion, a correspondence between certain proportions and attitudes of standing, sitting and lying and certain moods dominant or subsidiary. Each part of the relief or each micro unit of the human figure plays its role—the eyes, nose, ears, face, torso and limbs and each physical gesture singly and in combination is suggestive of an inner meaning which in its totality suggests an impersonal emotion and thus evokes a transcendental heightened experience. The content, the particular motif, the style, the costume and coiffure, all have an individuality enabling the spectator to date and localise these reliefs, images within their cultural boundaries, but the ultimate taste and relish of *rasa* (experience) is trans-cultural or transnational.

Painting schools and styles, ranging from those of Ajanta, Ellora to the caves of Bagh and Murals of Alchi give further evidence of this avowed faith and commitment to the impersonalised dominant moods, (archetypals), which have been and are expressed in cultural specifics. At one level, there are as many schools of painting as there are dynasties, or another level, each is the reflector of an impersonalisation which has been the beginning and is the ultimate goal. Again, the range is staggering in its multiplicity ranging from Ajanta, to Sittanavasal the Islamic geometrical designs. However, once again in each of these, the archetypal dominant states, the reaching out to infinity and the expression through cultural specific idiom is vital and fundamental. Hindu, Buddhist,Jain figurative art is as abstract as Islamic calligraphy. Lines alone, with or without colour in their use, as straight, terse, diagonal, ascending or descending, curved lines as intertwined spirals or half crescents are all symbolic of inner states of mind, dominant and subsidiary emotions: in their totality, whether as figurative art or as abstract lines, they embody the archetypal universal and follow the same principle.

The characters, heroes and heroines of epic poetry and drama are also archetypes as is the world of flora, fauna, animal or bird life. A formal language of symbols, signs and motifs conveys universal meaning within and outside cultural boundaries. The inner dynamics of the poetry of Valmiki, Kalidasa or the isometrical shapes of Islamic calligraphy are comparable. Again, the abstract and the concrete move together. Indian poetry transforms the notion of ecological balances into the recurrent rhythm of the seasons; plants, animal, human, water, earth, fire, sky are again in dialogue. The passage of annual time, the seasons acquire deep meaning and so spring, summer, autumn and winter are valid for themselves and in what they convey beyond themselves.

These are the more permanent arts, frozen at a moment of time for posterity. What about the occurent arts, those of music and dance, the oral recitations and the dramatic experience. They are shaped and formed in the art of creation, live for the moment the specific duration. Now instead of time being frozen in consecrated space, space is consecrated in time of fixed duration. The beginning and end of the performance in sound or movement is a consecration when the cosmos is made anew for that duration: it is complete and whole whether of five minutes or two hours or five days enactment. The beginning is the same, the still centre, the immutable invariable inwardness, the fixed note of the scale or the stances of the dancer. Thereupon is an enlargement in expanding concentric circles of the cosmos whether through one or three octaves, the exploration of space in all its variety of shares of tonality, micro-units of sounds, light, shade, stresses, accents, and discriminating exclusion of particular notes. The edifice is built with sound: it is architectonic in character. Now the listener circumbulates as the pilgrim did the stupa in clockwise but ascending direction. Through the structured pattering of sound the multitude of life in its endless variety is presented, a dominant mood is created: together the still centre and its flowerings like a lotus petal evoke the state of heightened aesthetic experience. While the creator performer begins with the state of internalised *yoga* and expresses through consummate skill the dominant mood, the listener responds by returning to the state of bliss where the artist had begun. Again impersonalised emotion, a dominant mood, a multiplicity of sound, symbols and motifs combined with intensity create an icon in music which the listener can worship as he could the sculptural image in stone or bronze. In India images are called *mantra murtis* (Images of chants) and music is the ultimate *Nada Brahma* contained in a single sound Aum or its elaboration.

And finally through a beautiful and complete language of movement, Indian dance provides the most concrete manifestation of the inner state and vision. The dance, like poetry, music and sculpture, seeks to communicate universal, impersonal emotion and, through the very medium of the human form, it transcends the physical plane: in its technique, it employs the technique of all the arts and it is impossible to comprehend the architectonic structure of this form without being aware of the complex techniques of the other arts which it constantly and faithfully employs and synthesises. The themes which the Indian dancer portrays are not only the raw material of literature, but are also the finished products of literary creation; the music which seems to accompany the dance is actually the life-breath of its structure, and indeed, dance interprets in movement what music interprets in sound: the postures and the stances it attains are the poses which the sculptor models; all these the dancer imbues with a living spirit of movement in a composition of form which is both sensuous and spiritual.

THE ŚAIVA ART OF MADHYA PRADESH[*] WITH REFERENCE TO KĀLIDĀSA AND BĀṆABHAṬṬA

Late Prof. K.D. Bajpai, Sagar

The region of Madhya Pradesh served as a cultural link in the past between the north and south India. The contacts between central India and the contiguous areas of present U.P., Bihar, A.P., Maharashtra and Rajasthan resulted in the formation of an integrated cultural ethos.

In the religious history of India, Madhya Pradesh played a significant role. In the present paper an effort has been made to discuss the salient features of the Śaiva art of this region in the light of the writings of the two great poets, Kālidāsa (4th-5th cent. A.D.) and Bāṇabhaṭṭa (early 7th cent. A.D.). These two eminent writers were associated with large areas of the present Madhya Pradesh. Their works eloquently prove that these two writers possessed an intimate knowledge not only of the geography of this land but also had deeply studied the life and spirit of its inhabitants of different categories. As gifted poets they succeeded in ennobling the mind and heart of the people by inculcating a fusion of ethics and aesthetics. The art of Madhya Pradesh, when studied in the context of Indian philosophy and literature, furnishes interesting and valuable aspects of Indian culture.

Madhya Pradesh has preserved considerably rich material for the study of Śaivism in the form of coins, inscriptions, architectural remains and sculptural objects. Scant source-material is available in the form of early śilpa texts, bearing on the various figures of Śiva and his family carved out in the region of Madhya Pradesh and other parts of the country.

The references found in the Mahābhārata, the Purāṇas, the Amarakośa, the Āgama texts, the works on poetics and those of Kālidāsa, Bāṇabhaṭṭa, Bhavabhūti and others are extremely valuable for the study of the development of Śaivism in Madhya Pradesh. Similarly, the numismatic and epigraphical material is of considerable help to ascertain the growth of Śaivism, both in the aniconic and anthropomorphic forms of Śiva.

Evolution of Siva

The powerful Vedic deity Rudra became Śiva in the Purāṇic pantheon and gradually assumed a place among the three main deities (*trimurti* or trinity). Enormous literature grew around him in the form of separate Śaiva Purāṇas and the *agama* literature. The earlier fierce form of Rudra was now mellowed down into *Śiva* and *Śaṅkara,* of auspicious nature, bestower of goodness. The benevolent form given to an erstwhile cruel deity, Rudra was conceived on almost the same lines as we find in the case of malevolent Yakṣas. Śiva of the Purāṇas and *Āgamas* assumed various forms. He became husband of Umā. He was now Mahādeva, a Yogī, a *Naṭarāja* and an expounder of high philosophical tenets. His depiction in Indian art is indicative of the variegated forms of the deity.

It is interesting to note that the later literary accounts and the iconographic prescriptions for the images of Śiva tend to retain his fierce Rudra form. The *āyudhas* associated with Śiva, such as *triśūla, damaru, vajra, pāśa, sarpa, aṇkuśa, muṇḍamāla, agni,* etc. confirm this statement. His five main forms represent the mingling of the two divergent aspects of Śiva. These five forms are: *Sadyojata, Anugraha, Aghora, Īśāna* and *Tatpurusa*. Śiva, in course of time, became the Āryan deity *par excellence.* All the superhuman attributes were assigned to him and he was regarded, particularly by the Saivites, as the supreme deity (mahādeva). Bāṇabhaṭṭa mentions him as *devadeva, tribhuvanaguru, Tryaṁbaka*[1] .

Iconography

The Purāṇas, the Āgamas and other texts give detailed accounts of the iconography of various forms of Śiva. When the idea of the Pancadevas gained supremacy, various syncretic statues showing Śiva conjointly with Viṣṇu, Sūrya, Umā, etc. were carved. The images of *Hari-hara, Harihara-Hiraṇyagarbha, Ardhanārīśvara* and a few other forms indicate this fusion. The *vibhava* aspect of Śiva and its gradual development is also quite interesting.

Apart from the *Saumya* forms of Śiva, numerous statues of the deity represnting him in the fierce attitude are known in the art of M.P. Śiva is shown killing Tripura, Gajasura, Andhaka, etc. They represent his samhara (destructive) aspects.

The images of Śiva with Umā in various forms, such as *ālingana, vriṣabhārohaṇa, kalyāṇasundara,* etc. are remarkable for their unusual aesthetic excellence.[2]

Numismatic Evidence

In Madhya Pradesh the Purāṇic Śaivism took its roots in c. 200 B.C. A good number of die-struck and cast copper coins found at Ujjain, Vidisha, Pawāyā (dist. Gwalior) and Kutwar (dist. Morena) depict the human form of Śiva.

He is usually shown holding *daṇḍa* (staff) and *Kamaṇḍalu* (water pitcher) in his hands. His *jaṭājūta* and *vyāghacarma* (tiger-skin) can be seen on several coins.

Some of the copper coins from Ujjain assignable to the 2nd and 1st century B.C. are significant in this respect. On them the portrayal of Śiva is seen in various forms. He usually stands alone, sometimes with the bull, looking attentively at his Lord. On some rare coins, both Śiva and Pārvatī are seen standing together. It is not correct to call these figures as a simple couple or Yakṣa and Yakṣiṇī.

On one coin (1.65 cm; weight 68.25 grains) is shown the standing figure of Śiva holding a staff (*daṇḍa*) in the right and *ghata* (vase) in the left hand. The coin bears the name of king Savitri in Prākrit. This king appears to be an early ruler of Avanti who can be assigned to the later half of the 2nd cent. B.C. On a large number of Ujjayini coins, Śiva is seen holding staff and water vase. On some coins the bull is also depicted either on the obverse with Śiva or separately on the reverse. On a square coin of the *ardhakārsāpaṇa* type, Śiva stands before a railing tree in *samabhanga* with the *kamandalu* on the head. On another circular coins Śiva is three-headed. He holds *daṇḍa* and *kamandalu* as usual. On the reverse of the coin, bull is seen walking to right. On another square coin Śiva stands before a *candradhvaja;* on the reverse is seen a *maṇḍūka,* a symbol of Ujjayini. On a rare type round coin, Śiva holding a long staff, is shown wearing the Kushāṇa type of coat.

Nataraja

On the Ujjayini coins the *Naṭaraja* form of Śiva occurs for the first time in Indian art. Most of these coins, deciphered by me, can be assigned to the period *2nd-1st* centuries B.C. While the posture of dancing Śiva is in *tribhanga* or *dvibhanga*, his hands are stretched in different postures. On one coin Naṭaraja Śiva is seen both on the obverse and reverse. On a good number of round coins, the hands of dancing Śiva are seen in the *Kaṭivinyasta* pose.

Both Kālidāsa and Bāṇabhaṭṭa were familiar with the Mahākāla temple of Ujjayini. This temple was a great centre of Śaivism. Kālidāsa in his *Meghadūta* (I, 36) has referred to the dance of Paśupati, attentively looked and enjoyed by Pārvatī. Similarly Bāṇa in the *Harṣacarita* (p. 24) refers to the dance of Naṭeśa–'nrittoddhūta dhūrjati-jaṭātavī'[3].

On a copper coin from Ujjain in the *Catalogue* of Allan, the obverse shows *Sivalinga* between two trees-in-railing. This may represent the *Pādapesvara* form of Śiva. On several coins of the Nāgas, obtained from Padmavati (Pawaya) and Kāntipurī (Kutwar), the figure of Śiva is seen in the standing posture, sometimes holding *danda* and *kamandalu*.

On a stone sculputre from Tripuri (dist. Jabalpur) the name *śrivareśvara* occurs. This was apparently a name of Śiva. In several rock paintings of the Narmadā-betwā valleys of Madhya Pradesh are seen the symbols of *triśūla* and *Śivalinga* along with those of *Surya, Candra, svastika,* etc .[4]

Some seals and sealings from Bhita, Sankissa, Vaiśālī, Kausambi, Rajghat and several other sites have provided the names of Śiva, such as Bhadrākṣa *Bhadreśvara, śridevasvāmī* along with the figures of Śiva on them. On one of the sealings from Vaisali J.N. Banerjea identified the figure on it with Ardhanārīśvara.[5] Prof. K.K. Thaplyal has discussed in detail the figures, symbols and appalalions of Śiva occurring on seals and sealings.[6]

The *Amarakoṣa* of Amarsingh, composed in the Gupta period is a mine of information in regard to Śaivism. By the time of this great work, the Vedic-Purāṇic religions, Buddhism and Jainism had considerably been developed. In this work 48 names of Śiva are given.[7] Several of these names became much popular, as can be seen from the contemporary and literary evidence.

The Classic Art

During the Gupta period, the 'Classical' art form developed in a number of centres in Madhya Pradesh. Mention may be made of Deogarh, Mandsaur, Vidisha, Udaigiri, Eran, Bhumra, Khoh, Nachna and Tigowa.Śaivism had become a prominent religion during this period and it largely flourished in these centres. The Śaiva temples and statues found in these centres eloquently speak of the high aesthetic and anatomical sense of the artists of this region.

It is interesting to note that several aesthetic and iconographic traits, which developed in Madhya Pradesh during the Gupta-Vakataka age, made their distinct impact on the art of Deccan, including Ajanta and Ellora. In the region of Madhya Pradesh images of Śiva of his various forms were made during this period. These included the images of *jyotirlinga*, the *mukhalingas (ekamukha, caturmukha, pancamukha* and *astamukha), Naṭesa*, Śiva's *saumya* and *ugra* forms, Śiva with Umā, his *dakṣiṇāmūrtis* and the syncratic images. The centres of Vidisha, Dasapura, Bhumara and Nachna played an important role in the formulation of the iconographic and decorative forms of Śiva. These were imbibed by several other regions in India. Some of these classical traits can be discernible in the art of south-east Asian countries.

The works Kālidāsa and Bāṇabhaṭṭa provide interesting accounts pertaining to Śaivism. From the works of Bāṇa, it can be inferred that by his time the Tāntric traits had influenced both the Śaiva and Śākta cults. References to the *Pāśupatas*, the *Maskarīs* and the *Pārāśarī Bhikṣus* by Bāṇa confirms this. The *vibhava* aspect of Rudra-Śiva had come into existence by c. 600 A.D. This is attested to by the unique eight-faced image of this deity discovered at Tala (dist. Bilaspur). The growth of temples and monastic establishments and the magniloquent forms and attributes given to Lord Śiva clearly indicate the nature of development of the Śaiva complex in Madhya Pradesh during the early Medieval period.[8]

●

---

1. *Harsacarita* (Fuhrer's edition, Bombay, 1909), p. 27. Bāṇa also refers to the five and eight forms of Śiva.
2. For details on the Śiva iconography see T. A. Gopi Natha Rao, *Elements of Hindu Iconography*, Vol. II (i), pp. 75-308; J.N. Banerjea, *The Development of Hindu Iconography* (2nd ed. 1956), pp. 112-25, 454-509;
   P. Jash, *History of Saivism* (Calcutta, 1974); B.N. Sharma, Iconography of *Sadaśiva*, (N. Delhi, 1976);
   C. Sivaramamurti, *Nataraja in Art.....*(N. Delhi, 1974) and I. K. Sarma, *The development of Early Saiva Art* (Delhi, 1982).
3. *Harṣacarita* (p. 24).
4. For details see K.D. Bajpai 'Coins of Early Ujjayini Rulers', *Journal of the Numismatic Society of India*, Vol. XXXII, Pt. (i), pp. 77-8, pl. I, no. 4;
   J. Allan, Cata. of the Indian *Coins in the British Museum* (London, 1936), pp. 257, pl. 36, figs. 1-3. The view of Dr. J.N. Banerjea that the two figures represent Yakṣa and Yakṣiṇi does not seem to be convincing. See his *Development of Hindu Iconography*, p. 150; also see Allan, *Ibid.*, p. 243, pl. 36, no. 15.
5. J.N. Banerjea, *Op cit.*, p. 181.
6. See K.K. Thaplyal, *Studies in Ancient Indian Seals* (Lucknow, 1972), Ch. IV, pp. 137-56 and plates.
7. *Amarakoṣa*, I. 30-34.
8. See K.D. Bajpai, *History and Culture of Madhya Pradesh* (Ahmedabad, 1984), pp. 86-89.

ROLE OF BUDDHISM IN THE DEVELOPMENT OF INDIAN CULTURE

Professor C. S. Upasak

Indian cultural trend has had evidently two faced dimensions, one usually called Brahmaṇic and the other Śramaṇic. The former is rather earlier than the latter. Both these streams of Indian culture flourished and nurtured the nation side by side with enduring impact for centuries. They reached glorious height and placed the country to a stage for which one may indeed be proud of. But one fact is important to note. While the Brahmaṇic cultural trend remained homogenous and restrictive in its' dispensation, on the other hand, the Śramaṇic branch opted the other way and acted as heterogenous, encompassing a larger section of society without having any bias of caste, creed or nationality. As a result a larger section of indian society joined this fold as there existed no barrier or reservation of any kind for attaining knowledge, education or higher life.

Backbone of a Culture

The culture of a nation is broadly expressed in all the forms of siritual and social life–intellectual, religious or ethical. It is best understood as a synonym to humanity's efforts asserting its inner impulses in order to leading a peaceful life. In evaluating the culture, of a nation it is calculated by the fact as to how far it provides happiness or satisfies human desires. Culture is manifested in evolving the sense of human development in the field of art, sculpture, painting, architecture, literature, educational values and philosophical ethos and such other matters achieved by incessant efforts through peace and hormony. Culture also seeks an acquaintance with the strivings and ideals practised by a nation. On this broad guideline we will make an attempt to revaluate the Indian culture and also at the same time, we will make a probe to show the role that Buddhism played in shaping and enriching our national life and character.

Śramaṇic Trend

While Brahmaṇic current of our culture, as we have seen earlier, was set in an entirely homogenous frame, of course the reasons being many, probably, more due to ethnic values than anything else. the Brahmanic fold followed and practised the concept of division of society by birth, obviously in order to reconcile the ethnic strifes and struggles for being confronted at an early age when Aryans settled here. This 'tradition' by birth took a firm root and gradually by the passage of time it became the norm of Brahmanic social order; and ultimately attained the status of *'Dharma'* or 'Law', designated as *'Varṇāśrama-dharma'*, which had thrusted incalculable impact on Aryan society till today. It has hardly been thwarted. As against this Brahmanic tradition some great thinkers of our country considered it as 'unjust' and 'condemnable'. They declared that a human being could not be high or low by taking accidental birth in a particular section of society. They rather abrogated it and refused to recognise it as 'law' or *'dharma'* to determine the personality of a human being. Lord Mahāvīra and Lord Buddha took the lead in this regard and postulated the 'theory of Kamma'; the *Karmavāda* as against the *Jātivāda*. This cultural ideology of soical order wielded immense influence on Indian society, leading to evolve new ethos and traditions for the betterment of many. Tremendous success was achieved following a large section of so-called Hindu society who supported this fold and find it more congenial and dignified. People regarded it as a 'just' place where they could have the opportunity to understand and act according to one's own ability and agility which were denied in the earlier set up established in the tradition by birth. This cultural trend of our country has left ever-lasting effects on all the spheres of social life.

It may frurther be pointed out that aesthetic manifestations as noticed in the form of art and architecture, literature and philosophical ethos are the factors which can alone discern the cultural stature and values of a nation. The standard of Indian cultural heritage that we have does not stand a whit less than any country of the world. Both the streams of our culture, Brahmaṇic and Śramaṇic, have played equal important role in this regard. We will howevr lay our emphases on the role of Buddhism that it had played in the development of our cultural values.

Buddhist Art & Architecture

The ancient monumetns, which stand as the testimony to our cultural advancement, can be seen in hundreds and thousands in our country beginning from the pre-historic time till 11th or 12th century A. D. Some places are explored, excavated and documented while others still await the spade of an excavator or explorer. Should we take an account of these ancient monuments of India, we would be utterly surprised to find that majority of them are purely Buddhist in character. While presenting a detailed study of some sixty eight major Buddhist monuments Mrs. Debala Mitra in her monumental work *Buddhist Monuments* rightly observes," Thanks to the pious endeavours of zealous Buddhists, Buddha was never reduced into a mythical figure. The profound influence which he exercised over his followers and veneration and devotion he evoked in their hearts are almost unparallel. Every incident of his life, real or legendary, mentioned in the texts, was rendered in terms of sculptures and paintings, and every spot associated with him was immortalised and turned into a centre of pilgrimage by his followers who erected generation after generation structures in the hallowed memory of the Master.........Indeed one is overwhelmed by the richness of the Buddhist remains that still survive, though even this number represents only a small fraction while there are still many, the location of which have not yet been firmly ascertained."[1] Undoubtedly the the Buddhist monuments in the country are not only extensively large rather they also represent the best cultural heritage. We will begin with the Buddhist art as manifested in iconography.

Buddhist Icons

Should we take into account the iconographical art of the country, the images of the Buddha, as produced by the so called Sarnath School of Art of 5th century A. D. stand, as 'excellent', if not par excellent. The one among them, in the sitting posture in *Dharmacakra Mudrā* is presently housed in Sarnath Archaeological Museum, is superb and unparallel in the artistic form and contant. This image of the Buddha with floral designed halo is robed in transparent garb and is endowed with idealised modelling and superb grace and repose, absorbed and withdrawn within mingled with joy (pīti) and spiritual luminosity on face (Fig. 1). Another similar excellent image of the Buddha in standing pose is presenthy preserved in Mathura Museum. It is also of the same period and presents superb Indian inconographical art with serenity and joy on the face. The soft serene face evinces full absorption and spiritual glow (Fig. 2) These images of India are supposed to be the most celebrated specimens of icons in the world.[2]

In bronzes, the figures recovered from Nalanda and Kurkihar from Bihar are exquisitely designed and regarded as the best specimens of metal art (Fig. 3&4). Indeed these images of the Buddha and some others of Buddhist deities are superb pieces of art in the world.

So also the stucco figures carved out on the walls of the Sāriputta Caitya at Nalanda are elegantly perfect with soft and serene faces. They represent the figures of the Buddha or other Bodhisattvas. These stucco figures stand as one of the best specimens of modelled art, in the would.

Buddhist Paintings

The Ajanta cave wall paintings are well-known which stand as the unparallel pieces of mural art in the world. These paintings represent Buddha, Bodhisattvas, Jātaka storeis or the episodes of th Great Master. We need not go into its details but can only express that this Buddhist art of Ajanta possesses a galaxy of colour scheme, perfectness in designing, expressive movements of body, designing of innumerable hair styles, superb floral representations, natural facial depictions of both Indian and foreign faces and their Costumes and many many more attractive features which can hardly be stressed.The art of Ajanta spread far and wide in the monastic establishments of Afghanistan, Central Asia and Srilanka. The paintings 'found in the Tung Huan caves or in the niche of Big Buddha at Bamiyan in Afghanistan or in Sīrigiriya in Srilanka or elsewhere derive a direct impact from Ajanta Art.

The specimens of other aesthetic manifestations in the form of music, dance or drama can hardly be cited but we can draw inferences if we peep into the modality of such art as presently inherited and practised and followed in the forms of traditional music and mask dances and drama among the Buddhists living in Himalayan belt and even in Tibet. We may well presume the artistic trends which reached there in the past along with Buddhism, of course a lot of changes took place by the passage of time. The profuse paintings that we find in Tibetan Gumphas tend to represent the lingering phases of our ancient art, once so common it was in the monastic establishments in India and also elsewhere in the past.

Pillars or Sthambhas

The earliest pillars or *sthambhas* in the country are those which were erected by the Great Buddhist Emperor Aśoka, and are now scattered at several places in North. India. They are made of Chunar stone and bear the exquisite polish, so elegantly still fresh as if quite new, defying all the ravages of nature, sun, rain although installed in the open. The Lion Capital of Sarnath is an excellent piece of stone art rather unparallel. It consists of four componants–the inverted lotus at base, a circular abacus with an elephant, bull, horse and lion separated one another by a wheel, four lions set back to back over the abacus and a surrounding wheel of which only few fragments were recovered near the pillar.

Stūpas and Caityas :

Buddhist tradition has played a very important role in the development of stūpa and caitya architecture. The caitya or *caitya-ghara* is a sanctuary invariably with a stūpa inside while the stūpa is usually built in the open. We come across the names of a number of caityas in the Pali texts, some of them even pre-Buddhist in origin. The rock-cut *caitya-gharas* of Ajantā and Ellora are the excellent specimens of rock-cut structures. The earliest *caitya-ghara* of brick is excavated at Bairat (Rajsthan) on the hill known as Bījaka-kī-Pahāḍī, which is ascribed to Aśoka.[3] As regards the stūpas in the open, the Sanchi Stūpa stands as *par excellence.* As a matter of fact the stūpa architecture was developed by the tradition of enshrining the bodily relics of Buddha and other saints in a stūpa. Throughout India and at other Buddhist places the reliquaries containing bones and ashes have been recovered from the stūpas. In later days, the stūpas containing the objects believed to have been used by the Buddha, such as his begging bowl, stick, robe etc. were also erected in India and else-where. These stūpas are called 'Pāribhogika'. The commemorative stūpas or *Uddesīka* ones also came into existence in memory of some important event of Buddha's life. And as tradition developed the stūpas became the object of devotional offering by the devotees near a Śarīrika stūpa or in the compound of a temple usually known as *Pūjāparka-stūpa*. Specimens of these miniature stūpas in stone or in terracotta have been recovered in hundreds and thousands from many Buddhist sites.

Temple Architecture

The temple architecture of India has primarily been influenced by Buddhist tradition, particularly in Northern India. The Mahābodhi Temple of Bodh Gaya is one of the excellent specimens of *Pañcāyatana* temples, which is commonly followed in later ages. It is believed to have been originally built by Aśoka.[4] Temples on similar pattern can be seen at Nālandā and other places.

Monastic Establishments

The construction of a *Vihāra* or *Ārāma* or monastery, the 'residence' of a recluse is exclusively a Śramaṇic tradition. We get the reference to the first *ārāma* donated to Lord Buddha and his Saṅgha, called Veḷuvanārāma at Rajaguha, by Bimbisāra, the king of Magadha.[5] We get a detailed account of another monastery, the Jetavanārāma at Sāvatthī, donated by Seṭṭhī Anāthapiṇḍika. In the beginning the *Vihāras* were small but soon, they turned into sumptuous monasteries with huge establishments inside, with a shrine room besides a number of living cells and a courtyard. In due course these monastic establishments of the Buddhist monks developed as large educational complexes with libraries, store-rooms, meeting halls etc. The architectural grandeur of Nālandā Mahāvihāra was excellent as known from a copper plate recovered from the site and also from the accounts left By Chinese monk scholar Heun-tsiang. Even today the thickness of the walls varying from fourteen feet to ten or so can be seen which suggests its original architectural grandeur.

Monasteries as Educational Centres

By the increase of Buddhist population in the country and elsewhere the number of the monasteries also increased proportionally. Every village used to have its own *ārāma* or Vihara, and a temple, aften located not very close nor very far from the habitation area. The resident monks of these *vihāras* were tended with the four 'requisites' *(catupaccaya)* by the village devotees. And these monks out of gratitude used to shoulder the responsibility of imparting education to their Upasakas. As time passed these monasteries virtually turned into educational centres and some rose to high standard and became great centres for higher learning. Probably the centres of higher learning were called the '*Mahāvihāra*' or 'great monastery'. Nālandā Mahāvihāra, as the records speak, was perhaps the greatest and most renowned centre of Buddhist blearning where some ten thousand pupils received education. Nalanda is said to possess three huge libraries, viz. Ratnodadhi, Ratnasāgara and Ratnarañjaka. Obviously these libraires of Nalandā Mahāvihāra contained the treatises pertaining to three *Ratnas*, the *Buddha*, *Dhamma* and *Saṅgha*. There were some othere great Buddhist monasteries in the country for higher learning, Vikramaśila mahāvihāra, Oddantapura Mahāvihāra, Vallabhi, Nadikā etc.

It is interesting to note that these monasteries not only remained as the centres for education but gave shelter to learned monks who used to devote themselves to creat literatures on various fields of learning. Many great Buddhist Pandits were invited to China and Tibet from these monasteries to render the Buddhist texts into their respective languages. Perhaps at present the quantum of the translated works preserved into Chinese is the largest. Presently they are several thousands in number; and if they are rendered back into any Indian language, they would cover at least one crore of pages. The translation of ancient Indian Buddhist texts as preserved in Tibetan language is also stupendous, comprising some ten to twelve lakhs of pages when rendered into any Indian language. We can thus well presume the huge literature that was created by the Pandits belonging to Sramaṇic section of society who received their training and education in the Buddhist monasteries.

Philosophical Ethos

The impact of the teachings and practices taught by Buddha has been intense on the humanity of the world. His theory of *Paṭiccasamuppāda* or Dependent

Origination, his Four Noble Truths and his Vipassanā practice has wielded an enduring impact on the minds of a large section of human society of the world. In India when Buddhism was in its heyday, great philosophical and epistemological treatises were created besides many saints who practised spirituality they taught the Path of Truth to all. This cultural stream of India reached the other parts of the world through the zealous efforts of buddhist saints, and there too it attracted the masses of the respective countries. The Buddhist populatin of Sri Lanka, Thailand, Burma. Vietnam, Cambodia, Laos, China, Japan, Tibet, Nepal and Bhutan etc. still adhere to the teachings of the Buddha (Pariyatti) and feel proud of being so. The Buddhist spiritual practices or *Paṭipatti* in the form of *Vipassanā* or meditation or in such other similar way is still popular in these countries although in India it has become obsolete, a matter of past. The important role that this stream of Indian culture played in shaping and enriching our civilization cannot be over exaggerated.

●

---

1. Mitra, Debala: *Buddhist Monuments* (1980), p. 9.
2. Of. *Ibid.* figures 9 & 24.
3. Sahani, D. R. Archaeological Remains at Bairat (Jaipur State 1937) pp. 28 ff.
4. Mitra, Debala; Op., cit. p. 61.
5. For *ārāma* and *vihāra* see Upasak : Dictionary of Early Buddhist Monastic Terms.

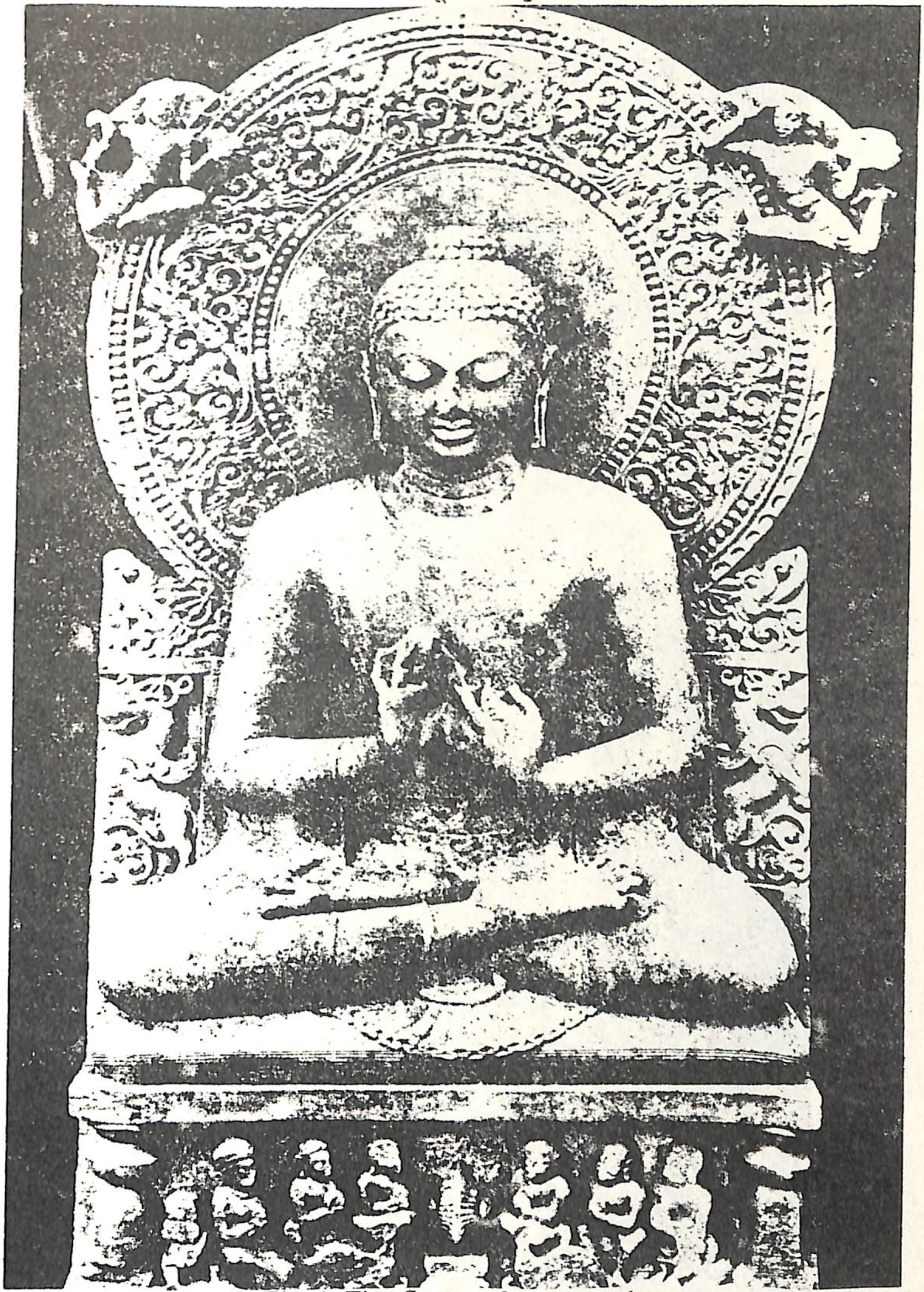

Fig. 1. First Sermon from Sarnath

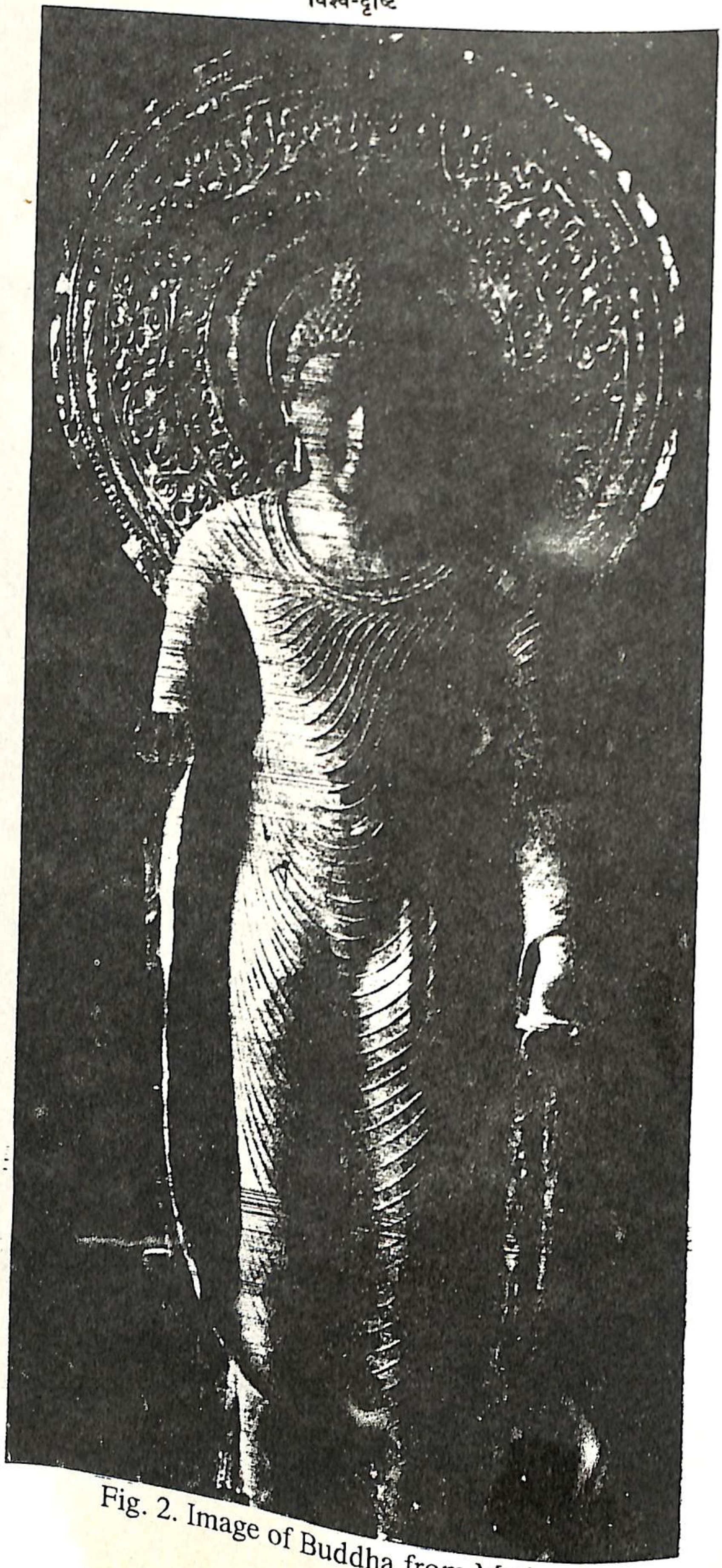

Fig. 2. Image of Buddha from Mathura

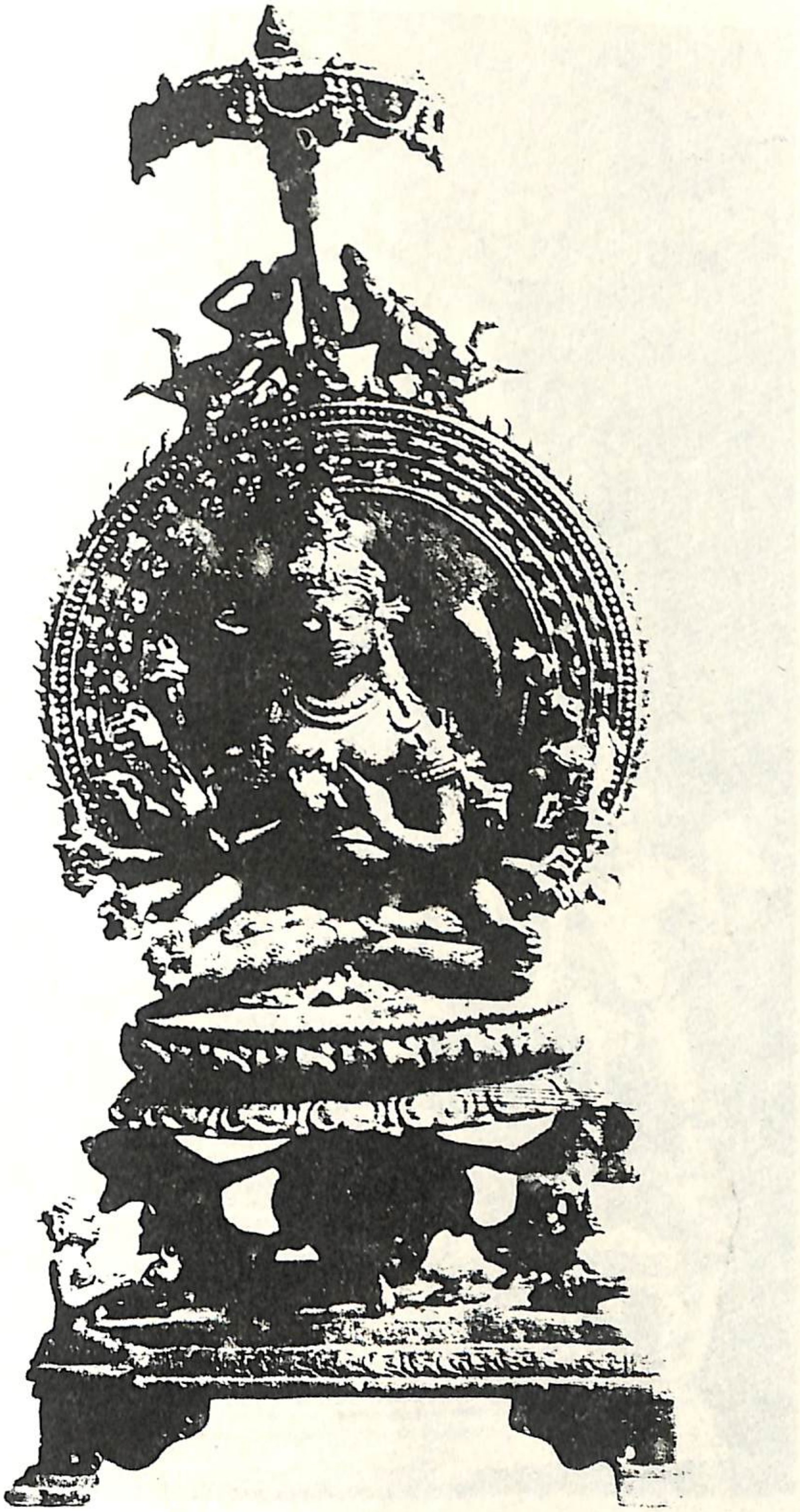

Fig. 3. Image of an eighteen-armed goddess from Nālandā

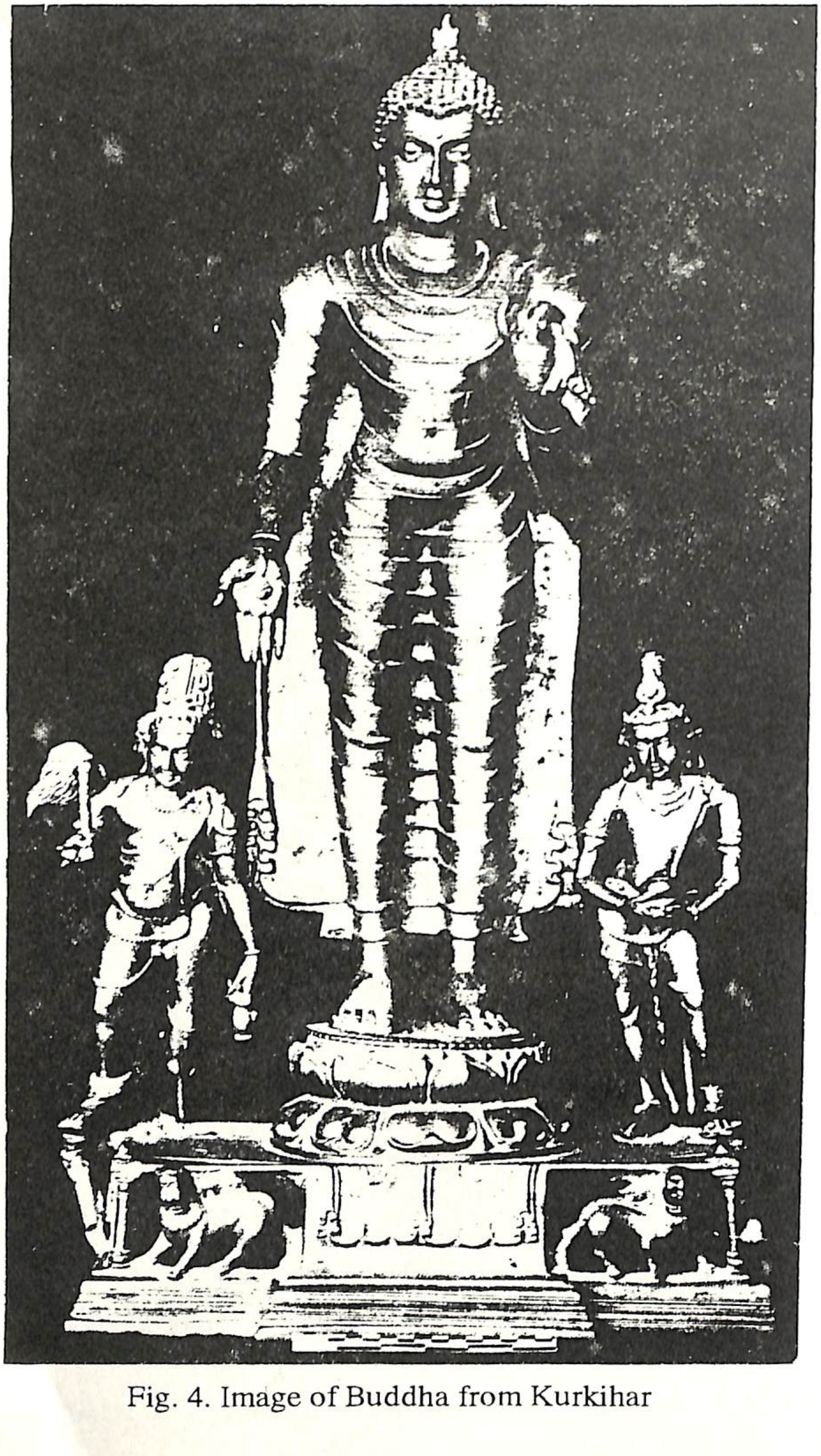

Fig. 4. Image of Buddha from Kurkihar

संस्कृत : भाषा, व्याकरण, साहित्य एवं शिक्षा

भारते संस्कृतभाषा संस्कृतविद्या च

आचार्यः वि. वेङ्कटाचलम्

[सिंहस्थपर्वणि दि. 11 मईतः 14 मई 1992 पर्यन्तम् उज्जयिन्यामायोजिते विश्वसंस्कृतसम्मेलनोद्घाटनावसरे सम्मेलनायोजनसमितेः अध्यक्षपदमलङ्कुर्वाणस्य उद्घाटन-भाषणम् ।]

अथेयमारभ्यते भूतभव्यभवत्कथा कापि भारते संस्कृतभारत्याः संस्कृतविद्यायाश्च ।

विचित्ररूपेयं विशालास्माकं मातृभूमिर्भारतम् । वसन्त्यस्यां नानाविधा जनसमाजाः, येषां वेषो भिद्यते, भाषा भिद्यते, अन्नपानं भिद्यते, भोज्यं भिद्यते, भोजनशैली भिद्यते, आकृतिर्भिद्यते, वर्णो भिद्यते, मुखच्छविर्भिद्यते, गीतं भिद्यते, वाद्यं भिद्यते, नृत्यं भिद्यते, साहित्यं भिद्यते, आचारो भिद्यते, पूजापद्धतिर्भिद्यते, व्रतानुष्ठानं भिद्यते, किं बहुना, सर्वापि जीवनयात्राविधिरामूलचूडं तथा भिद्यते यथा तत्तत्प्रदेशप्रसूतास्ते ते जनाः सर्वत्र सुखेनैव प्रत्यभिज्ञायन्ते । अयं मालवः, अयं काश्मीरः, अयं गूर्जरः, अयं भिल्लः, अयं महाराष्ट्रियः, अयं कर्णाटः, अयं द्रविडः, अयमौत्कलः, अयमसमीयः, अयं वङ्गीयः, अयं पञ्चनदीयः, अयं पर्वतीयः, अयं मरुप्रदेशीयः इत्येवं शाखोपशाखम् ।

काममिदं सर्वं भिद्यते भारते प्रतिप्रदेशं, किन्तु यद्भिद्यते तद् बहिरङ्गमेव । यस्तु अन्तङ्गभूत आत्मा भारतस्य स क्वापि कदापि कथमपि न भिद्यते । स चायमात्मा भारतीया संस्कृतिः, या सर्वत्रैकरूपा प्रतितिष्ठति आ कुमार्या आ काश्मीरम् आ च कच्छप्रदेशादा कामरूपम् । अस्याश्च एकरूपाया राष्ट्रियसंस्कृतेर्बहिश्चराः प्राणाः संस्कृतभाषा संस्कृतविद्या च । अत एवास्ति किमपि विशिष्टं माहात्म्यं संस्कृतस्य राष्ट्रैक्यसंपादने, राष्ट्रैक्यसंरक्षणे, राष्ट्रैक्यसंवर्धने च । यदि नास्ति संस्कृतं, नास्ति भारतीया राष्ट्रिया संस्कृतिः । यदि च नास्ति भारतीया संस्कृतिः, तदा नास्त्येव भारतम् । संस्कृतमूलेयं राष्ट्रिया भारतीयधार्मिकसंस्कृतिरेव राष्ट्रगतं सर्वप्रकारकं वैजात्यमेकसूत्रेण संयुनक्ति । संस्कृतसूत्रेण बद्धा इमे विभिन्नाः प्रदेशा नानारूपैर्नानावर्णैर्नानागन्धैः पुष्पतल्लजैः संग्रथिता विचित्रा मालामतल्लिकेव शोभन्तेतराम् । इदमत्रावधेयं सुधीभिः । यथा मालायां चित्रविचित्राणि पुष्पाण्येव दृष्टिपथमायान्ति न तद्धारकं सूत्रम्, यथा वास्मिन् प्रपञ्चे इमा विचित्ररूपा उच्चावचाः जागतिकाः सृष्टय एव दृष्टिपथमायान्ति न तु स भगवान् परमेश्वरो यस्मिन्निदं सर्वमोतं च प्रोतं च तिष्ठति, तथैवेदं राष्ट्रसंधारकं संस्कृतसूत्रं तत्तत्प्रदेशभाषादिमोहच्छुरितमतीनां दृष्टिपथं नायाति । अत एव सर्वं भारतं संस्कृते भवत्येकनीडमितीदं राष्ट्रैक्यरहस्यमजानानाः केचिददूरदर्शिनो राष्ट्रशिक्षातः संस्कृतं बहिष्कर्तुमुद्युञ्जते । वराका इमे तत्तत्प्रादेशिकभाषाभिनिवेशवशीकृता न पश्यन्ति कीदृशो दुर्विपाको भविष्यति राष्ट्रस्यानेन संस्कृतबहिष्करणेनेति । सूत्रच्छेदे हारगता मणयः सर्वे विकीर्य भ्रश्येरन्निति

पामरजनविदितमपि किमेते न पश्यन्ति ? अथवा पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति । तदयमत्र संग्रहश्लोकोऽस्मदीयः –

मालायाः सूत्रविच्छेदे शीर्यन्ते मणयो यथा ।
तथा संस्कृतविच्छेदे राष्ट्रं शीर्येत खण्डशः ॥

किञ्चान्यत् । अस्य अचिन्त्यरचनावैचित्र्यस्य जगतो मूलरूपमेकं ब्रह्मैवेति विस्तरशः प्रतिपादितं छान्दोग्योपनिषदि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति । एतत्तत्त्वं स्पष्टीकर्तुं बहवो दृष्टान्ताः प्रदर्शिता उपनिषदि । तत्र मधुनि नानारसाः पुष्परसाः सर्वे ऐकात्म्यं गच्छन्तीत्येको दृष्टान्तः । विभिन्नानां नदीनां नानारूपाणि जलानि समुद्रे एकात्मभावं गच्छन्तीत्यपरो दृष्टान्तः । इदं दृष्टान्तद्वयमस्माभिः ततः समाकृष्य भारतीयभाषागतमन्यच्च वैषम्यं सर्वमपि संस्कृते निलीयत इति प्रतिपादितं श्लोकद्वयेन–

नानाम्भसो यथा नद्यः सिन्धौ यान्त्येकरूपताम् ।
राष्ट्रवैषम्यमखिलं लीयते संस्कृते तथा ॥
यथा मधुनि मज्जन्ति चित्राः पुष्परसाः समे ।
तथैवैकात्मतां प्राप्ताः संस्कृते सर्ववाग्रसाः ॥

अथाधुना सांप्रतमस्माकं देशे संस्कृतं प्रति संमान्यजनानां यादृशी भवति प्रवृत्तिः, तद्विषये कामप्यात्मानुभूतिं किञ्चिद्विवरीतुमिच्छामि । अस्ति नागपञ्चमीति प्रसिद्धमेकं पौराणिकं व्रतानुष्ठानम् । विशेषतः प्रथत इदं मालवेषु । असकृच्च साक्षात्कृतमिदमस्माभिरुज्जयिन्याम् । अस्मिन् दिने सुप्रभाते नैके आहितुण्डिकाः कृष्णसर्पं करण्डके स्थापयित्वा वीथीषु वीथीषु परिभ्रमन्त उच्चैर्घोषयन्ति, 'नागं पूजयत भोः, नागं पूजयत' इति । गृहद्वारेषु गृहालिन्देषु वा करण्डकमुद्घाट्य नागं प्रदर्शयन्ति । उद्धृतफणस्य सर्पराजस्य पुरतो लघुशरावेषु दुग्धं संस्थाप्य भयमिश्रितेन श्रद्धातिशयेन सुदूरतः स्थित्वा सर्पसपर्यां विदधति ललनाः । अन्ते च भूरिदक्षिणादिवितरणेन संतर्पयन्ति नागराजव्याजेनाहितुण्डिकान् । साक्षात्कुर्वन्ति चैनां नागपूजामन्येऽपि लोकाः स्त्रीबालवृद्धा; पामराः पण्डिताश्च सर्पतो दूरत एव स्थिताः सर्पभयत्रस्ताः । श्रूयते च तस्मिन् दिने पूजाकार्यावसाने पुनश्चारण्येष्वेव यथापूर्वं विसृजन्ति सर्पानाहितुण्डिका इति ।

अहन्तावन्मन्ये येयं सर्पपूजा विधीयते नागपञ्चम्यां सा भवेदनुरूपमुपमानं सांप्रतिकभारते जनानां संस्कृतभाषां प्रति भावनायाः प्रवृत्तेश्च । जनाः श्रद्दधते संस्कृते, पूजयन्ति संस्कृतम्, अथवा पूजयितुं भृशमुत्सुका भवन्ति, श्रद्धां भक्तिं वा महतीं बिभ्रति । परन्तु दूरत एव स्वां श्रद्धां प्रकटयितुमिच्छन्ति, स्वप्नेऽपि न तत्समीपमुपसर्प्तुमुत्सहन्ते । सावधानं च परिहरन्ति तत्सामीप्यम् । न केवलमात्मनः परिहरन्ति सामीप्यं, किन्तु स्वान्यपत्यानि बन्धुवर्गान् सुहृदश्च यत्नतो निवारयन्ति तदुपसर्पणात् । सत्यमीदृगेव कापि विचित्रा स्थितिराधुनिकानां मनीषिणां, शिक्षाविदग्रणीनां, शासनतन्त्राधिकृतानामुच्चाधिकारिणां, राजनीतिकोविदानां महानेतृणां, मन्त्रिप्रभृतीनां वा । एते सर्वेऽपि कामं धारयन्ति कामपि श्रद्धां संस्कृतं प्रति, वाचा स्तुवन्ति संस्कृतं दूरतः, सोत्साहं श्लाघन्ते तद्गुणान् महिमानं च व्याख्यानेषु, न तु कदापि स्वयमधीयते संस्कृतम् । स्वान् पुत्रपौत्रादींस्तु साग्रहं निवारयन्ति

संस्कृताध्ययनात् । इयमेव रीतिः संस्कृतपण्डितानामपि । एते संस्कृतशिक्षका वा प्राध्यापका वा आचार्य वा शिष्यानध्यापयन्ति प्रोत्साहयन्ति च । किन्तु स्वीयानपत्यादीन् निवारयन्त्येव प्रायशः संस्कृताध्ययनमहोपसर्गात् । संस्कृतविद्या सर्पराजवद् दूरतः श्रद्धेयेत्यहो विचित्रः कोऽपि भक्तिक्रमः सर्वेषां जनानाम् । किमनेन श्रद्धाभासेन भक्त्याभासेन वा परप्रतारणमात्रफलेन ? अतो ब्रवीमि—

पूजयन्ति यथा नागान् श्रद्धया दूरतः स्थिताः ।
ललना नागपञ्चम्यां वारयन्ति च बालकान् ॥
तथैव हन्त लोकानां निःसारा रसवर्जिता ।
निरुपाख्या निर्ममा च मिथ्याश्रद्धाद्य संस्कृते ॥

नागपञ्चम्यां नागपूजयेव संस्कृतदिवसे संस्कृतं प्रति मिथ्याश्रद्धया संस्कृतश्लाघया किं प्रयोजनं सेत्स्यति समाजस्य संस्कृतस्य वा ? ईदृशरिक्तभक्तिस्थाने पुत्रान् प्रति मातुर्या वात्सल्यमयी प्रीतिस्तादृशी अहैतुकी अकृत्रिमा प्रीतिर्यदि संस्कृतं प्रति जननायकानां स्यात्तर्हि महदुपकृतं भवेत् संस्कृतस्य । तदैव सामान्यजनानां मनःसु विश्वासो जागरिष्यति संस्कृतस्य माहात्म्यविषये ।

यादृशी दृश्यते समवस्था संप्रति सर्वत्र भारते संस्कृतस्य, तां विलोक्य तु प्रतिभाति संप्रति तिष्ठति संस्कृतविद्या कण्ठगतप्राणेति, अत एवेयं भारत एव कदाचिद्, भविष्यति नामशेषेति च । यत्र विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च संस्कृतमाधुनिकैर्विषयान्तरैः सह नवीनपाश्चात्त्यपद्धत्या अध्याप्यते तत्र सर्वत्रापि प्रायशो नितरां शोचनीयैव स्थितिः संस्कृतस्य । छात्रसंख्याविषये तु चिन्तनमेव कातरभावं जनयति संस्कृतप्रणयिषु । यत्र हि विज्ञानादिषु विषयान्तरेषु बहुशतसहस्रभूयिष्ठाः समवयन्ति विद्यार्थिनः स्वरसतः समाकृष्टाः, तत्रैव संस्कृतकक्ष्यासु विद्यार्थिसंख्या अङ्गुलिमेयैव परिलक्ष्यते । वयन्तु ब्रूमः । आस्तां नामेदं संख्यादारिद्र्यम् । तेन किमपि न परिहास्यते संस्कृतस्य, यदीमे विरलसंख्याकाः छात्रा मेधाविनः प्रतिभावन्तः संस्कृते श्रद्धधाना वा स्युः । न त्वेतदस्ति । प्रत्युत सर्वात्मना विपरीतैव जागर्ति स्थितिः प्रायशः सर्वत्र । ये नाम समवयन्ति संस्कृतविभागेषु, ते खलु सर्वत्रान्यत्र अलब्धावसराः ऋजीषकल्पाः प्रविशन्ति संस्कृतकक्ष्यासु । 'येषां गत्यन्तरं नास्ति तेषां नः संस्कृतं गतिः', इत्यात्मनि ग्लायन्तो हतोत्साहा इमे कथमप्यहानि गणयन्ति संस्कृतमधीयानाः । इत्थंगते अध्यापका अपि न क्षमन्ते तेष्वात्मविश्वासमुत्साहं वा जागरयितुम् । क्वचित्तु "यक्षानुरूपो बलिः" इति न्यायेन अध्यापका अपि छात्रतुल्यामेव गायन्ति ग्लानिगीतिमिति नातिभिद्यन्ते छात्रेभ्यः ।

अथ प्राचीनपारम्पर्यक्रमायातेषु विद्यालयेषु कुर्मः कटाक्षपातं किञ्चित् । दैवान्मया समासादितोऽभूदवसरः कश्चिदीदृशेषु विश्वविद्यालयेषु कनिष्ठिकाधिष्ठितं प्राचीनतमं वाराणसीस्थं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयं स्वयमध्यक्षयितुम् । साम्रेडं च अवालोकिषत बहुधा मया निकटतो बहूनि प्राचीनसंस्कृतविद्याधिष्ठानानि विभिन्नेषु प्रदेशेषु व्याप्रियमाणानि । एतदनुभवबलेन प्रतिज्ञातुमलमस्मि यत् सर्वत्रापि देशे प्राचीनशास्त्राध्ययनं पिपतिषत् कूलमिव नश्यदवस्थापन्नं तिष्ठति, अद्य वा पतेत् श्वो वेति । अवश्यमिदमपि वक्तुमुत्सहे प्रसङ्गेऽस्मिन् यद् बहुषु स्थानेषु कदा कदाचिद् मेघमालामध्ये विद्युत्प्रभेव दृश्यत एव तरुणेषु छात्रेष्वपि नयनविद्योतिनी प्रतिभारेखा । नायमवसरो विस्तरस्येति विस्तराद् बिभ्यदियन्मात्रं वच्मि निष्कर्षरूपम् । बहुषु प्रदेशेषु निर्वाण एव वेदाध्ययनदीपः,

निर्वाणभूयिष्ठं च शास्त्राध्ययनवीर्यं सर्वत्र, निर्वास्यमानं च तिष्ठति यच्च किञ्चिदवशिष्यते प्राचीनसंस्कृतविद्यादीपशिखायाः । अयमत्र पिण्डितार्थः—वेदाध्ययनपरम्परा तावत् क्वचिद्विच्छिन्ना, क्वचिच्च शिथिला । शास्त्राणां प्रौढपाण्डित्यं पुनः प्रायशो मृगतृष्णिकायते सर्वत्र ।

ईदृग्विधे संस्कृताध्ययनव्यतिकरे बहवः प्रश्नानवतारयन्ति बहुविधान् । तथा हि अग्रे किं भविष्यति संस्कृतविद्यानाम् ? कथं जीविष्यति संस्कृतभाषा ? कथं नाम जीविष्यन्ति संस्कृतविद्याः ? यदा विद्यालया एव क्रमशो रिक्ता भवन्ति, तदा कथमवशिष्यते विद्या ? 'शुष्के नीरे कः कासारः ?' अत एव अवश्यंभाविनीं सर्वविद्याक्षतिमनुचिन्त्य दूयन्ते भूयांसः संस्कृतप्रणयिनः । पूर्वजातं विविधविद्याविलोपं निदर्शनीकुर्वन्त इमे इत्थं विचारयन्ति—यथा भगवता पतञ्जलिना स्पष्टं परिगणिता वेदशाखा भूयसा खिलीभूताः संप्रति, यथा वा सर्वकार्यसाधनसमर्था परमाद्भुता रहस्यमयी भारतीया मन्त्रविद्या विस्मृतिकुहरे विलीना, यथा परमाश्चर्याणि रसायनानि संप्रति ग्रन्थपृष्ठमात्रमलङ्कुर्वन्ति, साप्तभौमानि ततोऽप्यधिकभूमिकानि गृहाणि यदवलम्ब्य निर्मितानि तादृशं वास्तुशास्त्रं यथा विलुप्तं, यथा मोहन्-जो-दारो-हरप्पा-प्रभृतिषु प्राचीनेषु विध्वस्तेषु नगरेषु प्रत्यक्षीक्रियमाणं नगरनिर्माणकलावैभवं मूलतो विच्छिन्नमस्मद्देशे, तथैवाधुना यदवशिष्यते तदपि सर्वात्मना विनङ्क्ष्यतीति ।

अहन्त्वस्मिन् विषये किञ्चिदन्यदेव चिन्तयामि । भारते संस्कृतभाषा कदापि सर्वात्मना न नङ्क्ष्यतीत्यस्ति मे दृढः प्रत्ययः । किमधीनोऽयं विश्वास इति चेत् श्रूयताम् । चक्रनेमिक्रमेण नीचैरुपरि च पर्यायेण गच्छत्येव समवस्था सर्वस्यापि वस्तुनः । अयन्तावन्नियतिकृतो नियमः । अत एव संस्कृतविद्यापि नास्यापवादो भवितुमर्हति । अतश्च संप्रति नीचैर्गता संस्कृतविद्या अग्रे पुनः समृद्धिं यायादिति संभाव्यत एव ।

किञ्चिदन्यदप्यस्ति विशिष्टं कारणं संस्कृतविद्याया अवश्यभाविन्या भविष्यदुन्नतेः । अस्त्यस्यां भाषायां तदाश्रितासु च विद्यासु किमप्यसाधारणं लोकोत्तरं सामर्थ्यमविच्छिन्नतया जीवितुमित्यत्र अस्याः पूर्वेतिहास एव दुरपलापं प्रमाणं मन्ये । यथेयं भाषा भारतवर्षे प्रायशो दशवर्षसहस्राणि निरन्तरतया प्रवहमानास्मानुपगता संप्रति, तादृशी काप्यन्या भाषा क्वापि जगति न श्रुतपूर्वा । यदेयं बहुवर्षसहस्राणि अविच्छिन्नधारं व्यवहारपदे स्थिता, तर्हि कथन्नाम कश्चित् श्रद्धत्ताम् इयं संप्रति झटित्येव तिरोधास्यतीति ?

संस्कृतभाषायाः स्वात्मभूतां परमाश्चर्यकारिणीमीदृशीं जीवनशक्तिं वर्णयितुमस्ति मदीया स्वोपज्ञा कापि कल्पना । तामेनामिह प्रस्तौमि सहृदयानां पुरतः । अहन्तु ब्रवीमि संस्कृतभाषायाः शक्तिरेषा मण्डूकसदृशीति । मण्डूकाः किल जले स्थले चोभयत्र स्वैरसंचारिण इति तु सर्वविदितमेव । अत एवेमे आधुनिकैः प्राणिवैज्ञानिकैः एम्फिबिया (Amphibia) इति तच्छास्त्रपरिभाषितायां जातौ परिगण्यन्ते । यद्यपीमे उभयत्र संचरणसमर्थास्तथापि जलवासपक्षपातिनः प्रायशो जलस्थानेषु बृहत्सु लघुषु वा जीवन्तीत्यपि विदितचरम् । किन्तु कठोरे ग्रीष्मकाले शुष्केषु जलस्थानेषु मण्डूकाः कुत्र जीवन्ति कथं वा जीवन्तीति चेत्, अत्राहुराधुनिकाः प्राणिवैज्ञानिकाः । केचित् प्राणिनो हेमन्तकाले शैत्यमसहमानाः निष्क्रियाः स्तब्धा दीर्घनिद्रिता अवतिष्ठन्ते क्वचिदसूर्यपश्यं गृहकोणं शरणीकुर्वाणाः, यथा सरटकृकलासप्रभृतयः । अन्ये केचिदेतद्विपरीताः ग्रीष्मर्तौ तापमसहमानाः स्तब्धा निष्क्रियाश्च तिष्ठन्ति दीर्घनिद्रामिव

गताः, यथा प्रकृता मण्डूकाः । पूर्वां हेमन्तनिद्रा (winter sleep) इति, अपरां ग्रीष्मनिद्रा (summer sleep) इत्यपि च कदाचिद् व्यवहरन्ति सामान्यतः । शास्त्रे तु तामेतामुभयीं स्थितिं 'हैबरनेशन्' (hibernation) इति, 'इस्टिवेशन्' (aestivation) इति च पारिभाषिकशब्दाभ्यां व्यवहरन्ति प्राणिवैज्ञानिकाः ।

प्रकृते च मण्डूकाः ग्रीष्मे जलह्रासेन प्रथममार्द्रेषु पङ्केषु शरणं गतास्तत्र निश्चलं जीवन्ति । पश्चाद् यदा तु पङ्का अपि शुष्का भवन्ति तदा ते तत्रैव शुष्कपङ्केषु निलीनाः प्रायशः पङ्कभावमिवापन्नाः समग्रं ग्रीष्मं यापयन्ति । नास्यामवस्थायामिमे खादन्ति, पिबन्ति, शृण्वन्ति, वदन्ति वा । न वा लेशतोऽपि चलितुं क्षमन्ते । अत एव ग्रीष्मकाले शुष्कसरांसि सर्वाण्यपि विरतमण्डूकगीतानि नीरवाणि तिष्ठन्ति । परन्तु ग्रीष्मात्यये यावदेव देवो वर्षति तावदेव वर्षावारिभिरुक्षिता इमे मृत्तिकामण्डूकाः प्रथमोद-बिन्दुभिरेव आप्यायिताः पुनः प्राप्तप्राणाः क्रमोपचितसत्त्वाश्च पूर्ववन्मुखरभावमापन्ना नक्तन्दिवमुच्चैरारटन्तः प्रसिद्धां मण्डूकप्लुतिमिवाभ्यस्यन्तः पुनर्दृष्टिपथमायान्ति लोकस्य ।

तदिदं मण्डूकानां जीवनविषयकं वैज्ञानिकं रहस्यं प्राक्तनैर्भारतीयैर्विद्वद्भिरपि सम्यग्विज्ञातमासीत् । तदाहुः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा वाचस्पतिमिश्रा ब्रह्मसूत्रभाष्यव्याख्यायां भामत्यां "यथा च वर्षापाये प्राप्तमृद्भावानि मण्डूकशरीराणि तद्वासनावासिततया घनघनाघनासारावसेकसुहितानि पुनर्मण्डूकदेहभावमनुभवन्ति" इति । कृशतरचर्मभस्त्रिकाप्रायाणां ग्रीष्मशोषितानां मण्डूकानां पुनः प्राणागमवृत्तान्तोऽयम् ऋग्वेदीये मण्डूकसूक्तेऽपि पदं लभते । श्रूयतामियम् ऋषिगीता मण्डूककथा मन्त्रेऽस्मिन्–

दिव्या आपो अभि यदेनमायन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् ।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥

इत्थमस्मद्ग्रन्थपरम्परायाम् आ ऋग्वेदादनुवृत्तं मध्ये शास्त्रकारैरपि समुल्लिखितं यन्मृतप्रायाणां मण्डूकानां मृतसंजीवनरहस्यमुपवर्णितं तदेव युक्तरूपमुपमानमुत्पश्यामः संस्कृतभाषाया जीवनशक्तिरहस्यस्य। अत एव मन्यामहे पूर्वपूर्वां प्राणशक्तिं पुनः पुनरासादयन्ती नः संस्कृतभाषा सत्यं मण्डूकायते । ग्रीष्मप्रख्येषु प्रतिकूलेषु कालेषु मूर्च्छां गतेव, स्तब्धेव, निश्चेष्टेव, एडमूकेव, जनैरलक्षितेव, अनादृतेव, भर्त्सितेव, धिक्कृतेव, मृतप्रायेवावस्थायापि संस्कृतभाषेयं दैववशाद् वर्षागमवदनुकूले समये समागते सद्य एव सम्पूर्णां प्राणशक्तिं संप्राप्य पुनरपि पूर्वतनीं ततोऽप्यधिकां वा शोभासमृद्धिमवश्यमेव भोक्ष्यत इति दृढं विश्वसिमः । तदेषा मण्डूकसच्छाया संस्कृतस्य प्राणशक्तिः संदृब्धास्माभिः श्लोकद्वयेन–

कासरे रिक्तनीरे प्रखरतरशुचौ प्राप्तमृद्भावमूर्च्छा
मण्डूकाः शुष्कचर्मोन्मथितदृतिनिभाः शेरते स्तब्धमूकाः ।
पश्चाद् वर्षासु वर्षद्घनरससुहिताः पूर्ववद् दीप्तवीर्या
भूयः संभूय मत्तोद्भटपटुरटनैर्विश्वमाच्छादयन्ति ॥
एवं वाक् संस्कृतापि प्रतिभटविषमग्रीष्मभीष्मे कुकाले
विद्यास्थानेषु कष्टां स्थितिमिह गमिता भूमिगर्ते निखाता ।

स्थित्वा संमूर्च्छितेव प्रमुषितहृदयेवापि हंहो ! मृतेव
प्राप्ते कालेऽनुकूले ननु पुनरुदियादूर्जितप्राणसारा ॥

न कापि लौकिकी शक्तिरेनां भाषां विद्यां वा समूलमुच्छेत्तुमलमिति तु परमार्थः । अस्ति विचित्रा दैवी प्राणशक्तिरस्यां संस्कृतभाषायां यया सा छिन्ना भिन्नापि न म्रियते, रामायणे विराध इव; समूलमुत्खातापि पुना रोहति क्वाप्यन्यत्र, दूर्वाकाण्ड इव; खण्डितापि पुनः सन्धत्ते कथमपि, महाभारते जरासन्धशरीरमिव; पशुमारं मारितापि प्रतिरुणद्धि सर्वान् प्रहारान् महाभारते गान्धारीतपसा वज्रीभूतं दुर्योधनशरीरमिव । मन्ये गीतासु आत्मविषये यन्निगदितं तत्संस्कृतविषयेऽपि प्रकारान्तरेण सुयोज्यमिति–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

तामेनां परमाद्भुतां शाश्वतीमिव जीवनधारणशक्तिमभिध्यायैव मन्ये पूर्वेऽस्माकं मनीषिणो महर्षय इमां संस्कृतभाषां सर्वेभ्यो भाषान्तरेभ्यो व्यावर्तयन्तो देवभाषेत्यपूर्वेण नाम्ना महयांचक्रिरे । अत एवाहाचार्यदण्डी–

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । इति ।

कथमन्यथा विद्यमानासु नैकासु भाषास्वन्यासु इमां केवलाममरवाणीमाचचक्षिरे इति स्वयमेव विमृशन्तु कारणमस्या अपूर्वाभिधानस्य ।

किञ्चान्यत् । चित्रमिदं प्रतिभाति यदापण्डितपामरम् आबालगोपालमियं धारणा निरूढा प्रथते सर्वत्र भारते यद् देवाः स्वर्गलोके व्यवहरन्त्यनयैव भाषयेति । अत एव महाकविः श्रीहर्षोऽप्युत्प्रेक्षांचक्रे यद् दमयन्तीस्वयंवरे समवेताः सर्वे भूपालाः परस्परप्रदेशभाषानवबोधक्लेशं परिहर्तुं स्वयमेव संस्कृतभाषया व्यवजह्रुरिति, तेन च तत्र समागतानां देवानामिन्द्रादीनां भाषामूला प्रत्यभिज्ञा न समभाव्यतेति–

अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु ।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न जनैरचिह्नि ॥

श्लोकस्यायमभिप्रायः । स्वयंवरमण्डपे न केवलं भूलोकगता राजानः किन्तु देवलोकादिन्द्रादयो देवा अपि समवेता अभूवन् । यदि मनुष्यलोकस्था राजानः स्वस्वभाषया व्यवाहरिष्यन् तर्हि संस्कृतभाषया व्यवहरन्तो देवा मनुष्येभ्यो भिन्नतया जनैर्झटिति प्रत्यभिज्ञाता अभविष्यन् । किन्तु मनुष्या अपि तत्र संस्कृतेनैव व्यवाहार्षुः, यतस्ते परस्परस्य भाषां नाज्ञासिषुः । इत्थंगते विचित्रे व्यतिकरे सर्वेषां भाषैक्याद् जनाः देवान् पृथक्त्वेन प्रत्यभिज्ञातुं नापारयन्निति । अस्मिन् नैषधश्लोके देवानां भाषा संस्कृतमित्यर्थस्तु स्पष्ट एव ।

◆

व्यवहारसंस्कृतम्

प्रो. कृष्णशास्त्री कानिटकरः

संस्कृतभाषा

व्याकरण-सूत्र-वार्तिक-भाष्यैर्विस्मायितं जगद् यैस्तान् ।
संस्कृतभाषाचार्यान् पाणिनि-वररुचि-पतञ्जलीन् वन्दे ॥ १ ॥
भाषा जनमनोभावसाधुप्रेषणसाधनम् ।
नोपायस्तां विनान्योऽत्र सुगमो निश्चितश्च यः ॥ २ ॥
भाषामूलं भवेद् वाक्यं वाक्यमूलं पदं भवेत् ।
सुबन्तं च तिङन्तं च पाणिनीये पदं मतम् ॥ ३ ॥
पदमूलं भवेच्छब्दः स शब्दो वर्णमूलकः ।
स्फुटार्था ध्वनयो वर्णा मानवाननिःसृताः ॥ ४ ॥
शिवसूत्रेषु ये वर्णा द्विचत्वारिंशदेव ते ।
स्वरा नव, त्रयस्त्रिंशद् वर्णेषु व्यञ्जनानि च ॥ ५ ॥
अकाराद्याः स्वराः प्रोक्ताः कादीनि व्यञ्जनानि च ।
आकाराद्या अकारादेर्भेदा दीर्घप्लुतात्मकाः ॥ ६ ॥
ह्रस्वादयः स्वरेष्वेव भेदास्ते व्यञ्जनेषु न ।
आचार्यैर्भूषिता भाषा ख्याता संस्कृतसंज्ञया ॥ ७ ॥
भाषाङ्कनोपयुक्तानि चिह्नानि लिपिरुच्यते ।
लिपिः संस्कृतभाषायाः प्रसिद्धा देवनागरी ॥ ८ ॥
द्विधा संस्कृतभाषेयं वैदिकी लौकिकी तथा ।
वैदिकी वेदभाषोक्ता लोकभाषा च लौकिकी ॥ ९ ॥
उल्लेखो योऽस्ति वैदिक्याः स वेदच्छन्द-आदिभिः ।
भाषाशब्देन निर्दिष्टं लोकभाषितसंस्कृतम् ॥ १० ॥
शास्त्रे सर्वशब्दोऽस्ति वेदलोकोभयार्थकः ।
अल्पीयस्येव वैदिक्यां लौकिक्यां चास्ति भिन्नता ॥ ११ ॥

व्यवहारसंस्कृतस्वरूपम्

नाम्ना भाषासंस्कृतमथवा व्यवहारसंस्कृतं यत्तत् ।
समुपन्यस्यामि पुरः सदसद्व्यक्त्यै मनीषिणो मान्याः ॥ १२ ॥
चत्वारिंशतमब्दान् संस्कृतसंलापसरलतासिद्ध्यै ।
चिन्तितमिह संक्षिपतिच्छात्रः कानिटकराभिधः कृष्णः ॥ १३ ॥
इह संस्कृतभाषायाः साहित्यिकमेव रूपमधुनास्ति ।
सा जनभाषाशु स्याद् येन भवेद् भारते जगति चैक्यम् ॥ १४ ॥
सर्वैः सर्वत्र भाष्येत भाषा चेत् संस्कृतं भुवि ।
सह सम्बन्धिमित्राद्यैर्यात्रापणगृहादिषु ॥ १५ ॥
सुगमं संस्कृतमेव प्रतिष्ठितं यदि भवेज्जनेष्वादौ ।
नूनं प्रौढमपि स्यात् कदापि काले प्रतिष्ठितं क्रमशः ॥ १६ ॥
द्विविधं संस्कृतरूपं सुगमं प्रौढं च लभ्यते तत्र ।
आदौ यत् सुगमं तत् सर्वं प्रस्तूयते परीक्षार्थम् ॥ १७ ॥
भाषासंस्कृतमिति यच्चतुर्विधं तस्य कल्प्यते रूपम् ।
कालावधिसहितं तत् क्रमशोऽधस्तान्निरूप्यते सर्वम् ॥ १८ ॥

एकस्मिन् दिने समापनीया योजना

"भाषासंस्कृतबोधः" समापनीयो दिनेऽयमेकस्मिन् ।
सम्पत्स्यते तथाल्पः संस्कृतसाहित्यबोधोऽपि ॥ १९ ॥

दशसु दिनेषु समापनीया योजना

दिवसेषु दशसु पूर्णः स्याद् "भाषासंस्कृतप्रवेशो"ऽयम् ।
संस्कृतसाहित्यस्य ज्ञानं सह तेन विस्तरेणेषत् ॥ २० ॥

त्रिंशति दिनेषु समापनीया योजना

त्रिंशति दिनेषु पूर्णः स्याद् "भाषासंस्कृताभ्यासः" ।
संस्कृतसाहित्यस्य ज्ञानं च सविस्तरमभीष्टम् ॥ २१ ॥

शते दिनेषु समापनीया योजना

दिवसेषु शते पूर्णा छात्राणां "संस्कृतप्रतिष्ठा" स्यात् ।
संस्कृतसाहित्यस्य ज्ञानमधिकविस्तरेण चाभीष्टम् ॥ २२ ॥

व्यवहारसंस्कृतविषये क्रमशो विचारः

वाक्यं सदान्ततो गत्वा क्रिययैव समाप्यते ।
क्रियाविषयकं किञ्चिदत आदौ विचार्यते ॥ २३ ॥

अकर्मकेषु आवश्यकक्रियावाचकरूपाणि

खेलनं खेलनीयं च खेलकः खेल्यते ततः ।
खेल्यतामित्यथो रूपं प्रखेल्याथास्ति खेलितम् ॥ २४ ॥
खेलित्वा खेलितुं चाथ रूपं खेलिष्यते मतम् ।
अस्त्यखेलिष्यतेत्यन्त्यं रूपमेकादशं तथा ॥ २५ ॥
रूपाण्यकर्मकेऽमूनि भाषासंस्कृतजीवितम् ।
अस्-भू-कृधातवः सन्ति बहूद्दिष्टोपकारकाः ॥ २६ ॥

सकर्मकेषु

पठनं पठनीयं च पाठकः पठ्यते ततः ।
पठ्यतां पठ्यमानं च प्रपठ्य पठितं तथा ॥ २७ ॥
पठित्वा पठितुं चाथ रूपमिष्टं पठिष्यते ।
रूपं पठिष्यमाणं स्यादपठिष्यत चान्तिमम् ॥ २८ ॥
सकर्मकेऽसवो भाषासंस्कृतस्य त्रयोदश ।
अस्-भू-कृधातवः सन्ति बहूद्दिष्टोपकारकाः ॥ २९ ॥

णिजन्तेषु

पाठनं पाठनीयं च पाठकः पाठ्यते ततः ।
पाठ्यतां पाठ्यमानं च प्रपाठ्याथास्ति पाठितम् ॥ ३० ॥
पाठयित्वा तथा पाठयितुं पाठिष्यते ततः ।
रूपं पाठिष्यमाणं स्यादपाठिष्यत चान्तिमम् ॥ ३१ ॥
ण्यन्ते सन्त्यसवो भाषासंस्कृतस्य त्रयोदश ।
अस्-भू-कृ-धातवः सन्ति सर्वोद्दिष्टोपकारकाः ॥ ३२ ॥

[पाठिष्यते इत्यादौ स्यप्रत्यये परतः "स्यसिजि"ति (६/४/४२) चिण्वद्भावो द्रष्टव्यः]

क्रियावाचकानि

धातुभ्यः सर्वेभ्यः सकर्मकेभ्यस्तु कर्मवाच्यं स्यात् ।
धातुभ्योऽभीष्टं स्यादकर्मकेभ्यस्तु भाववाच्यं च ॥ ३३ ॥
अस्-भूधात्वोः कृधातोश्च कर्तृवाच्यमपीष्यते ।
एतत्त्रयान्यधातुभ्यः कर्तृवाच्यं तु नेष्यते ॥ ३४ ॥
गण-तच्चिह्न-परस्मैपदादिचिन्ता तु कर्तृवाच्यत्वे ।
नात्राश्रयणीयं तत् सौकर्याद् भावकर्मवाच्यत्वे ॥ ३५ ॥
आत्मनेपदमेव स्याद् वाच्यत्वे भावकर्मणोः ।
सर्वेभ्य एव धातुभ्यो यक् च स्यात् सार्वधातुके ॥ ३६ ॥

भविष्यति यदा भावकर्मवाच्ये तदा मतौ ।
प्रत्ययौ धातुतिङ्मध्ये क्वचिद् इष्य क्वचित् स्य च ॥ ३७ ॥
कर्मणि पठिष्यमाणं रूपं ज्ञेयं पठिष्यतेसदृशम् ।
कर्मणि च पठ्यमानं रूपं यत् तदिह पठ्यतेसदृशम् ॥ ३८ ॥

भूतकालः

समस्तभूतकालार्थं क्तप्रयोगः करिष्यते ।
पूर्णोऽर्थोऽस्धातुना कार्यः श्रुतमासीन्मया यथा ॥ ३९ ॥
पूर्णोऽर्थोऽस्धातुना कार्यो वर्तमानभविष्यतोः ।
क्रमेण-श्रुतमस्तीति श्रुतं चैव भविष्यति ॥ ४० ॥
स्माव्ययेन समं वर्तमानरूपं प्रयुज्यते ।
यदा, तदा भवेद् भूतकालबोधः सुखावहः ॥ ४१ ॥

क्त-क्त्वा-ल्यप्प्रत्ययाः

धातोः क्तान्ते रूपे ज्ञाते क्त्वाप्रत्ययान्तरूपाणाम् ।
प्रायो ज्ञानं सुकरं ज्ञेयानि पृथग् ल्यबन्तरूपाणि ॥ ४२ ॥
सोपसर्गोऽस्ति चेद् धातुः क्त्वास्थाने ल्यब् विधीयते ।
पठ्यतेसदृशं रूपं प्रपठ्येति पठेर्यथा ॥ ४३ ॥

लृङ्लकारः

क्रियायाश्चेदनिष्पत्तिरपठिष्यत कथ्यताम् ।
भविष्यद्रूपसादृश्यं रूपेऽस्मिन् विद्यते सदा ॥ ४४ ॥

इडागमः

शक्लृपच्मुच्रिचीत्यादि यदावश्यकमेव तत् ।
स्मर्तव्यमेवेड्बोधाय नान्यः पन्था हि विद्यते ॥ ४५ ॥

उपसर्गाः

विशेषेणोपसर्गाणां प्रयोगार्थौ निबोधत ।
प्रहाराहारसंहारविहारादौ च भिन्नताम् ॥ ४६ ॥

नामधात्वादीनि

प्रयोगो नामधातूनां तथा च्व्यन्तणिजन्तयोः ।
सर्वः सुखावहोऽस्तीति कार्य आरम्भतः सदा ॥ ४७ ॥

ल्युडादेशः अनः

सर्वेभ्यो धातुभ्यो भवत्यनप्रत्ययः स भावेऽर्थे ।
हसनं हिन्द्यां हँसना, पानं=पीना तथाशनं=खाना ॥ ४८ ॥

अनीयः

सर्वेभ्यो धातुभ्यो विध्याद्यर्थे भवत्यनीयः कृत् ।
सोऽकर्मकात्तु भावे, भवति च कर्मणि सकर्मकाद् धातोः ॥ ४९ ॥
विध्याद्यर्थं प्रयोगः स्यादनीयप्रत्ययस्य चेत् ।
इडागमप्रसङ्गो न, न लिङः क्लिष्टतापि च ॥ ५० ॥
अनीयो भावकर्मार्थः प्रायः क्तोऽपि तथार्थकः ।
गत्यर्थाकर्मकादिभ्यः क्तः कर्तर्यपि विद्यते ॥ ५१ ॥

ण्वुलादेशः अकः

ण्वुल्प्रत्ययोऽस्ति विहितो वर्तमानभविष्यतोः ।
तेनैव कार्यं स्याच्छतृशानचोः कर्तृवाच्ययोः ॥ ५२ ॥
सर्वेभ्यो धातुभ्यो भवत्यकप्रत्ययः स कर्त्रर्थः ।
एतेनैवाकेन व्युत्पाद्याः खेलकादयः शब्दाः ॥ ५३ ॥

((३/१/११३) "ण्वुल्तृचौ" वर्तमाने "तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थाया"मिति च भविष्यति ण्वुल् (३/३/१०))

पुरुषाः

युष्मत्प्रथमास्थाने भवतो-लिङ्गानुसारिरूपाणाम् ।
विहिते सति प्रयोगे मध्यमपुरुषाद् भवेत् सदा मुक्तिः ॥ ५४ ॥
पूज्यो भवांस्तथा तत्रभवानत्रभवांस्तथा ।
कार्याः पूज्यत्वबोधाय प्रयोगाः सर्वसम्मताः ॥ ५५ ॥
स्थानेऽस्मत्प्रथमाया-अयं जनोऽस्मद्द्वयं, बहुत्वे तु ।
स्याच्चेदिमे जना इति मुक्तिः सिद्धोत्तमात् पुरुषात् ॥ ५६ ॥
जनशब्दप्रयोगोऽयम् इष्टः स्त्रीपुंसयोः समः ।
इदंमात्रप्रयोगाच्च कार्यं साध्यं नपुंसके ॥ ५७ ॥
अवशिष्टं च पुरुषे प्रथमे वचनद्वयम् ।
तेनैव सर्वदा कार्यं संस्कृते प्रचलिष्यति ॥ ५८ ॥

वचनानि

नावश्यकं द्विवचनं द्वयशब्दो योज्यतेऽत्र नाम्नोऽन्ते ।
"वृक्षेऽस्ति फलद्वय"मिति पुरुषे प्रथमे तथैकवचने तत् ॥ ५९ ॥
नाम्नि द्विवचनं नेति तिङन्तेऽपि न तद् भवेत् ।
भवत्यतोऽन्यभाषावत् संस्कृते वचनद्वयम् ॥ ६० ॥

कृत्प्रत्यया:

अनानीयाकतुमुक्तक्त्वाल्यब्मानप्रत्यया इमे ।
भजन्ते सार्वभौमत्वं कृत्स्विहेत्ववधार्यताम् ॥ ६१ ॥
कृत्तद्धितचर्चेयं विषयो व्युत्पत्तिशास्त्रसम्बद्धः ।
व्याकरणस्य तथार्थज्ञानस्यैषोपकारिकास्ति भृशम् ॥ ६२ ॥
कृदन्तास्तद्धितान्ताश्च शब्दाः कोशादिवाचनात् ।
सार्था ज्ञेयास्तद्धितेषु केचिन्मुख्या मता यथा ॥ ६३ ॥

तद्धिता:

त्वतलौ-मृदुत्वमृदुते, मदिकौ-धनवांस्तथा भवेद्धनिकः ।
तारकितमितीतच् स्याद्, वत्-विधिवत् पुत्रवच्च यथा ॥ ६४ ॥
सात्-अग्निसात्, तरतमौ स्तः सुखतरसुखतमादिशब्देषु ।
कल्पब्-विद्वत्कल्पो, देशीयश्चाष्टवर्षदेशीयः ॥ ६५ ॥
आदितो मध्यतश्चेति तसिल् सार्वविभक्तिकः ।
ह्रस्वे को-वृक्षको, दघ्नज्-जानुदघ्नं सरिज्जलम् ॥ ६६ ॥
यः स्यादभूततद्भावे च्विः-शुक्लीभवतीति सः ।
तद्धितप्रत्यया मुख्याः केचिदेवात्र दर्शिताः ॥ ६७ ॥
"वा नामधेयस्ये"तीयं वृद्धसंज्ञा विकल्प्यते ।
सर्वेभ्यो रूढशब्देभ्यो "वृद्धाच्छः" सम्मतस्ततः ॥ ६८ ॥
ये घटीयपटीयाद्याः शब्दास्तर्कविदां मताः ।
साध्याश्छप्रत्ययेनैव शेषेऽर्थे विहितोऽस्त्यसौ ॥ ६९ ॥
शेषोऽर्थोऽपत्यादेश्चतुरर्थ्यन्तात् पृथक् स जातादिः ।
तत्रार्थे विहितोऽयं, शब्देऽजाद्यो न याति विकृतिमिह ॥ ७० ॥
प्रत्ययोऽयं सार्वभौमस्थितिं याति जने जने ।
अतस्तस्य प्रसारोऽपि न केनापि निवार्यते ॥ ७१ ॥

शब्दकोशः शब्दरूपावलिश्च

बहवः संस्कृतशब्दाः पुंसि क्लीबे च सन्त्यकारान्ताः ।
ग्राह्यास्त एव पूर्वं तदभावेऽन्ये प्रयोक्तव्याः ॥ ७२ ॥
अकारान्तः सदा शब्दस्तदन्यान्ताद् विशिष्यते ।
विभक्तिरूपसारल्याज् जनकः पित्रपेक्षया ॥ ७३ ॥
आकारान्ता इकारान्ता ईकारान्ताश्च ये स्त्रियाम् ।
बहवः सन्ति ते ग्राह्याः सौकर्यं तैर्भवेदतः ॥ ७४ ॥

दीर्घस्वरान्तशब्दानामभावोऽस्ति नपुंसके ।
ह्रस्वाकारान्तशब्दानामभावोऽस्ति स्त्रियां तथा ॥ ७५ ॥
स्त्रीपुंसयोर्व्यञ्जनान्तनाम्नां रूपेषु तुल्यता ।
सरितो मरुतश्चास्ति साम्यं सर्वविभक्तिषु ॥ ७६ ॥
व्यञ्जनान्तेषु विकृतिर्न स्वरादिविभक्तिषु ।
यथा लिहौ, परं राज्ञ इत्यादौ विकृतिः क्वचित् ॥ ७७ ॥
शब्दा अकारेकारान्तास्तद्भवद्युष्मदस्मदः ।
वेधोधन्यात्मगच्छन्तः कार्या जिह्वाग्रगाः सदा ॥ ७८ ॥
आकारदीर्घेकारान्तशब्दाभ्यासः स्त्रियां हितः ।
जगत्सरिद्भूभृदाद्याः सर्वे कण्ठे स्थिता हिताः ॥ ७९ ॥
[इयमत्र नामशब्दरूपावलियोजना]
गजमुखदयानदीतद्भवदस्मद्युष्मदिदमदः कवयः ।
मतिपशुतनुपितृनेतृद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सरिद्धनिनः ॥ ८० ॥
वेधा युवाणिमात्मा स्त्री धीर्माता प्रधीर्वधूर्भूर्गौः ।
दधि वारि मधु जगदहः कर्म धनुर्धातृ भावि नाम मनः ॥ ८१ ॥
त्वामेत्यादीनि रूपाणि विद्यन्ते युष्मदस्मदोः ।
छात्रैस्तेषां प्रयोगो न कार्यः स्खलनशङ्कया ॥ ८२ ॥
एनप्रयोगमुक्त्यर्थं द्वितीयाटौस्सु सर्वदा ।
अदश्शब्दः प्रयोक्तव्यः शब्दयोरिदमेतयोः ॥ ८३ ॥
श्यामोऽयं मम पुत्रोऽस्ति पाठयामुं गुरो गृहे ।
अमुना पठितं काव्यं, दर्शनं पाठयाधुना ॥ ८४ ॥

लिङ्गानि

पुंल्लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं तृतीयलिङ्गं नपुंसकं चेति ।
सिंहः सिंहीत्यादौ लिङ्गं नियतं बहुत्र च स्वैरम् ॥ ८५ ॥
लोकश्रयं हि लिङ्गं सरला युक्तिर्न तस्य बोधाय ।
संस्कृतभाषायामिह तज्ज्ञानं सर्वतोऽधिकं क्लिष्टम् ॥ ८६ ॥

सन्धयः

उच्चारणविधिः सन्धिर्यः पूर्वपरवर्णयोः ।
विवक्षाधीन एवातः स सर्व इति बुद्ध्यताम् ॥ ८७ ॥
अर्धमात्रात्मकः कालो मध्ये चेद् वर्णयोर्द्वयोः ।
कार्यः सन्धिस्तदाधिक्ये सन्धिर्नेति विकल्पनम् ॥ ८८ ॥

कृत्वैकपदे सन्धिं सर्वैरेव प्रयुज्यतेऽत्र पदम् ।
नित्यः स तत्र, धातूपसर्गयोरपि स नित्य एवास्तु ॥ ८९ ॥
समासविषये सन्धेर्विकल्पस्य प्रकल्पनात् ।
भूवादिसूत्रभाष्येऽपि विकल्पस्यास्ति शङ्कनम् ॥ ९० ॥
पद्ये मात्रादिगणनं सन्धिं ज्ञात्वैव कल्प्यते ।
सन्धिज्ञानमतः कार्यं प्रयोगेऽस्तु विकल्पनम् ॥ ९१ ॥

समासाः

अवश्यं सरलाः कार्याः समासा द्विपदात्मकाः ।
सख्यादिषु समासान्तभीतेः पर्याययोजनम् ॥ ९२ ॥
एष पुत्रसखो यातीत्यस्य स्थाने प्रयुज्यताम् ।
याति पुत्रवयस्योऽयमित्याद्यत्र यथामति ॥ ९३ ॥
अन्ते येषां समासानां प्रत्ययस्य विधिर्भवेत् ।
प्रयोगाः परिहर्तव्याश्छात्रैस्ते भाषणे मिथः ॥ ९४ ॥
शब्दा रहितशून्याद्या युक्तयुक्तादयस्तथा ।
सर्वदा संप्रयोक्तव्या गोशून्यो, गोयुतो यथा ॥ ९५ ॥
प्रायः समस्तशब्दानामदन्तत्वविधित्सया ।
प्रवर्तन्ते समासान्ताः प्रत्यया इति दृश्यते ॥ ९६ ॥
स्थलेषु केषुचिद् द्वन्द्वः समाहारो नियम्यते ।
स चेतरेतरद्वन्द्वात् सुलभोऽप्यस्ति भाषणे ॥ ९७ ॥
प्रसिद्धा येऽव्ययीभावास्ते ग्राह्या भाषणे सदा ।
समासे क्लिष्टता यस्मिन् स समासोऽपनीयताम् ॥ ९८ ॥

अव्ययानि

प्रारम्भादेवाव्ययशब्दा वाक्ये भृशं प्रयोक्तव्याः ।
स्थलकालादिकभेदान् ज्ञात्वा सम्यक् प्रयोग आश्रेयः ॥ ९९ ॥

विशेषणानि, क्रियाविशेषणानि च

नैव वाक्ये प्रयोक्तव्यं केवलं शोभनादिकम् ।
तत्त्वतोऽर्थं विदित्वैव प्रयोक्तव्यं विशेषणम् ॥ १०० ॥
क्रियाविशेषणानां च प्रयोगो वाक्यभूषकः ।
छात्रैस्तेषां प्रयोगोऽपि कार्यो वाक्ये शनैः शनैः ॥ १०१ ॥

विभक्त्यर्थाः

कारकनियमान् स्मृत्वा व्यवहारे संस्कृतं प्रयोक्तव्यम् ।
संख्याव्ययधात्वादेरुपयोगे सावधानता श्रेया ॥ १०२ ॥
कारके कर्तृकर्मादिरविवक्षा भवेद् यदा ।
सम्बन्धेऽस्ति तदा षष्ठी, षष्ठी सर्वार्थसाधिका ॥ १०३ ॥
स्यात् पञ्चम्याः स्थाने तस्प्रत्यय, इति न पञ्चमी कार्या ।
नौतो नौद्वयतो बहुनौत इति च सर्वदा प्रयोक्तव्यम् ॥ १०४ ॥
स्थाने क्वचित् तृतीयाया द्वारा वा साधनेन वा ।
प्रयोक्तव्यं, यथा-दण्डद्वारा सर्पोऽत्र हन्यताम् ॥ १०५ ॥
नाम्नोऽन्तेऽर्थं प्रयोक्तव्यं चतुर्थी विहिता यदि ।
पानायेत्यस्य यत्कार्यं तत् पानार्थं करिष्यति ॥ १०६ ॥
उपर्याद्याः प्रयुज्यन्तां षष्ठ्यन्तेन समं क्वचित् ।
स्याद् भूमाविति चेद् भूमेरुपरीत्यादि भाष्यताम् ॥ १०७ ॥
सच्छात्रैः स्मर्तव्या उपपदकारकविभक्तयो नित्यम् ।
अभ्यास एव तत्र प्रभवेत् संलापकुशलतासिद्ध्यै ॥ १०८ ॥

संख्याः

गणनार्था यथा संख्या पूरणार्थापि सा तथा ।
स्मर्तव्ये ते उभे संख्ये स्खलनं ध्रुवमन्यथा ॥ १०९ ॥
संस्मर्येतामुभे लघ्वी संख्या दीर्घा तथा भृशम् ।
अनभ्यासात्तयोर्मौनं सभायामुपहासकृत् ॥ ११० ॥
योऽर्थ एकशतस्यास्ति सोऽत्रास्त्येकाधिकं शतम् ।
तथार्थो द्विशतस्यास्ति यः सोऽस्ति द्व्यधिकं शतम् ॥ १११ ॥
बहु वाच्यं यत् संख्याविषये तत् सर्वमुच्यतेऽन्यत्र ।
सर्वत्र सावधानैः संख्याविषये सदैव भवितव्यम् ॥ ११२ ॥

सारः

सङ्कीर्णं यन्निषेधाद्यैः कार्यं तद् दूरतस्त्यजेत् ।
सर्वदा तज्जनैर्ग्राह्यं सरलं यत् प्रतीयते ॥ ११३ ॥

उपसंहारः

सरलक्लिष्टौ मार्गौ स्त उभावपि पाणिनीयशास्त्रेऽतः ।
भाषां प्रविश्य सरलैर्मार्गैः क्लिष्टस्ततोऽधिगन्तव्यः ॥ ११४ ॥
पालिर्वा प्राकृतं वा स्यात् पाणिनीयस्य बाधने ।
तन्माभूदिति शास्त्रस्य प्रामाण्यं नावमन्यताम् ॥ ११५ ॥

व्यवहारसंस्कृतसारः

(1) नामाद्यन्ते द्वयशब्दसंयोजनात् सुबन्ततिङन्तयोर्द्विवचनान्मुक्तिः।

(2) युष्मत्प्रथमास्थाने भवच्छब्दप्रथमाप्रयोगेण मध्यमपुरुषान्मुक्तिः।

(3) अस्मच्छब्दप्रथमास्थाने अयं जन इत्यादिप्रयोगेण उत्तमपुरुषान्मुक्तिः।

(4) अन्ततोगत्वा केवलं प्रथमपुरुषैकवचनबहुवचने एव प्रयोगार्हे।

(5) अस्-भूधात्वोः कर्तृभाववाच्ये, कृधातोश्च कर्तृकर्मवाच्ये प्रयोगः कार्यः।

(6) अन्येषु धातुषु सकर्मकेभ्यः कर्मवाच्यमेव तथा अकर्मकेभ्यः भाववाच्यमेव।

(7) एतत्स्वीकारे भ्वाद्यादिगणज्ञानचिन्ता न।

(8) गणविकरणचिन्ता न।

(9) आत्मनेपदपस्मैपदविचारचिन्ता च न।

(10) शतृप्रत्ययस्थाने कर्तरि वर्तमानभविष्यतोः कार्यम् अकप्रत्ययः (ण्वुल्) करिष्यति।

(11) कर्मणि पठ्यमानपठिष्यमाणरूपयोः व्यवस्था स्वीकृता एव।

(12) भूतकाले क्तप्रत्ययस्यैव प्रयोगः। पूर्णभूतादिकं सर्वमस्धातुसाहाय्येन सिद्धम्।

(13) लिङर्थे केवलमनीयप्रत्ययः भावकर्मार्थकः स्वीकृतः। तस्य विविधा अर्थाश्च स्वीकृताः।

(14) लोट्लकारः स्वीकृतः अस्ति।

(15) क्रियाया अनिष्पत्तौ अपठिष्यतेत्यादि लृङ्लकाररूपं स्वीकृतम्।

(16) भावे केवलमनप्रत्ययेन (ल्युट्प्रत्ययेन) हसनपठनादिशब्दैः सर्वं कार्यं साधितम्।

(17) कृत्प्रत्ययेषु अन, अक, तुम्, क्त, क्त्वा, ल्यप्, अनीयकर्मवाच्यमानप्रत्ययानां प्राधान्यम्।

(18) सोपसर्गाणां धातूनां, नाम-धातूनां, णिजन्तानां च्व्यन्तानां च प्रारम्भत एव अभ्यासार्थं प्रवर्तनम् आवश्यकम्।

(19) सन्धिः केवलमेकपदे, धातूपसर्गयोश्चापरिहार्यः, समासे वाक्ये च वक्तुरिच्छा।

(20) विशेषणानां, क्रियाविशेषणानाम्, अव्ययशब्दानां, संख्याशब्दानां च विशेषेणाभ्यासः। दीर्घसंख्याकथने च सौविध्यप्रदर्शनम्।

(21) केवलं द्विपदात्मका मातृभाषायां रूढाः सरलाश्च समासा एव ग्राह्याः। द्वन्द्वे समाहारद्वन्द्वप्राधान्यम्। येषु समासान्ता विधीयन्ते, तेभ्यो दूरे एव स्थातव्यम्।

(22) विभक्त्यर्थानां सम्यग् ज्ञानम् अपरिहार्यम्।

(23) उपपदविभक्तीनां च अविवर्जनीयता विद्यते। द्वारापदसंयोजनेन, साधनेन पदसंयोजनेन वा तृतीयायाः स्थाने क्वचित् च प्रयोग इष्टस्तदन्तः। अर्थपदस्य नामाद्यन्ते संयोजनेन क्वचिच्चतुर्थ्या मुक्तिः। तस्प्रत्ययस्वीकारेण पञ्चम्या मुक्तिः। षठ्यन्तेन सह, उपरिमध्यादिशब्दयोजनेन क्वचित् सप्तम्याश्च मुक्तिः। सर्वासु विभक्तिषु विवक्षानुसारेण षष्ठीविभक्त्याः प्राधान्यम्।

(24) तद्धिते ज्ञाताः प्रसिद्धा एव प्रयोगाः ग्राह्याः । अन्यत्र वाक्यप्रयोगेण कार्यं साधनीयम् । 'वा नामधेयस्येति' वार्तिकिन सर्वरूढशब्देभ्यः अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तेभ्यः अन्येषु जाताद्यर्थेषु वृद्धसंज्ञायां, छप्रत्ययस्यैव भूयिष्ठं प्रयोगकरणस्य उपदेशः । तेन घटीयपटीयशब्दाः सुखेन व्युत्पादनीयाः ।

(25) कोषादिग्रन्थेभ्यः अकारान्तादिसरलशब्दग्रहणार्थम् उपदेशः ।

(26) लिङ्गविषयिणीमसहायतां दूरीकर्तुं निम्नलिखितः प्रस्तावः ।

(क) सर्वे चेतनपदार्थवाचकाः शब्दाः स्फुटपुंस्त्वस्त्रीत्वचिह्नानुसारेण पुंल्लिङ्गे स्त्रीलिङ्गे च प्रयोक्तव्याः, यथा नरः नारी ।

(ख) चेतनेष्वपि पुंस्त्वस्त्रीत्वचिह्नानिर्णये ते सर्वे शब्दा नपुंसकलिङ्गा भवेयुः, यथा क्षुद्रजन्त्वादयः ।

(ग) सर्वे अचेतनपदार्थवाचकाः शब्दाश्च नपुंसकलिङ्गे प्रयोक्तव्याः ।

यावत्पर्यन्तं नैष प्रस्तावः भाषाधिकारिपुरुषैः समर्थ्यते तावत्पर्यन्तं यथास्थितमेव श्रेयः ।

लिङ्गस्य लोकाश्रयत्वात् लिङ्गविषये परिवर्तनादिकं कर्तुं संस्कृतभाषाधिकारिणः एव प्रभविष्यन्ति ।

प्राचीनपरम्परया
लिखितं ग्रन्थेषु, भाषितं वान्यैः ।
दीयन्त एव वेत्तुं
सङ्केता इह नवीनपद्धत्याम् ॥

◆

संस्कृतवाङ्मयं विश्वसर्वस्वम्

श्रीसिद्धिनाथगौतमः

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः" इतीत्थं समादृत्य सुरभारती सर्वत्र सर्वदा सर्वथा देदीप्यमाना सती विश्वशान्तिं सकलमानवकल्याणं च सम्पादयित्री विराजतेतरां सुतरामिति तु विजानन्त्येव सर्वेऽपि विवेकिनः सन्तो महान्तः ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

इत्येवमीश्वरीयसत्तासाम्राज्यं सर्वत्र स्वीकृत्य सर्वत्र कार्येषु निष्काम-कर्मयोगं निर्दिशत् संस्कृतवाङ्मयं शाश्वतं सनातनं विष्वक्प्रसृमरगौरवं विश्वजनीनं चेत्यत्र नास्ति कोऽपि द्वापरावसरः ।

"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्", "वसुधैव कुटुम्बकम्" इत्याद्युद्घोषतो विश्वमानवान् प्रति एकपरिवारत्वेन एकाश्रयत्वेन च व्यवहरत् संस्कृतं चिरनूतनं देशकालाद्यनवच्छिन्नं सर्वोपकारकं सर्वोपादेयञ्च वरीवर्तीत्यत्र प्रमाणं सकलमेव विश्वम् । यतः सर्वत्र देशेषु स्वकीयराष्ट्रप्रकृत्यनुरूपं स्व-स्वप्रकारेण संस्कृतं शिक्षणानुसन्धानादिषु कृतव्यवस्थमेव परिदृश्यते । **"आत्मवत् सर्वभूतेषु", "भद्रकृद् भद्रमश्नुते"** इत्येतादृशीमुदात्तामुद्घोषणां प्रसार्य यादृशी विशालाऽनुकरणीया च भावना संस्कृतेन संस्थापिता, ततः सर्वेऽपि प्राणिनः सातिशयं प्रभाविता विहितोपकाराश्च विद्यन्ते ।

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति" ॥
"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" ।
"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" ।

इत्याद्युद्गारतः संस्कृतेनैव सुचिरकालादद्यावधि समतायाः स्वातन्त्र्यस्य विश्वबन्धुत्वस्य च महनीया मानवीयमर्यादाः सजीवं संस्थापिताः सर्वत्र जगति ।

श्रुतिस्मृतिपुराणसाहित्यानां दर्शनशास्त्राणां रामायणमहाभारतादिरचनानां च उदात्ता उदाराश्च ये सन्ति आदर्शास्तेषामुन्मेषतोऽनुप्राणिताः सर्वेऽपि आर्यसंस्कृत्यनुयायिनः सगर्वगौरवं प्रशंसनीयत्वेन प्रतिष्ठिताः सन्ति ।

"सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा", "संस्कृतं संस्कृतेर्मूलम्" इतीत्त्थं विश्वैकान्तहितायाः प्रथमसंस्कृतेर्मूलरूपेण प्रतिष्ठितस्य संस्कृतवाङ्मयस्य देशकालाद्यनवच्छिन्नतया समग्रवर्ण-जाति-वर्ग-व्यवसायेषु

परस्परं सुमधुरतापूर्णैकतायाः सम्पादकं समेषां श्रद्धेयं समादरणीयञ्चासाधारणं वैशिष्ट्यं सर्वत्र जागर्ति नितरां समीचीनया रीत्या।

सकलानामप्यार्यभाषाणां स्रोतो विश्वभाषोपकारकमेव संस्कृतमजरममृतं च वाङ्मयम्। पुनश्च संस्कृतभाषा केवलं भाषैव न, विविधज्ञानविज्ञानानन्तनिधिरप्यत्र वर्तत एव। केवलमेतावदेव न, संस्कृते विषयप्रतिपादनशैल्यपि आलङ्कारिकतया, दार्शनिकतया, अनुवादादितो यथायथं स्वकीयस्वारस्यानुत्पादकत्वेन च पृथगेव वैशिष्ट्यशालिनीत्यतोऽपि सनातनी अजराऽमरा च।

संस्कृतस्यैतादृशं चतुरस्रप्रसृतमजरममृतञ्च महत्त्वं निभाल्यैव विश्वे स्व-स्वराष्ट्रप्रकृत्यनुकूलतया शिक्षणानुसन्धानादिव्यवस्था विहिता वर्तते। अस्माकं नेपालाधिराज्ये विशेषतो धर्म-दर्शन-भाषा-भूषाचारविचारांश्च संस्कृताश्रितान् विमृश्य संस्कृतशिक्षा राष्ट्रियशैक्षिकधारायां समन्विता कृताऽस्ति। एतस्मिन्नेव परिप्रेक्ष्ये संस्कृतविश्वविद्यालयोऽपि संस्थापितोऽस्ति। विश्वविद्यालयोऽयं शैक्षिक-प्राज्ञिक-विभिन्नकार्यक्रमसञ्चालने तत्परत्वेन संलग्नोऽस्ति। संस्कृतं जनोपयोगिरूपेण सर्वजनसुलभं कृत्वा अध्यात्मभाव-चरित्रनिर्माण-नैतिक-मर्यादासंस्थापने प्रयोगानुभवरूपविज्ञानात्मकत्वे च विश्वविद्यालयत आदर्शभूताः कार्यक्रमाः सञ्चालनीयाः सन्ति।

नेपालाधिराज्ये संस्कृतशिक्षापाठ्यक्रमे द्विविधो दृष्टिकोणः स्वीकृतो वर्तते। शास्त्रिकक्षापर्यन्तं संस्कृतविषयास्तु स्वतो भवन्त्येव, आङ्ग्लभाषा-राजशास्त्रार्थशास्त्राद्याधुनिकविषयाणामपि तत्र समावेशः कृतोऽस्ति।

यतो राष्ट्रियविकाससन्दर्भे प्राशासनिकादिकार्येष्वपि शास्त्रिपरीक्षोत्तीर्णाश्छात्राः, बी. ए. परीक्षोत्तीर्णच्छात्रसमकक्षत्वेन निर्बाधं प्राप्तावसरो भवेयुरिति। आचार्यकक्षायां विद्यावारिधौ च तत्तद्विषयाणां विशिष्टीकरणतः सम्बद्धविषयविशेषज्ञोत्पादनलक्ष्यं निर्धार्य पाठ्यक्रमव्यवस्था कृता वर्तते। आचार्यस्य एम. ए. समकक्षत्वं विद्यावारिधेः पी-एच. डी. समकक्षत्वं स्वीकृतमस्ति। इत्थमस्माकं नेपालदेशे संस्कृतपरोक्षोत्तीर्णाश्छात्रा अन्यपरीक्षोत्तीर्णच्छात्रैः सह प्रतिस्पर्धां कुर्वन्तः सफलतां च गताः सन्ति।

धर्म-दर्शन-कला-साहित्य-भाषाविज्ञानायुर्वेद-ज्यौतिष-राजशास्त्रार्थशास्त्र-कृषि-वाणिज्य-पशुविज्ञान-वनस्पतिशास्त्रादिनैकविधज्ञानविज्ञानानन्तनिधेः संस्कृतवाङ्मयस्योपादेयत्वं सर्वत्र देशेषु स्वेन स्वेन रूपेण सविशेषं स्वीकृतमेव लभ्यते। भारतवर्षस्य तु समग्रमेव जीवनदर्शनं संस्कृतवाङ्मयादेवानुप्राणितं विद्यते।

"सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्" इति यदस्ति महाकविकालिदासोट्टङ्कितम्, ततोऽपि ज्ञायते यत्–अतिप्राचीनकालतः कालिदासपर्यन्तं तत इदानीं यावदपि अविच्छिन्नप्रवाहरूपेण संस्कृतं प्रचलत्समागतमस्तीति। महाकवेरस्याभिज्ञानशाकुन्तलविषये पाश्चात्त्यविदुषो गेटेमहाभागस्याभिव्यक्तिरस्मिन् प्रसङ्गे संस्मरणीयाऽस्ति। यथा–

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमहो सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूर्लोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

संस्कृतवाङ्मयस्यैका कृतिरपीत्थं प्रशंसिता वर्तते चेत्, समग्रं वाङ्मयं तु कीदृशं महत्त्वशालि स्यादिति कथनमशक्यमेव ।

प्राचीनेतिहाससंस्कृतिशिलालेखानां दुर्लभानाममूल्यानां हस्तलिखितग्रन्थानां च नेपालो भारतं च भाण्डागाररूप एव । एतेषां सम्पादनप्रकाशनानुसन्धानानां बृहद्व्यवस्था विधातव्याऽस्ति । विश्वसम्पदासूच्यां समाविष्टानामनेकविधमठ-मन्दिर-मूर्तिसमेतानां कलात्मकविविधसम्पत्तीनां महनीयमहिमान्वितानां तीर्थस्थलानां च विशालातुलनिधिरूपं भारतवर्षं संस्कृतवाङ्मयस्य नैकविधदृष्ट्या अध्ययनानुसन्धानादिविषयीभूतमस्ति । एतेषां संरक्षणाध्ययनादिसौविध्यार्थमणुच्छायिकतदध्ययनयन्त्रादीनाम् (माइक्रोफिल्म-माइक्रोफिल्मरीडराख्यादीनाम्) आधुनिकसामग्रीणामपि व्यवस्था साधु विधेयैव प्रतिभाति ।

सयुगबोधं नवीनविचारैः समं प्रतिस्पर्धायां क्षमताशालिन्या आधुनिकतोपलब्ध्या उपायान्तरैश्च संस्कृते आकर्षणं समानेयम् । अन्ताराष्ट्रियक्षेत्रे स्व-स्वविचाराणां समुपस्थापकेषु संस्कृतमप्येकमस्ति सक्षमम् । कम्प्यूटरविज्ञाने संस्कृतसदृशमुपादेयं नान्यदस्तीत्यपीदानीं तद्विशेषज्ञाः कथयन्ति । अतः संस्कृतशिक्षणम्, तन्मूलकमनुसन्धानादिकं च सर्वत्र देशेषु योजनाबद्धरूपेण निष्ठापूर्वकं सञ्चालनीये सुतरामेव ।

यावद् भारतवर्षं स्याद् यावद् विन्ध्यहिमाचलौ ।
यावद् गङ्गा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम् ॥

पाश्चात्त्यैरपीत्त्थं कृतप्रशंसस्य संस्कृतवाङ्मयस्य ज्ञान-विज्ञानक्षेत्रे यदस्ति योगदानं तत्सर्वदा सर्वथा मानवसर्वस्वरूपेणैव स्थितं सम्यगनुभूयते ।

"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" ।

महाकविकालिदासेनेत्त्थं वर्णितस्य विश्वस्मिन् सर्वोन्नतस्य शैलाधिराजस्य हिमालयस्य स्वच्छेन समुन्नतेन च महिम्ना मण्डितोऽस्माकं नेपालदेशः । भारतवर्षमपि तथैव गौरवान्वितं सत् **"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"** इति राष्ट्रियादर्शं स्मारं स्मारं "सत्यं शिवं सुन्दरम्" इति जीवनदर्शनं समाश्रयति ।

उपर्युक्तवस्तुतथ्यानुसारमपरिमितोपादेयतासम्पन्नस्य विश्वजनीनस्य संस्कृतवाङ्मयस्य चतुरस्रविकासार्थं सर्वैरेव देशैः सश्रद्धं प्रयासः कर्त्तव्यः । सन्दर्भेऽस्मिन् सञ्चालनीयेषु कार्यक्रमेषु निम्नाङ्कितकार्यक्रमा विशेषतः परिगणनार्हा भवन्ति । यथा–

1. संस्कृतशिक्षणसंस्थानां संख्यावर्द्धनम्, आश्रमपाठशालाव्यवस्था च ।
2. संस्कृतशिक्षायां नारीवर्गस्याल्पसंख्याकस्य च वर्गस्य प्रोत्साहनम् ।
3. अपेक्षितकालपर्यन्तं छात्रवृत्ति-छात्रावासादिसौविध्यस्य प्रदानं वर्द्धनं च ।
4. स्थाने-स्थाने कर्मकाण्डप्रशिक्षणम्, रामायण-महाभारतकथापुराणवाचनव्यवस्था, धर्मसभादिप्रबन्धश्च ।
5. संस्कृतविशिष्टजनशक्तीनां कृते सम्मानपूर्णकार्यक्षेत्रस्य निर्धारणम् ।
6. सरलपुस्तकरचना, सरलसंस्कृतशिक्षणशिबिरादिसञ्चालनञ्च ।

7. सर्वत्र शिक्षालयेषु संस्कृतस्यानिवार्यत्वम्, संस्कृतसम्बद्धसम्पत्तीनां संरक्षणं सम्यगुपयोगश्च ।
8. ग्रामे ग्रामे स्थितानां संस्कृतपण्डितानां संस्कृताधारशिक्षणव्यवस्थायां प्रयोगः ।
9. व्यास-वाल्मीकि-कालिदासादीनां जयन्तीसमारोहव्यवस्था, विश्वव्यापिरूपेण संस्कृतदिवससमारोहसञ्चालनञ्च ।
10. संस्कृतविदुषां कृते राष्ट्रियपुरस्कारव्यवस्था, अन्ताराष्ट्रियबृहत्पुरस्कारप्रबन्धश्च ।
11. दूरध्वनिचित्रप्रसारकयन्त्रेभ्यः (रेडियो-टेलीविजन) चित्रपट्टकादिभ्यश्च संस्कृतमहत्त्वप्रदर्शनपूर्वकं प्रचारप्रसारकार्यम् ।
12. योगाश्रमज्यौतिषवेधशाला, शुष्केष्टि-यज्ञशालादिप्रायोगिकव्यवस्था ।
13. ज्यौतिषायुर्वेदसदृशे प्रयोगशास्त्रे पौरस्त्यपाश्चात्त्याध्ययनयोस्तुलनात्मकमध्ययनम् ।
14. सर्वाङ्गीणानां विशिष्टानां संस्कृतपुस्तकालयानां व्यवस्था ।
15. संस्कृतमयवातावरणयुक्ताया एकस्याः संस्कृतराजधानी-महानगर्या उद्घोषणम् ।
16. एकस्य बृहतः संस्कृतपरिचयग्रन्थस्य प्रकाशनम् ।
17. परस्परं राष्ट्रेषु संस्कृतक्रियाकलापानां संस्कृतजनशक्तीनां च अन्योन्यं विनिमयव्यवस्था ।

परिगणनार्हा एते कार्यक्रमास्तु सन्त्येव । पुनरप्यधिकं विशेषतो निम्नोट्टङ्किताः कार्यक्रमाः प्रस्तावरूपेण प्रस्तूयन्ते—

1. विश्वसंस्कृतेरेव मूलस्रोतोभूतं संस्कृतम्, तन्निष्ठाश्च विश्वकल्याणकारिणीः सार्वभौमचिरन्तनार्षभावनाः सर्वतः प्रसारयितुं समुद्बोधयितुं च विश्वस्मिन्नेका विश्वसंस्कृतप्रसारिणी समितिः सङ्घटनीया । तस्याः शाखाप्रशाखाश्च प्रत्येकं राष्ट्रे समुद्घाटिताः स्युः ।

2. सर्वासामपि विश्वभाषाणामुपजीव्यत्वेन प्रतिष्ठिताया विश्वशान्तिविश्वबन्धुत्वभावनोद्बोधपराया ज्ञानविज्ञानानन्तनिधिनिलयायाः संस्कृतभाषायाः सर्वत्र संरक्षण-संवर्धन-प्रचार-प्रसारादिषु संयुक्तराष्ट्रसंघेण तदन्तर्गतया शिक्षा-विज्ञान-संस्कृतिसंघटनाख्यया (यूनेस्को) संस्थया विश्वसंस्कृताक्षयकोषसंस्थापनादिनैकविधकार्यसम्पादनपुरःसरं विशिष्टः प्रयासः कर्त्तव्यः ।

3. विश्वसंस्कृतेरेव स्रोतोरूपेण प्रसृतानां संस्कृतभाषानिबद्धानां प्राच्यग्रन्थाभिलेखानां पाण्डुलिपीनाञ्च विश्लेषणात्मकसूचीपत्रादिनिर्माणपुरःसरं सम्पादनप्रकाशने विधातव्ये ।

4. संस्कृतविकाससम्बन्धिनो महतः कार्यजातस्य सफलतायै आधुनिकसकलव्यवहारसम्पादनाय च बृहत्संस्कृतशब्दकोषनिर्माणेऽन्ताराष्ट्रियसंस्कृतविदुषामेकं कार्यदलं यूनेस्कोसदृशविश्वसंस्थयैव प्रवर्तनीयम् ।

5. संस्कृतवाङ्मयनिबद्धानां महत्त्वपूर्णविषयवस्तूनां सव्याख्यं भाषान्तरणव्यवस्था, भाषान्तरस्थानां जीवनोपयोगिविषयाणां संस्कृतभाषायामनुवादादिकार्यम्, प्राचीनग्रन्थाधारतो जलवायुविज्ञानसम्बन्ध्युद्घोषणम्, प्राचीनग्रन्थस्थानां वनस्पति-जीव-रसायनशास्त्राणामन्वेषणम्, पौराणिकप्रतीकाणां सोपपत्तिव्याख्यानमित्यादिकं बृहत्कार्यजातं सम्पादनीयं विद्यते । उपर्युक्तानां विविधानां विद्याविधानां

भाषान्तरण-प्रकाशनादि-निखिलकार्यसम्पादनार्थं सर्वत्र देशेषु संस्कृतप्रज्ञाप्रतिष्ठानानि (एकेडेमिज) संस्थापनीयानि । यत एतद्विधविविधकार्यकरणे सौविध्यं भवेत् ।

महतीनां प्रतिभानां साधकानां तत्त्वद्रष्टृणां चावदानाद्विकसितं वेदमूलमनन्तज्ञानविज्ञानसाधनं विश्वोपकारकं विश्वमानवसर्वस्वं संस्कृतवाङ्मयम् । एतादृशस्य संस्कृतवाङ्मयस्य सर्वतोमुखिविकासार्थं बद्धपरिकराः सन्तो वयं विशिष्टाभियानरूपेणैव विविधान् क्रियाकलापान् उदाहरणीयतया सञ्चाल्य विषयेऽस्मिन् विद्यासमक्षं नेतृत्वप्रदानसमर्था मार्गदर्शका भवेम । यतो मनुमहाराजस्य–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इत्येतदुद्घोषणमिदानीमपि मूर्तरूपेण सार्थकतया समन्वितं सत् समुज्जृम्भताम् । अस्तु शम् ।

"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योंतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय, जयतु संसारे संस्कृतम्" ।

●

अष्टाध्यायीस्थानां कारकसूत्राणां क्रमे विमर्शः

डॉ. के. रा. जोशी

संस्कृतभाषाया वैदिकं लौकिकं चेति रूपद्वयमपि व्याकुर्वतो भगवतः पाणिनेः अपूर्वं बुद्धिकौशलं जगति तिष्ठति कुतूहलस्य संमानस्य च विषयः। पाणिनिना रचिताम् अष्टाध्यायीं सार्धद्विसहस्रवर्णजातम् अतीतं, वैयाकरणा अधीयते। अष्टाध्याय्यां नैके विषयाः तथा खलु गूढया पद्धत्या विविधेषु स्थलेषु परामृष्टा यत् तदीयं वस्तुस्वरूपं बोद्धुमपारयन्तः कतिपये विद्वांसः अष्टाध्याय्याः स्वरूपम् अनैसर्गिकं, कृत्रिमं, संभ्रमजनकं चेति अभिप्रयन्ति। पाणिनिना कृतः कारकविचारः अत्र निदर्शनं भवति। यतो हि कारकविचारः आदौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थे पादे 'कारके' (1.4.23) इति सूत्रतः प्रवर्तते। तत्र अपादानं (1.4.24), संप्रदानं (1.4.32), करणं (1.4.42), अधिकरणम् (1.4.45), कर्म (1.4.49), कर्तेति (1.4.54) क्रमो वर्तते। अनन्तरं कारकविशेषस्य प्रतिपादनाय का विभक्तिः प्रयोक्तव्येति विवृण्वन् भगवान् पाणिनिः द्वितीयाध्याये तृतीयपादस्य आरम्भे 'अनभिहिते' (2.3.1) इति सूत्रं ग्रथ्नाति। तदनन्तरं च क्रमः तिष्ठति द्वितीया (2.3.2 कर्म), चतुर्थी (2.3.13 संप्रदानम्), तृतीया (2.3.18 करणम्), पञ्चमी (2.3.24 अपादानम्), सप्तमी (2.3.36 अधिकरणम्), प्रथमा (2.3.46 कर्ता), षष्ठी (2.3.50 संबन्धद्योतिका) इति। इदं विभक्तिप्रकरणं 2.3.70 मितेन सूत्रेण अवसानं गच्छति। परं लोके कारकक्रमः –

कर्ता कर्म च करणं संप्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणम् इत्याहुः कारकाणि षट्॥ इति प्रसिद्धः।

कारकसंज्ञा खलु पाणिनिकालतः पूर्वं लोके प्रसिद्धा। अपि च सा पाणिनिना अकृतनिर्वचनैव अष्टाध्याय्यां गृहीता। परम् अपादानादिसंज्ञाः पूर्वं प्रसिद्धा अपि कम् अर्थविशेषं स्वव्याकरणे प्रकाशयन्तीति पाणिनिना स्वसूत्रैः प्रकटीकृतम्। तत्र कारकाणां क्रमः तेषां षट्त्वं चेति प्रायः सर्ववैयाकरणसंमतम्। कारकबहिर्भूता अपि संबन्धप्रतिपादने प्रयुज्यमाना षष्ठी विभक्तिक्रमे पूर्वत एव लब्धस्थाना। एवंगते प्रश्नः समुद्भवति कुतः खलु भगवान् पाणिनिः कारकाणां चिरप्रसिद्धं क्रमं परित्यज्य कारकसंज्ञाप्रकरणे अपादानसंज्ञात आरभ्य कर्तृसंज्ञया समाप्तिं करोति, विभक्तिप्रयोगविचारे तु आदौ कर्मप्रतिपादिकां द्वितीयां निरूप्य कारकबहिर्भूतया षष्ठ्या समाप्तिं विदधाति। अपीयं मुनेः स्वतन्त्रेच्छता अथवा भवति तत्र किमपि प्रयोजनम्? म. म. काशीनाथशास्त्रिणा अभ्यंकरोपनाम्ना 'अत्र क्रियायाः अतिदूरतः संबद्धं कारकम् इति प्रथमम् अपादानकारकं विचारितं, क्रियाया नेदिष्ठं च कारकं कर्तृरूपम् अन्ते विचारितम्। कारकप्रतिपादिकानां विभक्तीनां क्रमशो निरूपणे प्रस्तुते तु

कारकाणां क्रियादृष्ट्या महत्त्वं समालोच्य प्रवर्तमानः प्रथमाद्वितीयेति प्रसिद्धः क्रम एवाश्रित इति म. म. काशीनाथशास्त्रिमहोदयस्य मतम् । अन्येन केनापि नवीनेन अधीतिना यज्ञक्रियाया विवरणं कुर्वता पाणिनिना कृतं प्रतिपादनभेदं समर्थयितुं प्रयत्नः कृतः । उभयोर्मध्ये पाणिनिना शब्दानुशासनं रचितमिति म. म. काशीनाथशास्त्रिणा कृतं विवरणं तदनुकूलमिति विचारसहं भासते । परं न तद् यथायथं समाधानं जनयति । यतो हि आदौ पाणिनिना किमर्थं दूरस्थस्यैव कारकस्य विचारः कृतः कुतश्च विभक्तिप्रयोगविचारे स परित्यक्तः । कथं वा उत्तरवर्ती प्रथमाद्यनुसारी क्रम एव तस्य तावदभिप्रेत इत्युच्यते इति नैव स्पष्टं भवति । तर्हि किमत्र समाधानम् ? तत्रेदं प्रस्तुमः—व्याकरणेन वाक्यार्थस्य बोधस्य स्वरूपं विशदीक्रियते । किं नाम वाक्यम् ? 'कारकान्विता क्रियेति' अमरसिंहस्य नामलिङ्गानुशासनकर्तुः उत्तरं प्रसिद्धम् । सर्वस्यापि जगद्व्यवहारस्यैव विवरणं पदघटितेन वाक्येन भवति । सर्वोऽपि जगद्व्यवहारः क्रियामयः । जगत उत्पत्तिरपि क्रियाविशेष एव । उत्पत्तिः नाम आद्यक्षणसंबन्धः । या काचित् क्रिया भवतु सा सर्वदा अवान्तर-क्रिया-समूहरूपा । यथा पचति प्रतिपाद्या पाकक्रिया । पाकक्रियायां पाचकः प्रथमं चुल्ल्यां पात्रस्य अधिश्रयणं करोति । पात्रे जलप्रक्षेपं तण्डुलप्रक्षेपं च करोति, अग्निं प्रज्वालयति, अग्निसंयोगेन तदनु तण्डुलेषु विक्लित्तिः भवति, अनन्तरं च पात्रं चुल्लीतः अवतार्यते । एवम् अधिश्रयणतः अवतारणपर्यन्तं यः क्रमवर्ती क्रियाणां समूहः स खलु पाकक्रियायाम् एव अन्तर्भूतः । वैयाकरणभूषणसारे श्रीकौण्डभट्टः प्राह—"व्यापारस्तु भावनाभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया" । तत्र च वाक्यपदीयम् उदाहरन् प्राह—

"यावत् साध्यम् असिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥
गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥"

व्यापारः, भावना, क्रिया इति सर्वे शब्दाः पर्यायरूपा इति नार्थान्तरम् । एतादृश्याः क्रियायाः साधकम् उपकारकम् वेति कारकशब्दस्यार्थः सूत्रकारसंमत इति प्रतिभाति । यतो हि करोतीति कारक इति भवति कारकपदव्युत्पत्तिः । करोति क्रियां निर्वर्तयतीति भाष्येऽपि प्रतिपादितम् । अतो हि कारकपदेन व्युत्पत्तिदृष्ट्या साक्षात् कर्तैव लक्ष्यते ।

अस्याः कारकसंज्ञाया विचारो भर्तृहरिणा वाक्यपदीये तृतीये काण्डे दिक्समुद्देश्ये प्रकरणे संविशेषं कृतः । क्रियाया विविधानि स्वरूपाणि दिक्शक्त्या अभिव्यज्यन्ते इति तस्य मतम् । भर्तृहरिः दिशं विभुरूपां स्वतन्त्रां शक्तिं मन्यते । यतो हि यया कयाचित् क्रियया आदौ विभागो भवति । विभागस्य कल्पना अवधिमूलिका । विभागो नाम वियोगः । वियोगो नाम पृथग्भवनम् । कस्माच्चन स्थानात् कस्यचन वियोगो भवति । यतो वियोगः स एव वियोगस्य अवधिभूतः । अनया अवधिकल्पनया एव अयं पुरःस्थः, अयं पार्श्वस्थः, अयं समीपस्थः, अयं दूरस्थः, अयं पूर्ववर्ती, अयं पश्चिमवर्ती इति व्यवहारः संपद्यते । विभिन्नानां क्रियाणां संभवो दिक्तत्त्वेनैव शक्यः । अनया दिक्शक्त्या उत्पद्यमानानां

विविधानां क्रियाणां कर्तारः कारकसंज्ञया साधनसंज्ञया वा व्यपदिश्यन्ते । साधनशब्दं विवृण्वन् भर्तृहरिः प्राह–

क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ।

लोके इयं दिक्शक्तिः निमित्तभदैः षड्भिः रूपैः प्रकाशते इति स्फुटमेव प्रतिपादितं भर्तृहरिणा–

निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते ।
षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत्प्रवृत्तेर्निबन्धनम्" ॥

एवमेतासां क्रियाणां निर्वर्तकानां क्रियासाधनानां कारकाणां वा कर्म, कर्ता, हेतुः (करणम्), संप्रदानम्, अधिकरणं चेति षट् प्रकारा भवन्तीति वाक्यपदीये निरूपितम् । परं तत्रापि आदौ पाणिनिना कुतो नाम अपादानतः कारकविचारः प्रस्तुतः, कुतो वा तदनु संप्रदान-करण-अधिकरणाद्यनुसारी क्रम आश्रित इति प्रश्नः असमाहित एव तिष्ठति ।

अत्र ब्रूमः । भर्तृहरिणा हि कारकविचारे प्रस्तुते प्रथमतः कर्मणा खलु व्यतिरेको नाम विभागो भवतीति समालोच्य व्यतिरेकविचारद्वारैव दिक्तत्त्वमूलकः कारकविचारः प्रारब्धः । स ब्रूते–

"व्यतिरेकस्य यो हेतुरवधिप्रतिपाद्ययोः ।
ऋज्वित्येव यतोऽन्येन विना बुद्धिः प्रवर्तते ॥
कर्मणो जातिभेदानामभिव्यक्तिर्यदाश्रया ।
सर्वैरुपाधिभिर्भिन्ना शक्तिर्दिगिति कथ्यते" ॥

विभागस्य अवधिभूतं यत् तदेव भवति अपादानसंज्ञम् । अत्र क्रियास्वरूपस्य विवरणे वैशेषिकशास्त्रस्यापि कश्चिद् उपकारो भवति । क्रियामेव वैशेषिकाः कर्मशब्देनापि व्यपदिशन्ति । वैशेषिकशास्त्रदृष्ट्या 'संयोगविभागयोः अनपेक्षं कारणं कर्म' भवति । येन केनापि कर्मणा प्रथमतो विभाग एव जन्यते । तथा हि पाकेन–तेजःसंयोगविशेषेण घटे रूपपरा वृत्तिः कथं भवतीति विशदयितुं या काचित् क्षणप्रक्रिया वैशेषिकैः स्वीकृता तत्र परमाणौ कर्मणि जाते आदौ विभागो जन्यते इति तैः स्वीक्रियते । अतः कारकेषु–क्रियोपकारकेषु अपादानस्य विचारः प्राथम्यमर्हति । तदनु संप्रदानस्य विचारः करणीयः । संप्रदानं नाम दानस्य कर्मणा यम् अभिप्रैति स भवति संप्रदानम् । सिद्धान्तकौमुदीस्थम् इमं वृत्त्यंशं **तत्त्वबोधिनी** विवृणोति यत्-"दानक्रियाकर्मणा कर्ता यम् अभिप्रैति संबध्नाति संबद्धुमीप्सति वा तत् कारकं कर्मसंप्रदानसंज्ञकमित्यर्थः ।"

संप्रदानशब्दे दाधानोरुपयोगेन कारकाश्रिते क्रियाविचारे सामान्यतया कर्तव्ये संप्रदानकारकस्य विचारः कथं शक्य इति प्रश्नः समुद्भवति । अत्र खलु क्षणक्रिया उपलक्षणम् । तया क्रियासामान्यं प्रतीयते । अस्ति तथा चिन्तने शेखरकर्तुः भाष्यकारस्य च संमतिः । अतः क्रियया यदुद्देश्यं लक्ष्यते तस्य संग्रहः अत्र शक्यः । अनेन स्फुटं यत् यदुद्दिश्य काऽपि क्रिया विधीयते तस्य विचारः संप्रदानकारके शक्यः । अतः क्रिया यतो विभागं करोति येन च संबन्धं स्थापयति तयोरुभयोर्विचारः अपादान-संप्रदान-कारकक्रमेण सुष्ठु जायते । अनन्तरम् अस्याः क्रियाया यत् साधकतमं तस्य विचारार्थे करणविचारः प्रारब्धः । अनन्तरं यस्मिन् देशे इदं क्रियासामान्यं प्रवर्तते तस्य अधिकरणकारकस्य विचारः पाणिनिना

कृतः । एवं क्रियायाः तन्त्रे स्पष्टे क्रियाफलाश्रयस्य विचारः कर्मकारकरूपेण पागिनिना अनुष्ठितः । परस्तात् क्रियायाः प्रेरकस्य कर्तुर्विचार आरब्धः । कर्तुः विचारं कारकक्रमान्ते कुर्वतः पाणिनेः कमपि अभिप्रायं पश्यामः ।

सृष्टौ कर्माणि द्विविधानि भवन्ति मनुष्यकृतानि घटपटादीनि, अमनुष्यकृतानि च भूपर्वत-नदी-बीजाङ्कुरप्रभृतीनि । परम् इमानि सर्वाण्येव क्रियाजनितानि । क्षित्यङ्कुरादीनां कर्ता कश्चित् ईश्वरः अस्ति न वेति भूयान् विवादविषयः । परं तत्रापि क्रियासामान्यम् उपयोगीति सर्वोपयोगिक्रियास्वरूपं विवरीतुं क्रियासाधकानि अपादानादीनि आदौ विवृतानि । (अनेन परमाणुषु पाकेन क्रमशो घटादौ रूपादिपरिवृत्तिं स्वीकुर्वतां वैशेषिकाणां कार्यस्वरूपम् अपि स्पष्टीकृतं भवति) ।

अत्र प्रश्न उत्पद्यते तर्हि कुतः खलु द्वितीयाध्याये तृतीयपादे कारकप्रतिपादकानां विभक्तीनां क्रमो भिन्नः ? तत्रास्ति किंचित् प्रयोजनम् । वर्ततेऽसौ वाक्यप्रयोगस्य विचारः । कारकाणि हि भवन्ति क्रियासंबद्धानि । क्रिया तावत् वाक्येषु प्राधान्येन तिङन्तैः प्रतिपाद्यते । तिङ्प्रत्यया यत् कारकम् अनुसरन्ति, यदनुसारेण परिवर्तन्ते, तत् तिङा अभिहितम् उच्यते । यानि कारकाणि तथा न सन्ति तानि अनभिहितानि उच्यन्ते । अनभिहितानां कारकाणां संख्या भूयसीति आदौ अनभिहितानां कारकाणां प्रयोगे का विभक्तिः प्रयोक्तव्येति प्रश्नं समादधानः पाणिनिः लोकप्रसिद्धं कारकक्रमं लक्षयित्वा कर्मप्रतिपादिकायाः द्वितीयायाः आरम्भं कृतवान् । ततः क्रियाफलाश्रयस्य कर्मणः स्वरूपस्य अनुकारं भजत् संप्रदानं प्रतिपादयन्तीं चतुर्थीं व्यवृणोत् । अनन्तरं तृतीयां, पञ्चमीं, सप्तमीं चेति क्रमं स्वीचकार । अन्ते अभिहितं कर्तृ कर्म वा कारकं प्रथमां प्रतिपादयतीति प्रथमां व्यवृणोत् । कारकबहिर्भूतायाः संबन्धप्रतिपादिकायाः षष्ठ्याः प्रतिपादनम् अन्ते अकरोत् ।

अनेन विचारेण इदं स्फुटं यत् प्रथमाध्याये कारकसंज्ञानिरूपणे क्रियायाः स्वरूपस्य शास्त्रीयं स्वरूपं मनसिकृत्य पाणिनिः विवरणमकरोत् । द्वितीयाध्याये तु वाक्यप्रयोगदृष्ट्या विभक्तिविवेचने तत्परः क्रमान्तरं स्व्यकरोत् । संभवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वेन कारकक्रमविचारः अनया दृष्ट्या लक्षितः अष्टाध्यायीकर्तुः पाणिनेः सूक्ष्मेक्षितां प्रकाशयतीति पश्यामः ।

●

विश्वैक्य-सन्धायिनी संस्कृत-शिक्षा

डॉ. नारायणशास्त्री काङ्करः

वाणीं प्रणौमि गैर्वाणीं कल्याणीं गुणकारिणीम् ।
यत्रोत्कीर्णानि पुण्यानि शास्त्राणि प्रचुराणि हि ॥
सौवर्णीं सौपवर्णीह वाणी विजयतेतराम् ।
प्राणन्ति यत्प्रसादेन संसारे सकला गिरः ॥

भावाभिव्यक्तेः अथवा विचार-सम्प्रेषणस्य प्रमुखम् उपकरणं भाषा एव भवति । सर्वासां भाषाणाम् आदिभाषा अथवा जननी देववाणी संस्कृतभाषा कथ्यते । देवाः एव अस्याः भाषायाः जनकाः सन्ति, यथा हि–"**देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुवार्गस्मानुप सुष्ठुतैतु**" इति देव्यथर्वशीर्ष-श्रुतिः प्रमाणयति ।

इयं वाक् पूर्वं प्रकृति-प्रत्ययादि-रूपे सर्वथा अव्याकृता अवर्त्तिष्ट इति बोद्धुम् अशक्यत्वाद् देवाः विश्वोपकार-बुद्ध्या देवराजम् इन्द्रम् अभ्यर्थितवन्तः । सः हि ताम् अव्याकृतां वाचं प्रकृति-प्रत्ययादि-रूपे मध्ये-मध्ये तथा अवच्छिद्य व्याकृतवान् यथा देवानां मनोरथः परिपूर्णः । भवति अत्र तैत्तिरीय-संहिता (6.4.7) श्रुतिः प्रमाणम्–"**ते इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति.........तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते ।**" एतद्-व्याख्यानं च सायणाचार्यः एवम् अकार्षीत्–"**तामखण्डां वाचं मध्ये मध्ये विच्छिद्य प्रकृति-प्रत्यय-विभागं सर्वत्राकरोद्**" इति ।

इन्द्रः हि स्वसमयस्य महान् वैयाकरणः अपि आसीत् । तेन बृहस्पतितः व्याकरणम् अधीतम् । बृहस्पतेः गुरुः ब्रह्मा अविद्यत । इन्द्रस्य शिष्यः भरद्वाजः आसीत् । भरद्वाजः एव ऋषिभ्यः व्याकरण-ज्ञानं व्यतारीत् । ऋषयः ब्राह्मणेभ्यः प्रददुः । तथा हि ऋक्तन्त्रे (1.4) श्रूयते–"**यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः**" इति ।

किन्तु समस्त-शब्दोपदेशस्य प्रतिपदं पाठः सर्वथा दुष्करः एव आसीत् । यथा हि महाभाष्यम् (1.1.1) अत्र प्रमाणम्-"**बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्ष-सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम ।**" किन्तु इन्द्रेण व्याकृतत्वात् सा समस्या सर्वथा निरस्ता समजायत । संस्कृत-व्याकरणस्य विश्वोपकारिता अपि अनेन प्रमाणिता भवति ।

प्रकृति-प्रत्ययादिरूपे व्याकृततया संस्कृतत्वाद् देववाण्याः अपरं नाम 'संस्कृतम्' इदम् अपि आबाल-वृद्धं प्रसिद्धं बभूव । आदिकाव्ये वाल्मीकीय-रामायणे (सु. का. 30.17-18) दैवीवाक् 'संस्कृत'–शब्दद्वारा एव व्यवहृता, यथा हि अशोक-वाटिकायां सीतां दृष्ट्वा हनुमतः आत्मचिन्तनम्–

"वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् । यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् । रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥" महाकवि-दण्डिना अपि काव्यादर्शे (13.3) सुस्पष्टम् एव उक्तम्–**"संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः ।"** आचार्यवर्यः यास्कः 'श्वेति भाषायाम्' इति निरुक्ते (1.4) तथा महर्षि-प्रवरः पाणिनिः अपि 'विभाषा भाषायम्' इति अष्टाध्याय्यां (6.1.179) 'भाषा'-शब्देन दैवीं वाचं संस्कृतं मनुष्यैः अपि भाष्यमाणाम् अभिप्रेतवान् ।

अस्याः संस्कृतभाषायाः प्रयोग-क्षेत्रम् अतिविशालम् अवर्त्तिष्ट । यदि कश्चित् शब्दः एकत्र दृष्टिपथं न आयाति, तर्हि तस्य उपलब्धये अन्यत्र अन्वेषणं परामृष्टवान् भगवान् पतञ्जलिः–**"सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते । न चैवोपलभ्यन्ते । उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् । महान् हि शब्दस्य प्रयोग-विषयः । सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशत- मध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाहवृच्यं, नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः, पुराणमित्येतावच्छब्दस्य प्रयोगविषयः इति ।** (म. भा. 1.1.1)

अस्याम् एव देववाचि संस्कृतभाषायां समग्र-विश्वोपकारकं समस्तं ज्ञान-विज्ञानं सुरक्षितं वरीवर्त्ति । वेदाः ब्राह्मणानि उपनिषदः स्मृतयः रामायणं पुराणानि च अस्याः एव भाषायाः भास्वन्ति रत्नानि सन्ति । भौतिक-विज्ञानं, रसायन-विज्ञानं, जीव-विज्ञानं, वास्तु-विज्ञानं, शिल्प-विज्ञानं, गान्धर्व-विज्ञानं, खगोल-विज्ञानं, वृक्ष-विज्ञानं, भूगर्भीय-विज्ञानं, धातु-विज्ञानं, नक्षत्र-विज्ञानं, जल-विज्ञानम्, आयुर्विज्ञानं, राजनीति-विज्ञानम्, अर्थ-विज्ञानं, तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र-विज्ञानं, योग-विज्ञानं, हस्त्यश्वायुर्वेद-विज्ञानं, सामुद्रिक-शास्त्र-विज्ञानम् इत्यादि सर्वम् अपि लोकोपयोगि ज्ञानं विज्ञानं संस्कृतभाषायां विलसति । आवश्यकता अस्ति तदनुसन्धानस्य ।

धर्मार्थकाम-कला-दर्शन-नीति-न्यायादिषु कः विषयः अनया भाषया स्पृष्टः न वर्त्तते ? व्याकरण-साहित्य-योग-वेदान्त-कर्मकाण्ड-ज्योतिष-प्रभृति-विषयकाणि शास्त्राणि अपि तु अस्याः एव भाषायाः अनुपमानि अवदानानि विद्यन्ते । एकेन वेदव्यास-मुनिना यावत्यां विपुलमात्रायां साहित्यं विरचितं, तस्य शतांशम् अपि कश्चित् मानवः अद्य किं कस्याम् अपि भाषायां निर्मातुं शक्नोति ? अस्याः भाषायाः शब्द-कोषाः अपि श्लोकबद्धाः अप्रतिमाः अद्भुताः एव सन्ति ।

किन्तु काल-प्रभावाद् विदेशि-शासनत्वात् च इयं भाषा स्वजन्मभूमौ भारतवर्षे एव साधारणजनैः तथा उपेक्षाम् अगमत्, यथा वर्त्तमाने इयं 'भाषा'-नाम्ना कथ्यमाना अपि शिक्षणीया सञ्जाता । सम्प्रति संस्कृतभाषां शिक्षितुं तद्-वाङ्मयं च अनुशीलयितुं लोकानां सन्तोषजनिका प्रवृत्तिः न दृश्यते । केचन सौभाग्य-शालिनः एव स्वतः प्रेरणया सर्वां सुख-सुविधां परित्यज्य अपि, विना राजकीयम् अध्यादेशम् अपि, आत्मीयं राष्ट्रियं प्राथमिकं धर्मं कर्म च मन्वानाः संस्कृतभाषाम् इमां समनोयोगं शिक्षन्ते, तत्साहित्यं च साभिरुचि समनुशीलयन्ति ।

संस्कृत-वाङ्मये यादृशी जीवनीय-शक्तिः विद्यते, तादृशी अन्यत्र दुर्लभा एव । मानवतां सदाचारितां च यथा इदं सहजं शिक्षयति, तथा अन्यत्र द्रष्टुं क्व मिलेत् ? मानवतातः उपरि उत्थाय

देवत्वम् अपि अनेन एव उपलभ्यते । केवलं देवत्वम् एव न, अपि तु धर्मार्थकामैः सह मोक्षम् अपि प्रदातुम् इतः अधिकं किम् अपि सुसाधनं न अस्ति ।

अस्मिन् संस्कृत-वाङ्मये समस्त-जीवमात्रे एकत्वबुद्धि-स्थापिका या अद्वितीया सांस्कृतिकी शक्तिः दृश्यते, तद्-बलाद् एव तु, दूरे न गन्तव्यम्, यदा-कदा अपि कस्मिंश्चित् कोणे काचिद् विपदा आपतति, तां विपदां स्वीयाम् एव मत्वा अन्यकोणस्थाः जनाः तन्निवारणे कटि-बद्धाः भवन्ति । एक-प्रदेशस्य तीर्थस्थलम् आत्मीयम् एव अवगत्य इतरप्रदेशीयाः तस्य तीर्थस्थलस्य यात्रां कुर्वन्ति । कुम्भपर्व-स्थलम् अस्य प्रत्यक्षं निदर्शनं विद्यते यत्र विभिन्न-भाषा-भाषिणः अपि, विभिन्नाचार-विचाराः अपि, विभिन्नाहार-विहाराः अपि, विभिन्न-धर्म-सम्प्रदाय-मतावलम्बिनः अपि सर्वं भेदभावं विस्मृत्य एकत्र मिलन्ति ।

'ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै', 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्', 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्', 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख-भाग् भवेत्' ॥ इत्यादिकाः उदात्तभावनाः संस्कृतवाङ्मयं विहाय किम् अन्यद् वाङ्मयम् उद्भावयति ? अद्य विविध-विविध-विद्वेष-वैमनस्यादि-दुर्भाव-ग्रस्तं विविध-भ्रष्टाचार-प्रदूषितं परस्परम् अभिभावयितुं समुद्यतं स्वीयम् एव स्वार्थं साधयितुं संलग्नं विश्वं स्वं स्वं चरित्रं शिक्षयित्वा सन्मार्गम् आनेतुम् एकमात्रं संस्कृतभाषा तत्साहित्यं च प्रभवति इति केन न स्वीकार्यं स्यात् ?

संस्कृतानुशीली जनः कदापि भ्रष्टाचारी किं वा अपराधी न भवति । परस्त्रीषु मातृवद् बुद्धिः, परद्रव्येषु लोष्टवद् दृष्टिः, सर्वप्राणिषु आत्मवद् व्यवहारः, स्वामिनि अनुरक्तिः, माता-पित्रोः गुरुजनेषु च श्रद्धा, ईश्वरे आस्तिकता, अनीतेः दूरे अवस्थानं, पापाद् निवृत्तिः, राष्ट्रे प्रेम इत्यादयः सद्गुणाः संस्कृत-सम्पर्काद् एव तु व्यक्तौ समाविशन्ति ।

अद्यावधि कश्चित् अपि संस्कृतज्ञः जनः स्त्रीषु बलात्कारी, परधन-हर्त्ता, गुरुजन-निहन्ता, देवमूर्त्ति-चौर्यकारी, स्वामि-वञ्चकः, राष्ट्रद्रोही च नैव श्रुतः, न च एतादृश-घृणितापराधकारिषु कदापि निगृहीतः दण्डितः च एव । तत्कथं न अमृता संस्कृतभाषा तदाश्रिता च सर्वोपकारिणी संस्कृतिः श्रेयसे समुपास्यताम् ?

संस्कृत-वैशिष्ट्य-विषये किम् अधिकं निवेदयामि ? तद्-विषये संक्षेपेण मम सद्यः प्रकाशितायाः 'अभिनव-संस्कृत-सुभाषित-सप्तशती'तः समुद्धृता काचित् छन्दोमयी वाणी इह प्रासङ्गिकी भवेत्—

संस्कृत-ज्ञान-शून्यानां भ्रष्टाचारः प्रजायते ।
अतः संस्कृत-शिक्षा प्राक् प्रचार्या किं न सर्वतः ॥ 1 ॥
यावत् संस्कृत-शिक्षा न प्रदास्यते गृहे-गृहे ।
भ्रष्टाचारादि-रोगाणां तावदन्तो न सम्भवः ॥ 2 ॥
शिक्षा संस्कृत-भाषायाः स्वल्पव्ययेऽतिसाधिका ।
भ्रष्टाचारस्ततो नश्येत् स्वर्ग-मोक्षौ ददाति सा ॥ 3 ॥

संस्कृतस्य पवित्रस्य स्वाध्यायः क्रियतां सदा ।
मनःशुद्धिः कर्मशुद्धिर्यत एतेन जायते ॥ 4 ॥
संस्काराः संस्कृतिश्चैव संस्कृते विलसन्ति वै ।
एतत्सर्वं विना कोऽपि संस्कृतो न भवेत् क्वचित् ॥ 5 ॥
वैदिकी संस्कृता भाषा त्रैलोक्ये व्यापिनी न किम् ?
द्वयीमेतामनादृत्य सुखं प्राप्नोति को जनः ? ॥ 6 ॥
वेदान् पुराणानि तथेतराणि शास्त्राणि बोद्धुं पठ संस्कृतं प्राक् ।
यतस्तदीयाऽभ्यसनेन सम्यग् लोक-द्वयं सुध्रियते हि तात ! ॥ 7 ॥
संस्कृतज्ञो न सामान्यः शिष्टो भवति सोऽन्यतः ।
विद्या-विनय-सम्पन्नः सदाचारी सदा हि सः ॥ 8 ॥
संस्कृतज्ञो यदा नात्म-हत्यां प्रकुरुते क्वचित् ।
पर-हत्या तदा तेन कदापि नैव जायते ॥ 9 ॥
संस्कृतेन कृतं कस्य भूर्यनिष्टं कदा किमु ?
येन तत् त्यज्यते लोकैः सर्पो विषधरो यथा ॥ 10 ॥
संस्कृते संस्कृतिः प्रोक्ता विश्व-कल्याण-कारिणी ।
सम्यगाचरिता सा तु भुवं स्वर्गं करोति हि ॥ 11 ॥
संस्कृतं कामधुग् भाषा तत्सेवी नाऽवसीदति ।
नाऽनिष्टं कुरुतेऽन्यस्य सदा सन्मार्गमाश्रितः ॥ 12 ॥
संस्कृतं कामधेनुर्हि यामाश्रित्य सुखी भवेत् ।
स्वयं सुखी कथं नाऽन्यं कुर्वीत सुखिनं जनः ॥ 13 ॥
संस्कृतं नैकदेशस्य नैकवर्गस्य चापि तत् ।
तत्र सर्वाधिकारोऽस्ति पञ्च-तत्त्व्यां यथैव हि ॥ 14 ॥
संस्कृतं किं न शिक्ष्येत यत्साहित्यमनुत्तमम् ।
देवा अप्याशु तुष्यन्ति संस्कृत-स्तोत्र-गायके ॥ 15 ॥
संस्कृतं मधुरा भाषा सदाचार-निरूपिणी ।
एतां त्यक्त्वाऽन्यसेवी यो मन्दभाग्यः स मूढधीः ॥ 16 ॥
संस्कृतं मधुरा भाषा मधुरं तत्र नाटकम् ।
नाटकस्य प्रयोगेण मधुरं किं भवेन्नहि ? ॥ 17 ॥
संस्कृतं यदि नष्टं स्यात् संस्कृतिर्नश्यति ध्रुवम् ।
संस्कृतावथ नष्टायां स्वातन्त्र्यं सुखदं कुतः ? ॥ 18 ॥
संस्कृतं सर्व-भाषाणां जननी चापि पोषिका ।
तामुपेक्ष्य कथं तासां जीवनं पोषणं भवेत् ? ॥ 19 ॥

संस्कृतं मृतभाषा चेत् कस्तां व्यवहरेत् सुधीः ?
मृतः पुष्णाति किञ्चिन्न नित्यं पुष्णाति किन्त्वियम् ॥ 20 ॥
संस्कृतं संस्कृतिश्चैव श्रेयः करोति निश्चितम् ।
अस्य प्रचारका धन्याः साधुवाद्याः पुनः पुनः ॥ 21 ॥
संस्कृतं ये सुसेवन्ते कवयन्ते च तत्र ये ।
ये पुनर्मानयन्ते तान् धन्यास्ते सन्ति भूरिशः ॥ 22 ।
संस्कृतं ये प्रपुष्यन्ति सेवन्ते ये च संस्कृतम् ।
संस्कृतं ये प्रशंसन्ति चिरञ्जीवन्तु ते जनाः ॥ 23 ॥
संस्कृतं शिक्षितं येन स तच्छास्त्राणि बोधति ।
शास्त्राचारी पुनर्भूत्वा त्रिलोक्यां स प्रमोदते ॥ 24 ॥
संस्कृतं योऽनधीत्यैव सदाचारी बुभूषति ।
मूलाधारं विना सोऽज्ञो निर्मित्सति गृहन्नरः ॥ 25 ॥
संस्कृतं समधीत्यापि सदाचारी न योऽभवत् ।
बक-भक्तः स हा हन्त ! सन्दूषयति संस्कृतम् ॥ 26 ॥
संस्कृतं येन नाऽधीतं पूर्वे वयसि सद्गुरोः ।
पश्चात्तपति प्राज्यं स परे वयसि संस्थितः ॥ 27 ॥
या काऽपि भाषा जगतीह जाता तस्याः प्रसूः संस्कृतदेवभाषा ।
अन्यत्र यच्चिन्तनमस्ति किञ्चित् तस्यापि हेतुः किमियं न भाषा ? ॥ 28 ॥
संस्कृतं यो न जानाति स वै वैशाख-नन्दनः ।
संस्कृतं योऽभिजानाति स देवो न तु मानुषः ॥ 29 ॥

संस्कृतभाषायाः व्याकरणं तु सर्वथा अप्रतिमं नवनव-शब्द-निर्माणाद्भुत-शक्ति-सम्पन्नं च वरीवर्त्ति । न केवलं भारतीयानाम् एव भाषाणां संस्कारकम् इदं व्याकरणं, प्रत्युत अनेन भारतीयेतराङ्ग्लादि-भाषीय-शब्दाः अपि संस्कृत-शब्दाः इव प्रकृति-प्रत्ययादि-कल्पनया ससूत्र-निर्देशं व्युत्पादयितुं शक्यन्ते, तेषां सार्थकता च एवं साधयितुं शक्यते । विद्वन्मनोविनोदार्थम् इह केचन आङ्ग्ल-भाषा-शब्दाः सनिर्वचनं व्युत्पाद्यन्ते–

Bill. बिलति भिनत्ति ग्राहकस्य हृदयम् इति बिलः । बिल भेदने 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः ।

Diary. डीयते उड्डीयते इति डयः । डीङ् विहायसा गतौ 'नन्दि-ग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इति अच् । डयः एव डायः 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' इति अण् अथवा डयानां समूहः इति डायः 'तस्य समूहः' इति अण् । डायम् उड्डीयमानं विचार-समूहं रीणाति आदत्ते स्वस्मिन् इति डायरी । री रेषणे आदाने 'क्विप् च' इति क्विप् ।

Fund	फणति गच्छति संगृहीतं भवति धनं यत्र सः फण्डः, फण गतौ 'ञमन्ताड्डः' इति ड-प्रत्ययः ।
Ill.	इलति स्वपिति अस्वास्थ्यवशात्, क्षिपति वा स्वम् अस्वास्थ्ये इति इलः । इल स्वप्न-क्षेपणयोः इगुपध-लक्षणः कः । अथवा एलयति प्रेरयति जनान् स्वसेवार्थम् अस्वास्थ्यवशाद् यः सः इलः । इल प्रेरणे पूर्ववत् क-प्रत्ययः ।
Jail	जेलति भक्षति अन्तर्धारयति अपराधिनम् अपराधिनः वा अपराधान् प्रायश्चित्त-द्वारा इति जेलः । जिल अदने पचाद्यच् ।
Lawn	लाति गृह्णाति संस्थापयति स्वस्मिन् घासम् इति लानः । लातेः 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति ल्युट्, तस्य च 'युवोरनाकौ' इति अनादेशः ।
Mad	मेडति उन्माद्यति इति मेडः । मेडृ उन्मादने पचाद्यच् ।
Net	नेशति समादधाति स्वस्मिन् जन्तून् इति नेट् । णिश् समाधौ 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति विच् । जालम् इति तदर्थः । तेन स्वस्मिन् जन्तवः सम्यक् आधीयन्ते स्थाप्यन्ते एव । अथवा न एटति निर्गच्छति प्रवेशानन्तरं यस्मात् सः नेटः । इट गतौ पचाद्यच् ।
Operation	आ समन्तात् अप दूरे रेशनं हिंसनं दूषितांशस्य शल्यक्रियया इति आपरेशनम् । रिश हिंसायां भावे ल्युट् । तस्य युस्थाने 'युवोरनाकौ' इति अनादेशः ।
Wall	वलन्ते संवृण्वन्ति आत्मानम् अग्रे गमनात् जनाः यस्मात् सः वालः । भित्तिः इति तदर्थः । वल संवरणे संचरणे च 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञ्, उपधावृद्धिः।

एवं व्याकरणोपेतायाः संस्कृतभाषायाः शब्दसम्पत्त्या व्याकरण-रसायनेन च न केवलं भारतीयाः भाषाः एव, अपि तु वैदेशिक-भाषाः अपि यस्मिन् कस्मिन् अपि रूपे अवश्यं प्रभाविताः सन्ति । तस्माद् एव कश्चित् अपि ईदृशः विदेशी विश्वविद्यालयः न विद्यते, यस्मिन् अस्याः अध्ययनम् अध्यापनं च सविशेषं प्रचलितं न भवेत् । वैज्ञानिकाः अपि गणकयन्त्रोपयुक्ताम् इमां भाषां सर्वश्रेष्ठां स्वीकर्तुं प्रवृत्ताः । अगणितैः विदेशि-विद्वद्भिः अपि संस्कृत-वाङ्मयस्य अनेकासु शाखासु समनोयोगम् अनुशीलनं व्याख्यानम् अनुसन्धानं च समनुष्ठितम् ।

तेषाम् अत्र भारतवर्षे शासन-समये संस्कृतस्य यथा प्रौढपाण्डित्यं तथा तत्प्रति समाकर्षणं च दृष्टं, तादृशम् अद्य क्व विद्यते ? 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति अनुशासनं कः अनुसरति ? संस्कृतोपजीविनां विदुषां परिवारे अपि संस्कृतभाषानुरागः क्षीयमाणः अस्ति । आयुर्वेदज्ञाः वैद्याः अपि विना संस्कृतविशेषज्ञानम् एव आयुर्वेदं पाठयितुं प्रवृत्ताः । यदा सर्वे अपि आयुर्वेद-ग्रन्थाः तेषां व्याख्यादिकं च संस्कृते एव मौलिकरूपेण तिष्ठति, तदा संस्कृतस्य पर्याप्तं समुचितं च ज्ञानं विना कथं तद्-रहस्यम् अवबोद्धुं शक्यते ? 'वैद्यः'-शब्दतः सम्बोधने संस्कृतशब्द-पदवी-धारणे तु तेषां लज्जा आयाति । आत्मानं 'डाक्टर'-नाम्ना शब्दापयितुं महद् गौरवं ते अनुभवन्ति । स्वपरीक्षोपाधि-नाम अपि आङ्ग्लभाषामयम् एव सम्पादितवन्तः । अत एव तु मया खिन्न-मनस्केन तेषाम् उद्बोधनार्थं 'सत्यार्थ-प्रकाशः' एवं मुद्रापितः–

आयुर्वेदार्ष-शास्त्राणि सन्ति सर्वाणि संस्कृते ।
तेषां व्याख्यादिकं चापि संस्कृते ननु विद्यते ॥ 1 ॥
प्रौढं ज्ञानं न यावत् स्यात् संस्कृतस्य सुभास्वरम् ।
तावत् तत्त्वं सटीकानां तच्छास्त्राणां न बुध्यते ॥ 2 ॥
साहित्यं व्याकृतिं धर्मं दर्शनं ज्यौतिषं तथा ।
कर्मकाण्डं विनाऽप्येष आयुर्वेदो न बुध्यते ॥ 3 ॥
आयुर्वेदीय-तत्त्वार्थः संस्कृतेतर-भाषया ।
विज्ञातुं शक्यते नैव सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ 4 ॥
संस्कृत-ज्ञान-हीना ये वैद्यम्मन्याश्चिकित्सकाः ।
आयुर्वेद-कलङ्कास्ते रुग्णान् निघ्नन्त्यसंशयम् ॥ 5 ॥
यथा नैवं कुवैद्याः स्यू रुग्ण-प्राणापहारिणः ।
आयुर्वेदस्तथाऽध्याप्यः सार्धं संस्कृत-भाषया ॥ 6 ॥

संस्कृतभाषायाः उपरि चर्चिताः विशेषताः दृष्ट्वा तथा संस्कृतविदुषां शैथिल्यम् उत्सारयितुं जनसाधारणे च संस्कृताभ्यासं प्रति ध्यानम् आक्रष्टुं संस्कृतानुरागी भारतसर्वकारः प्रादेशिक-सर्वकाराणां सहयोगेन समस्ते देशे प्रतिवर्षं श्रावण्यां पूर्णिमायां संस्कृतदिवसं सम्मानयितुं समुचितं सुप्रशस्तम् एव अभिनन्दनीयं निर्णयं गृहीतवान् । तेन एव प्रसङ्गेन स्वसुविधानुसारम् आङ्ग्ले अपि देशे सर्वत्र संस्कृत-दिवसः मान्यते ।

अस्य आयोजनस्य सर्वांशतः सार्थकता तदा एव भवेद् यदा–

(1) संस्कृतं शिक्षितुम् उद्यतानां कृते आयोजकैः नियमितः संस्कृत-शिक्षण-प्रबन्धः क्रियेत । अधिकतरं प्रबन्धाभावेन एव जनाः संस्कृताभ्यासतः विरज्यन्ति ।
(2) आयुर्वेदाध्यायिनां कृते अपि आयुर्वेदेन सह संस्कृतम् अध्येतुं व्यवस्था करणीया एव ।
(3) तेषां परीक्षाणां माध्यमं संस्कृतं तु रक्षणीयम् एव, संस्कृतभाषायां शोधप्रबन्धलेखनम् अपि अनिवार्यं कर्त्तव्यम् ।
(4) संस्कृताभ्यास-वर्धनार्थं साप्ताहिक-पाक्षिक-मासिक-गोष्ठ्यः रोचक-कार्यक्रमैः सह आयोजनीयाः ।
(5) परस्परं सम्भाषणं पत्र-व्यवहारः च सदा संस्कृतभाषया एव सम्पाद्येत, येन अन्येभ्यः अपि प्रोत्साहनं प्रेरणा च मिलेत् ।
(6) संस्कृतभाषां सुवाच्यां सुबोध्यां च अनुभावयितुं लेखकैः सदा एव गद्य-लेखने पदेषु परस्परं सन्धिकरण-मोहः परित्याज्य एव ।
(7) अन्य-भाषासु प्रचलिताः परिचिताः संस्कृत-शब्दाः एव संस्कृत-भाषायां प्रयोक्तव्याः ।
(8) आकाशवाणीतः प्रतिदिनं प्रातः-सायं प्रसारिताः संस्कृत-वार्ताः अन्ये च संस्कृत-कार्यक्रमाः अवश्यं श्रोतव्याः, दूरदर्शने प्रदर्शिताः अपि संस्कृत-कार्यक्रमाः नैव परित्याज्याः ।

(9) नियतकालिकाः संस्कृत-पत्र-पत्रिकाः पठनीयाः, तथा संस्कृतभाषेतर-दैनिक-पत्रेषु संस्कृत-समाचार-स्तम्भं प्रवर्त्तयितुं तद्-व्यवस्थापकाः प्रोत्साहनीयाः, स्वयं संस्कृतज्ञैः च अग्रे आगत्य वेतनं अगृहीत्वा लेखन-सम्पादनादि द्वारा तस्य स्तम्भस्य संचालने सहयोगः प्रदातव्यः ।

अत्र उदाहरणं जयपुर-बीकानेर-कोटा-फरीदाबाद(हरियाणा)तः प्रकाश्यमानं हिन्दीभाषायाः दैनिकम् 'अधिकार'-पत्रं विगत-20-21 वर्षेभ्यः 'संस्कृत-समाचार-'स्तम्भं संस्थाप्य तद्-द्वारा संस्कृत-भाषायाः अनुपम-सेवा-कारकम् अस्ति ।

किं बहुना, संस्कृत-प्रचार-प्रसारार्थं यत् किम् अपि क्रियेत, तेन आत्महितेन सह विश्वहितम् एव सम्पत्स्यते ।

गीर्वाण-वाणी रमणी पुराणी कल्याण-कर्त्री कलि-पाप-हर्त्री ।
काम्या न केषां क्व कथं कदा किं वन्याऽभिनन्द्या सततं पवित्रा ॥

◆

एव कश्चित् अपि ईदृशः विदेशी विश्वविद्यालयः न विद्यते, यस्मिन् अस्याः अध्ययनम् अध्यापनं च सविशेषं प्रचलितं न भवेत् । वैज्ञानिकाः अपि गणकयन्त्रोपयुक्ताम् इमां भाषां सर्वश्रेष्ठां स्वीकर्तुं प्रवृत्ताः । अगणितैः विदेशि-विद्वद्भिः अपि संस्कृत-वाङ्मयस्य अनेकासु शाखासु समनोयोगम् अनुशीलनं व्याख्यानम् अनुसन्धानं च समनुष्ठितम् ।

तेषाम् अत्र भारतवर्षे शासन-समये संस्कृतस्य यथा प्रौढपाण्डित्यं तथा तत्प्रति समाकर्षणं च दृष्टं, तादृशम् अद्य क्व विद्यते ? 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति अनुशासनं कः अनुसरति ? संस्कृतोपजीविनां विदुषां परिवारे अपि संस्कृतभाषानुरागः क्षीयमाणः अस्ति । आयुर्वेदज्ञाः वैद्याः अपि विना संस्कृतविशेषज्ञानम् एव आयुर्वेदं पाठयितुं प्रवृत्ताः । यदा सर्वे अपि आयुर्वेद-ग्रन्थाः तेषां व्याख्यादिकं च संस्कृते एव मौलिकरूपेण तिष्ठति, तदा संस्कृतस्य पर्याप्तं समुचितं च ज्ञानं विना कथं तद्-रहस्यम् अवबोद्धुं शक्यते ? 'वैद्यः'-शब्दतः सम्बोधने संस्कृतशब्द-पदवी-धारणे तु तेषां लज्जा आयाति । आत्मानं 'डाक्टर'-नाम्ना शब्दापयितुं महद् गौरवं ते अनुभवन्ति । स्वपरीक्षोपाधि-नाम अपि आङ्ग्लभाषामयम् एव सम्पादितवन्तः । अत एव तु मया खिन्न-मनस्केन तेषाम् उद्बोधनार्थं 'सत्यार्थ-प्रकाशः' एवं मुद्रापितः–

संस्कृत-शिक्षा-माहात्म्यम्

श्रीकुमारनाथभट्टाचार्यः

भारतस्य नदा नद्यः, पर्वताः प्रस्रवणाः गगनं पवनं वृक्षा वनस्पतयः, लता गुल्माः ओषधयः, कीटाः पतङ्गाः, दंशा मशकाः, पशवः पक्षिणः, सरीसृपा बिलेशयाः, नरा नार्यः, मुनयो ऋषयः, यक्षा राक्षसाः, गन्धर्वाः किन्नराः, देवा दानवाः, सर्वे एव अमृतनिःस्यन्दिनः संस्कृतस्य मधुमयाः प्रकाशाः । भारतस्य प्राणाः भारतस्य हृदयं, भारतस्य सर्वा प्रकृतिः मधु क्षरन्ति नियतम् ।

आकारैः इङ्गितैः अभिधाभिः लक्षणाभिः व्यञ्जनाभिः नृत्यैः गीतैः वादनैः चित्तकर्मभिः चारुशिल्पैः स्थापत्यशिल्पैः काव्यैः नाटकैः सौन्दर्यतत्त्वैः साहित्यैः दर्शनशास्त्रैः, भावस्तबकैः, प्रेमनिवेदनैः, भक्तिभरिताभिः अनन्याभिः साधनाभिः शनैः शनैः किमपि मनोहरं संस्कृतसमुद्‌बोधितं चिन्मयम् आनन्दनिकेतनम् जीवनशतदलं विकासम् आप्नोति ।

निर्झरस्य निरवच्छिन्ने झङ्कृते, मयूराणां मनोमादने केकारवे, वनान्तसञ्चारिणि कलनादीनि सरितां स्रोतसि, कोकिलानां कुहुरवे, हिमालयस्य ध्यानैकताने मौनमूके महामहिम्नि, तारामण्डलस्य विश्वव्यापिनि विपुले विस्तारे, सागराणां सततसञ्चारे कल्लोलकोलाहले, विटपिविपुलाया वनभूमेः रहस्यमये रोमाञ्चसञ्चारे झिल्लीझङ्कारे, वैदिकानां बालकानां सुमधुरे सामगाने, संगीतस्य सप्तधा स्वरमूर्च्छनासु, योगिभिः अनुभूते अनाहतनादे, षण्णां ऋतूनाम् आवेदनमयेषु आवर्तनेषु, प्राणिनां प्राणनकर्मणि मनसो मनने, बुद्धेः बोधे, स्वर्णोज्ज्वलां सकलशक्तिदायिनीं संस्कृतवाणीम् एव वयम् अवलोकयामः ।

जीवनस्य हर्षे विषादे, आनन्दे दुःखे, उत्थाने पतने, जये, पराजये, सर्वत्रैव समानरूपेण संस्थिता हृदयवासिनी सुमधुरभाषिणी वराभयदायिनी संस्कृतवाणी अस्मान् आलोकोज्ज्वलम् पुरोऽवस्थितम् पन्थानं प्रदर्शयति ।

मुनीनां ऋषीणाञ्च तत्त्वस्पर्शिनि प्रज्ञोज्ज्वले ज्ञानसमुन्मेषे, वयं संस्कृतस्यैव दिव्यं विततं विभावं विकासं च विलोकयामः । परःसहस्रेभ्यो वर्षेभ्यो भारतीयैः मुनिभिः ऋषिभिश्च अखण्डेन ध्यानेन लब्धम् अमृतोपमम् ज्ञानराशिम् इयमेव भाषा स्ववक्षसि साग्रहं सततं सञ्चिनोति ।

संस्कृतं मृतभाषेति जल्पतां जिह्वा न जिह्रेति कथम् ? प्राणप्राचुर्येण प्राणन्ती अन्यांश्च नियतं प्राणयन्ती इयं भाषा मृत्युवशं गता इति कथा वृथावचो-विजृम्भणम् एव विभाति । देहे, प्राणे, मनसि बोधे बोधातीते च स्तरे क्रमोन्नतेन आत्मविकासेन सम्भावयति संस्कृतम् । पुनः पुनरनुशीलनेन आशाभङ्गजनितः अवसादो नश्यति; दुश्चिन्ता औदासीन्यम् अनिच्छा च अपगच्छन्ति । समायाति च मनसि अप्रतिरोध्या काचन कर्मयोगसमुत्था सुमहतीशक्तिः, यया शक्त्या समुद्बुद्धाः छात्राः सततोद्यमिनः,

कष्टसहिष्णवः, सत्यनिष्ठाः, सदाचारपरायणाः, दृढसंकल्पाः, अनलसाः कर्तव्यपरायणाश्च भवेयुः। जीविकालाभार्थं प्रवर्तितासु प्रतियोगितासु साफल्यलाभाय संस्कृतसञ्चारिता इयमुद्यमशक्तिः अतीव अपेक्षिता। यस्यां भाषायां कर्मणो जयगानं पुरुषकारस्य च प्रशंसनम् प्रतिपदं प्राप्यते तस्या अनुशीलनेन मानवानां जीवनम् अध्यवसायशीलं सफलं च भवेत्। सौभाग्यवशात् प्रतिदिनं संस्कृतस्य पठने लेखने, श्रवणे भाषणे च प्रवृत्तिः प्रवृत्ता सती शनैः शनैः उन्मोचयति अज्ञानस्य आवरणम्। सर्वम् आवरणम् विदार्य आविर्भवति बुद्धिः तमोपहा। महता महिम्ना मण्डितायाः तस्याः स्निग्धेन समुज्ज्वलेन ज्योतिषा प्रदीप्तं प्रह्लादितं भवति भुवनम्। आनन्दस्य शिहरणेन बुद्धेः गुणाः उन्मीलिता भवन्ति। अन्तर्निरुद्धं भावं भाषायां निवेशयितुं समर्थो जनः सार्थकताम् अनुभवति। भावेन सह भाषाया विरहो विगतो भवति। भाषया सह भावस्य परिचयः परिणयश्च उच्छ्वसिताम् आनन्दधारां प्रसूते। स च मूकम् अपि प्रगल्भं करोति, जडमतिम् अपि बुद्धेः दीप्त्या उद्भाषितं करोति।

सर्वतः सञ्चारी संस्कृतस्य महिमा सामाजिकं दोषचयं विनाशयति। अधुनातने काले हिंसाद्वेषयोः द्वन्द्वेन दूषितं भवति समाजजीवनम्। भारतस्य विविधेषु प्रान्तेषु आञ्चलिकतावादः सस्पर्द्धम् मस्तकम् उन्नमयति। एकेन प्रदेशेन सह प्रदेशान्तरस्य विवादो विपुलीभवति। स्वप्रदेशस्य संस्कृतिं बहुमन्यमाना जनाः प्रदेशान्तरस्य भाषां संस्कृतिञ्च अधः कुर्वन्ति। तत्तु अन्ये न सहन्ते। ते न जानन्ति यद् एकस्या एव संस्कृतभाषाया एताः सर्वा भाषाः संस्कृतयश्च समुद्भूताः। संस्कृतं तथा संस्कृतवाहिता संस्कृतिश्च भारतस्य सर्वासाम् एव भाषाणां संस्कृतीनाञ्च जननी इति जानतां पारस्परिकं द्वन्द्वं ह्रासम् उपगच्छेत्। सर्वे जानीयुः यत् सर्वे एव भारतवासिनः एकस्या एव भारतमातुः सन्तानाः। सहोदरेण सह कलहो न कल्याणाय कल्पते इति महीयसी मतिः तेषां मनसि समुदेष्यति।

पुराणेषु बहुधा भारतवसुन्धरायाः अतिशयिताः प्रशंसा विवृता विद्यन्ते। ता वर्णनाः पठतां मानवानां भारतप्रीतिः दृढलग्ना भवेत्। भारते जन्मलाभस्य विधातृविहितं किञ्चित् विशिष्टम् उद्देश्यम् अस्ति। भारतं कर्मभूमिः, अन्ये देशा भोगभूमयः। आत्मिकं कल्याणं कामयमाना मानवा बहूनां जन्मनां साधनया भारते जन्म लभन्ते इति विष्णुपुराणं ब्रवीति। (वि. पु. 2/3/24) देवा अपि भारते जन्मलाभाय लालायन्ते। यतो भारते एव विहितया साधनया आत्मोन्नतेः स्वर्णोज्ज्वला सम्भावना सफला भवति। स्वर्गेऽपि सा सम्भावना सुदूरपराहता। चतुरशीतिलक्षजन्मनाम् अनन्तरम् मानवजीवनं लभ्यते। ततोऽप्यधिकतरेण पुण्यपरिपाकेण भारते जन्मलाभो भवति। भारतं प्रति एतादृशं प्रशंसावचनं जनानां भारतप्रीतिं समधिकाम् उपजनयति। एतादृशीं भारतप्रीतिं विना भारते वसन्तोऽपि मानवा अभारतीया भवन्ति। संस्कृतमेव तादृशीं भारतप्रीतिम् उपजनयति।

एतावता आलोचनेन ये तावत् संस्कृतस्य उपयोगाः उपलब्धाः, ते जीवलोकस्य विकासाय एकपाद्विभूतिभूता एव संस्कृतस्य संकीर्त्यन्ते। त्रिपाद्विभूतिभूता तु अनन्ता विभूतयः संस्कृतस्य क्रमसज्जितं क्रमसमुन्मेषसुन्दरं स्तरसमूहम् अतिक्रम्य अधिष्ठिते जगदतीते स्तरे महामानवैः ऋषिभिः योगिभिश्च केवलम् उपलक्ष्यन्ते। अनाहतेन नादेन समुपलक्षिता सा इयं दैवीवाक् वैखरीं मध्यमां पश्यन्तीम् अतिक्रम्य परां सत्तां स्पृशति, लीयते च तत्रैव परानन्दसन्दोहतुन्दिले अनन्ये तत्त्वे।

संस्कृतसम्प्रदर्शिते राजपथे विचरतां विदुषाम् एतस्यामवस्थायां सप्तविधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा प्रादुर्भवति । विज्ञातव्यमखिलं भवति विज्ञातम् । हातव्याः सर्वे बन्धहेतवो हताः । कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तम्, अतोऽन्यत् न किञ्चिदपि प्राप्तव्यमस्ति । विवेकख्यातिसम्पादनेन कर्तव्यमखिलं कृतम्, नातः परम् अवशिष्यते किञ्चिदपि कर्त्तव्यम् । बुद्धिसत्त्वं कृतार्थम्, बुद्ध्यादिरूपा गुणा अपि गिरिशिखरच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखा संम्पातेनास्तमात्यन्तिकं गच्छन्ति । नास्ति तेषां पुनः प्ररोहः । गुणातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठः स्वस्थोऽवतिष्ठते । (योगदर्शनम्, 2/27)

अविद्यया विवेके तिरष्क्रियमाणे हिरण्यगर्भमारभ्य मनुष्यपर्यन्तेषु जीवेषु ब्रह्मानन्दः क्रमापक्षीयमाणो लौकिकः सम्पद्यते । स एव च ब्रह्मानन्दो मनुष्यगन्धर्वादिषु हिरण्यगर्भपर्यन्तम् उत्तरोत्तरभूमिषु शतगुणोत्कर्षयुक्तः अकामहते श्रोत्रिये निरतिशयतामनुभवति इति वेदवचनम् । (तैत्तिरीयारण्यकम्, प्रपा. 8 अनु. 2) सोपानपरम्परा इव क्रमोन्नताः स्तरशः सञ्चिता जीवनविकासस्य अनन्ता भूमयो भवन्ति । तासु अधराम् अधराम् भूमिम् अधिरुह्य तत् सन्निहितासु उत्तरासु भूमिषु आरोहणस्य अधिकारः अधिगतो भवति । अशेषैः उपायनैरधिकारिणम् अभिनन्दयितुम् सस्नेहमाह्वयन्ति एता भूमयः, स्वाधिकारानुरूपं च भूमीनां वरणं कामयन्ते । स्वात्मलाभस्य सन्निहिततरं च अधिकारिणं क्रमशो विदधति ।

अखण्डमण्डलाकारं ज्योतिषां राशिभी रमणीयम् असमाभिः सुषमाभिः समन्तात् समावृतं भुवनमनोहराणां वर्णालीनां विच्छुरणेन विमोहनम् अमलधवलं सर्वेषां जगतां स्पन्दनानां केन्द्रस्थले विराजमानं निर्गुणं निरामयं निरातङ्कं, जनानां जीवनप्रवाहस्य चरमं सारतमं सत्त्वं दिव्यं भागवतं धाम शोभतेतमाम् । तदेव दिव्यं धाम प्रापयितुम् एताः सर्वाः संस्कृतसंगठिता भूमयो मानवम् उदारेण आह्वानेन सस्नेहं स्वाङ्गीकुर्वन्ति ।

●

संस्कृत-पत्रकारिता

श्री. चित्तरंजन दयाल सिंह कौशलः

सम्मान्याः ! प्रबुद्धाः ! संस्कृतज्ञाः ! विश्वविश्रुते लोकतन्त्रे भारते पत्र-पत्रिकाणामुपयोगित्वं सुविदितमेव लोकतन्त्रस्य अयं चतुर्थः स्तम्भः परिगण्यते । जनानां जागरूकतायै सम्यग्रूपेण प्रबोधनार्थञ्च सर्वत्र भूरिशः विविधभाषामाध्यमैः पत्रपत्रिकाः प्रकाश्यन्ते ।

"राष्ट्रे जागृयाम वयम्" इत्येतदर्थं पत्र-पत्रिकाणां **बहुविधमुपयोगित्वं स्वतः सिद्धं** भवति । तत्र च विशेषेण संस्कृत-संस्कृति-प्रसारणार्थं संस्कृत-संस्कृति-विषयमवलम्ब्य संस्कृतमाध्यमेन प्रकाशितानां पत्र-पत्रिकाणामुपयोगिता स्फुटा । संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणां माध्यमेनैवाद्यापि कन्याकुमारीतः प्रारभ्य हिमालयं यावत् भारतं सांस्कृतिकमैक्यमनुभवति । सर्वेषु प्रान्तेषु संस्कृतं जीवितम्, पठितम्, लिखितम्, मुद्रितम्, प्रकाशितं व्यवहृतञ्च अक्षिलक्षीक्रियते । 'संस्कृतं मृतम्' इति परिवादोऽपि क्रियात्मकतया समप्रमाणं खण्ड्यते । संस्कृतज्ञानां **संस्कृतगिरा** निर्मिताः नवीनाः रचनाः संस्कृतरसरसिकानां हृदयनन्दयन्ति । संस्कृतक्षेत्रे यत्र-यत्र यद्यत् कार्यं प्रचलति तत् तत् संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणाध्येतारः स्वगृहे एव अवगच्छन्ति । 'संस्कृतं खलु अमृतम्' इति अनुभवन्ति प्रामाणिकतया संस्कृतप्रेमिणः संस्कृत-पत्र-पकिाणां नियमितवाचकाः । नवीनान् लेखान् संपठ्य संस्कृतमयान् भावान् विज्ञाय 'संस्कृतं खलु विश्वभाषा' इति भावनया अभिभूय विश्व-शान्तये संस्कृतप्रसारकर्मणि निरताः भवन्ति सहृदयाः **जागृताः** जनाः । संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणाम् उपयोगित्वं मनसि अवधृत्य गृहेषु संस्कृत-पत्रक्रयणमवश्यं कर्तव्यम् । श्री कृष्णप्रणामी-संस्कृतमहाविद्यालये विश्व-संस्कृत-प्रतिष्ठान-द्वारा समायोजिते समारोहे "संस्कृत-पत्रक्रयणम्" इति नाम्ना एकः प्रस्तावः पारितः आसीत् । तच्चेदम्–

"भारतीयाः गृहस्थाः अनेन प्रस्तावेनेदमनुरुद्ध्यन्ते यत् प्रतिगृहस्थं स्वगृहे न्यूनान्न्यूनमेकं प्रकाश्यमानं पत्रं पत्रिकां वा संस्कृतस्य अनिवार्यतया ग्राहकत्वेन आनयेत् । संस्कृतस्य गृहे बहिश्च सुखद-वायुमण्डल-निर्माणाय इदमत्यावश्यकं वर्तते ।" इति ।

अस्मिन्नवसरे संस्कृत-पत्रकारितायाः इतिहासोऽपि संक्षेपेण विवेच्यः । एकोनविंशतिशताब्द्याः प्रथमखण्डे अंग्रेजीशासनं प्रायः सम्पूर्णे भारते प्रस्थापितं जातम् । शीघ्रमेव मेकालेलार्डस्य क्लर्क-निर्माणपरा शिक्षा-योजना सर्वत्र प्रसारिता । एकस्मिन्नेव क्षणे संस्कृतमर्धचन्द्रं दत्त्वा निस्सारितम्। **संस्कृत-विद्यायाः** राज्याश्रयः समाप्तिं गतः । नवशासने शिक्षायाः माध्यमभूता आंगलभाषा एव निश्चिता । विकटेऽस्मिन् काले नवीनोपायैः संस्कृतभाषां पुनरूज्जीवितुं संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणां परम्परा सर्वप्रथमं नवषष्ट्युत्तराष्टादशतके (1869) वर्षे प्रारब्धा । पञ्चाशदुत्तराष्टादशशतके (1850) वर्षे

लब्धजन्मना बटुहृषीकेशमहोदयेन "विद्योदयः" इत्याख्यं संस्कृतमासिकपत्रं प्रारब्धम् । स्वलोकाभिमुखप्रवृत्त्या ओजपूर्णया भाषया च एतत् प्रशंसनीयं पत्रं सर्वत्र सुप्रसिद्धिंङ्गतम् । हृषीकेशभट्टाचार्यः मूलतः बङ्गीयः आसीत् परं पञ्चाम्बुविश्वविद्यालयस्य संस्कृत-विद्यालये यदा सः प्राध्यापको जातः तदा पञ्चाम्बुविश्वविद्यालयस्य रजिस्ट्रार-पदे विराजमानानां कुलसचिवानां डॉ. लिट्नर महाभागानां प्रोत्साहनेन लाहौरतः पत्रमिदं प्रकाशितम् । यदा भट्टाचार्यः पुनः कलकत्तां प्राप्तः तदा एतत्पत्रं कलकत्तातः प्रकाशतामभजत् । अस्य सम्पादकीय-लेखानां संग्रहः प्रबंधमंजरीनाम्ना पण्डित-पद्मसिंह-शर्मणा सम्पादितः । इत्थमेव काञ्चीस्थलस्य सुप्रसिद्धाः विशिष्टाद्वैतवादिनः प्रतिवादिनःभयंकरमठाधिपतय अनंताचार्याः "मञ्जुभाषिणी" इत्याख्याम् मासिकीं संस्कृतपत्रिकां प्रारब्धवन्तः । ते अनेकशास्त्रप्रवीणाः न्यायवेदान्तादिशास्त्रीय-ग्रन्थ-सम्पादकाः **आसन्** । मंजुभाषिणी-पत्रिकायां चित्रकाव्यान्युपन्यासाश्चेति सर्वं मुद्रितम् ।

अस्यामेव परम्परायां सुविख्यातवाणीविलासप्रेस-द्वारा आर. कृष्णमाचार्याणां सम्पादकत्वे "सहृदया" इत्याख्या संस्कृत-पत्रिका प्रकाशिता । अस्याः सम्पादकाः पौर्वात्यपाश्चात्त्य-विद्यानां विद्वांसः आसन् । शेक्सपीयर-नाट्यकारस्य आङ्गलरचनानां परिचयः संस्कृतपण्डितेभ्योऽनया पत्रिकयैव प्रदत्तम् । एषा सुन्दर-संस्कृत-पत्रिका एकोनविंशतिशताब्द्याम् पञ्चविंशतिवर्षावधिं यावत् निरन्तरम् प्रकाशिताऽभवत् । कोल्हापुरतः अप्पाशास्त्री राशिवडेकरः संस्कृतचंद्रिका-नाम्नीं मासिक-पत्रिकां सम्पादितवान् । पण्डितेन अम्बिकादत्तव्यासेन विरचितस्य शिवराज-विजयाख्यस्य **ऐतिहासिकोपन्यासस्य** सर्वप्रथमं प्रकाशनस्यामेव पत्रिकायां जातम् । एतैः शास्त्रिवर्यैः "सूनृतवादिन्" इत्याख्यं संस्कृतसाप्ताहिकं पत्रमपि प्रारब्धम् । दौर्भाग्यात् ते यौवने एव दिवंगताः, तदनन्तरम् तत्पत्रप्रकाशनमपि निरुद्धम् । सम्पूर्णे भारते प्रसिद्धिङ्गताः जयपुरस्य संस्कृत-विद्वांसः महामहोपाध्यायाः पण्डितगिरिधरशर्माणः चतुर्वेदिनः स्वविद्यार्थिकाले एव स्वाभाविकोत्साहेन चतुरधिकैकोनविंशतिशततमे (1904) ईस्वीये वर्षे "संस्कृत-रत्नाकरः" इत्याख्यं मासिकं प्रारब्धवन्तः । अस्य मासिकस्य संचालकैः सुप्रसिद्ध-कल्याण-पत्रिकायाः विशेषांकसदृशाः सर्वगुणसम्पन्नाः बृहदाकाराः विशेषांकाः प्रकाशिताः । सँस्कृतमासिकानामितिहासे ईदृशमुदाहरणं दुर्लभम् ।

अस्मिन्नेव काले बंग-भंग-आन्दोलने कलकत्तायाः "पद्यवाणीः" काशीतः "मित्रगोष्ठी" तथा "संस्कृतभारती" प्रयागतश्च "शारदा" इत्येषां संस्कृतपत्राणां कार्यमपि ऐतिहासिकम् । काशीक्षेत्रतः विद्यासुधानिधिः "पण्डितः", "अच्युतः", सुप्रभातम्", "बल्लरीः", "सूर्योदयः", 'अमरभारती", एताः पत्रिकाः अपि प्रकाशिताः । अन्यक्षेत्रेषु कोचीनतः "विज्ञानचिंतामणिः", ढाकातः "प्रतिभा", सिंदहैदराबादतः "कौमुदी", मथुरातः 'संस्कृतभास्करः", लाहौरतः "उद्योतः", श्रीनगरतः "श्रीः", नडियादतः "पीयूषपत्रिका", आगरातश्च "कालिंदी" इत्येताः संस्कृतपत्रिका अपि यथासमयं प्रकाश्यं नीताः । बनारसतः संस्कृतकालेज-द्वारा प्रारब्धा "सारस्वतीसुषमा", आन्ध्रसाहित्यपरिषत्पत्रिका, 'मैसूरसंस्कृतकालेजपत्रिका', कलकत्तायाः "संस्कृतसाहित्य-परिषत्पत्रिका" "संस्कृतमण्डलपत्रिका" चेति संस्थाभिः प्रकाशिताः एताः पत्रिकाः अधिकतरं स्थैर्यं वहन्ति । बेलगांवतः प्रकाशिता "मधुरवाणी", अयोध्यायाः "संस्कृतं

साप्ताहिकम्", कलकत्तायाः "मंजूषा", तिरुवाडीस्थानस्य "उद्यानपत्रिका चैताः संस्कृतपत्रिकाः विविधकष्टानि सोढ्वाऽपि संस्कृतं सेवन्ते ।

परतन्त्रताकालेऽपि एतासां संस्कृत-पत्रिकाणां माध्यमेनैव भारतस्य एकात्मतायाः अखण्डाभिव्यक्तिः जाता । भारतवर्षस्य मूलभूतमैक्यमागलभाषायाः साहाय्यं विना निर्विवादरूपेण सिद्धम् । भिन्न-भिन्न-प्रान्तनिवासिनः विद्वांसः संस्कृतमधिकृत्य परस्परमेकत्रिताः भवितुं शक्नुवन्ति । नवशिक्षाप्राप्तविद्वांसः राष्ट्र-भक्ताश्च संस्कृतस्य वैशिष्ट्यं वैज्ञानिकत्वञ्च विज्ञाय निर्भ्रान्ताः उत्साहिनश्च सञ्जाताः । 'संस्कृतं न मृतम्', वस्तुतः 'संस्कृतममृतम्' इति भावः हृदये, जागृतो जातः । एषः सर्वः संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणां प्रभाव एव । एषा सर्वा संस्कृतपत्रपत्रिकाणाम् उपयोगिता । वर्तमानेऽपि बहूनि संस्कृत-पत्राणि प्रकाशतां यान्ति । तत्रादौ सुधर्मापत्रिकायाः विषये प्रस्तूयते किञ्चित् । संस्कृतस्य प्रचार-प्रसारार्थं ये कार्यक्रमाः सम्प्रति अनुष्ठीयन्ते तेभ्यः सर्वेभ्यः दैनिक-संस्कृत-पत्रस्य प्रकाशः अतीव उपयोगी प्रभविष्यति यतो हि भाषा प्रतिदिनमभ्यासस्य विषयः । दशदिनानि अथवा मासं वर्षं वा अभ्यस्ता अपि अनन्तरमप्रयुक्ता च भाषा विस्मृता भवति । संस्कृतज्ञानां स्वाभाषया निरन्तरसम्पर्कस्थापने संस्कृतं दैनिकमत्युपकारि सेत्स्यति । तेन च संस्कृतस्य प्रचारे, प्रसारे विकासे च महद् वरदानम् । संस्कृत-दैनिकस्य 'सुधर्मा" इत्यस्य प्रकाशतनं श्री-वरद-राजारयगर-महोदयानां महता त्यागेन संस्कृतं प्रति निष्ठया च कर्णाटके महीशूरपुरीतः (मैसूरतः) । विंशतिवर्षेभ्यः अधिककालार्थं प्राचलत् । किन्तु संस्कृतजगतः पूर्ण-सहकाराऽभावात्, धनाभावात्, तस्य रुग्णत्वात् अन्यान्यकारणाच्च तस्याः प्रकाशनं विगते वत्सरे स्थगितमभूत । इत्थमिदानीं संस्कृतलोकस्य कल्याणार्थं समग्रराष्ट्रस्य ऐक्यार्थं विश्वशान्त्यर्थम् चापि संस्कृतस्य दैनिकपत्रं नितरामपेक्षितं तिष्ठति ।

विश्वस्य संस्कृतदिन-पत्रिकायाः संस्थापकाः साधकाः सम्पादकाः सञ्चालकाः श्रीवरदराजाय्यङ्गार्याः अगस्तमासस्य पञ्चतारिकायां भानुवासरे (5. 8. 90) महाविष्णोः पदसन्निधिं प्राप्ता इति भवन्तो जानन्त्येव । तेन विना तृणमपि न चलतीति जानन्तोऽपि वयं लौकिकाः मायाग्रस्ताः विषीदामः, दुःखमनुभवामः, शोकं प्रकटीकुर्मः । वर्तन्ते परस्सहस्राः संस्कृतपण्डिताः, प्राध्यापकाः, किन्तु यत्कर्तुमन्यः कोऽपि न धैर्यमकरोत्, तन्महत्कार्यमय्यङ्गार्यमहोदयैः कृत्वा दर्शितम् । तेषु सत्त्वशक्तिरप्रतिमा अवर्तत । तेनैव ते तादृशं महाकार्यं साधितवन्तः । सर्वत्र एकमेव ध्येयम्, संस्कृत-भाषासंवर्धनम्, भारतसंस्कृतिरक्षणञ्च । सुधर्मापत्रमाध्यमेन संस्कृतस्य दैनन्दिनप्रयोगः प्रदर्शितः । एष सर्वथा व्यावहारिकः प्रयासः स्तुत्यः एव । 1970 ईस्वीये प्रारब्धं पत्रमिदं भविष्यति अपि प्रतिदिनं प्रकाशितं भवेदेतदर्थं संमिल्य प्रयासः करणीयः ।

हरियाणा-प्रदेशे अपि एकपात्राभिनयरीत्या सततं संस्कृतप्रसारं कुर्वन्तः प्रो. सत्यदेववर्माणः हितसाधिका-इत्याख्यं संस्कृतपाक्षिकं यमुनानगरतः प्रकाशयन्ति । अस्य पत्रस्य प्रकाशनम् 1988 ईस्वीय-वर्षे दिसम्बरमासस्य पञ्चदशतारिकातः नियमितं प्रचलति । प्रतिदिनमार्थिकानि कष्टानि जरीजृम्भन्ते । एकैकस्यापि वस्तुनो मूल्यं दिने दिने वर्धते । धनलाभमपश्यन्तो लेखकाः नाती-

वोत्साहिनः । एवं सत्यपि अनुरागेण, प्रचोदनेन, प्रार्थनेन, याचनेन येन केनापि मार्गेण च लेखकानां ग्राहकाणां च हृदयं वशीकृत्य पाक्षिकमिदं प्रचाल्यते ।

"विश्वभाषा" इत्याख्यं विश्वसंस्कृत-प्रतिष्ठानस्य मुखपत्रं वर्तते । अस्य प्रधानसम्पादकः पण्डितः गुलामदस्तगीर-अब्बास-अली-विराजदारोऽस्ति । एषा अन्ताराष्ट्रिया त्रैमासिकी संस्कृत-पत्रिका विश्वे संस्कृतं विश्वभाषापदे स्थापयितुं प्रयतते । "अर्वाचीनसंस्कृतम्" इत्याख्यमर्वाचीनसंस्कृत-परकं त्रैमासिकं पत्रं श्रीमतां विद्वद्वरिष्ठानां कविमल्लानां श्रीशारदाम्बावरदपुत्राणां डॉ. रमाकान्त-शुक्लमहाभागानां सम्पादकत्वे देववाणी-परिषद्-द्वारा दिल्लीतः नियमितरूपेण प्रकाश्यते । अर्वाचीनां संस्कृतविदुषामर्वाचीनाः संस्कृतरचनाः अर्वाचीनसंस्कृतपत्रिकायां दृग्गोचरीभवन्ति ।

सरलसंस्कृतं व्यवहार्यम् । संस्कृतमद्यापि जनसामान्यस्य व्यवहारभाषा भवितुमर्हति यदि जनाः संस्कृतभाषणे भीतिं लज्जां च परिहरेयुः । संस्कृतव्याकरणं किञ्चिदिव सरलमपि करणीयम् । सन्धयः समासाश्च संस्कृताध्ययनविषये दुरूहतां समुत्पादयन्ति । समस्तासु अर्वाचीन-भाषासु प्रत्येकः शब्दः पृथक्तया लिख्यते । अनेन अध्ययनं सुकरं भवति । यदि अस्माकं सम्पूर्ण-वाङ्मयमनेन विधिना पुनर्लिखितं स्यात् तर्हि संस्कृताध्ययनमत्यन्तं सरलं भविष्यति । अन्यच्च आधुनिकं विज्ञानं संस्कृते न विद्यते । अतः संस्कृताध्ययनस्य किमपि क्षेत्रं नास्ति । संस्कृत-पत्रपत्रिकासु विद्वज्जनैः आधुनिकान् वैज्ञानिकान् विषयान् समाश्रित्य लेखनं कार्यम् । मन्ये कार्यमिदं सुकरं नास्ति । यतो हि संस्कृतज्ञाः प्रायः वैज्ञानिकाः न भवन्ति, नैव वैज्ञानिकाश्च संस्कृतज्ञाः । एतदर्थं प्रथमं वैज्ञानिक-विषयेषु सामान्यलेखाः लेखनीयाः । वैज्ञानिकानाञ्च जीवनपरिचयः वैज्ञानिक- साहित्यस्य इतिहासश्च संस्कृते प्रस्तोतव्यः । प्राचीनकाले ये वैज्ञानिकविषयाः गणित-ज्योतिष-आयुर्वेद- यन्त्रशास्त्राणि च भारते अभूवन्, तेषां नूतनदृष्ट्या समीक्षणञ्च कार्यम् । ततः आधुनिकविषयेषु भौतिकविज्ञान-रसायन-विज्ञान-जीवविज्ञान-वनस्पति-विज्ञानादिषु तेषाञ्च विविधासु शाखासु प्रशाखासु अनूदिताः मौलिकाश्च ग्रन्थाः विरचनीयाः । इत्थं संस्कृते संस्कृतपत्रपत्रिकासु अवतीर्णं विज्ञानं लोकदृष्टिं संस्कृतं प्रति आकर्षेत् । इयमेव संस्कृतपत्रपत्रिकाणामुपयोगिता । संस्कृतस्य संस्कृतपत्रपत्रिकाणाञ्च प्रसाराय इदमुपरि संक्षेपेण यत्किञ्चित् मया निवेदितम् ।

अत्राहमिदमपि लिखितुकामोऽस्मि यत् प्रादेशिकभाषासु हिन्दीभाषायामाङ्गलभाषायाञ्च यानि समाचारपत्राणि प्रकाशितानि भवन्ति तेषां व्यवस्थापकैः सह सम्पर्कं विधाय अयमपि उद्योगः कर्तव्यः यत् तेषु पत्रेषु कतिपयस्तम्भाः सरलया ललितया च संस्कृतभाषया केषांचिद् लोकप्रियाणां विषयाणां प्रकाशनाय विनियोक्तव्याः । यदि तेषां पत्राणां कतिषु च स्तम्भेषु संस्कृतं भविष्यति तदा तत्पत्रपाठकेषु बहूनां तत्र दृष्टिपातो भविष्यति । क्रमेण च तद्द्वारा बहूनां रुचेः जागरणं सम्पत्स्यते । इत्थमयमपि प्रकारः संस्कृत-प्रचाराय सफलो भवितुमर्हति । संस्कृतपत्रपत्रिकाः तत्सम्पादकाश्च अस्यां दिशि बहुकार्यं कर्तुं शक्नुवन्ति । ममायमनुभवो विश्वाशश्च विद्यते यद् इदानीमपि संस्कृत-शिक्षायां जनतायाः आदरो वर्तते । जनता संस्कृतं शिक्षितुं कामयते । परं संस्कृतशिक्षायाः युगानुरूपा व्यवस्था नास्ति । संस्कृते

नवयुगस्य विषयाणां सन्निवेशो नास्ति । संस्कृते सरलानां रुचिवर्धकाणां नूतनग्रन्थानां रचना न जायते । एतत्सर्वं संस्कृतपत्रपत्रिकाणां माध्यमेनैव कर्तुं सम्भवम् । इदमेव संस्कृतपत्रपत्रिकाणामुपयोगित्वम् ।

इदं सर्वं कार्यजातं हिन्दीभाषायाः आङ्गलभाषायाः भाषान्तराणां वा अध्यापकाः अध्येतारश्च न करिष्यन्ति, इदं तु संस्कृतस्य पण्डितैः, संस्कृतस्य विद्यार्थिभिः संस्कृतोपजीविभिः साधुप्रभृतिभिरेव च कर्तव्यं भविष्यति । अतो मे भवत्सु विनयपूर्णा इयमभ्यर्थना विद्यते यत् सर्वे निद्रां विमुच्य परावलम्बनवृतिं परित्यज्य कर्तव्यभावनां पुरस्कृत्य, कालप्रातिकूल्यमनाक्षिप्य, "सर्वं भाग्यात् प्रवर्तते", "सर्वमीश्वरो घटयति" इत्येवं विधाकर्मण्यताप्रदां धारणामवधीर्य,

"उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यर्थैः ॥"

इति व्यासोक्तिं पाथेयीकृत्य च सोत्साहाः कटिबद्धाः सन्तो द्रुततरं प्रवर्तन्तां येन सुरभारती संसारे प्राप्तपदा भूत्वा आत्मनोऽक्षय्यकोषेण विश्वमानवान् तर्पयन्ती भारतवर्षं जगद्गुरुपदे पुनः प्रतिष्ठापयितुं प्रभवेत् । इति ।

अन्याः अपि संस्कृतपत्रपत्रिकाः भारतवर्षे प्रकाश्यन्ते । उपलब्धानां संस्कृतपत्रपत्रिकाणामेका सूची प्रस्तूयते । तत्र चेत् संशोधनमपेक्ष्यते, कौशल-संस्कृत-केन्द्रम् (शारदोद्यानम्, कुरुक्षेत्रम्) प्रति तत्सूच्यमिति ।

संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणां सूची

पत्रिकायाः नाम	प्राप्तिस्थानम्
1. सुधर्मा (दैनिकीपत्रिका)	561, रामचन्द्र-अग्रहारम्, श्री-कण्ठ-पावरप्रेसः, मैसूरः, 570004
2. संस्कृतभवितव्यम् (साप्ताहिकी पत्रिका)	संस्कृतभवनम्, पश्चिमन्यायालय-मार्गः, नागपुरम्, 440001
3. गाण्डीवम् (साप्ताहिकी पत्रिका)	गाण्डीवकार्यालयः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 221002
4. युगगतिः (साप्ताहिकी पत्रिका)	बक्शीपुरम्, गोरक्षपुरम्, 273001
5. शारदा (पाक्षिकी पत्रिका)	2, झेलमपत्रकारनगरी, पुने–16
6. संस्कृतसाकेतः (पाक्षिकी पत्रिका)	साकेतकार्यालयः, अखिलभारतीयविद्वत्समितिः, अयोध्या
7. संस्कृतश्रीः (पाक्षिकी पत्रिका)	7, श्रीरामपुरम् 22, वीरेश्वरसम्पर्कमार्गः, श्रीरङ्गम्, 72007
8. गैर्वाणी (मासिकी पत्रिका)	एन. आर. एअरविजयप्रेसः, चितूरः, आन्ध्रप्रदेशः 517002, संस्कृतभाषाप्रचारिणी सभा

९. सूर्योदयः (मासिकी पत्रिका)	भारतधर्ममहामण्डलम् जगतगञ्जः, (लहुराबीरः) वाराणसी
10. भारती (मासिकी पत्रिका)	भारती-भवनम्, वी-15, नवकालोनी, जयपुरम्, 300201
11. संस्कृतामृतम् (मासिकी पत्रिका)	1418, बाजारगुलियानः, दिल्ली, 110006
12. पारिजातम् (मासिकी पत्रिका)	105/194, प्रेम-नगरम्, कर्णपुरम्, 208001
13. गीर्वाणसुधा (मासिकी पत्रिका)	इन्दिरा-निवासः, अ. बो. स्ट्रीटमार्गः, बम्बईनगरम्, 400004
14. दिव्यज्योतिः (मासिकी पत्रिका)	आनन्दलॉजः, जाखू, शिमला -1
15. भारतोदयः (मासिकी पत्रिका)	गुरुकुलमहाविद्यालयः, ज्वालापुरम्, हरिद्वारम् सहारनपुरम्, उत्तरप्रदेशः, 249605
16. बालसंस्कृतम् (मासिकी पत्रिका)	मनीलालमेहतामार्गः, लालबहादुरशास्त्रीपथः, घाटकोपरः, बम्बई नगरम्, 400086
17. प्रणवपारिजातः (मासिकी पत्रिका)	श्रीसीतारामवैदिकमहाविद्यालयः, 72, पी. डब्ल्यू. डी. मार्गः, कलकत्ता-35
18. शारदा (मासिकी पत्रिका)	पो. बा. 750, शारदाकार्यालयः, पूने, 411030
19. चन्दमामा (मासिकी पत्रिका)	(डाल्टन एजेंसी), वाडाल्पलनी, मद्रास-26
20. सर्वगन्धा (मासिकी पत्रिका)	माईजीमन्दिरम्, असरफाबादम्, लक्ष्मणपुरम्, लखनऊ नगरम्, उत्तरप्रदेशः, 226003
21. संस्कृतसाहित्यपरिषत्पत्रिका (मासिकी पत्रिका)	168/1, राजदीनेन्द्रस्ट्रीटमार्गः, श्यामबाजारः, कलकत्ता, बंगाल–प्रदेशः
22. संस्कृतप्रचारकम् (मासिकी पत्रिका)	550, आनन्दविहारः, मौजपुरम्, दिल्ली-नगरम् 220023
23. ललिता (मासिकी पत्रिका)	कविभारती, किशोरविद्यानिकेतनम्, वी-2/236 ए, भदैनी, वाराणसी
24. मंजूषा (मासिकी पत्रिका)	क्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्यायः, द्वारा-4, भूपेन्द्रवसुऐवैन्यु, कलकत्ता-4

25. श्रीः (मासिकी पत्रिका)	नित्यानन्दशास्त्री; सुन्वारबागः, श्री-नगरम् काश्मीरः
26. भारतश्रीः (मासिकी पत्रिका)	श्रीधरशास्त्री, भारतीपरिषद्, प्रयागः
27. साम्मनस्यम् (मासिकी पत्रिका)	गुजरातसंस्कृतपरिषद्, हिमजनसमाजकल्याणकेन्द्रम्, पालडी, अहमादाबाद, गुजरातः
28. उद्यानपत्रिका (मासिकी पत्रिका)	113, साउथमाडलस्ट्रीटमार्गः, तिरूपतिः, आन्ध्र प्रदेशः
29. सत्यानन्दम् (मासिकी पत्रिका)	1, इब्राहिमपुररोडमार्गः, यादवपुरम्, कलकत्ता-नगरम्, 700032
30. भारतमुद्रा (द्वैमासिकी पत्रिका)	पुराणनाकारः, त्रिचूरः, केरलम्, 680551
31. मालवमयूरः (द्वैमासिकी पत्रिका)	रूद्रदेवत्रिपाठी, मन्दसौरः, मध्यप्रदेशः
32. वेदान्तसन्देशः (द्वैमासिकी पत्रिका)	स्वामीमनोहरदासः, 2/132, वलागंजः, कानपुरम्
33. लोकसंस्कृतम् (त्रैमासिकी पत्रिका)	संस्कृतकार्यालयः, श्री-अरविन्दाश्रमः, पाण्डीचेरी, 605002
34. सारस्वतीसुषमा (त्रैमासिकी पत्रिका)	सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 221002
35. सागरिका (त्रैमासिकी पत्रिका)	सागरिका-समितिः, गौरनगरम्, सागरः, (मध्यप्रदेशः)
36. अजस्रा (त्रैमासिकी पत्रिका)	अखिलभारतीय-संस्कृतपरिषद्, महात्मागांधीमार्गः, हजरतगंजः, लखनऊ, उत्तरप्रदेशः
37. परमार्थसुधा (त्रैमासिकी पत्रिका)	सार्वभौमसंस्कृतप्रचारकार्यालयः, 38/110, हौजकटोरा, वाराणसी (उत्तरप्रदेशः)
38. विशवसंस्कृतम् (त्रैमासिकी पत्रिका)	विश्वेश्वरानन्दवैदिकशोधसंस्थानम् साधु-आश्रमः, होशियारपुरम्, पंजाबः, (5102)
39. संस्कृतसम्मेलनम् (त्रैमासिकी पत्रिका)	श्रीरामनिरञ्जनमुरारकासंस्कृतमहाविद्यालयः चौकपटनानगरम् (बिहारः)
40. गुञ्जारवः (त्रैमासिकी पत्रिका)	कालेश्वरमन्दिरम्, घुमेरगल्ली, अहमदनगरम्, महाराष्ट्रः प्रदेशः

41. विश्वभाषा (त्रैमासिकी पत्रिका)	विश्वसंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दुर्गरामनगरम्, वाराणसी
42. अर्वाचीनसंस्कृतम् (त्रैमासिकी पत्रिका)	देववाणीपरिषद्, 6-वाणीविहारः, नवदेहली, 110058
43. उत्कलोदयः (त्रैमासिकी पत्रिका)	ए/99, सेक्टर-13, राउरकेला (उत्कलः) उड़ीसा-नगरम्, 760009
44. संविद् (त्रैमासिकी पत्रिका)	भारतीयविद्याभवनम्, कुलपति के. एम. मुंशीमार्गः, बम्बई-नगरम् ।
45. संगमनी (त्रैमासिकी पत्रिका)	संस्कृतसाहित्यपरिषद्, दारागंजः, प्रयागः
46. स्वरमंगला (त्रैमासिकी पत्रिका)	राजस्थानसाहित्य-अकादमी, उदयपुरम्, राजस्थानम्, 313001
47. दिग्दर्शिनी (त्रैमासिकी पत्रिका)	उत्कलसंस्कृतगवेषणासमाजः, पुरी, उड़ीसा नगरम्, 752001
48. मनीषा (त्रैमासिकी पत्रिका)	श्रीकामेश्वर-सिंहदरभंगा, संस्कृतविश्वविद्यालयः, दरभंगा, बिहार
49. मनीषासूत्रम (त्रैमासिकी पत्रिका)	दारागंजः, प्रयागः, इलाहाबादः, उत्तर-प्रदेशः, 211001
50. कामधेनुः (त्रैमासिकी पत्रिका)	भारतविद्यापीठम्, पा. ओ. इरनैलियर त्रिचुर (केरल) 680501
51. दूर्वा (त्रैमासिकी पत्रिका)	मध्यप्रदेश-अकादमी, चारबंगलामार्गः, सिविलमाईन, भोपालः, मध्य-प्रदेशः, 462002
52. ऋतम् (त्रैमासिकी पत्रिका)	अखिलभरतीयसंस्कृतपरिषद्, हजरतगंजः, लखनऊ-नगरम्, उत्तरप्रदेशः, 226001
53. श्रेयः (त्रैमासिकी पत्रिका)	डॉ. रामदतभारद्वाजः, सी. 3/31 ए, राजौरीगार्डनः, नवदेहलीनगरम्
54. प्राच्यभारती (षाण्मासिकी पत्रिका)	असमसंस्कृतसमितिः, काहिलीपाड़ा, गुवाहाटी, आसाम-प्रदेशः
55. भास्वती (षाण्मासिकी पत्रिका)	संस्कृतविभागः, काशीविद्यापीठः, वाराणसी, उत्तर प्रदेशः
56. संस्कृतप्रतिभा (षाण्मासिकी पत्रिका)	साहित्य-अकादमी, रवीन्द्रभवनमार्गः, नवदेहली-नगरम् ।

57. सुरभारती (षाण्मासिकी पत्रिका)	उस्मानियायूनिवर्सिटी-कैम्पस, हैदराबाद, 500007
58. शोधप्रभाः (षाण्मासिकी पत्रिका)	श्री–लालबहादुरकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, शहीदमीतसिंहमार्गः, कटवारियासरायः नवदेहली-नगरम्, 110016
59. प्राच्यज्योतिः (षाण्मासिकी पत्रिका)	संस्कृतप्राच्यविद्यासंस्थानम्, कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयः, कुरुक्षेत्रम्, 132119
60. भारतीयविद्या (षाण्मासिकी पत्रिका)	भारतीयविद्याभवनम्, कुलपति के. एम. मुंशी मार्गः, बम्बई नगरम्, 400007
61. संस्कृत-वीणा (षाण्मासिकी पत्रिका)	शारदोद्यानम् कुरुक्षेत्रम्, हरियाणाप्रदेशः, 132118
62. एनल्स ऑफ्ट भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट	पूना, 411002
63. जनरल ऑफऑरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट	बड़ौदा, गुजरात-प्रदेशः
64. द जनरल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट	इलाहाबादः, उत्तरप्रदेशः
65. द जनरल ऑफ संस्कृत अकादमी	ओस्मानियाविश्वविद्यालयः, हैदराबादः, आन्ध्र-प्रदेशः
66. द जनरल ऑफ द मैसूर ओरियण्टलिस्ट्स ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट	मैसूरः, कर्नाटक प्रदेशः
67. नवप्रभातम् (नवीनम् दैनिकम्)	117/81, ए, न्यूब्लाकः, शारदानगरम् कानपुरम्, उत्तरप्रदेशः, 208025

"त्रिभाषा फार्मूले में संस्कृत का स्थान गुरुदक्षिणा के रूप में मुझे दे दो" झोली पसारकर डॉ. सम्पूर्णानन्द जी की श्री शास्त्री जी से मांग

डॉ. सम्पूर्णानन्द संस्कृत के महान् मनीषी थे। इस भाषा के वाङ्मय की अगाधता में उनकी गहरी पैठ थी। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना उनकी इसी निष्ठा की परिणति थी। यह सुविदित तथ्य है कि भारत के तत्कालीन शिक्षा मंत्री श्री मौलाना आजाद किसी एक भाषा के विश्वविद्यालय की स्थापना नहीं चाहते थे। लेकिन डॉ. सम्पूर्णानन्द ने तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरु से कहा कि उत्तर प्रदेश में इतनी क्षमता है कि वह एक विश्वविद्यालय अपने आप भी चला सकता है और अपने दृढ़ संकल्प के आधार पर उन्होंने यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना कर दी। यह उन जैसा त्याग, तपस्या और विद्वत्ता से सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता था। यह प्रसन्नता की बात है कि उत्तर प्रदेश शासन ने उस विश्वविद्यालय के साथ उनका नाम जोड़ दिया और आज वह सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में सारे भारत में संस्कृत के एक कीर्तिस्तम्भ की तरह विराजमान है।

यही विश्वविद्यालय नहीं, अपितु कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के पीछे भी उनकी प्रेरणा मूल आधार है। मैं स्वयं पटना में उपस्थित था जब महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह की स्वागताध्यक्षता में आयोजित अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के पटना अधिवेशन में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने दरभंगा में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की अपील की थी।

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी का व्यक्तित्व अनेक गुणों का भण्डार था। वे उच्च कोटि के विचारक, महान् दार्शनिक, अग्रणी स्वतन्त्रता सेनानी, सफल प्रशासक होने के साथ-साथ त्याग की मूर्ति थे। कभी उन्होंने सत्ता के लिए मान्यताओं, विचारों और सिद्धान्तों को समर्पित नहीं किया। इसके लिए उत्तर प्रदेश जैसे महान् राज्य के मुख्यमंत्री जैसे गौरवपूर्ण पद को भी उन्होंने सहजता के साथ छोड़ दिया। हम उनके व्यक्तित्व की संस्कृत-महत्ता की यहाँ विशेष चर्चा कर रहे हैं। सारे देश में संस्कृत की प्रत्येक प्रवृत्ति और कार्यकर्ता को उन्होंने संरक्षण प्रदान किया। वे संस्कृत के लिए समर्पित थे और संस्कृत संस्था अथवा संस्कृत के व्यक्ति के उपकार के लिए सदा तत्पर रहते थे। हम सब लोगों

के लिए उनका द्वार खुला रहता था, चाहे वे मुख्यमन्त्री हों, राज्यपाल हों, कुलाधिपति हों या एक महाननेता के रूप में काम कर रहे हों। संस्कृत सेवा ही एक ऐसा आधार था कि मुझे उनका अनुग्रह भाजन होने का सौभाग्य मिला। उनकी इस सेवा के कुछ व्यक्तिगत अनुभव मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। सन् 1965 ई. में प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन और इस विद्यापीठ के सभापति थे। प्रधानमंत्री बनने के बाद उन्होंने सब संस्थाओं से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया था लेकिन इन दोनों संस्थाओं के सभापतित्व को उन्होंने नहीं छोड़ा। उस समय डॉ. सम्पूर्णानन्द जी राजस्थान के राज्यपाल थे और हमारी विश्व शताब्दी ग्रन्थ योजना की केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष थे। राजस्थान में राज्यपाल के रूप में उन्होंने संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए विशेष समिति की नियुक्ति कराई और उसका प्रतिवेदन भी प्राप्त हो गया था, लेकिन उनके चले जाने के कारण वह क्रियान्वित नहीं हो सका। एक अखिल भारतीय वैदिक सम्मेलन के आयोजन की योजना भी स्वीकार की। दिनांक 7 अगस्त 1965 ई. को शास्त्री जी की अध्यक्षता में प्रधानमंत्री निवास में सम्मेलन और विद्यापीठ की बैठक हुई। उसमें डॉ. सम्पूर्णानन्द ने जो भाषणं दिया उसकी आत्मा उन्हीं के शब्दों में यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ–यह वाक्य उन्होंने शास्त्री जी के सामने झोली फैलाकर कहे–

"आपके गुरु होने का गौरव मुझे प्राप्त है। मैं आज आप से गुरु-दक्षिणा के रूप में यह भिक्षा मांगता हूँ कि आप संस्कृत की उन्नति में अपना सहयोग देते रहें और त्रिभाषा सूत्र (फार्मूले) में संस्कृत को स्थान को स्थान देकर इसकी रक्षा करें।

इस दृश्य का आज भी जब स्मरण आता है तो हम सब भाव-विभोर हो जाते हैं। वे विद्यापीठ भी आये। हमारे कई समारोहों को सुशोभित किया। शास्त्री जी के निधन के अनन्तर तत्काल विद्यापीठ एक प्रकार से अनाथ हो गया था। प्रधानमंत्री के रूप में अध्यक्ष होने के कारण संस्था की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ था लेकिन इसकी सहायता की स्वीकृति का कोई औपचारिक आदेश नहीं हुआ था। शास्त्री जी का निधन सर्वथा आकस्मिक था और विद्यापीठ पर लगभग 2 लाख रुपये का कर्जा था और परिस्थिति यह आ गई थी कि अब यह संस्था बन्द हो जायेगी। श्रीमती इंदिरा गाँधी जी प्रधानमंत्री निर्वाचित हुईं। उनसे किसी का यह साहस नहीं हो पा रहा था कि संस्कृत की संस्थाओं के सभापति बनने के बारे में चर्चा तक कर सकें, स्वीकृति प्राप्त करना तो दूर रहा। मैंने सर्वथा अनाथ अवस्था में दिनांक 9 फरवरी 1966 ई. को डॉ. सम्पूर्णानन्द जी को एक पत्र लिखा। सौभाग्य से उन्हीं दिनों अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन होने के कारण इंदिरा गाँधी जी जयपुर में ही थीं और उनके साथ राजभवन में ही ठहरी हुई थीं। मैंने 9 फरवरी 1966 ई. को उनसे अनुरोध किया क़ि केवल आप ही इस स्थिति में हमारे आश्रय हैं। यदि इंदिरा जी से बात कर शास्त्री जी की तरह ही इन संस्थाओं का सभापतित्व स्वीकार करने के लिए राजी कर दें तो सम्भवतः यह डूबती हुई नैया बच जायेगी। दिनांक 9 फरवरी 1966 ई. को डाक द्वारा मैंने यह पत्र भेजा जो जल्दी से जल्दी 10 फरवरी 1966 ई. को जयपुर में मिला।

प्रधानमंत्री के साथ-साथ अनेक नेताओं को राजभवन में ठहराने वाले एक राज्यपाल की व्यस्तता का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन उन्होंने 10 फरवरी 1966 ई. को ही इंदिरा गांधी जी को सहमत कर लिया। आप उनसे मिल लें। वह पत्र यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इस प्रकार एक दिन में प्रधानमंत्री से बात कर तत्काल इन संस्थाओं को संकट से उबारने का काम केवल डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसे व्यक्ति का ही हो सकता है। उन्हीं के कारण प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी जी का संस्कृत और संस्कृत की संस्थाओं से परिचय और संस्कृत के परिदृश्यमान विकास का सूत्रपात हुआ।

इस प्रकार केवल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ही नहीं श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के निर्माण में भी श्रीमती इंदिरा गाँधी जी के माध्यम से उनका उतना ही महत्वपूर्ण योगदान है। केवल इन दो निदर्शनों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि वास्तव में सम्पूर्णानन्द जी की शताब्दी के प्रसंग में उनको श्रद्धांजलि देने का एक ही उपयुक्त माध्यम हो सकता है कि राष्ट्र में संस्कृत भाषा को त्रिभाषा सूत्र (फार्मूले) में स्थान दिया जाये और राजस्थान जैसे प्रत्येक प्रदेश में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हो।

दिनांक फरवरी ११, १९६६

प्रिय श्री मंडन मिश्र जी,

मैंने इन्दिरा जी से बात की। वह करीब करीब राजी हैं। मैंने यह कह दिया है कि आप उनसे मिलकर संस्था के सम्बन्ध में सब बातें समझा देंगे। यह भी कह दिया है कि संस्कृत न जानने के कारण उनको हिचकना नहीं चाहिए। वह आप से मिलने को तैयार हैं। अब आप दिल्ली में उनसे सुविधे के दिन मिलकर बात कर लीजिएगा।

डॉ. मंडन मिश्र,
मंत्री,
अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलनम्,
शक्तिनगरम्,
दिल्ली 7।

व्यक्तिगत एवं अत्यन्त आवश्यक

दिनांक ९ फरवरी १९६६

श्रद्धेय बाबूजी,

सविनय नमस्कार।

अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन और अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ श्रद्धेय श्री लालबहादुर जी शास्त्री एवं काका साहब श्री नरहरि विष्णु गाडगिल जी के देहावसान से एक प्रकार से अनाथ हो गये हैं।

मुझे मालूम है कि आप इस समय अत्यंत व्यस्त हैं फिर भी एक मिशन के कारण यह कष्ट मैं आपको दे रहा हूँ। गत 4-5 वर्षों से संस्कृत साहित्य सम्मेलन और संस्कृत विद्यापीठ का संचालन हम लोग यहां पर एक संस्था के रूप में नहीं अपितु संस्कृत और भारतीय संस्कृति के मिशन के रूप में कर रहे हैं। श्रद्धेय श्री लालबहादुर जी शास्त्री के नेतृत्व से यह मिशन आगे बढ़ा था और उसके प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में त्रिभाषा फार्मूले में संस्कृत को स्थान देने की भावना श्री छागला साहब तक ने व्यक्त की थी।

संस्थाएं तो कोई भी अध्यक्ष होगा तो चलती रहेगी लेकिन संस्कृत के नाम पर जो जागरण कुछ वर्षों से चला है–उसको निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिये एक बहुत बड़े समर्थन की आवश्यकता है। इस दृष्टि से यहां के सब लोगों ने सोचा है कि जिस प्रकार श्री लालबहादुर जी शास्त्री प्रधानमंत्री रहते हुए भी अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष थे उसी प्रकार वह परम्परा चलती रहे और श्रीमती इन्दिरा गांधीजी सम्मेलन का अध्यक्ष पद स्वीकार करें।

आप संस्कृत के संरक्षक और सम्मेलन के वरिष्ठ भूतपूर्व अध्यक्ष हैं। अतः आपसे निवेदन है कि इस प्रवास काल में श्रीमती इन्दिरा जी से आप यह प्रार्थना करने की कृपा करें कि वे अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करने की कृपा करें।

सम्मेलन के कार्यवाहक अध्यक्ष एवं उपाध्यक्षों में श्री सी. आर. पट्टाभिरामन् केन्द्रीय राज्य विधि मंत्री, श्री बलिराम भगत-केन्द्रीय रज्य वित्त मंत्री, श्री मोहनलाल सुखाड़िया-मुख्यमंत्री राजस्थान आदि महानुभाव सम्मिलित हैं और ये पर्याप्त उत्तरदायित्व् से सारा काम चलाने को तैयार हैं। केवल आवश्यकता माननीया इन्दिरा जी की है।

सम्मेलन और विद्यापीठ का लगभग चार लाख का बजट हैं और जिसके लिये पर्याप्त आर्थिक राशि भारत सरकार और अन्य राज्य सरकारों से आवर्तक रूप में प्राप्त होती है इसलिये उनके अध्यक्ष बनने से सरकार से अर्थ प्राप्ति की हमारी विशेष आकांक्षा नहीं है। केवल संस्कृत का मिशन प्रभावशाली रहे, यही हम सबकी कामना है।

सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में हमें उनसे वर्ष में केवल एक दो घण्टे का समय चाहिये। यदि वे अध्यक्ष बने तो उन्हें संस्कृत एवं संस्कृति के बारे में वर्ष में एक दो बार इस मंच से कुछ कहना

होगा। इससे संस्कृत और संस्कृति का तो भला होगा ही लेकिन उसके साथ में भारतीय जनता में श्रीमती इन्दिरा जी का भी सम्मान बढ़ेगा क्योंकि इस देश की जनता धर्म और संस्कृति में आस्था रखने वाले प्रधानमंत्री का विशेष आदर करती है।

वैसे भी प्रधानमंत्री दिल्ली में चलने वाली आल इंडिया इंस्टीट्यूट आफ मेडीकल साइंसेज, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइंटिफिक रिसर्च, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन आदि संस्थाओं का पदेन अध्यक्ष होता है। उसी परम्परा में आधुनिक विज्ञान से सम्बद्ध उपर्युक्त संस्थाओं के साथ प्राचीन संस्कृति से सम्बद्ध इस संस्था की अध्यक्षता भी प्रधानमंत्री स्वीकार करे तो देश में एक स्वस्थ परम्परा कायम हो जायेगी यह परम्परा केवल आप ही कायम करवा सकते हैं और संस्कृत के इतिहास में आपकी यह एक अभूतपूर्व देनो होगी। अध्यक्ष से हमारा सारा पत्र व्यवहार हिन्दी में होता है इसलिये संस्कृत ज्ञान का अभाव श्रीमती इन्दिराजी के लिये हमारा काम चलाने में बाधक नहीं होगा।

आपसे बढ़कर संस्कृत और हमारा कोई संरक्षक नहीं है इसलिये मैंने यह कष्ट आपको दिया है। आशा है आप इस प्रवास काल में श्रीमती इन्दिराजी से स्वीकृति प्राप्त करने का कष्ट करेंगे। आपकी स्वीकृति के अनन्तर औपचारिक रूप से प्रार्थना श्री सी. आर. पट्टाभिरामन् और अन्य उप सभापति श्रीमती इन्दिरा जी से जाकर कर देंगे।

विशेष:—यदि इस प्रवास काल में साक्षात चर्चा नहीं हो सके तो आप श्रीमती इन्दिराजी को पत्र लिखने की कृपा करें कष्ट के लिये क्षमा,

सेवा में—
श्रद्धेय डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी,
राज्यपाल-राजस्थान राज्य,
राजभवन, जयपुर,

भारतीय शिक्षा की पुनर्रचना

डा. सरजू प्रसाद चौबे

वर्तमान भारतीय शिक्षा हमारी संस्कृति, परम्पराओं तथा आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अतः इसमें प्रमुख परिवर्तन करना आवश्यक है। परन्तु इस आमूल परिवर्तन में हमें धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए। और इसका अर्थ यह है, कि शिक्षा देने के क्रम में हमें अपने छात्रों को अपनी रीतिरिवाजों, सभ्यता, साहित्य और इतिहास का ज्ञान देना होगा। आज के हमारे अनेक शिक्षित नवयुवक अपनी संस्कृति का उपहास करते हुये देखे जाते हैं, और विदेशी संस्कृति का अन्धानुकरण करने में गौरव का अनुभव करते है। इस दूषित मनोवृत्ति को दूर करना हमारी नई शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा:—

हमें अपनी शिक्षा की पुनर्रचना में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का समावेश करना होगा। राष्ट्रीय दृष्टिकोण का तात्पर्य कूपमण्डूकता नहीं होगी। वस्तुतः उत्तम राष्ट्रीय दृष्टिकोण वहीं हे जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय का भी भाव सन्निहित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु हमें विशाल पैमाने पर साधन जुटाने होंगे। इसमें बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी। स्पष्ट है, कि सरकार तथा जनता दोनों का सहयोग इसमें आवश्यक होगा। हमें अपने अधिकारों की ही बात न करेक उसके साथ-साथ अपने दायित्वों और कर्तव्यों पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना होगा। खेद का विषय है कि आज हमारे शिक्षक अपना वेतन बढ़ाने के लिए जितना विज्ञापन, शोरगुल, सभा-आयोजन तथा रैलियाँ करते हैं। उसका शतांश भी शिक्षा के स्वरूप में वांछित परिवर्तन के लिए नहीं करते। बहुत ही कम सभा और समितियों में अपने दायित्वों और कर्तव्यों की चर्चा की जाती है। बस वेतन वृद्धि तथा शिक्षकों की आर्थिक दशा में सुधार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कहने का अर्थ यह नहीं है कि अपना अधिकार न माँगा जाए, परन्तु अधिकार की माँग के साथ हमें अपने दायित्व और कर्तव्य-पालन पर भी ध्यान देना चाहिए। हम अपने दायित्वों और कर्तव्य-पालन के पथ से हट गये हैं यही कारण है कि हमें वह मान, सम्मान और आदर प्राप्त नहीं है जो हमारे प्राचीन गुरूकुलों के आचार्यों को प्राप्त था।

अपनी शिक्षा में हमें अपने जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना होगा। क्योंकि हमने यह जीवन-पद्धति अपने लिए अपनाई है। हमें कोई बात किसी पर थोपना नहीं है। हमें प्रत्येक सम्बन्धित शिक्षा तथा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास पर समुचित ध्यान देना होगा। देश की

विभिन्न उप-संस्कृतियों को प्रश्रय देते हुये प्रत्येक धर्म को समुचित स्थान तथा प्रत्येक क्षेत्र, जाति और समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा को पुनर्रचित करना होगा। हमें कोई एक ही व्यवस्था किसी पर थोपना नहीं चाहिए। साथ ही, साम्प्रदायिकता, जातीयता, क्षेत्रीयता, आदि प्रवृत्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न करना हमारी पुनर्रचित शिक्षा का उद्देश्य होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम को छात्र की अवस्था, क्षमता, सामाजिक स्तर, वातावरण और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार सुव्यवस्थित करना होगा। अर्थाभाव के कारण हमारे समाज का कोई अंग या व्यक्ति अशिक्षित न रह जाय-इस पर भी ध्यान देना होगा। इसके लिए माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क शिक्षा तथा आगे के स्तरों पर मेधावी और योग्य छात्रों के लिए समुचित आर्थिक सहायता की व्यवस्था होनी चाहिए। यह तभी संभव है जब सरकार और समाज दोनों मिलकर आवश्यक साधनों का उपक्रम करें। स्पष्ट हैं, कि हमारी शिक्षा की पुनर्रचना में अभिभावकों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होगी। शिक्षा रूपी गाड़ी के दो पहिये है–एक शिक्षक और दूसरा अभिभावक। देश का प्रत्येक नागरिक किसी न किसी रूप में एक अविभावक है।

संस्कृत शिक्षा

संस्कृत हमारी संस्कृति का आधार है। हमारी सम्पूर्ण पैतृक सम्पदा की धरोहर इसी भाषा में सुरक्षित है। वेदों उपनिषदों से लेकर पुराणों, रामायण, महाभारत तक की सम्पूर्ण सम्पदा संस्कृत में ही सुरक्षित है। संस्कृत हमारे धर्म-कर्म की भाषा है। संस्कृत उत्तर भारत की सम्पूर्ण भाषाओं की जननी और उनके साहित्यों का प्रेरणा स्रोत है। दक्षिण भारत की भाषायें भी संस्कृत से प्रभावित है और उनका साहित्य संस्कृत साहित्य का ऋणी है। हमारे प्राचीन इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री संस्कृत में ही उपलब्ध है।

संस्कृत शिक्षा की परम्परा वैदिक काल से लेकर आज तक अबाध गति से चलती आई है। मुस्लिम शासन में भी इसकी धारा अविच्छिन्न रही है। उस समय संस्कृत वाङ्मय के अमर रत्नों के अनुवाद अरबी और फारसी भाषाओं में हुए। जिनके द्वारा हमारे ज्योतिष गणित और विज्ञान एवं दर्शन का प्रचार विदेशों में हुआ है। अंग्रेजों के आने पर उनका परिचय संस्कृत भाषा से हुआ और उन्होंने भी संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद अंग्रेजी, फ्रांसिसी तथा जर्मन भाषाओं में किये। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के अनेक विश्वविद्यालयों में संस्कृत और पालि की शिक्षा दी जाने लगी। विदेशों में विशेषतया इंग्लैण्ड जर्मनी और अमेरिका में संस्कृत के अनेक विद्वान् हुए। जिनमें मैक्समूलर और मैकडॉनल, कीथ आदि का योगदान बहुत महत्वपूर्ण रहा है।

सन् 1858 में जब आधुनिक विश्वविद्यालयों की स्थापना हमारे देश में हुई तब अंग्रेजी स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा दी जाने लगी। इन विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा को हम नव्य शिक्षा कह सकते है जो पारम्परिक शिक्षा विधि अर्थात् पाठशाला विधि से सर्वथा भिन्न थी। प्रारम्भ में इसका माध्यम अंग्रेजी भाषा थी। व्याकरण और अनुवाद विधि द्वारा इसकी शिक्षा स्कूलों में प्रारम्भ की गई थी सर् जिसे रामकृष्णभण्डार कर विधि कहते हैं। महाराष्ट्र

में इसी विधि से अब तक शिक्षा दी जाती है। बंगाल में पंडित ईश्वरचन्द विद्यासागर ने भी व्याकरण की आधुनिक विधि प्रचलित की। इन नव्य विधियों के अतिरिक्त पारम्परिक पाठशाला पद्धति अब भी उसी विधि से चलती है जिससे आज से ढाई सौ वर्ष पूर्व पढ़ाई होती थी। पाणिनी की अष्टाध्यायी पंतजलि के महाभाष्य और वार्तिककार वररुचि की व्याकरण पद्धति सिद्धान्त कौमुदी द्वारा कुछ परिवर्तित रूप में चलने लगी। आज भी कहीं-2 विशुद्ध पाणिनी विधि से व्याकरण की शिक्षा दी जाती है। साहित्य की शिक्षा टीका पद्धति द्वारा दी जाती है जिसमें मल्लिनाथ का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

साहित्य की प्राचीन शिक्षा पद्धति में आलोचनात्मक पद्धति का अभाव था इसकी पूर्ति विश्वविद्यालयों की नव्य शिक्षा पद्धति द्वारा होती है। यद्यपि नव्य शिक्षा पद्धति द्वारा संस्कृत का उतना गम्भीर ज्ञान नहीं होता जितना पारम्परिक पद्धति द्वारा होता है। फिर भी भाषा विज्ञान के विकास के कारण संस्कृत के अनुशीलन की जो पद्धति विश्वविद्यालयों में चल रही है उसका संस्कृत शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। बनारस का गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज अंग्रेजी द्वारा स्थापित किया गया था और इसके आचार्य संस्कृतज्ञ अंग्रेज हुआ करते थे। यहाँ पर संस्कृत के अनेक उद्‌भट् विद्वान इस कालेज से सम्बद्ध रहे हैं आचार्य पंडित बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित काशी की पंडित परम्परा से उन पंडितों का परिचय प्राप्त होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संस्कृत को अर्थकरी **विद्या** बनाने के उद्‌देश्य से स्वर्गीय डा. सम्पूर्णानन्द **गवर्नमेण्ट** संस्कृत कालेज को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय बना दिया जो उनके मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में चल रहा है। अतः स्वर्गीय डा. साहब का संस्कृत शिक्षा के उन्नयन में बहुत महत्वपूर्ण योगदान है।

संस्कृत शिक्षा में पहले परीक्षा पद्धति लिखित नहीं थी वरन् मौखिक थी उस पद्धति द्वारा छात्र के वास्तविक ज्ञान का पता चलता था। लिखित परीक्षा प्रारम्भ होने पर संस्कृत के गम्भीर ज्ञान का अभाव होने लगा और आज तो परीक्षा पद्धति के जितने दोष है सब संस्कृत परीक्षाओं में आ गये हैं फिर भी संस्कृत के विद्वान् और प्रेमी इसके प्रसार प्रचार में लगे हुए हैं। देश और विदेशों में संस्कृत शिक्षा का प्रचार अबाध गति से चल रहा है।

अंग्रेजी शासन में संस्कृत शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई थी परन्तु दुःख की बात है कि जब देश स्वतन्त्र हुआ और संस्कृत शिक्षा के उन्नयन का समय आया तब हमारी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने संस्कृत शिक्षा की उपेक्षा कर दी और आज नई शिक्षा के नाम पर जो शिक्षा पद्धति चलाई जा रही है उसमें संस्कृत के लिए कोई स्थान ही नहीं है। लाखों वर्षों की हमारी सांस्कृतिक सम्पदा जिस भाषा में सुरक्षित है उसकी रक्षा करना राष्ट्रीय कर्तव्य है।

प्राचीन भारत में वैदिक युगीन उच्च-शिक्षा

डा. बिन्देश्वरी प्रसाद सिन्हा

शिक्षा और लेखन-पठन का अन्योन्य सम्बन्ध सामन्यतया माना जाता रहा है। प्राचीन भारतीय शिक्षा की क्रमिक विकाश की जानकारी के लिये लेखन-क्रिया का इतिहास अत्यन्त धूमिल हैं। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर हरप्पा-संस्कृति के लेख के बाद अशोक कालीन **ब्राह्मी** व खरोस्टि लिपि ही असन्दिग्ध रूप से रुबरु प्राचीन लिपि उपलब्ध हैं। पर पाणिनि मगध राजा नन्द (महापद्मनन्द?) के समकालीन थे, यद्यपि जमर्न विद्वान Goldsmeker उन्हें कई सदी पूर्व का मानते हैं। पाणिनि ने लिपि, लिपिकर, ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह अनुमान तर्क संयुक्त है कि उस समय तक लेखन-विधा प्रचलित थी। अनेक विदेशी विद्वान् यह मानते हैं कि पाणिनि के काल तक वैदिक साहित्य प्रायः लिपिबद्ध हो चुका था। पर यह भी विचारणीय है कि वैदिक साहित्य में न तो लिपि और न ग्रन्थ शब्द या उनके तादात्म्य शब्दों का उल्लेख हुआ है। इससे इस विचार को बल मिलता है कि वैदिक-युग के उपरान्त और पाणिनि के पहले प्राचीन भारत में पाँचवी शदी ई. पू. में भारत में लिपि का प्रयोग शुरू ही हुआ होगा।

पर वैदिक युग देश के इतिहास में एक लम्बा युग हैं (2000 ई. पू.-700 ई. पू.) और इस युग का प्राचीनतम साहित्य संकलन ऋग्वेद, संसार की प्रथम पुस्तक, यद्यपि पूर्णरूपेण कंठोक्त ही रहा। लिपि के अभाव में भी वैदिक साहित्य अन्यन्त समृद्ध है। यह भारतीय विशेषता ही है कि जबकि उसके समकालीन सभ्यदेशों में लिपि का काफी विकास हो चुका था–पाँच हजार वर्ष पहले मेसोपोटामिया की खुदाई से प्राचीन स्लेट तक मिले हैं–भारत में लिपि के ज्ञान का पाणिनि के पहले कोई ठोस आधार नहीं मिलता और पूरी की पूरी अष्टाध्यायी का भी कण्ठस्थ करने की ही परिपाटी थी। पर इस अभाव के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता, साहित्य, विज्ञान और भौतिक व आध्यात्मिक विकास का पथ अवरुद्ध नहीं रहा और अशोक के पूर्व का भारतीय इतिहास कम गौरवमय नहीं है। इस सर्वांगीण विकास के पीछे शिक्षा का, उच्चतर शिक्षा व विज्ञान की निरन्तर प्रवाहित धारा के योगदान को यथोचित महत्व देना ही पड़ेगा। वैदिक साहित्य मूलतः धार्मिक साहित्य है, पर उसके आलोच्यात्मक विश्लेषण से तत्कालीन प्रायः 1000-1500 वर्ष में विभिन्न क्षेत्रों में धार्मिक, दार्शनिक, आर्थिक वैज्ञानिक निरन्तर प्रगति का संकेत तो मिलता ही है। इसमें कोई भी विवाद नहीं खड़ा किया जा सकता है कि तत्कालीन धर्मेतर साहित्य भी अवश्य ही रहा होगा। जिसमें भौतिक व वैज्ञानिक कार्यकलापों का, राजनैतिक उथल-पुथल व सामाजिक संघर्ष व सामन्जस्य का उल्लेख था,

पर धर्मेतर रहने के कारण पुरोहितों व ऋषियों का उनका संकलन व सुरक्षा में कोई दिलचस्पी नहीं रहने के कारण उनकी स्थिति व स्वरूप के धूमिल संकेत ही मिलते हैं।

यह निर्विवाद है कि वैदिक युग की अनवरत सम्पन्नता आध्यात्मिक व भौतिक-बिना शिक्षा-व्यवस्था के पीढ़ी दर पीढ़ी तक अक्षुण रहे सम्भाव्य नहीं है। प्रश्न यह नहीं है कि वैदिक युग में शिक्षा व्यवस्था थी या नहीं, प्रश्न यह है कि क्या इस व्यवस्था का ज्ञान, सीमित ही सही, हम वैदिक साहित्य में पाते हैं ?

ऋग्वेद में शिक्षक व शिक्षार्थी का परिचय शायद ही मिलता है पर अर्थववेद में प्रचुर सेंकत हैं। अथर्ववेद का संकलन ऋग्वेद के बाद का माना जाता है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी सभी ऋचाएं ऋगवेद की अन्तिम ऋचाएं के वाद की हैं। विन्टरनिट्ज् ने ठीक ही कहा है कि अथर्ववेद की कुछ ऋचाएं तो अवश्य ही ऋग्वेद के समकालीन या उससे भी पहले की है। यह सत्य है कि अर्थववेद को वेद की मान्यता भी काफी वाद में मिली। पहले वेद तीन ही माने जाते थे– त्रयी, पर इसका यह निष्कर्ष दुराग्रह ही होगा कि उससे अर्थववेद का संमय अन्य वेदों के बहुत बाद सिद्ध होता है। वास्तव में अथर्ववेद जो आगिंरस व भार्गव ऋषियों की देन है उसमें तन्त्र, मन्त्र, जादू-टोना, अभिचार का इतना बाहुल्य है और जन साधारण के विचार-विश्वास या अंधविश्वास ऋग्वेद में पुरोहितवाद से इतना भिन्न दीखता है कि उसे 'वेद' मानने में गंगा-यमुना दोआव के ऋषियों को स्वभाविक आपत्ति रही होगी। फिर अथर्ववेद सिर्फ ऋगवैदिक उच्चवर्गीय (elitish) संस्कृति से अलग-अलग ही नहीं दिखता, उसका परिचित भूगोल भी भिन्न हैं। इसके आन्तरकि साक्ष्यों के आलोचनात्मक विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह गंगा की मध्य और निचली घाटी (Meddle and lower Gangetc valley) के प्रदेशों से (बिहार-बंगाल), क्षेत्रों से अधिक परिचित था, और यह सर्वमान्य हैं कि पूर्व वैदिक जन (Rgvedic Aryan priesthood) यहां बाद में ही पहुँच सके। तो क्या अथर्ववेद की कुछ पूर्व-रचनाएँ आर्येतर जनजातियों की संस्कृति, धार्मिक विचार व अभिचार का दिग्दर्शन कराती हैं ? यह अपने में एक अलग विषय है। पर यह निर्विवाद है कि अथर्ववेद से ही हमें प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से शिक्षा-व्यवस्था, भैषज्य विज्ञान, इत्यादि विषयों पर प्रकाश मिलता हैं। इस वेद में हमें शिक्षा-सम्बन्धी जो सूचनाएं मिलती है उन्हें हम निम्नलिखित भागों में रख सकते हैं–(अ) वैदिक-शिक्षा के प्रारम्भ के अनेक समारोह व संस्कार का विधिवत् सम्पादन (ब) शिक्षा के सम्पादन सम्बन्धी विधियां, (स) विद्यार्थी जीवन का वर्णन (द) शैक्षणिक महत्व के तथ्यों का यहां-वहां उल्लेख। इस वेद में हमें उन सूत्रों का परिचय मिलता है जो वैदिक शिक्षा के प्रवेशार्थी को पवित्र ज्ञान को धारण करने की क्षमता और उसे बौद्धिक विकास की प्रेरणा के लिये अभिहित थे। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रवेश-अनुष्ठान के समय 21 वरीय-क्षात रहते थे जो सम्भवतः सात प्रारम्भिक ब्राह्मण समुदाय (आत्रेय, काश्यप भार्गव, आंगिरश, विश्वामित्र, वाशिष्ठ और पुलस्त्य) के तीन-2 प्रतिनिधि रहे हो। वाचस्पति से प्रार्थना की जाती थी कि शिक्षार्थी वैदिक पाठों को सुनकर याद रख सकें। वाचस्पति वाक् का अधिपति था, और उसका

आवाहन जब शिशु बोलना शुरु करता था, या जब वह बड़ा होता था और जब वह शिक्षा समाप्त कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था, सभी वयों में किया जाता था पर यह सम्भव है कि भाषा व तर्क शास्त्र का विद्वान् भी आश्रम में वाचस्पति ही कहा जाता था, जिसके यहां प्रवेशार्थी प्रवेश के लिये आवेदन करता था। प्रवेश-सूत्रों से यह आभास होता है कि शिक्षा संस्थान गुरुकुल-आश्रम में वित्त पदाधिकारी के साथ अध्यक्ष न आवास केसुपरिटेन्डेन्टया वार्डेन प्रकार के अधिकारी (गोप) भी होते थे। मानसिक बुद्धि कीं प्रखरता और ऋभु (यान्त्रिक), असुर (भौतिक) और ऋषियों (धर्म दार्शनिक) की बौद्धिक योग्यता का क्रमिक अभ्याप्ति के लिये मन्त्रों का विधिवत् गायन किया जाता था, प्रस्तुति की जाती थी। 'मेधा-जनन' के इस अनुष्ठान से प्रत्येक शिक्षार्थी तो प्रार्थना यह करता था कि उसकी मेधा प्रातः, दोपहर व सायं काल तक बराबर प्रखर रहे, तीव्रतर हो, पर वास्तव में यद्यपि वे सब छात्र जो एक विषय ही पढ़ते हों, एक गुरु से ही शिक्षा पाते हो, बुद्धि में एक दूसरे से भिन्न-2 स्तर पर होते हैं। पर ऋग् वेद में यह स्पष्ट कहा गया हैं कि समान ज्ञान, समान शास्त्र के श्रवण करने वाले भी मानसिक विकास व 'मन' व मानस के गुण में अलग-2 होते हैं। कोई महाप्रज्ञान कोई मध्यमप्रज्ञान् व कोई अल्पप्रज्ञान्। सारी विद्या के लिये गुरु के गीतमय पाठ का श्रवणकर उसे हूबहू पाठ करना-**कण्ठस्थ** व रखना का अभ्यास निरन्तर करना पड़ता था। इसलिये आश्रम में गुरु व शिष्य के पाठगान को वर्षा ऋतु में बेंगों की **टरटराहट** से तुलना की गई हैं (Rv. VII, 103) पर वैदिक छात्र सिर्फ बुद्धिविकास, पाठगायन में प्रवीणता ही नहीं पर शारीरिक पुष्टता व स्वास्थ्य की भी कामना करता था। वह और उसे समुचित आरामदेह आवास की भी तमन्ना रहती थी। अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों से यह अभिहित होता है कि शिक्षार्थी यद्यपि गुरु के साथ ही रहते थे, पर यह जरूरी नहीं था कि वे गुरु के अपने निवास में ही इकट्ठे रहे। त्वष्टृ से प्रार्थना की गई है कि उन्हें विस्तृत जगह मिले। और यदि उनके शरीर पर चोट आए तो उसे दूर कर सहज बनाया जाय। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि गुरुकुल से छात्रों की बढ़ती संख्या के अनुरूप स्थायी वा अस्थायी कुटियां बनाई जाती हो और वास्तुविद् व राज-मजदूर की उपस्थिति सुलभ थी। **वैद्य** व हड्डी रोग विशेषज्ञ व प्रविधज्ञ भी उपलब्ध रहते होंगे। शिष्य के स्वास्थ्य व लम्बी जिन्दगी के लिये गुरु अत्यन्त सावधान थे और देवताओं से प्रार्थना करते थे। शिष्य को सर्पदंश, मैलेरिया, यक्ष्मा, पीलिया व अन्य आपदाओं से विमुक्ति के लिये विशिष्ट अनुष्ठान व मन्त्रोंचार होते थे। इनसे बचने के लिये जन्तर बांधे जाते थे। पर इन अभिचारों के साथ-2 जड़ी-बूटी व अन्य दवाओं का भी उपयोग युवा वैद्यों के द्वारा किया जाता था।

इन सबसे यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद-कालीन आश्रम तटीय प्रदेशों में थे जहां वर्षा काफी होती थी, पानी का जमाव रहता था-मच्छर थे और मलेरिया व पीलिया का डर होता था। विद्यार्थी का जीवन कठिन था, मानसिक व शारीरिक श्रम काफी था इसलिये यक्ष्मा के प्रकोप की सम्भावना काफी रहती थी। उसे आश्रम के लिये जंगल से लकड़ी का गट्ठर लाना, पड़ोस से भिक्षा लेना और सुबह, दोपहर व सन्ध्या को गुरु का पाठ श्रवण करना और उसे बार-बार विधिवत् गायन करना

कण्ठस्थ करना और स्मरण रखना–यह होता था सब एक कठिन दिनचर्या थी। प्रवेशार्थी के आश्रम में दाखिला के समय के प्रवेश-अनुष्ठानों से सम्बन्धित मन्त्रों के विश्लेषण से हम यह पाते हैं कि उसके अन्य पूर्ववर्ती सहपाठी थे, और सम्भवतः सहपाठिनियां भी। वह अपने गुरु के आदर्श व गुणों से तादम्यता की प्रार्थना करता था। गुरु ही उसके आदर्श व चरित्र नायक थे। गुरु और शिष्य का पारस्परिक मधुर और समर्पित भावना से युक्त आदर्श व महत्वाकांक्षा गुरुकुल पद्धति की मुख्य विशेषता थी। प्रत्येक शिक्षार्थी में निष्कपट प्रतिद्वन्दिता की प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से प्रतिलक्षित होती है। शिष्य प्रार्थना करता है कि वह अपने सहयोगियों में प्रथम रहे। उनके बीच वह मध्यस्थ बने–moniator हो, और आनेवाली परीक्षाओं में सर्वप्रथम रहें। पर इसके साथ-साथ प्रवेशार्थियों से भी आश्रम-गुरुकल (Campus) हाते की सम्बृद्धि व सुरक्षा का दायित्व वहन करने की अपेक्षा रहती थी। प्रत्येक प्रवेशार्थी को विधिवत् गुरु के द्वारा 'दण्ड' प्रदान किया जाता था–इसका उपयोग प्राकृतिक व मानवीय आपदा से आश्रम को निरापद रखने में भी होता होगा। हम जानते हैं कि आश्रम अनेक बार सेनाओं से पीड़ित होते थे। वरिष्ठ आश्रम विश्वामित्र की और जमदग्नि आश्रम कार्तवीर्य अर्जुन की सैनिक कारवाई के निशाना बने थे। वैदिक विद्यार्थी के लिये यह प्रार्थना की जाती थी कि वह प्रजापति बने, मात्र शक्ति के द्वारा नियन्त्रक इन्द्र बने और विराज् के ऐसा शासक बन सके। इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि आश्रम में दी गई शिक्षा और प्रशिक्षण के द्वारा शिष्य अनन्तोगत्वा वीर सेनानी व सफल शासक की योग्यता प्राप्त कर लेता था। इतना तो स्पष्ट होना चाहिये कि पुरोहितेर व धर्मतर शिक्षापद्धति की कोई समानान्तर पद्धति इस प्रकार की सामरिक व राजनीतिक शास्त्रीय शिक्षा व प्रशिक्षण सदा वर्तमान रहीं।

पर आश्रम केन्द्रित गुरुकुल के छात्रों के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि वे पूर्णरूप से अनुशासित रहें, और नियमों का, व निर्धारित दिनचर्य्या का पालन करें। उपनयन-सम्बन्धी मन्त्रों में शिष्य के द्वितीय जन्म की घोषणा की जाती थी इससे मृत्यु पर विजय का ही अभिप्राय नहीं था वरन् शिष्य की जो पूर्व जीवनशैली का अन्त व नयी जीवन-प्रणाली, नियम, आचार-व्यवहार सभी गुरु व आश्रम के स्थापित मूल्यों व नये जीवनयापन का संकल्प की भी घोषणा की। गुरु अब शिष्य का दूसरा पिता ही था जिसने उस नया जीवन, नयी जीवन-कला और पद्धति दी थी। इससे गुरु की महत्ता और शिष्य का अनुशासित, विनयी, आज्ञाकारी व गुरु के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित होना उसका नैतिक व धार्मिक कर्त्तव्य-बोध का शपथ लेने से सिद्ध होता है। गुरुकुल शिक्षा पद्धति का गुरु और शिष्य का पिता-पुत्रवत् सम्बन्ध उसकी रीढ़ थी। यद्यपि स्वाध्याय चलता था पर साधारणतया गुरु बिना ज्ञान नहीं, इस सिद्धान्त व परिपाटी की ही अनिवार्यता सर्वस्वीकार्य थी।

अथर्ववेद में जिस प्रकार प्रवेश-सूत्रों व मन्त्रों और अनुष्ठानों का (Initiation ceremonies and mantras) व्यवहार हुआ है उससे यह तो स्पष्ट आभास मिलता है कि इन गुरुकुलों में प्रवेशार्थी उच्चशिक्षा व अनुभव के लिये आते थे न कि प्राथमिक ककहरा व गणन सीखने। आश्रम में प्रवेशार्थी शिष्य को मन्त्रों में बराबर वयस्क पुरुष न कि शिशु व बालक शब्द से सम्बोधित किया

गया है। उसके बाल, दाढ़ी व मूछों का सफाचट किया जाता था, और उसके परिधान व नीवि (अर्थात् ऊपर और अधोवस्त्र (underwear) बदले जाते थे–उसे चर्मवस्त्र पहनाए जाते थे। वह स्वयं और गुरु उसके लिये सन्तति और समृद्धि की कामना करते थे। शिक्षार्थी धर्म व दर्शन की शिक्षा (Divinity Course) में विशिष्टता प्राप्त करने के लिये इच्छुक था, इसीलिये तो एक मन्त्र में वह मानविकी शिक्षा से विमुख हो देव-शिक्षा (What is of gods) के लिये अपनी उच्च प्राथमिकता की स्वीकृति देता है। एक मन्त्र में तो यह भी कहा गया कि शिष्यगण भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम और भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से अभिप्रयुत् होते हुये भी अब एक मन से गुरु द्वारा दी गई नये पाठ्यक्रम से ही जुड़ गये थे। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि विशिष्ट शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता के होते हुए भी उन्हें अन्य विषयों का पता था। और यह एक नवयुवक के लिये ही सम्भव था जो एक हद तक प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने पर ही वैदिक उच्च शिक्षा के प्रति अपनी प्यास बुझाने आश्रम में दाखिला चाहता था। बहुत सम्भव है कि प्राथमिक व प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही या गांव में पाठशाला में दी जाती हो।

अथर्ववेद से आश्रम में विद्यार्थी जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। शिष्य गुरु-परिवार की सेवा करते थे; लकड़ी काट कर लाते थे, पशु का पालन करते थे और भिक्षाटन पर जाते थे–भिक्षा में जो भी मिलता था उसे सहर्ष स्वीकार करते थे–फल, खाद्य पदार्थ, व मांस भी। सूर्योदय के बाद जागना अनुशासन का उल्लंघन माना जाता था, पर सहृदय गुरु शिष्य को ताड़ना देकर छोड़ देता था और उसकी अनुशासन के प्रतिबद्धता के लिये प्रार्थना करता था। अर्थात् लीक से हट कर चलने वाले कुछ उद्दण्ड शिष्यों के लिए भी गुरु के हृदय में करुणा व सफल जीवन की कामना रहती थी। अनेक ऐसे अनुष्ठानों का परिचय मिलता है जिनके द्वारा शिष्यों को अनेक प्रकार के नियम-उल्लंघन व अनुशासनहीनता के अपराधों व मूलों का निवारण किया जाता था। इनमें इन्द्रिय-दोष (अथर्ववेद VII. 67) का भी उल्लेख है। क्या यह यौन अपराध का धोतक है ? यह कहा जा चुका है कि आश्रम में शिष्या व गुरुपरिवार के स्त्रीगण रहती थी। कच-देवयानी शर्मिष्ठा की कहानी **सर्वज्ञात** है। आश्रम की स्थिर व अस्थिर सम्पति व यज्ञाग्नि की क्षति पहुँचाना अपराध था, और अनुष्ठान किए जाते थे कि सम्पत्ति व यज्ञाग्नि की हानि की पुनः पूर्ति की जा सके। मन्त्रों में विद्यार्थी जुआ खेल में सफल रहें। एक ओर समाज में **द्यूत** क्रीड़ा एक स्वीकार्य मनोरंजन था, ऐसा प्रतीत होता है, वैसे ही यह निष्कर्ष निकालना तर्कहीन नहीं होगा कि शायद आश्रम में भी द्युत-क्रीड़ा होती थी, तभी तो उसमें प्रवीणता प्राप्त करे ऐसा गुरु शिष्य के लिये कामना करता था। तो क्या द्युत क्रीड़ा में विद्यार्थी आश्रम की सम्पत्ति भी दांव पर लगा देता था ? शपथभंग व असत्यवादन के अपराध होते ही रहते थे, और इसलिये वैदिक विद्यार्थी सामूहिक रूप से अग्निदेव से प्रार्थना करते थे कि उन्हें वह इन अपराधों के लिए क्षमा दान दें।

विद्यार्थी प्राकृतिक वातावरण में अरण्य स्थित पशु-पक्षी-वृक्ष-पौधे व पुष्पों के मुक्त-विकास से आह्लादित हो पठन-पाठन करते थे। आश्रम बन में (अरण्य) स्थित ही नहीं थे वरन् अरण्य भूमि

क्षेत्र-युद्ध की लपेट से मुक्त थे । आश्रम शहरों की हलचल व युद्धों के नाद-भेरीघोष से दूर शान्त वातावरण में स्थित थे । यहां गुरु-शिष्य पारस्परिक प्रश्नोत्तर-पद्धति से अपने ज्ञान का विकास व शंकाओं का निराकरण करते थे । उपनिषदों का अधिक भाग ऐसे ही प्रश्नोत्तरावलियों के द्वारा धर्म और दर्शन की गूढ़तम बिन्दुओं पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन से भरा है । वाद विवाद भी इस शिक्षा पद्धति का एक विशिष्ट अंग था । वाद-विवाद में प्रथम आने के लिये, सफल होने के लिये विद्यार्थी सिर्फ वाचस्पति व वाग्देवी से प्रार्थना ही नहीं करते थे, मन्त्रोच्चार ही नहीं करते थे पर अभिमन्त्रित मन्त्र, जादूटोना का भी व्यवहार करते थे । अथर्ववेद ऐसे अभिचारजनित मन्त्रों व यन्त्रों (जन्तर-मन्तर) से भरा है । वाद-विवाद में प्रतिद्वन्दिता की पैनी पुट रहती थी, और विद्यार्थी अपने विषय पर बहस करने का अभ्यास भी करता था । गुरु के आशीर्वाद का भी उसे आसरा रहता था । प्रतियोगिता का आश्रमीय शिक्षा में ही नहीं, वरन् देश, समाज, व राज्य के सामाजिक, राजनीतिक व विद्वत गोष्ठियों में बहुत महत्त्व था । विद्यार्थी सभा-समिति वा विदथ में परिषद् में प्रतियोगिता में सफल होने के लिये देवताओं का आवाहन करता था । अभिचारों का प्रयोग करता था । गुरुकुल में ही विद्यार्थी इस फन् में माहिर हो जाता था, यथोचित अनुभव और योग्यता व कौशल प्राप्त करता था और इसी बूते पर शिक्षा पूरी कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर देश व राज्य व समाज के नेतृत्व का भार वहन करने के लिये तत्पर और आत्मविश्वास से पूर्ण होता था । पर वाद-विवाद में कलह व गुटबन्दी के लिये कोई स्थान नहीं था । अपने वैयक्तिक प्रतिभा व वाक् चातुरी से ही विद्यार्थी वं सभासद् अपने साथियों को अनुकूल बनाने की 'समानों मन्त्र' की कामना करता था अधिकतर विद्यार्थी एक ही गुरुकुल में अपनी शिक्षा पूरी करते थे । पर ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि शिष्य एक गुरु व गुरुकुल से दूसरे गुरु व गुरुकुल चला जाता था । कभी तो गुरु ही शिष्य के प्रश्न व गहन विचारों को देखते हुये उसे उपयुक्त आचार्य के पास जाने की अनुशंसा करते थे, पर कभी शिष्य स्वयं ही दूसरे गुरु की खोज में चल पड़ता था । कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती थी कि जब एक ओर गुरु अपने शिष्यों की संख्या बढ़े इसके लिये प्रार्थना करते थे, दूसरी ओर किसी अन्य गुरुकुल में प्रवेशार्थियों की बाढ़ आने के सबब में नये अस्थायी कुटियों का निर्माण किया जाता था । कुछ ऐसे भी शिष्य थे जो एक गुरु से दूसरे गुरु के यहां निरन्तर पलायन करते रहते थे; ऐसे विद्यार्थी की निन्दा करते हुये उन्हें तीर्थकाक, पुकारा जाता था । पर यह तो संदेह से परे है कि गुरुकुल शिक्षाप्रणाली में गतिशीलता थी–mobility भी-गुरु और शिष्य को स्वतन्त्रता थी कि परिस्थिति के परिवेश में एक दूसरे को व्यर्थ ही बांधे न रहें । पर अधिकतर शिष्य व शिष्याएं अपने गुरु व आश्रम में ही रहकर उच्चतम धार्मिक शिक्षा व दर्शन पाते रहें । कुछ तो, विशेषकर महिलाएं आजन्म कुमारी रहकर वेदाध्ययन में लगी रहीं । अनेक ऐसी ब्रह्मवादिनियों का उल्लेख भी हुआ है । शिष्य भी गुरु के विशिष्ट उपदेश व दर्शन के प्रचार में लगे रहे, और इस प्रकार एक ही आश्रम की वैचारिक उपलब्धि व पद्धति उसकी खास पहचान बन गई जिसे गुरु-शिष्य की पीढ़ी दर पीढ़ी ने जीवित रखा और यह गुरुकुल व्यवस्था की भी देन है कि वैदिक युगीन अनेक विचार-

पद्धतियां, सूक्ष्मतर विवेचना व दर्शन के न्यूनतम बिन्दुओं पर हमें जीवन्त व उत्तेजक बाद-विवाद व सत्य पहचान के लिए अनवरत चेष्टाओं से साक्षात् होता है। तत्कालीन श्रेष्ठ बौद्धिक प्रतियोगिता का पता चलता है। उपनिषद्कालीन गूढ़ सिद्धान्तों के विकास का प्रथम चरण हमें यही मिलता है। इसी परिप्रेक्ष्य में अथर्ववेद के उन रहस्यमयी कथाओं का जिन्हें 'वेण' के प्रति उद्घोषित किया गया है, परिचय हमें करना चाहिये। वेण ने ब्रह्म का साक्षात् कराया है, उसके अनेक आकार को देखा है, और उसके गर्भ से सभी आस्निन्व व अनास्निन्व का प्रजनन देखा है। एक अन्य सूक्त में वेण ब्रह्म की इस औपनिषदिक् विचार को इंगित करता है जिससे सभी कुछ एक हो जाते हैं। (अथर्ववेद IV. 1.1; IV. 2:, A.V.II.1.1.)। अतः उपनिषदों के ब्रह्म-विवेचन का बीज हमें बहुत पहले अथर्ववेदीय गुरुकुलों में ही मिल जाता है।

वास्तव में गुरुकुल में उच्चतम शिक्षा का उद्देश्य था–मानव का, पुरुष का वैज्ञानिक व अध्यात्मिक, अध्ययन। गुरु व शिष्य सभी विचारक इस गुत्थी को सुलझाने व समझने में विचारमग्न थे कि हाड़-मांस का यह पुतला मनुष्य में आखिर है क्या, कौन उसे बोधमय बनाता है, वह कैसे क्रियाशील होता है–पुरुष का रहस्य क्या है! इन सनातन विचारों का, अनुत्तरित प्रश्नों का अथर्ववेद से गुरु-शिष्यों में सघन विचारविमर्श हम देखते हैं। उस प्राचीन युग में बौद्धिक व दार्शनिक धरातल पर उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादक हैं। नारायण के एक सूक्त में इस रहस्यमयी समस्या का दिग्दर्शन कराया गया है (अथर्ववेद X.2)। इस सूक्त में मनुष्य की शरीर-रचना व उसके अवयवों के निवारण के बाद, उसकी मानसिक अवस्थाओं पर, उसके आध्यात्मिक स्वभाव, प्रेम-घृणा, नींद-स्वप्न, पीड़ा-क्लान्ति, हर्ष-सुख इत्यादि अनुभूतियों के प्रति आश्चर्य व्यक्त किया गया है और ऐसा क्यों और कैसे होता है इन प्रश्नों को उठाया गया है। कहां से अप्रत्याशित आपदा, सर्वनाश आता है और सफलता, उपलब्धि और असफलता का राज क्या है? कहां से मनुष्य में उत्साह, उदिति आती हैं, कौन उसे उन्नति के पथ पर, विकासोन्मुख हांकता है। उसके चरित्र और व्यवहार का नियमन कौन करता है कौन उसे सत्य या असत्य की राह पर खींच लाता है, कौन उसे मृत्यु व अमृतत्व की याद कराता है–कौन उसे शक्ति देता है और किससे वह प्रजनन शक्ति पाता है। कौन उसे संगीत व नृत्य की कलाओं से अभिज्ञ कराता है? वह किस चीज की खोज में धर्म व कर्मकाण्ड की ओर खींचता जाता है; श्रोत्रिय ज्ञान वह कैसे प्राप्त करता है? इत्यादि प्रश्नों की उलझन से ग्रस्त हो वह समझ पाता है कि सृष्टि व मानव शरीर व मन की रचना देवताओं के द्वारा होती है, मानव शरीर की रचना के बाद देवता उसमें प्रवेश कर जाते हैं और इसके बाद ही मनुष्य को सभी मनुष्योचित गुण व अवगुण प्रवेश करते हैं। इस प्रकार पुरुष की पहचान से ही ब्रह्म की पहचान हो सकती है क्योकि सभी दोनों का वास तो मनुष्य में ही होता है। प्रजापति उसके शरीर पर अवस्थित हैं। जो पुरुष को इस प्रकार जानता है वही ब्रह्म को भी पहचानता है। आत्मा और परमात्मा का अन्योन्य सम्बन्ध, ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप की इस कल्पना में ही क्या हमें औपनैषदिक तत्व-विमर्ष की भनक नहीं मिलती है?

पर इन मूल व शाश्वत प्रश्नों का उत्तर व समीकरण पर आश्रमों में, गुरुकुलों में विवेचना होती रही, कभी खत्म नहीं हुई, पर विद्यार्थी जीवन, उससे सम्बन्धित पाठ्यक्रम का तो शेष होना ही था। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर विदाई का भी समय अत्यन्त महत्वपूर्ण, यद्यपि छात्र-जीवन का गुरुकुल में वास की अन्तिम कड़ी थी । और इसे विधिवत् समावर्तन समारोह (Convocation Ceremony) कहा जाता था। इस अवसर पर गुरु शिष्य को लम्बी आयु व देवताओं की उस पर कृपा बनी रहे ऐसा आशीर्वाद देते थे। वाक् के प्रति रहस्य भी कृपाओं का गायन होता था। शिष्य 'वेद' को नमन करता था, गुरु का अभिवादन करता था, और मानसिक व नैतिक ऊर्जा के लिए अनवरत प्रवाह के लिये प्रार्थना करता है। उसके नये जीवन के प्रारम्भ के अवसर पर 'जल' की पूजा की जाती थी, उसे अन्तिम-स्नान विधिवत् क्रिया संयुत् कराया जाता था, जिससे विद्याथी जीवन में उसने जो भी असत्य, इर्षा व अन्य गलतियां की हो वे धुल जांय। उसे पुरुषत्व के रस से सर्वदा भरा-पूरा रहने के लिये प्रार्थना की जाती थी, मन्त्र का विधिवत् आह्वान किया जाता था। उंसकी सन्तति की वृद्धि हो यह भी आश्रमवासियों की मनोकामना थी । उसके वैवाहिक जीवन आनन्दमय हो और परिवार सब तरह से उन्नति करे इसलिये आश्रम में एक विशद् धार्मिक कृत्य (rife) का सम्पादन किया जाता था। जिस प्रकार प्रवेश के समय 'वाक्' की प्रार्थना की जाती थी। उसी प्रकार समावर्तन समारोह में वाक् की आराधना की जाती थी और वाक् के द्वारा अनेक मन्त्रों से उसे आर्शीवचन दिया जाता था। ऐसे तो गुरुकुल की शिक्षा निशुल्क थी, पर विदाई के समय शिष्य यथाशक्ति सादर आश्रम को भेंट या दान देता था।

उत्तर वैदिक काल (ब्राह्मण से उपनिषद् काल तक) में गुरुकुल-व्यवस्था का क्रमिक विकास होता रहा । आश्रमों में वेद-पाठ सम्बन्धित भिन्न-भिन्न विचार पद्धतियाँ और विशिष्ट दर्शनों की प्रतिद्वन्दिता प्रखर व संस्थानिष्ट होती गई, इन भिन्न 2 मतों का प्रतिपादन व श्रेष्ठता के लिये अलग शाखाएं व चरण विकसित हुये जिनके सदस्य विशिष्ट पद्धति के अनुयायी थे। कुछ परिषदें भी थी जो साधारणतया विद्वत्त-सभा का रूप लिये हुई थी जिनमें भिन्न-भिन्न शाखा व चरणों के सदस्य भी उपस्थित रहते थे और धर्म, कर्मकाण्ड व दर्शन के भिन्न-भिन्न विश्वास व रीतियों पर बहस कर अपनी शाखा व चरण की श्रेयता सिद्ध करने की कोशिश करते थे। इन संस्थाओं के द्वारा वैदिक साहित्य, भाषा, धर्म, और कर्मकाण्ड का खुला प्रचार व प्रसार हुआ । बोलचाल की भाषा का सुसंस्कृत वैयाकरणीय भाषा में विकास हुआ। वैदिक वाङ्मय का मूल रूप में संरक्षण व सम्बर्धन हुआ । इसमें पंडितों में शास्त्रार्थ का काफी योगदान हुआ । उपनिषदों से यह पता चलता है गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तरी काफी जटिल और गूढ़ हो रही थी, और अब राजसभा में शास्त्रार्थ के लिये विद्वानों को निमन्त्रित किया जाता था और सफल प्रतियोगी को विजय के साथ-साथ बहुमूल्य दान भी मिलता था। जनक की सभा और याज्ञवलक्य व अष्टाबक्र की विजय को हम सब जानते हैं।

उत्तरवैदिक काल में पाठ्यविषयों में वृद्धि हुई। धार्मिक साहित्य (वैदिक) व दर्शन के अलावे षड् वेदाङ्ग, दर्शन (न्याय, मीमांसा), वाकोवाक्यम् (अध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ) इतिहास-पुराण

(पंचम वेद), आख्यान, व्याख्यान (भाष्य), गाथा, नाराशंशी इत्यादि, (पूर्ववर्ती राजाओं के कीर्तिगान) ब्राह्मण, क्षत्रविद्या (राजनीति शास्त्र), ज्योतिष, भूतविद्या (माया-विद्या-इन्द्रजाल-), सर्पविद्या, दैवविद्या (उत्पातज्ञान), पित्र्य (पितरों के श्राद्ध इत्यादि), जनविद्या (चिकित्सा) शास्त्र। चिकित्सा विज्ञान व सैनिक शिक्षा का महत्व इतना बढ़ गया, वे बाद में 'वेद' कहे जाने लगे, जैसे आयुर्वेद, व धनुर्वेद। अतः यह स्पष्ट है कि कालान्तर में गुरुकुल सिद्धान्त पर आधारित आश्रमीय शिक्षा व व्यवस्था इतनी विकसित हुई कि धर्मेतर विषयों के पठन-पाठन व प्रशिक्षण पर यहाँ अनुकूल प्रगति हुई। रामायण-महाभारत व पुराणों से यह पता चलता है कि सामान्यतः राजकुमार भी धर्म और धर्मेतर विषयों का अध्ययन गुरुकुल में ही गुरु के आश्रम में रह कर करते थे। गुरुकुल में साधारणतया विद्यार्थी 12 वर्ष तक अध्ययन करते थे—12 वर्ष की उम्र से 24-25 तक, उसके बाद समावर्तन समारोह के पश्चात् जीवन के अन्य व्यवसाय में लग जाते थे। पर कभी-कभी सारी उम्र आश्रम में ही ब्रह्मचर्य का पालन करते गुजार लेते थे। ऐसे अनेक ब्रह्मवादिनियों का उल्लेख मिलता है जो आजन्म कुमारी रह आश्रम में अध्ययन करती रही।

इस युग के अनेक यशस्वी विद्वानों व आचार्यों का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है। इनमें कुछ का परिचय उपयुक्त होगा। औणाचिन् मौन (जाबाल के समकालीन, कौष्टीकि उपनिषद् में कर्मकाण्ड के प्राचार्य), अभिप्रतारिन् कामसेनि (दार्शनिक) अरुण औपवेशी गौतम और उसके पुत्र उद्दालक आरुणि अश्वमेध यज्ञ के विशेषज्ञ व जनक के होत्रि अश्वल आरुणेय श्वेतकेतु (प्रवाहन जैवलि के समकालीन और अनेक गुरुओं से वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी असफल), शतपथ ब्राह्मण शास्त्र के विंशेषज्ञ आसुरी, जनक के शिष्य उदक शौल्वायन। शतपथ ब्राह्मण में राजा माधव विदेघ के पुरोहित व ऋगवेद् में उल्लेखित गौतम राहुगण जिन्होंने सदानीरा तक यज्ञ का प्रचार किया, तुराकषेशकावषेय देवमुनि कहे जाते हैं, और ऐतरेय व पंचविंश ब्राह्मणों में उनका यशगान हुआ है। याज्ञवल्क्य अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान हुये हैं जो मिथिला के राजा जनक की सभा में शास्त्रार्थ में विजयी हुये थे; और वेदान्त-दर्शन के अध्येता हैं। उद्दालक उनके गुरुओं में एक थे। अनेक क्षत्रिय राजा व राजकुमार पंडितों व आचार्यों का भी उल्लेख हुआ है इनमें 'राजात्रेसदस्य, अम्बरीष, पुरुमिल्ह अजमिल्ह, शिवि, काशी के राजा अजातशत्रु, मिथिला के जनक कुरु राजकुमार काक्षसेनि, देवकी पुत्र कृष्ण, पांचाल कुमार प्रवाहन जैवलि, कैकेय नरेश अश्वपति, मुख्य हैं। अनेक विदुषियों ने भी उच्च शिक्षा व दर्शन में योगदान दिया इनमें रोमसा, लोपमुद्रा, विश्ववारा, घोषा, पौलीय, कद्रु, शारंङ्गा, गार्गी वाचक्नवि, मैत्रेयी, चित्रगार्ग्यानि अनेक ऐसे विद्वानों व ऋषियों का उल्लेख हुआ है जो उच्चवर्ग के नहीं थे, जिनका जन्म विवाह के बन्धन से बाहर हुआ था इनमें सत्यकाम जाबाल (जिन्हें अपने पिता का ही पता न था, और एक दासी के पुत्र थे) का परिचय आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषदों के अनुसार गौतम हारिद्रुमत ने उन्हें ब्रह्मचारी के रूप में दीक्षा दी थी। सत्यकाम छान्दोग्य उपनिषद् के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं। एतरेय व शतपथ ब्राह्मणों में भी उनका उल्लेख है। वे जनक के गुरु थे। कवष ऐलूष जन्मना शूद्र थे, उनकी मां दासी थी। ऋग्वेद

में कवष का उल्लेख हुआ है। उन्होंने ऋचाओं की रचना की। वे कुरु-कृवि जनों के पुरोहित थे। सत्रोत्सव यज्ञ में उनकी उपस्थिति से अनेक उच्चवर्गीय ऋषि भृङ्ग, अंगिरा इत्यादि अत्यन्त रंज हो गये और उन्हें एक मरुभूमि में भगा दिया। पर अपनी मन्त्रशक्ति से वे वर्षा कराने में सफल हुये और सरस्वती ही उनकी ओर प्रवाहित होने लगी। तब ऋषियों को अपनी गलती का अहसास हुआ और वे ऐलष को अपनो में सर्वश्रेष्ठ मानने को वाध्य हुये। राजा जन्मजेय प्रथम के ऐन्द्रमहाभिषेक के पुरोधा यही थे। राजा जानश्रुति शूद्र थे, धर्मपरायण व प्रजावत्सल। उन्होंने गाड़ीवान् रैक्व ऋषि से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। छान्दोग्य उपनिषद् में उनका उल्लेख है।

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उपनिषद् काल तक स्त्रियां व शूद्र वैदिक ज्ञान, धर्म व दर्शन के अध्ययन के लिये योग्य पात्र थे। अनार्य दास व शिष्णपूजक, चिपटी नाक और अटपटी भाषा बोलने वाले अनार्य जो बाद में शूद्र व अन्तज (अछूत) कहलाये, संस्कृति व धर्म में भिन्न होते हुये भी कालान्तर में वैदिक युग से ही आर्य संस्कृति में अपनाये जाने लगे थे। उन्हें वैदिक ज्ञान व यज्ञों से दूर नहीं रखा जाता था। उनमें अनेक जो अपनी योग्यता व निष्ठा सिद्ध कर सके थे उन्हें आश्रमों में, यज्ञों में, विद्वत् परिषदों में आदर मिलता था। उनके जन्म व परिवार की स्थिति व हैसियत उन्हें वैदिक संस्कृति, वाङ्मय, धर्म कर्मकाण्ड व दर्शन से वंचित नहीं कर सकते थे। ऋग्वेद में यह स्पष्ट कहा गया है कि पञ्चजनाः आग्नि की छवि प्रदान करते हैं, पंचजनों में चारों वर्णों के अलावे निषाद (अछूत) भी सम्मिलित थे। अग्नि को पंचजनों का पुरोहित कहा गया है। यज्ञ करने के अधिकारी कहे जाने वालों में निषाद भी हैं। पांचों जन सोमयज्ञ में भी भाग लेते थे। वाजसनेयी संहिता में यह स्पष्ट कहा गया है कि वेदों के वाचन करने का अधिकार सभी जनों के है–ब्राह्मण से लेकर दास तक को भी। निषाद शब्द का प्रयोग परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में हुआ है। निषाद शब्द से साधारणतया आदिवासी अनार्यों की ही पहचान होती है। पर पंचजनों में यह पाँचवां जन है। शूद्र तो वैसे अनार्य थे जिन्हें वैदिक समाज में निम्न स्थान मिल गया था। पर अनार्य वैदिक संस्कृति व समाज की परिधि से दूर, अलग ही माने जाते थे। पर परिस्थितिवश समयानुसार उनका सम्बन्ध भी आर्य सभ्यता, धर्म से निकटतर होता गया, और उन्हें वैदिक शिक्षा व यज्ञ में भागीदार होने का अधिकार मिल गया। वाजसनेयि संहिता में निषाद को मितल (भिन्न) भी कहा गया है। विश्वजीत यज्ञ में याजी (यज्ञ करने वाले को अस्थायी रूप से निषाद के साथ रहना पड़ता था। इस प्रकार शिक्षा और यज्ञ में वैदिक काल में शूद्रों का प्रवेश निषिद्ध नहीं था।

●

राष्ट्रीय एकता का मूलाधार: संस्कृत भाषा

श्री कलानाथ शास्त्री

सहस्त्राब्दियों के इतिहास वाले इस देश को जिन तत्त्वों ने सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के सूत्र में बाँध कर आज तक एक राष्ट्र के रूप में जीवन्त रखा है उनमें संस्कृत भाषा प्रमुख है। भावात्मक एकता के कारकों में संस्कृति की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है जिसके धर्म एवं भाषा प्रमुख अंग है। यद्यपि धर्म का नाम लेना आज के परिवेश में निरापद नहीं हैं अतः उससे चाहे हम कतराएं किन्तु यह स्पष्ट है कि एक धर्म तथा एक भाषा देश के निवासियों को जोड़ने का बहुत बड़ा कारक होती है। इस देश में विभिन्न भाषा-भाषियों और विभिन्न धर्मावलम्बियों को भी एक सांस्कृतिक इतिहास ने जोड़े रखा है। ऐसे अनेक कारकों में कलाएं तथा संगीत भी आते हैं जिनका नाम राष्ट्रीय एकता के कारकों में गिनाना चाहे अब तक चलन में नहीं आया हो। अब तक सन्तों, सूफियों, कबीर जैसे सुधारकों तथा राष्ट्रनेताओं के जीवनों को, ऐतिहासिक स्मारकों एवं स्वतंत्रता आन्दोलन की विभिन्न घटनाओं को ही हमारी धर्मनिरपेक्ष और सामाजिक संस्कृति के निदर्शन के रूप में गिनाया जाता रहा है। उस धर्मनिरपेक्ष संस्कृति की जिसमें राष्ट्रधर्म, कलाएं और भाषाएं आती हैं, संस्कृत भाषा सदियों से एकमात्र वाहिका रही है। इस दृष्टि से इसकी भूमिका राष्ट्रीय एकता के सूत्रों में मूर्धन्य है। इसके कुछ आधार तो बहुत जाने पहचाने हो गये हैं किन्तु कुछ अब भी विवेचन की अपेक्षा रखते हैं।

भाषिक एकता एवं समन्वय

यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि इस देश की विभिन्न भाषाओं में (केवल एक या दो अपवादों को छोड़कर) वर्णमाला, शब्दावली तथा व्याकरण संरचना में एक आधारभूत समानता पायी जाती है चाहे इन भाषाओं को आज हम आर्य या द्रविड़ आदि विभिन्न भाषा समूहों में रखने लगे हों। यह क्या आश्चर्यजनक नहीं कि समस्त भारतीय भाषाओं की जिनमें बंगला, मराठी आदि आर्य भाषाएं भी हैं और तमिल, तेलगु आदि द्रविड़ भाषाएं भी, वर्णमाला और वर्गों का क्रम बिल्कुल एक सा है। स्वर और व्यंजन कवर्ग, चवर्ग आदि का विभाजन बिल्कुल समान है। वर्ण क्रम की यह समानता अन्य विभेदों के बीच एकता की आधारभूत कड़ी है। यह एकता चाहे संस्कृत एवं अन्य आर्य भाषाओं की उदगम स्रोत किसी अन्य भारोपीयपरिवार की मूल भाषा के कारण हो, या वेद भाषा के कारण, किन्तु इसका बहुत बड़ा आधार यह रहा कि संस्कृत ने जो वर्णक्रम अपनाया वह सभी भाषाओं ने लिया। पाणिनि ने भी अपने व्याकरण में वर्णमाला के जो माहेश्वर सूत्र आधारभूत माने

उनमें स्वरादि क्रम वहीं है । पाणिनीय व्याकरण की सर्वमान्यता के कारण इस देश की समस्त भाषाओं ने संस्कृत के वर्णक्रम को अपनाया अष्टाध्यायी और पाणिनीय शिक्षा का यह वर्णक्रम सारे देश का वर्णक्रम बन गया । यही कारण है कि आज यदि वर्ण क्रम संस्कृत के अनुसार रखा जाए तो समस्त भारतीय भाषाओं में वह समान रूप से सुविधाजनक रहेगा । वस्तुतः भारत में प्रचलित अनेक भाषा विभाषाओं के बीच एक सुसंस्कृत संपर्क भाषा की स्थापना के लक्ष्य से ही पाणिनि ने इसका व्याकरण बनाया था और यह संस्कृत भाषा देश की संपर्क भाषा बन गई थी ।

वर्णमाला

संस्कृत की वर्णमाला के वर्णों का आज जो क्रम है अर्थात् पहले स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि) फिर व्यंजन (जिनमें पहले कवर्ग, फिर चवर्ग, फिर टवर्ग, फिर तवर्ग,•फिर पवर्ग आता है) अनैक सदियों से चले आ रहे वर्ण समांम्नाय का ही रूप है । उत्तर वैदिक काल में पथ्यास्वसिता नाम का तथा ब्रह्मराशि नाम का वर्ण समाम्नाय उल्लिखित मिलता है । इसके आधार पर प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं (उच्चारण और ध्वनि लिखाने वाले वेदांग) में इसी क्रम से अक्षर विद्या सिखाई जाती थी । लिपि चाहे जो कुछ रही हो, ब्राह्मी, नागरी, नन्दिनागरी, शारदा, वर्गों का क्रम प्रायः यही रहता था । इसी वर्ण समाम्नाय को माहेश्वर सूत्रों तथा 'उदित्' के संदर्भ से पाणिनि ने भी अपने व्याकरण का आधार बनाया, कातंत्र आदि व्याकरणों ने भी । यह वर्णों का क्रम किस आधार पर है ? यह मनमाना या निराधार क्रम न होकर वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है । मानवीय स्वर यंत्र कंठ से लेकर ओष्ठ तक ध्वनियों का उच्चारण करता है । अतः' उच्चारण स्थानों का क्रम इसी प्रकार होगा । पहले कण्ठ, फिर तालु, फिर मूर्धा, फिर दाँत और होंठ । इसी क्रम से संस्कृत के स्वर भी हैं और व्यंजन भी । अ से औ तक स्वरों की और क, च, ट, त, प वर्गों की आनुपूर्वी इसी सिद्धान्त पर बनायी गई है । क, का, कि, की, की बारहखडी भी इसी आधार पर है । इस वैज्ञानिक आधार को लेकर भारत की सभी लिपियों में वर्ण क्रम चला था जो आज तक ब्राह्मी और नागरी लिपि की शाखाओं में ही मान्य नहीं है बल्कि द्रविड़ भाषाओं की लिपियों में भी मान्य है । तमिल आदि में इन वर्गों में वर्णों की संख्या चाहे कम हो (महाप्राण वर्ण न हो) किन्तु क्रम प्रायः वही है । यह भाषिक एकता क्या आश्चर्यजनक नहीं है ?

शब्दावली

संस्कृत की शब्दावली भारत की समस्त भाषाओं में बहुत बड़ी भाषा में व्याप्त है यह हम सब कहते रहते हैं । इसे यों भी कहा जा सकता है कि जब संस्कृत का उद्भव हुआ था उसने समस्त देश की भाषाओं की शब्दावली को आत्मसात् कर अपना शब्द भण्डार विपुल और विराट बना लिया था । वैदिक काल में जो छांदस् भाषा थी उसके शब्द भी संस्कृत में है, उस समय जो लोक भाषाएं प्रचलित थीं, और जिन्हें पाणिनि ने भाषा शब्द से या विभाषा शब्द से व्यवहृत किया है उन सबसे शब्दों को लेकर पाणिनी ने उनका संस्कार किया, संस्कृत व्याकरण लिखा और साधुत्व अनुशासित किया । आज हमें चाहे उन शब्दों का मूल ज्ञात न हो किन्तु वे विश्व की सारी भाषाओं

से आकर संस्कृत में उसी समय मिल गये थे। केन्द्र जैसे शब्द यूनानी भाषा से आये थे। अमर कोष में आज भी केन्द्र शब्द नहीं मिलता। सैंकड़ों की संख्या में द्रविड़ भाषाओं से शब्द आकर संस्कृत के बन गये थे। नाक, नक्र, कोकिल, मयूर, केयूर, गुड आदि न जाने कितने द्रविड मूल वाले शब्द संस्कृत के हो गये। पाणिनि के समयतक जो प्रचलित हो गये थे उनका तो पाणिनि ने व्याकरण बना दिया जिनमें वैदिक, उत्तर वैदिक तथा लोक भाषाओं के शब्द शामिल थे। शेष के साधुत्व के अनुशासन के लिए परवर्ती वैयाकरणों व व्याख्याकारों ने सूत्र लिखे। उणादि सूत्र ऐसे ही शब्दों को पाणिनीयं व्याकरण से संगत सिद्ध करने के लिए बनाये गये थे। मयूर, केयूर आदि शब्द आपको इसी उणादि में मिलेंगे। संस्कृत शब्द भण्डार के इस महासागर की अंतर्धाराएं भारत की सारी भाषाओं में पहुँची (उर्दू, आदि एक दो अपवादों को छोड़कर, जिन्होंने भारतेतर भाषाओं और लिपियों को आधार बनाया)।

यही रहस्य है इस कथन का कि संस्कृत की शब्दावली समस्त आर्य भाषाओं में विपुल परिमाण में पहुँची है और घुलमिल गई है। मोटे अनुमान से कन्नड और तेलगु में 80 प्रतिशत, मलयालम में 70 प्रतिशत और तमिल में 60 प्रतिशत शब्दावली संस्कृत मूल की है। आज राजनैतिक कारणों से तमिल में से संस्कृत मूल के शब्दों के क्रमिक बहिष्कार का प्रयत्न चाहे हो रहा हो किन्तु शेष सभी भाषाओं में वह शब्दावली इतनी व्यापक है कि उन भाषाओं में सांस्कृतिक एकत्व का स्पष्ट आभास होने लगता है। जिस प्रकार राम कथा, पाण्डव कथा तथा महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों के प्रति श्रद्धा सारे देश को एक सांस्कृतिक भाव भूमि पर ला खड़ा करती है उसी प्रकार संस्कृत की यह शब्दावली सब भाषाओं को एक रंग देती है। संस्कृत के शब्दों से सारे देशवासियों के नामकरण सदियों से होते रहे हैं। बंगाल में बंगला बोलने वालों के नाम तारिणीप्रपन्न, विधुशेखर आदि, उडिया बोलने वालों के नाम कालिंदीचरण आदि, तमिल बोलने वालों के पार्थसारथि, कोदंडपाणि आदि और मराठी बोलने वालों के पांडुरंग विट्ठल गोविन्द मुकुन्द आदि समस्त संस्कृत मूल के होते रहे हैं। धर्म तथा सम्प्रदाय उनका कोई भी हो (चाहे वे सनातनी हो या आर्य समाजी, आस्तिक या नास्तिक शैव या वैष्णव) चाहे वो संस्कृत जानते हों या नहीं संस्कृत के सुललित शब्दों में नामकरण उनका अवश्य होता रहा है।

साहित्य

संस्कृत के विशाल साहित्य ने (जिसमें आदि महाकाव्य रामायण से लेकर काव्य, नाटक आदि का सारा सर्जनात्मक साहित्य शामिल है) समस्त भारतीय भाषाओं पर जो प्रभाव छोड़ा है वह भी अद्भुत है। पूरे देश में, चाहे किसी भी भाषा में आप बोलें, रावण को अहंकार का, भीम को शारीरिक बल का, सीता और सावित्री को पतिव्रत का तथा लक्ष्मण को आदर्श भाई का प्रतीक यदि माना जाता है तो उसका आधार संस्कृत के काव्यों की परम्परा ही तो है। आज किसी वयोवृद्ध महापुरुष को किसी विशेष क्षेत्र का भीष्म पितामह कहा जाता है या ज्यादा नींद लेने वाले को कोई कुम्भकर्ण कहता है तो यह संस्कृत की पुराकथाओं का देश के सामूहिक अवचेतन पर पड़ा प्रभाव ही

तो है । ये प्रतीक देश की सभी भाषाओं में चलते हैं । चाहे बंगला हो, गुजराती हो या मलयालम हो । पंचतंत्र की कथाओं ने तो सारी भाषाओं में समान रूप से देश के नौनिहालों का मनोरंजन किया है और उन्हें एक सांस्कृतिक सूत्र में बांधा है ।

जिस प्रकार भाषाओं के साहित्य में राम, कृष्ण, रावण, अर्जुन आदि की पुरा-कथाओं ने समस्त भाषाओं के कवियों को समान उपमान और प्रतिमान दिये हैं उसी प्रकार संस्कृत के काव्य शास्त्र ने समस्त भाषाओं को रस और अंलकार दिये हैं । मराठी में भी श्रृंगार रस होगा, मलयालम में भी वीर, अद्भुत रस होंगे, बंगला में भी करुणरस होगा । इसी प्रकार संस्कृत का छंदः शास्त्र सब भाषाओं में समान रूप से लोकप्रिय है । इसका प्रमुख कारण तो संस्कृत भाषा का सार्वदेशिक और सार्वकालिक काव्य की और शास्त्र की भाषा होना था किन्तु इसके कारण अन्य भारतीय भाषाओं ने भी संस्कृत का काव्य शास्त्र और छंदःशास्त्र इतने स्नेह से अपनाया कि मराठी से लेकर मलयालम तक के काव्यों में संस्कृत के बसंत तिलका, शिखरिणी आदि छंद लिखे जाने लगे । जिस प्रकार अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का हिन्दी महाकाव्य प्रियप्रवास द्रुतविलबित, शार्दूल-विक्रीडित आदि संस्कृत के छन्दों में निबद्ध है उसी प्रकार मराठी, गुजराती, मलयालम आदि भाषाओं के अनेक क्लासिकीय काव्यों में उनकी अपनी भाषाओं में संस्कृत छन्दों का गुम्फन मिलता है । संस्कृत के देश भर में प्रसार के कारण उसका अन्य भाषाओं से सम्पर्क इतना घनिष्ठ हो गया कि जिस प्रकार उसके शब्द अन्य भाषाओं में घुलमिल गये उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति भी इस तरह आत्मसात् हो गई कि एक परम्परा यह भी चल निकली कि दक्षिण की भाषाओं में काव्य रचना करने वाला एक ही छंद में मलयालम और संस्कृत साथ-साथ लिखने लगा । जिस प्रकार गद्य और पद्य को मिलाकर चम्पू काव्य (दक्षिण की भाषाओं में तुलाल) लिखे जाते थे उसी तरह तेलगु, कन्नड़ या मलयालम की कविता में संस्कृत कविता मिलाकर काव्य लिखे जाने लगे थे । इस प्रकार के मेल (मिश्रण) की "मणि प्रवाल शैली" कहा जाता था । सभी भाषाओं को स्नेह की भागीरथी में नहलाकर एक धारा में जोड़ने वाली इस भाषा ने भावात्मक एकता के सूत्र में इन सब काव्यों के पाठकों को किस प्रकार बाँधा है, यह इससे स्पष्ट हो जायेगा ।

ऐतिहासिक प्रभाव

चाहे किन्हीं भी कारणों से ऐसा हुआ हो संस्कृत को अमर भाषा और सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक भाषा माना जाने लगा । एक कारण तो यह रहा कि धर्म की प्रमुख धारा का साहित्य वेद, उपनिषद्, सांख्य, न्याय, वेदांतादि षड्दर्शनों का साहित्य संस्कृत में ही था अतः उसका अनुशीलन सारे देश में होता था । दूसरा यह था कि पाणिनि ने वैज्ञानिक व्याकरण नियमों में बांधकर इसे ऐसा रूप दे दिया जिसके अनुसरण के कारण उपनिषदों से लेकर आज तक की संस्कृत का स्वरूप एक और प्रायः अपरिवर्तित रहा । हिन्दी और अंग्रेजी जैसी भाषाओं का स्वरूप तो एक दो सदियों में इतना बदल जाता है कि दो तीन सौ वर्ष पुरानी भाषा के साथ आज की भाषा का तालमेल बिठाना असम्भव हो जाता है । वौसर से पहले की अंग्रेजी मुश्किल से ८०० वर्ष पुरानी

हुई है पर आज उसका समझना असम्भव है। 800 वर्षों में अंग्रेजी पूर्णतः बदल गई। 800 वर्ष पुरानी हिन्दी भी आज नहीं समझी जा सकती। पृथ्वीराज़ रासो को बिना टीका के कौन समझ सकता है ? किन्तु उपनिषदों की संस्कृत जो तीन-चार हजार वर्ष पुरानी है, शंकराचार्य की संस्कृत जो 1200 वर्ष पुरानी है तथा गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की संस्कृत जो इस युग की है तीनों को उठाकर देख लें, तीनों में एक-एक सहस्राब्दी का अन्तर है किन्तु ऐसा लगता है कि वे एक ही युग में लिखी गई हों यह त्रिकालातीत अमरता संस्कृत की ऐसी अद्भुत विशेषता है जो विश्व की किसी भाषा में नहीं पायी जा सकती है। इस सार्वकालिकता के साथ साथ इसकी सार्वदेशिकता भी उल्लेखनीय है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और सोमनाथ से ब्रह्मपुत्र तक ठीक उसी प्रकार संस्कृत लिखी जाएगी जैसी नेपाल, मारीशस या जर्मनी में। इसे यह कालजयित्व और विश्वजनीनत्व दिया पाणिनि ने जिनका अनुसरण सभी देशों में और सभी कालों में किये जाने का एक अलिखित समझौता विद्वानों में हो गया था।

इसी कारण समस्त देश में यह परम्परा सुप्रतिष्ठित हो गई थी कि धर्म और दर्शन के शास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत में, विशेषकर संस्कृत पद्यों में लिखे जाते थे। महावीर और बुद्ध ने चाहे उपदेश लोक भाषाओं में दिये हों किन्तु उनके भी दर्शन ग्रन्थ विद्वानों द्वारा इसलिए संस्कृत में लिखे गये कि उन्हें सार्वकालिकता, सार्वदेशिकता एवं शास्त्रीयता प्राप्त हो। जैन दर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ बहुत बड़ी मात्रा में संस्कृत में लिखे गये। उमास्वाति का तत्वार्थाधिगम सूत्र जैसे शास्त्रीय जैन ग्रन्थ प्रमेयकमल मार्तंड जैसे विमर्शग्रंथ संस्कृत में ही मिलते हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने भी (जैसे असंग, बसुबंधु, चन्द्रकीर्ति) शास्त्रीय दर्शन ग्रन्थ संस्कृत में लिखे। उनके ललित विस्तर जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ केवल संस्कृत में ही मिले हैं। चिरकाल तक अपने वंश की कीर्ति अमर और अक्षुण्ण रहे इस उद्देश्य से समस्त राजवंशों ने अपना इतिहास अमर भाषा संस्कृत में लिखाया चाहे वे कश्मीरी हों जिन्होंने राजतरंगिणी जैसे ऐतिहासिक काव्य लिखाये या मेवाडी हों जिन्होंने राज प्रशस्ति जैसे काव्य शिलालेख के रूप में खुदाए। शिलालेखों और प्राचीन अभिलेखों की भाषा का अशोक के बाद प्रमुखतः संस्कृत में होना तो सुविदित है ही, बड़े दूरस्थ राजवंशों में पत्राचार भी संस्कृत में होता था। शिवाजी और मिर्जा राजा जयसिंह क्रमशः मराठी और राजस्थानी भाषी थे। वे आपस में किस प्रकार पत्राचार करते ? या तो फारसी में या संस्कृत में। स्पष्ट है कि फारसी विदेशी भाषा थी, जिस विषय पर इन्होंने पत्र लिखे वह गोपनीय था तो उन्होंने संस्कृत को चुना। सम्पर्क भाषा की यह भूमिका संस्कृत को सहज ही मिल गई थी। नैषध चरित के लेखक श्रीहर्ष ने लिखा है कि दमयंती स्वयंवर में विभिन्न प्रान्तों के राजा एकत्र हुए जिनकी भाषाएं अलग-अलग थीं। तब उन्होंने आपस में संस्कृत भाषा में बातचीत की "अन्योन्य-भाषाऽनवबोध-भीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु।" सम्पर्क भाषा की इस सहज भूमिका ने संस्कृत को सारे देश में शास्त्रार्थ की भाषा भी बना दिया था, धर्म की भाषा और संस्कृति की भाषा भी बना दिया था। आज तक पूरे देश में पुरोहित समस्त धार्मिक कार्यों में इसी भाषा में संकल्प करवाते हैं। इस भाषा के मंत्रों

और स्तोत्रों के प्रति सबकी समान निष्ठा है। यह ज्योतिष की भाषा तो है ही, सही मायनों में पुस्तकालय भाषा की इसने सदियों तक भूमिका निभाई थी। आयुर्वेद, तंत्र मंत्र सबके ग्रन्थ इसी में लिखे जाते थे।

धर्म निरपेक्ष भाषा

ऊपर के विवरण का यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिए कि धर्म की भाषा होने के कारण यह हिन्दुओं या सनातनियों की भाषा मान ली गई थी। यह तो सब है कि सनातन धर्म और आर्य समाज जैसी परम्पराओं में इस भाषा पूर्ण प्रयोग रहा किन्तु यह उन्हीं तक सीमित नहीं रही। बोद्धों, जैनों, सिखों ने ही नहीं मुसलमानों ने भी उपनिषदों और दर्शन की भाषा होने के नाते इसका इतना अनुशीलन किया कि इन सभी वर्गों में सैकड़ों संस्कृत विद्वान हुए जिन्होंने अनेक ग्रन्थ संस्कृत में लिखे। इसकी यह धर्म-निरपेक्ष भूमिका भी अपने आप में अद्‌भुत हैं। चूंकि इस अमर भाषा में लिखा कोई भी सम्प्रदाय या इतिहास अमर हो जाएगा ऐसी धारणा थी इसलिए मुगल बांदशाहों ने भी संस्कृत विद्वानों को अपने दरबारों में रखा और अपनी कीर्ति संस्कृत में निबद्ध करवाई। अकबर के समय में अल्लोपनिषद लिखी गई जिस पर इस्लाम धर्म और कुछ कुरान की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। उधर दाराशिकोह जैसे शाहजादों ने और अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे सामन्तों ने इसका गहन अध्ययन किया। वेदों, उपनिषदों, गीता आदि का अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद किया और करवाया। खानखाना संस्कृत के बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने खोटकौतुकम्, त्रयस्त्रिंशट्योगावली जैसे ज्योतिष ग्रन्थ तो संस्कृत में लिखे ही हैं गंगा की स्तुति में गंगाष्टक इतना अच्छा लिखा है कि वह संस्कृत स्तोत्रों की परम्परा का उत्कृष्ट रत्न बन गया है। कश्मीर में जैनुल आबदीन (14 वीं सदी) जैसे अनेक संस्कृत प्रेमी शासक हुए हैं। रुद्र कवि ने खानखाना चरित चम्पू संस्कृत में इसलिए लिखा था (1609 ई.) कि खानखाना को महापुरुषों की श्रेणी में पूरा देश गिनने लगे। आज भी गुलाम दस्तगीर जैसे मुस्लमान धर्म गुरू मौजूद हैं जो संस्कृत के अच्छे विद्वान हैं और संस्कृत में ही बोलते हैं। यह धर्मनिरपेक्ष एकता की एक भाषा और सम्पर्क भाषा की भूमिका इस भाषा ने सदियों से धारण कर रखी हैं।

प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता यदि किसी भाषा को छूकर भी नहीं गई तो वह संस्कृत ही है। सदियों से हम मम्मट और कल्हण जैसे कश्मीरियों, जगन्नाथ जैसे दक्षिणियों, भट्टोजि दीक्षित जैसे मराठियों, जयदेव जैसे बंगालियों को मूर्धन्य संस्कृत आचार्य के रूप में पढ़ते आ रहे हैं। सारा देश उनके प्रति श्रद्धानत हैं। यह कभी किसी ने नहीं सोचा कि वे किस प्रान्त के थे। कालिदास का तो आज तक यह पता नहीं कि वे कहां के थे। पूरे देश के होने की भावना इसी भाषा की देन है। जिस प्रकार गीता को, चाणक्य के अर्थ शास्त्र को या शंकराचार्य के स्तोत्रों को किसी प्रान्त के साथ नहीं जोड़ा जा सकता उसी प्रकार इस भाषा को किसी प्रान्त की नहीं माना जा सकता। इसके शास्त्र भारत की सभी लिपियों में लिखे गये हैं, भाषा संस्कृत ही रही है। जिस प्रकार इसने प्रान्तों और शताब्दियों के कालखण्डों की सीमा का अतिक्रमण कर लिया उसी प्रकार धर्म की सीमाओं को

भी यह लांघ गई थी। सही अर्थों में पूरे देश की राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक एकता की, सारे भारत की भावनात्मक इकाई की यह प्रतिनिधि भाषा बन गई थी और आज भी है। यही कारण है कि चाहे हिन्दी जैसी भाषाओं के बारे में किसी प्रान्त में कुछ विवाद हो किन्तु संस्कृत के नाम पर कभी कोई विवाद नहीं रहा। राजनीति की घृणित दुर्गन्ध अब वहां भी अपनी सडांद फैलाने लगे तो यह देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा।

प्रकीर्ण
राजनीतिशास्त्र एवं समाजवाद

महाभारते राजधर्मानुशासनम्

आचार्यश्रीकुबरनाथशुकल:

उपक्रम:–

सनत्कुमारसंहिता-नारदसंहिता-बार्हस्पत्यशास्त्र-शुक्रनीति-कामन्दकीयनीतिसार-मैनुस्मृति-वाल्मीकिरामायण-कौटिल्यार्थशास्त्रप्रभृतिग्रन्थेषु राजधर्मा निरूपिताः । तेषु परस्परं साम्यं वैषम्यञ्चोपलक्ष्यते । महाभारतस्य सभा-वनपर्वादिषु सामान्यरूपेण शान्त्यनुशासनपर्वणोश्च विशेषरूपेण राजधर्मा निरूपिताः । तत्र भारतमवलम्ब्य किञ्चिदत्रोपन्यस्यते ।

महाभारतस्य शान्तिपर्वणि शरतल्पगतं पितामहं भीष्मं धर्मराजो युधिष्ठिरः पप्रच्छ–"पितामह ! राज्ञां समुत्पत्तिः कथं जाता ? कथं राजा सर्वान् लोकानधितिष्ठति ? कथं च कृत्स्नां महीं भुनक्ति ? कथं च तस्य प्रसादेन सर्वोऽपि लोकः प्रीणाति" ?

पितामहस्योत्तरम्–पितामहो भीष्म उत्तरं प्रयच्छत् राज्योत्पत्तिं प्राह–पूर्वं न राजाऽसीन्न च राज्यम् । न दण्डो न च दण्डिकः । धर्मेणैव प्रजाः परस्परं ररक्षुः । कालान्तरे प्रजा मोहवशमापन्ना धर्मतो भ्रष्टा । ततश्च लोभकामवशानुगा जनाः कार्याकार्ये सम्पादयितुमक्षमा अभवन् । फलतश्च वेदानां यज्ञानां च विनाशोऽभवत् । ततो देवाः कल्याणाय पितामहं ब्रह्माणं शरणं जग्मुः ।

पितामहो ब्रह्मा देवानां लोकानां च हितकाम्यया लक्षश्लोकात्मकं नीतिशास्त्रं प्रणिनाय, यत्र धर्मार्थकाममोक्षरूपाश्चत्वारः पदार्थाः सम्यग्वर्णिताः । त्रयी आन्वीक्षिकी दण्डनीतिश्च विस्तरेणाभिहिता । प्रणिधिचारमन्त्रिराजपुत्रादीनां कर्तव्यं निर्दिष्टम् । सन्धि-विग्रह-यानादीनां कर्तव्या-कर्तव्यविषये विवेचनं कृतम् । पञ्चवर्गस्यामात्यराष्ट्रदुर्गबलकोशात्मकस्य वैशद्येन वर्णनं जातम् । सप्ताङ्गस्य राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमञ्जसं, दूतसामर्थ्ययोगाद्राष्टस्य विवर्धनं, राज्ञः सेनापतेश्च गुणदोष विवेचनं विस्तरेण कृतम् । राज्यसम्बन्धिनां सर्वेषां विषयाणां विशदं विवेचनं ब्रह्मणा कृतम् ।

ततो भगवाञ्छङ्करस्तां नीतिं जग्राह । प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय शङ्करो भगवान् तच्छास्त्रं सञ्चिक्षेप । शिवात्तच्छास्त्रमिन्द्रो जग्राह । सोऽपि पञ्चभिः सहस्रैस्तच्छास्त्रं समक्षिपत् । अध्यायानां त्रिभिः सहस्त्रैस्तच्छास्त्रं बृहस्पतिना संक्षिप्तं यद्बार्हस्पत्यशास्त्रनाम्ना प्रसिद्धम् । काव्यो योगाचार्जस्तच्छास्त्रमध्यायानां सहस्रेण संचिक्षेप ।

ऋषिभिर्देवैः प्रार्थितो भगवान् विष्णुः सर्वप्रथमं पृथुं वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं धनुर्वेदे निष्ठितं दण्डनीतौ च कुशलं राजपदेऽभ्यषिञ्चत् । पृथिवी रत्नान्यादाय तं भेजे, सागरो हिमवान् देवराजश्च तस्मै अक्षय्यं धनं प्रददुः । सुमेरुः कनकं ददौ । धनेशस्तस्मै पुष्कलं धनं प्रादात् । राज्ञः पृथोः स्मरणादेव रथा नागाः

कोटिशः पुरुषाश्च प्रादुरभवन् । तस्मिन् राज्यं प्रशासति न जरा, न दुर्भिक्षं, नाधयो न व्याधयश्चासन् । तदा सरीसृपेभ्यस्तस्करेभ्यश्च भयं नासीत् । तेनायं पृथिवीलोकः सुव्यवस्थितः । प्रजानां रञ्जनाद्राजेति कथ्यते । भगवता विष्णुना राज्ञः पृथोः प्रतिष्ठा कृताऽतः कोऽपि तमतिवर्तितुं न शशाक । तत एव राजानो लोके प्रतिष्ठिताः । **"अष्टानां लोकपालनां वपुर्धारयते नृपः"** इति सिद्धान्तस्तस्मादेव कालात् प्रचलति । पृथोर्नाम्ना 'पृथिवी' बभूव । राजमूलो हि लोकस्य धर्मः । राजभयादेव जनाः परस्परं न खादन्ति । राजैवापराधिनं दण्डयति ।

राजधर्मः–

प्रजानां रक्षणं सत्यस्य चरणमार्जवं च । राजा परवित्तानि न हापयेत् । काले देयानि दापयेत् । विक्रान्तः सत्यवादी क्षान्तो नृपो राज्यान्न च्यवते । धर्मार्थकाममोक्षरतः संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुर्महति । राज्ञां परं वृजिनमरक्षणम् । नृपतिरर्थे न विश्वसेत् । षाड्गुण्यगुणदोषाश्च स्वयं विचारयेत् । बलवति सन्धिः, समबले विग्रहः, दुर्बले यानम् । बलिन आक्रमणे दुर्गादौ स्वरक्षणं, मध्यमे द्वैधीभावः, दुर्बले समाश्रयः । द्विषतां छिद्राणि सर्वथा द्रष्टव्यानि, आत्मनश्च गोप्यानि । राजाऽमात्यराष्ट्र दुर्गादिपञ्चवर्गाणां वेत्ता स्यात् । राजा सुमुखः स्मितपूर्वाभिभाषी वृद्धानामुपासितालस्यरहितोऽलोलुपश्च प्रशस्तो भवति । स सतां वृत्तमनुस्मरेत् । तेभ्यश्च द्रव्यं नैव गृह्णीयात् ।

सर्वाभिशङ्की सर्वहरश्च राजा स्वजनैरेव वध्यते । लोकचित्तग्रहे रतः शुचिरक्रोधनो जितेन्द्रियो मृदुदण्डो राजा लोकैः सदाऽऽद्रियते ।

स राजा राजसु श्रेष्ठो यस्त्यागी परच्छिद्रदर्शी प्रियदर्शनो नयापनयज्ञो जितेन्द्रियोऽकत्थनश्च भवति । स राजा राजसत्तमो यस्य विषये मानवा निर्भयाश्चरन्ति । यत्र जनाः स्वकर्मनिरता यथाविधि पाल्यमाना दान्ता वश्या विधेयाश्च भवन्ति । यस्य राज्ञो विषये न कूटं न कपटं न माया न मत्सरो यश्च परहिते रतस्त्यागी सन्मार्गानुगामी च स राजा राजसत्तमः । यस्य चरा मन्त्राश्च रिपुभिर्न ज्ञायन्ते स राजा राज्यमर्हति ।

लोकरक्षणम्–

राज्ञो मुख्यतमो धर्मो लोकरक्षणम् । प्राचेतसेन मनुना इमौ द्वौ श्लोकावुदाहतौः–

"षडेतान् पुरुषान् जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे । अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानम् ।

अरक्षितारं राजानं मार्यां चाप्रियवादिनीम् । ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्

बृहस्पतिप्रभृतयो राजशास्त्राणामाचार्या रक्षामेव धर्मं प्रशंसन्ति । राज्ञां साधनानि निम्नाङ्कितानिः–योगेन करग्रहणम्, सतां संग्रहणं, शौर्य–दाक्ष्यं-सत्यम्, प्रजाहितम्, **शत्रुपक्षस्य भेदनम्**, जीर्णानां केतनानामवेक्षणम्, शारीरस्यार्थस्य च दण्डस्य प्रयोगः, साधूनामपरित्यागः, कुलीनानां धारणम्, निचेयानां धान्यादीनां संग्रहः, बुद्धिमतां सेवा, बलानां हर्षणम्, प्रजानामन्ववेक्षणम्, कोशस्य परिवर्धनम्, पुरगुप्तिः पौरसंघातभेदनम्, अरिमध्यस्थामित्राणां यथावदन्ववेक्षणम्, भृत्यानामुपजापनीतिधर्मानुसरणम् ।

बृहस्पतिरुत्थानं नृपाणां मुख्यं धर्ममाह–

"उत्थाने नामृतं लब्धमुत्थाने नासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ।
उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।
उत्थानहीनो राजातिबुद्धिमानपि नित्यशः ।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इवनिर्विषः ।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
अल्पोऽपि हि दहत्याग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ।
एकाङ्गेनापि संभूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः ।
सर्वं तापायते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ।"

राजतन्त्रं क्रूरेण न धार्यते न च मृदुना । तस्मादुभयमाश्रित्य क्रौर्यमार्दवेन वर्तितव्यम् ।

पौरुषमवलम्बनीयम्–

राज्ञा सदा पौरुषमवलम्बनीयम् । पौरुषं तिना केवलेन दैवेनार्था न सिध्यन्ति । पौरुषदैवयोर्मध्ये पौंरुषस्यैव प्राधान्यम् । सत्यवादी शीलवान् गुणवांश्च राजा लोके समादृतो भवति । आर्जवमाश्रयणीयं परन्तु नीतिशास्त्रनयानुकूलमेव । काले काले तैक्ष्ण्यमाप्यवलम्बनीयंम् । यथास्थितिरपेक्षते ।

सप्तराज्याङ्गानि–

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । तत्र स्वामिरूपा प्रकृतिः सप्तविधा ।

दुर्गाध्यक्षो बलाध्यक्षो धर्माध्यक्षेश्च भूपतिः ।
पुरोधा वैद्यादैवज्ञौ सप्त प्रकृतयः स्मृताः ॥

इमाः सप्त प्रकृतयो राज्ञा सर्वथा रक्षणीयाः ।

राज्ञां कृते मन्त्रगोपनमतीवावश्यकम् । दुष्टा दूता मन्त्रिणश्चार्थलोभेन रहस्यमुद्घाऽटयन्ति । राज्ञा सदा सावहितेन भाव्यं येन मन्त्रस्य गोपनीयता सर्वथा सुरक्षिता स्यात् । राजा सम्यक्परीक्ष्य मित्रादिभिः परामृश्य बलवता शत्रुणा सह सन्धिं दुर्बलेन विग्रहं मध्यमेन सह साम्येन स्थितिं कुर्यात् । ये चिरकालाद्विश्वसनीयाः स्निग्धाश्च त एवोदयनिमित्तं मन्त्रिरूपेण सुहृद्रूपेण वा संग्राह्याः । मन्त्रगुप्तिवत् कार्यगुप्तिरपि आवश्यकी । अकृतं कर्म कोऽपि न जानीयात् । कृतमेव जना जानीयुः । मूर्खाणां संग्रहो न विधेयः । एकोऽपि विद्वान् सहस्रेभ्यो मूर्खेभ्यो निःश्रेयसकरः । दुर्गाणि सदा धनधान्यायुधोदकैः परिपूर्णानि शिल्पिधनुर्धरैश्च सम्पन्नानि रक्षणीयानि ।

मन्त्रिणः–

कुलीनाः शीलसम्पन्नाः इङ्गितज्ञाः देशकालविधानज्ञाः स्वामिकार्येषु सहायाः मन्त्रिपदे नियोक्तव्याः । ते चार्थमानभोगसत्कारादिना सर्वथा सन्तोष्टव्याः । एवंविधा मन्त्रिणो राजानं नैव त्यक्ष्यन्ति । येऽनार्या अल्पश्रुताः क्षुद्रा अर्थपरायणास्ते मन्त्रिपदे नैव नियोज्याः ।

'कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः ।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।

मन्त्रिणः प्रकृतीनामन्येषां च राज्ञां छिद्रं लक्षयेयुः परमन्ये तेषां छिद्रं न जानीयुः । राज्यमूलं मन्त्रगोपनं रहस्यज्ञानं च ।

सुहृदः–कुलीनाः स्निग्धा हितैषिणोऽनुरक्ता बहुश्रुताः सुहृदो भवितुमर्हन्ति । एवं विधा सुहृदो विश्वसनीयाः सदा च हितमाचरन्ति ।

सेनापतिः :–धनमानादिना हृष्टः कुलीनः शूरो मतिमान् धृतिमान् शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च सेनापतिर्विधेयः । सेनायां युद्धविशारदाः प्रगल्भा निष्कपटाश्च सैनिका नियोक्तव्या । बलस्य देयं मासिकं वेतनादिकं च यथासमयं नियतकाले देयम् । कालातिक्रमेणानर्थाः सम्भाव्यन्ते । धनमानादिना सन्तुष्टाः सैनिकाः नृपार्थे जीवितमपि त्यक्तुंमुद्यता भवेयुः । सेनाया अष्टावङ्गानि भवन्ति ।

रथा नागा हया योधाः पत्तयः कर्मकारकाः ।
चारा दैशिक-मुख्याश्च **ध्वजिन्यष्टाङ्गिका** मता ।

एवं विधा चमूः सेनापतिना सुनीता द्विषतां विनाशकरी भवति ।

कोशसंरक्षणम्- कोशसंरक्षणमप्यतीवावश्यकम् । व्ययो हि आयादल्पतरः कार्यः । ज्ञातयो वृद्धा गुरवो वणिजः शिल्पिनो दरिद्राश्च धनधान्यादिप्रदानेनानुग्राह्याः । आयव्ययलेखका गणकाश्च प्रतिदिनं लेखां निवेदयन्तीत्यपि द्रष्टव्यम् ।

चिकित्सका :–अष्टविधचिकित्सायां कुशला अनुरक्ताः सुहृदो वैद्यपदे नियोक्तव्याः ।

पुरोहित :–विनयसम्पन्नः कुलीनो बहुश्रुतः शास्त्रचर्चाकुशलः पुरोहितोऽन्वेष्टव्यः.।

दैवज्ञ :–सामुद्रिकशास्त्ररीत्याऽङ्गानां परीक्षकः उत्पातेषु दिव्यभौमशारीरकेषु मार्गदर्शकः कुशलो दैवज्ञो नियोक्तव्यः ।

राज्यव्यवस्था–प्रान्तग्रामनगरपुरादिरूपेण राज्यं विभक्तमासीत् । प्रान्तस्तावत्सीमास्थ आटविकानां ग्रामः । ग्रामो हि शूद्रबहुलः । नगरमापणादियुक्तम् । तेषां प्रान्तग्रामनगराणां रक्षार्थं समुचिता व्यवस्थाऽसीत् । पुरं तावज्जनेश्वरस्थानम् ।

ग्रामादिषु व्यवस्थार्थं समाहर्त्ता-संविधाता–प्रशास्ता–लेखकः साक्षी चेति पञ्चविधा जना नियुक्ता आसन् ।

वार्ता :–कृषिर्वाणिज्यं पाशुपाल्य कुसीदं चेति चतुर्विधा वार्त्ता । कृषिकार्यं यथा सौष्ठवेन सम्पद्येतैतदर्थं सिञ्चनव्यवस्थाऽऽसीत् । बृहन्ति जलपूर्णानि तडागानि सुरक्षितान्यासन् । केवलमाकाशवृष्ट्या कृषिः प्रशस्ता न भवतीति तथ्यमवगतमासीत् । कृषकाणां बीजमन्नञ्चावसन्नं न भवेदिति यत्नेन क्रियमाणमासीत् । ऋणमपि अल्पकरेणैव देयमासीत् येन कृषकाणां व्ययभारो न वर्धेत ।

दण्डनीति :–दण्डं विना प्रजानां पालनं भवितुं नार्हति । 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः' इति सिद्धान्तः प्राचीनकालादेव समादृतः । अतोऽपराधिनोऽवश्यं दण्ड्याः । ये निरपराधास्ते सर्वथाऽदण्ड्याः ।

'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ सर्वमान्यमेतद्विधानमासीत् ।

सत्पुरुषाणां समादर :–विदुषां साधूनां सत्पुरुषाणां ब्राह्मणानां च राज्ये महान् समादर आसीत् । ते दानमानसत्कारादिना भृशं पूजिताः समादृताश्चासन् ।

गुणदोषविचारः :–राज्ञां चतुर्दश दोषा भवन्ति ये सर्वथा त्याज्याः । नास्तिक्यमनृतं क्रोधः प्रमादो दीर्घसूचिता ज्ञानवतामदर्थनमालस्यं पञ्चवृत्तिताऽर्थानामेकचिन्तनमनर्थज्ञैश्चिन्तनं निश्चितानामनारम्भो मन्त्रस्यापरिरक्षणं मङ्गलाद्यप्रयोगः सर्वतः प्रत्युत्थानम् ।

राज्ञां षट्त्रिंशद्गुणाः :–रागद्वेषहीनः सर्वान् धर्मान् चरेत्, आस्तिकः सन् स्नेहं कुर्यात्, अनिष्ठुरोऽर्थमर्जयेत्, धर्मार्थरक्षणपूर्वकं कामं चरेत्, प्रियं ब्रूयात्, शूरः श्लाघाहीनः, दानं सत्पात्रे देयम्, दयासहितं प्रागल्भ्यम्, अनार्यैः सन्धिं न कुर्यात्, बन्धुभिर्विग्रहं न कुर्यात्, चारेभ्यः पुष्कलमन्नं दद्यात्, अपीडयन् दद्यात्, परीक्षार्थं ब्रूयात, आत्मनो गुणान्न ब्रूयात्, साधुपुरुषेभ्यो धनं नादद्यात्, असत्पुरुषाणामाश्रयं न कुर्यात् । परीक्ष्य दण्डविधानं कर्तव्यम्, मन्त्रगुप्तिः, लुब्धेभ्यो दानं न देयम्, अपकारिणं नं विश्वसेत्, ईर्ष्यां न कुर्यात्, गुप्तदारः स्यात्, शुद्धः स्यात्, अघृणी भवेत्, संयमेन स्त्रीसेवनम्, पथ्यं मृष्टं भुञ्जीत, मान्यानक्षुब्धः पूजयेत्, निश्छलो गुरून् सेवेत, दम्भरहितो देवार्चेयत, शोभनां लक्ष्मीमिच्छेत्,.;, सविनयं सेवेत, कालज्ञो भवेत्, मोक्षं दित्सुर्न सान्त्वयेत्, आक्षेपपूर्वकमनुग्रहं न कुर्यात्, शत्रून्, ज्ञात्वा प्रहरेद्धत्वा च न शेचेत्, अकस्मात् क्रोधं न कुर्यात्, अपकारिषु मृदुर्न स्यात् । एभिर्गुणैर्विभूषितो राजा सर्वमान्यो यशस्वी जगद्विजयी च भवति ।

उपसंहारः–साम्प्रतं भारते राजतन्त्रं नास्ति । लोकतान्त्रिकप्रणाल्या देशस्य शासनं प्रचलति । महाभारते राज्ञां मन्त्रिणाममात्यानां सेनापतीनां सैनिकानां विषये राज्यसंचालनविषये च यदभिहितमस्ति तदद्यत्वेऽपि नितान्तं समुपयोगीति दृढं विश्वसिमि ।

सप्ताङ्गराज्यविषये वैदिकमतसमीक्षणम्

डॉ. ऋषिरामः पोखरेलः,

विश्वस्मिन् सर्वप्राचीनाः सर्वश्रेष्ठाश्च ग्रन्था वेंदा मन्यन्ते । तेष्वपि ऋग्वेदः सर्वप्राचीनतरो विशालश्चेति प्राच्याः प्रतीच्याश्च विद्वांस इतिहासज्ञाश्चाहुः । इह तावद् 'वेदैः कीदृशी राज्यव्यवस्था समुपदिष्ट, सप्ताङ्गराज्यसिङ्गान्तो वैदिकोऽवैदिको वा, वेदे क्व कथं राज्यसप्ताङ्गविषय उपन्यस्तो वर्तते ।" इति सर्वमपि यथाशास्त्रं सयुक्तिकं च समीक्षणाय प्रबन्धोऽयमारभ्यते । वेदेषु समुपदिष्टानां सप्ताङ्गराज्यसिद्धान्तस्य स्रोतोभूतानां केषाञ्चन प्रसङ्गानामिह मया स्वकीयप्रबन्धस्यारचने विशेष-प्रेरकत्वमुररीकृतमिति तेषामत्र समुद्धरणं साम्प्रतमेव मन्ये सर्वप्रथमम् । यथा हि–

ग्रन्थाः-	**प्रसङ्गसङ्केताः**	**सप्ताङ्गराज्यविषयकवचनानि-**
ऋग्वेदः	1/164/1	'अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपत्रम्' ।
तै. ब्राह्मणम्-	2/3/1/1	इन्द्रः सप्तहोता
यजुर्वेद (वा.सं)	20/5/	'विशो मेऽङ्गानि सर्वतः' ।
शतपथब्रा.	6/1/1/4-6	'स एव पुरूषः प्रजापतिरभवत् । स वै सप्तपुरूषो भवति । अथ यत् सर्वमस्मिन् अश्रयन्त तस्मादु शरीरम् ।'
शतपथब्रा.	11/4/3/14	'सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः' ।
शतपथब्रा.	13/1/6/3-	'राष्ट्रं वा अश्वमेधः । तस्माद् राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत् ।'
ऋग्वेदः- (अथर्वणिच)	3/4/5-	'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम् । एको अश्वो वहति सप्तनामा ।
ऋग्वेदः-	10/72/8-9-	'सप्तभिः पुत्रैरदिति रूपप्रैत् पूर्व्यं युगम् ।'
यजुर्वेदः (वा. सं)	34/55-	'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।'
ऋग्वेदः	10/142/2-	'प्र सप्तयः प्रनिषन्तन्तो धियः । पुरश्चरन्ति पशुपा इव त्मना ।'
ऋग्वेदः	8/25/5	'सप्तानां सप्त ऋष्टय सप्त द्युम्नान्येषाम् ।'
ऋग्वेदः	3/4/5	'सप्तहोतारस्तमिद् ईऽते त्वा ।'

ऋग्वेदः	10/13/5	'सप्त क्षरन्ति .... उभये ते उभयस्य पुष्यतः ।'
शतपथब्रा.-	8/2/2/4	'तस्मात् सर्वासु दिक्षु प्रजाः ।
निरुक्तम् (यांस्कः)	7/2	'तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ।'

स्मृति-पुराणवचनानि–

मत्स्यपुराणम्-	23/9/1	परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।'
अग्निपुराणम्	29/2	'राज्याङ्गानां वरं राष्ट्रं साधनं पालयेत्सदा ।'
महाभारतम् (शा.प.)	69/65	"आत्मामात्याश्च कोषाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि । तथा जनपदांश्चैव पुरञ्च कुरुनन्दन । एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपालय यत्नतः ॥"
मनुस्मृतिः-	9/295-98	'स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोषदण्डौ सुहृत्तथा । सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।' तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन तत्साध्यते कर्म तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥'
याज्ञवल्क्यस्मृतिः	1/353-	तथैवाशयः प्रकाशितः ।
शुक्रनीतिः-	1/61-2	स एवाशयः प्रदत्तः ।

अथ तावदत्रेमान्येव श्रुतिस्मृतिवचनानि पुरस्कृत्य मया विचिन्त्यते । न तावद् विनास्तम्भं मण्डपः विनामूलं विचाराः, विमर्शाः वा प्रकट्यन्ते । न खलु मूलं विना स्रोतांसि वहन्ति । 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यत' इति गुरुपरिभाषणमेवास्माकमपि नियामकम् ।

ऋग्वेदे सप्तमनुष्याणां समुल्लेखः 8/39/8 स्थले लभ्यते । तत्र वैश्वानरतुल्या सप्तमंडलपुरूषा 'सप्तपुरूषा' अभिप्रेता इति पाश्चात्त्यस्य विदुषो राथमहोदयस्य मतोल्लेखनपूर्वकं डॉ. सूर्यकान्तो वैदिककोषे (542 पृष्ठे) 'सप्तमानुष'-पदार्थान् प्रादर्शयत् । वस्तुतस्तत्र न तु सप्तजातिमानमग्नेः सप्तजिह्वात्वं वाभिप्रेतं लक्ष्यते, किन्तु तत्राग्नितुल्यत्वेन राज्यस्य जिह्वात्वेन च सप्ताङ्गानां सङ्केतः संल्लक्ष्यते । ऋग्वेदे यदुक्तं "राज्ये सप्ताङ्गोपेतो नृपः (राजा) सुस्थितो भवतीति, तदेतच्छतपथब्राह्मणेन "स एव प्रजापतिरभवत् स वै सप्तपुरूषो भवतीति" स्पष्टीकृत्य प्रपञ्चितमिति मे प्रतिभाति । तेषामङ्गाङ्गित्वे च वाजसनेयसंहितायां "विशो मेङ्गानि सर्वतः (20/5)" इति साधु-प्रोक्तमेव । अश्वमेधप्रकरणे 'सप्ताश्वशफानि भवन्ति', यथा हि राज्ये प्राणरूपाणि सप्ताङ्गानि राज्यं लक्ष्ये गमयन्तीति सङ्केतप्रदानायैव निरूपितं विमृश्यते । शतपथब्राह्मणेन च सवितुः सप्तसप्तित्वमिव राष्ट्रपतेः (राज्ञः) अपि सप्ताङ्गोपेतत्वं "सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः" इति समुपदिश्य सम्यक् प्रकाशितम् । अथ च तत्रैवाश्वमेधस्य राष्ट्रत्वं विधाय तद्वतः क्षत्रियस्यैवाश्वमेधानुष्ठानेऽधिकारोऽपि निरूपितः । तदत्र किञ्चिद् विमृश्यते ।

प्रकृतप्रसङ्गे, यदि तावत्सप्तरश्मेरिव सप्ताङ्गता राज्यस्य नाभविष्यत्तदा राज्यवृक्षस्य सवित्रा सह तुलनापि नाभविष्यत् । यथैकचक्रं रथं सविता प्रवर्तयति, यथा च सप्तनामभिः समाहूता अश्वरूपा

रश्मयः सवितारं प्रभया गमयन्ति, तथैव सप्ताङ्गानि राज्यं राजानं चोभयमपि सञ्चालयन्ति । "अदीना पृथ्वी च पूर्वपूर्वयुगेष्विव सप्तभिः पुत्ररूपैरङ्गै र्यथा साम्यं समप्रैत् तथैव सप्ताङ्गोपेत राज्यमपि पूर्वयुगानुरूपतां धते ।" इति च ऋग्वेदाशयः प्रतिभाति । यजुर्वेदे तावत् सप्तसंख्यका क्रान्तद्रष्टारः (ऋषयः) सप्ताङ्गोपेते राज्यशरीरे प्रतिष्ठिताः सन्तः सदः (राष्ट्रसमितिं सभां वा) प्रमादशून्यं यथा भवति तथा संगच्छन्ति, तन्नियन्त्रिताः परिपालयन्ति च राष्ट्रं सर्वथेति प्रतिपादितमस्ति । राज्यशरीरत्वकल्पना च "यत्सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरमिति" श्रुत्या (श. ब्रा.) समर्थितमेव । समाश्रिता हि प्रकृतयः (प्रजाः) राज्ये । यथा शरीरे मुखनासाकर्ण-हस्तपादादीन्यङ्गानि संश्रितानि तथैव राज्येऽपि स्वाम्यमात्यसुहृदादीन्यङ्गानि भवन्तीति शुक्राचार्येण (1/62) साधु प्रपञ्चितमेव ।

अथापि, यथा पशुपाः स्वयं दण्डमादाय पशोः पुरः पश्चाच्च गच्छन्तो रक्षन्ति पशूँस्तथैव प्रकृष्टधिया निषेवितान्यङ्गानि राज्यं परिपालयन्तीति ऋग्वेदस्याशयोऽपि सप्ताङ्गराज्यव्यवस्था-समुपदेशायालं प्रतीयते । सप्तसंख्यकान्यङ्गानि स्वस्वमत्या (सन्मंत्रणेन) मन्त्रणेन राज्यं प्रकृतीश्च गोपायन्ति न तु तत्र तत्र स्वयमेवोपस्थायतेऽनारतं पालयितुं शक्नुयुरिति वक्तुं सम्भाव्यते जगदीशितुरपि देवस्य तथात्वे मानादर्शनात् ।–

"न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति सद्बुद्ध्या योजयन्ति तम् ॥––

(म.भा., उद्यो. प. 35/40 इचि वचनाच्च ।

किञ्च, न तावत्सप्ताङ्गानां समानकर्तव्यताकत्वे न सप्तसु साम्यमपितु तत्तत्स्थान-मर्यादा-प्रतिपत्तिभेदवत्वात्, प्रत्येकं विभिन्नं सदपि परस्परं मुख्यामुख्यत्वे विरोधावसरस्य दुर्निवारत्ववैषम्यमेव । तेन हि परस्परकार्यगौरवविशेषेणाबद्धनि च सन्ति सप्ताङ्गानीति ऋग्वेदाशय एव तत्र भवता मनुना 'तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते' इत्युपदिश्य प्रपञ्चितमपि समन्वेति ।

अथ च, राज्यस्य समुन्नत्यै विशां समाह्वानं कुर्वन्तः सप्ताङ्गरूपा ऋषयस्तमेव विभुं "विशे विशे निविष्टं" रज्यं राष्ट्रशरीरं वा परिष्टुत्या संवर्धयन्तो दशदिक्षु समवस्थिताभ्यः प्रजाभ्य अतिरिच्यन्ते । यथैतानि सप्तर्षिरूपाण्यङ्गानि परस्परोपकारीणि कार्यकाले च पारस्परिकस्वत्वमविहायापि परस्परसौहार्दं संरक्ष्य राज्यं परिरक्षन्तीति ऋग्वेदाशयः सुनिरूपितस्तथैव "परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं रज्यमुच्यते" इति परिभाषणमुखेन मत्स्यपुराणेन तदेव स्पष्टीकृतं प्रतीयते । तच्चैतत् सप्ताङ्गराज्ये राज्यसप्ताङ्गस्य कार्यविभाजनं लोकविभक्तिवशाद् विभक्तावपि देवानां विभुत्वेन स्वाभाविकमिव व्यावहारिकमपि वर्तत इति च "तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव" इति निरूपयता यास्केन सुस्पष्टमेव निरुक्तग्रन्थे दैवतकाण्डे प्रत्यपादि । इतश्च, यद्यपि पूर्वप्रसङ्गप्रसक्त्या सप्ताङ्गराज्यस्वोपदेशनं वेदादेवादावुपदिष्टमासीदिति चोपपद्यते तथापि पुनः पक्षान्तरेण किञ्चिद्विचिन्त्यते ।

'मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः' इति स्वीकारात्सप्ताङ्गत्वं राज्यस्येति विषयमधिकृत्य मन्त्रब्राह्मणाभ्यामेव विविच्य विमर्शोपग्रहणं तर्कसंगतं भवति । शुक्लयजुर्वेदे वाजसनेयसंहितायां प्रायः प्रत्यध्यायं नैकशो राजशब्दः समुपदिष्टो वरीवर्ति । तदत्र विशेषतो माध्यन्दिन-(वाजसनेय-) शाखाया

मन्त्रब्राह्मणे प्रमाणकेन्द्रे कृत्वा राज्यं, सप्ताङ्गानि, राजत्वञ्च विविच्यते । मन्त्रभागस्य नवम-दशमाध्याययोर्वाजपेय-राजसूययागसम्बद्धा मन्त्राः पठ्यन्ते । शतपथब्राह्मणेन राजसूययागे राजन्यानां विशेषाधिकारो निरूपितः । बाजपेययाजिनो राजन्यस्य च सर्वजयो भवतीति तत्रैव समुपदिष्टम् ।

"स यो वाजपेयेन यजते । स इदं सर्वं भवति । स इदं सर्वमुज्जयति"–श. ब्रा. 5/1/1/8 सोऽयं वाजपेययज्ञः प्रथमं बृहस्पतिनानुष्ठित इति ब्राह्मणस्यैवास्यानुष्ठाने प्राथमिकोऽधिकार इत्युपक्रम्य ततश्च राजन्यस्यापि तत्राधिकारो निरूपितो दृश्यते । तत्र हि पुरा वाजपेयेनेन्द्रोऽयजत । इन्द्रस्य क्षतत्राणरूपक्षात्रधर्मवत्वेन क्षत्रियत्वं, राजन्यस्य च लोकप्रसिद्धं क्षात्रत्वमस्त्येवेति राजन्यानामपि वाजपेयानुष्ठानेऽधिकारः श्रुत्या विहितः (श. ब्रा. 5/1/1/1/11) अत्र हि पुरा वाजपेयेन बृहस्पतेरिन्द्रस्य राज्यलाभोऽभूदिति राज्यमिच्छन्तो ब्राह्मणा राजन्याश्च वाजपेयेन यजेयुरिति श्रुतेराशयोऽवगम्यते । एतेन पर्यालोचनेन राज्यम्, राजा, राज्यव्यवस्था, ब्राह्मणक्षत्रिययो राजत्वञ्चेति सर्वं वेदोपदिष्टं, वेद-मूला चेयं परम्परेति विषये नास्ति शङ्कावसरः ।

अथ चात्रेदमुच्यते यच्छुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायाश्चतुस्त्रिंशाध्यायस्य भाष्योपक्रमे उव्वटाचार्येणादावेव "अस्मिन्नध्याये लैङ्गिको विनियोगः । लिङ्गञ्च सामर्थ्यमुच्यते । सामर्थ्यमभिधानशक्तिः" इति परिभाषितम् । तत्रैव महीधराचार्यस्तु वेददीपाभिधे स्वीये भाष्योपक्रमे "अनारभ्याधीतोऽध्यायः । आपितृमेधात् । आदित्य-याज्ञवल्क्यदृष्टा मन्त्राः पाठे विनियुक्ताः" इति विवृत्य अध्यायान्ते च "ब्रह्मयज्ञार्थकोऽध्यायोऽगमदि"त्युपसंजहार ।

अत्र हि पूर्वोक्तयोराचार्ययोर्मतं समानमेव । अनारभ्याधीतानां लैङ्गिकविनियोगो भवत्येव, तेषां तत्तत्कर्मनिरूपितविनियोजकश्रुत्यभावादि मे स्फुरति । किंचास्यैवाध्यायस्य (34||54) चतुः पञ्चाशत्तमो मन्त्र आदित्यदैवतस्तत्स्तुतिपरकत्वेनैवोव्वटमहीधराभ्यां व्याख्यातो वर्तते । शतपथब्राह्मणश्रुत्या च मित्रविन्देष्टौ राष्ट्रपतित्वेन सवितारं संस्तूय यजमानस्याशीः प्रार्थनायां सवितृकर्तृकं राष्ट्रदानमाशंसितं दृश्यते ।–

"सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः । राष्ट्रमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु"-श. ब्रा. 11/4/3/14 ।

अनेन श्रुतिवाक्येन विश्वस्मिन् सम्प्राप्तेषु राज्यव्यवस्थासु राजनैतिकसिद्धान्तेषु च सर्वप्रथमं राष्ट्राध्यक्ष्यस्य राज्ञो वा स्थाने 'राष्ट्रपति'शब्दप्रयोगो विहितो लभ्यते' । प्रसङ्गोऽयं 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा''-(वा. सं. 7/12) इति–समुपदिष्टायाः संस्कृतेः सभ्यतायाश्च सर्वप्राचीनतां, वैदिकताञ्चेत्युभयमपि प्रकाशयति, । अद्यत्वे प्रयुक्तस्य राष्ट्रपति-शब्दस्य ऐतिहासिकं स्रोतश्च वेद एवेति सप्रपञ्चं प्रमाणामपि पुरः सारयति । तथा च तत्र प्रयुक्तो राष्ट्रशब्दो विशां (प्रजानां, जनतायाः) वाचक इति परिभाषाणमैतरेयश्रुत्या समुपन्यस्तं लभ्यते । तेन हि सवितृरूपो राजा विड्रूपस्य लोकस्य प्रेरकोऽनुज्ञादाता चेत्युभयमपि श्रुत्या समुपदिष्टं प्रतीयते ।

अथ च, श्रुतौ सवितू राष्ट्रपतित्वेनोपदेशात्, पूर्वमन्त्रस्य सवितृस्तुतिरूपस्य सावित्रत्वेनैवोपदेशनात्, हौत्रवेदेन "अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्" (ऋ. 1/164/1)-इति राज्यसप्ताङ्गस्योपपादनात्,

वा जसनेयिसंहितायां "इमा गिर आदित्येभ्य" इति मन्त्रेण सह पाठात्, तस्य समग्रस्याप्यध्यायस्य (34) अनारभ्याधीतत्वाद्युपदेशसामर्थ्याच्च "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे........" इति मन्त्रस्यापि सवितृपरकत्वेन सप्ताङ्गराज्यपरकत्वेन चात्र व्याख्यानमेवोचितमिति मे मनीषा ।

किञ्च, प्रसङ्गोऽयं शक्यते पक्षान्तरेणापि सम्परीक्षितुं विद्वद्भिरिति किञ्चिदुपस्थाप्यते । महर्षिर्यास्को "महाभाग्याद् देवतानां, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य बहुधा स्तूयते" इत्याभाष्य तत्रैतन्नरराष्ट्रमिवेति चाह । उव्धटमहीधरावपि "सप्त ऋषयः प्रति...." इति मन्त्रमात्मपरकत्वेनैव व्याख्यातवन्तौ । तत्र हि श्रुत्या अपि राज्ञः प्राणत्वेन, राष्ट्रस्यात्मत्वेन चान्यत्रापि व्याख्यातव्यमेवेत्यस्मिन् पक्षेऽपि "सप्त ऋषयः प्रति....." इत्यस्य मन्त्रस्य सप्ताङ्गराज्यपरकत्वेन व्याख्याने न काचिदनुपपत्तिरिति मे वचिारः ।

इतोऽपि, सवितुः सप्तसप्तिरिति प्रसिद्धेरयं मन्त्रः सवितृपरकत्वेनैव भाष्यकृद्भ्यां व्याख्यातव्य आसीत् । परन्तु ताभ्यामयं पक्षः कथं न्यक्कृत इति नाद्य यावत्केनपि वैदिकेन विचारितम् । वस्तुतः सावित्रत्वेन, लैङ्गिकविनियोगेन (अभिधानसामर्थ्याच्च), लोकप्रसिद्धेश्च मुख्यभूतं सवितृपरमर्थमप्रकाश्य गौणभूतस्यात्मतत्त्वार्थस्यैव प्रकाशनं भाष्यकृद्भ्यां विहितमिति शक्यते सङ्गतियुक्तमेवेति प्रवक्तुम् । यतो हि लोकप्रसिद्धः सावित्रार्थप्रकाशनपक्षस्तु भाष्यकृद्भ्यां कृतया पूर्वप्रतिज्ञयैव लोके विद्वद्भिः सामान्यतया समवगम्यत एवेति विचार्य ताभ्यामुपेक्षितः स्यादिति मामकीनं चेतो भाषते ।

अथापि, शुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहिताया 34/55 मन्त्रे राष्ट्रशरीरस्य सप्ताङ्गस्य निरूपणक्रमे प्रोच्यते–"यद् ऋषय इव, क्रान्तदृष्टियुक्तानि सप्ताङ्गानि तत्तदङ्गरूपेण राष्ट्रशरीरे संरक्षितानिसन्ति । प्रमादरहितानि तान्यङ्गानि समेषां विशां निवासेन सदोरूपं राष्ट्रं रक्षन्ति । स्वराष्ट्रस्य रक्षणभरणभारं स्वपतः (अर्थात् सु+अपतः=शोभनेन कर्मणा) निर्वाह्य परस्परोपकारद्वारा, लोकैः सङ्गता अभूवन्, शुभेन कर्मणा, स्वकर्मणा वा स्वर्गादिलोकान् प्रापुः । अथवा प्रयत्नप्रथितैर्निरन्तरैः स्वकर्मभिः लौकिकान् कामान् पूरयन्ति । एवंभूतेऽस्मिन् राष्ट्रशरीरे निद्रालस्यादिदोषरहितौ सन्तौ निरन्तरं जागरणशीलौ राजामात्यौ राष्ट्रसेवा सत्रे दान-मानादिना सप्ताङ्गेषूत्कृष्टौ स्तः । तावेतौ राजामात्यौ समुत्कृष्टेन स्वतेजोबलेन च सिद्धिं प्राप्नुतः" इति । इतः प्रथमे वा. सं. 34/54 मन्त्रेऽपि सनातनराजकर्तव्यपालनशीलस्य, राष्ट्ररक्षणकर्मणि सुस्नातस्य राज्ञो राजकर्मप्रकृतिमनुसृत्य प्राचीनकालादेव प्रयुक्ता इमाः स्तुतिरूपा वाचो घृतस्य धारा अग्नेरिव स्वभावेनैव सन्तृप्तिकराः सन्तिति मन्त्रवर्णैरेवोपदिश्यते । एतेन च सप्ताङ्गेषु मूर्धवत्पूज्यत्वं श्रेष्ठत्वं वा समुपदिश्यते । तच्च "मूर्धासिराड्"-(वा. सां. 14/21) इति मन्त्रवर्णैराम्नायते । इतः पूर्वमपि राज्ञः, राजस्य, सप्तपुरुषस्य, राष्ट्रपतेश्च वैदिकाः प्रसङ्गाश्चतत्र तत्रोपन्यस्ता एव । यैः संहत्य वैदिकः सप्ताङ्गराज्यसिद्धान्तः आसृष्टेर्वरीवर्ति । स च विश्वस्मिन् प्रचलितानां प्रजातान्त्रिक,-संसदीय-राष्ट्रपति-राष्ट्रध्यक्षादिमूलकानां, राजतन्त्र-वैधानिकराजतंत्रादीनामपि गुरुभूतो 'ग्रेट बृटेन,'-'बेलायत्त'-'यू. के'. इति पर्यायैः सुनिरूपितो देशो यदा लोके सङ्गठित एव नासीत् ततः पूर्वमेव तपःस्वाध्यायसाधनैरस्मत्पूर्वजैर्मन्वादिभिः पूर्वजैरपि श्रुतिस्मृतिपुराणादिभ्यः समवगत अद्य यावत्स्वपरम्परां संञ्जीवयन् प्रवर्तते ।

तदेवमुपरितनैरनेकैः प्रपञ्चितैः प्रसङ्गैरिदं निर्गलितं यद्दे राज्यव्यवस्था, राज्यस्य सप्ताङ्गानि, राज्यम्, राजा, राष्ट्रपतिः, अमात्यश्चेत्यनेके विषयास्तत्र तत्र समुपदिष्टाः सन्ति । सप्ताङ्गराज्यसिङ्गान्तो वैदिकः, विश्वस्मिन् राष्ट्रपतिशब्दस्य प्रथमः प्रयोगो वेदे लभ्यते । तच्च क्वचित्सुस्पष्टं, क्वचिदव्यक्तं, क्वचिच्च व्यक्ताव्यक्तं, कुत्रचन तु लौकिक-निदर्शनमिव रूपक-प्रतीक-सङ्केतादिरूपेणापि समुल्लिखितं वर्तते । मन्त्रब्राह्मणत्मकेषु ऋग्यजुःसामाथर्ववेदेषु यत्र मन्त्रैः कश्चिदर्थः सङ्केत्यते, तत्र ब्राह्मणेन तद्विशदीक्रियते । क्वचन च ऋचां सङ्केतो यजुषा, क्वचिद्यजुषा सङ्केतितार्थ ऋचा, साम्नाथर्वणेन वेति परस्परं समायोज्य च निरूप्यते । बहुषु स्थलेषु मन्त्रैश्चोदितोऽर्थो ब्राह्मणैः सुतरां प्रपश्चितश्च दृश्यत इति वेदानामेकवाक्यता चात्र विषये वर्तत इत्यत्र नास्ति शेमुषीमतां विदुषां परोक्षम् ॥ इति शम् ॥

सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय एकता

डॉ. देवाशरण श्रीवास्तव

समसामयिक भारतीय संदर्भ में सामाजिक न्याय की अवधारणा तथा उससे जुड़े प्रश्न एक बार पुनः उभरकर सामने आये हैं। रांष्ट्रीय एकता के सम्मुख उपस्थित वर्तमान चुनौतियों ने अनेक समाजशास्त्रीय प्रश्न खड़े कर दिये हैं जिनका समाधान आज की सामाजिक परिस्थितियों के तार्किक व तथ्यपूर्ण विश्लेषण तथा समीक्षा द्वारा ही संभव हो सकता है। सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता, वैधानिक व मानवीय अधिकार जैसे व्यापक विषय इनसे जुड़े हैं। इन विषयों का समाजशास्त्रीय विवेचन व व्यावहारिक उपादेयता की समझ ही वर्तमान समस्याओं के समाधान की दिशा प्रदान कर सकती है।

सामाजिक न्याय की अवधारणाः

सामाजिक विचारकों के लिये न्याय की अवधारणा नवीन नहीं है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने न्यायपूर्ण समाज के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की थी। तब से आज तक विभिन्न विचारकों और समाज वैज्ञानिकों ने न्याय के सिद्धान्त और न्याय पर आधारित समाज की स्थापना पर अपने दृष्टिकोण व समीक्षायें प्रस्तुत की हैं। पिछले लगभग दो हजार वर्षों के वैचारिक मंथन के उपरान्त भी न्याय और न्याय प्रधान समाज की परिकल्पना स्पष्ट नहीं हो सकी है।[1] सैद्धान्तिक स्तर पर देखने से यह पता चलता है कि यद्यपि न्याय की अवधारणा तो प्राचीन है, परन्तु सामाजिक न्याय का विचार अपेक्षाकृत नवीन है। पिछले लगभग 200 वर्षों में विश्व स्तर पर हुये कतिपय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों ने सामाजिक न्याय के विचार को अधिक प्रखर बना दिया है। स्वयं समाज विज्ञानों में इस अवधि में जो महत्वपूर्ण प्रगति हुई है, उससे इस अवधारणा को स्पष्ट करने व इसके विभिन्न आयामों को दर्शाने में योगदान मिला है। साथ ही, वर्तमान विश्व इतिहास में प्रजातांत्रिक और मानवीय मूल्यों का विभिन्न राष्ट्रीय संदर्भो में न केवल आविर्भाव हुआ बल्कि उनकी यथार्थ स्थापना के प्रयास भी हुये हैं। सामाजिक न्याय इन मूल्यों का अविभाज्य अंग रहा है। प्रजातन्त्र के साथ-साथ कल्याणकारी राज्य की अवधारणा व उसकी स्थापना से भी सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को बल मिला। आज अधिकतर राज्य अपने सम्मुख कल्याणकारी राज्य का आदर्श रखते हैं व सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने को इसका एक आवश्यक अंग मानते हैं। कल्याणकारी राज्य में सभी वर्गों व समूहों को सामाजिक न्याय उपलब्ध करवाना राज्य के आवश्यक व मूल कर्तव्यों का एक सकारात्मक पक्ष माना जाता है। इसके सिवा,

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् प्रारम्भ हुई त्वरित औद्योगीकरण की प्रक्रिया व बढ़ते उद्योगवाद ने कुछ ऐसी नवीन आर्थिक परिस्थितियों व समीकरणों का सृजन किया जिसमें सामाजिक न्याय का सिद्धान्त एक महती आवश्यकता बन गया। आर्थिक परिवर्तनों और प्रगति के साथ बढ़ती आर्थिक विषमताओं तथा उससे उत्पन्न सामाजिक तनाव व संघर्षों ने राष्ट्रीय नेताओं एवं समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों को एक बार पुनः सामाजिक न्याय के विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये बाध्य किया। यह अनुभव किया जाने लगा कि सामांजिक न्याय के अभाव में न केवल आर्थिक प्रगति निरर्थक है, बल्कि वह ऐसे सामाजिक तनावों व संघर्षों को उत्पन्न कर सकती है जो समाज के विघटन में सहायक हों और राष्ट्रीय एकता की जड़ों को हिला सकते हैं। विशेष रूप से नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों में यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया (भले ही विलम्ब से) कि आर्थिक प्रगति आवश्यक है, परन्तु सामाजिक न्याय के प्रश्न को भी अधिक समय तक टाला नहीं जा सकता। यही कारण है कि भारत जैसे विकासशील देशों में "सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास" का नारा उनकी राष्ट्रीय चेतना, नीतियों व कार्यक्रमों का आधार बनाया गया।

सामाजिक न्याय क्या है ?

जैसा कि ऊपर कहा गया है वर्तमान समाजों में सामाजिक न्याय की आवश्यकता लगभग निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठापित हो चुकी है। आश्चर्य की बात है कि उसके अर्थ के विषय में विवाद पाया जाता है। इसका कोई स्थायी व सर्वमान्य अर्थ नहीं निकल सका है, हालांकि अधिकतर समाजों में सामाजिक संरचना के नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक मूल्य के रूप में इसे प्रतिपादित किया जाता है। वैसे सामाजिक न्याय का सम्बन्ध एक सुविचारित समाज व्यवस्था से है जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा सामूहिक और समतावादी दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी जाती है। सम्पूर्ण समाज की संरचना, कार्यप्रणाली, व परिस्थितियों के प्रभाव का मूल्यांकन न्याय के आदर्शों के आधार पर किया जाता है। समाज के विभिन्न व्यक्तियों, वर्गों और समूहों की आवश्यकता अनुभव की जाती है जिसमें समाज में उपलब्ध साधनों में व्याप्त विभिन्न निर्योग्यताओं और बोझ का भी वहन सभी को करना पड़े। इस दृष्टि से समाज में व्याप्त किसी भी प्रकार के शोषण, असमानता और वंचना को सामाजिक अन्याय का लक्षण माना जाता है। अतः सामाजिक न्याय वास्तव में समाज के सदस्यों के पारस्परिक संबंधों व उनकी क्रियाओं के कतिपय परिणामों की ओर संकेत करता है। संबंधों की इस व्यवस्था और मानवीय क्रियाओं को एक विशेष दिशा में ले जाने की प्रक्रिया को ही सामाजिक न्याय का नाम दिया जाता है। यह ऐसी दिशा है जिसमें समाज में समानता को एक सामान्य नियम व आदर्श बनाया जाता है तथा किसी भी प्रकार की असमानता या भेदभाव के लिये उचित व न्याय-संगत आधार होना आवश्यक होता है। प्रत्येक व्यक्ति और समूह को उसके हिस्से का लाभ मिलना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, समाज के साधनों का इस प्रकार वितरण हो कि किसी एक वर्ग को अधिकाधिक लाभ एवं अन्य वर्गों को केवल बोझ ही प्राप्त न हो। सामाजिक संरचना और

सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रदत्त असमानताओं को दूर करना सामाजिक न्याय का आदर्श माना जाता है।

विवाद और प्रश्नः

सामाजिक न्याय के अर्थ के निर्धारण को लेकर सामान्यतः जो विवाद उत्पन्न होते हैं वे इसके सैद्धान्तिक आधार से सम्बन्धित है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सामाजिक न्याय के तीन प्रमुख आधार बताये जाते हैं।[2] प्रथम, परम्पवादी सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक न्याय का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों व समूहों को परम्परागत रूप से जो अधिकार व सुविधायें प्राप्त कर रहे हैं, उनका आदर करना व उन्हें बनाये रखना ही सामाजिक न्याय है। इस प्रकार की व्यवस्था को यथास्थिति वादी भी कह सकते हैं। परम्परागत सुविधासम्पन्न वर्ग अपने अधिकारों व सुविधाओं को बनाये रखने को ही न्याय संगत मानता है और उससे वंचित किये जाने के प्रयास उनके साथ अन्याय माने जाते हैं। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को अनेक तर्कों के आधार पर उचित व न्याय संगत ठहराने का प्रयास भी किया जाता है। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था को श्रम विभाजन और सुचारु सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर उचित एवं आवश्यक सिद्ध किये जाने के प्रयास सामाजिक एवं बौद्धिक स्तरों पर होते रहे हैं। जिन जातियों को परम्परागत रूप से, जाति व्यवस्था के आधार पर, विशेष सुविधायें व अधिकार प्राप्त रहे हैं, उन्हें उनसे वंचित किये जाने के प्रयासों में सामाजिक अन्याय से लक्षण दिखाई देते हैं। इसे सामाजिक न्याय की यथा स्थितिवादी अवधारणा कह सकते हैं। इसके विपरीत सामाजिक न्याय का द्वितीय सैद्धान्तिक आधार जो इसके विपरीत है, वैयक्तिक गुणों, योग्यताओं और क्षमताओं को सामाजिक साधनों और लाभों के वितरण का मापदंड मानता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने का समान अवसर प्रदान किये जाने का इसमें विशेष महत्व है। परन्तु अवसरों की समानता प्रदान करने से पूर्व समानता का अवसर दिया जाना आवश्यक है। व्यावहारिक धरातल पर इसका अर्थ यह है कि किसी विशिष्ट वर्ग या समूह के साथ अनुचित भेदभाव न हो। अर्थात् केवल जाति, वर्ग, लिंग, धर्म इत्यादि के आधार पर ही सामाजिक सुविधायें व लाभों के वितरण में भेदभाव न किया जाये। किसी जाति, वर्ग या समूह विशेष पर अनुचित सामाजिक दबाव या बोझ नहीं होना चाहिये। सामाजिक न्याय का यह आदर्श समाज के विभिन्न वर्गों के तुलनात्मक विकास से संबंधित है। एक वर्ग या समूह की तुलना में दूसरा वर्ग कितना सम्पन्न या विपन्न है, यही सामाजिक न्याय की स्थिति का बोध कराता है। वंचित व शोषित वर्गों को विशेष सुविधायें व अवसर प्रदान करना न्याय संगत माना जाता है, क्योंकि इसी तरह उन्हें तुलनात्मक रूप से संपन्न वर्ग के समकक्ष लाया जा सकता है। प्रतिगामी भेदभाव (Reverse Discrimination) की नीतियों का आधार यही विचार है कि वंचितों को विशेष सुविधायें और अवसर प्रदान कर उस स्तर तक लाया जा सके जहाँ तक वे पहुँच पाते, यदि कि वे वंचित न होते। वर्तमान भारत में आरक्षण की नीति के पीछे यही मुख्य सिद्धान्त निहित है। सामाजिक न्याय का तृतीय सिद्धान्त "आवश्यकता का है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग को उसकी आवश्यकताओं

अथवा जरूरतों के अनुसार सामाजिक साधन उपलब्ध कराये जाने चाहिये। इसमें योग्यता अथवा क्षमता का तत्व गौण हो जाता है। कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना में भी यह निहित है कि राज्य समाज़ के जरूरतमंद व्यक्तियों और समूहों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करे, भले ही वे उस "योग्य" हों या न हों। यह स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय के ये तीनों आधार परस्पर विरोधाभास लिये हुये हैं। परम्परागत विशेषाधिकारों और सुविधाओं को बनाये रखने के सामाजिक न्याय का यथास्थितिवादी दृष्टिकोण परिवर्तनवादी योग्यता और क्षमताओं पर आधारित दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता। दूसरी ओर आवश्यकता के आधार पर सुविधाओं और साधनों के वितरण का दृष्टिकोण भी उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों के विपरीत है। यथार्थ समाज में तनाव और संघर्ष की स्थिति प्रायः ही सामाजिक न्याय के इन परस्पर विरोधी आधारों एवं दृष्टिकोणों से उत्पन्न होती है। इस प्रकार परम्परागत अधिकार, योग्यता व समान अवसर, तथा आवश्यकता के सिद्धान्तों को लेकर विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। सामाजिक संदर्भ और परिस्थितियों के अनुसार इनमें से किसी एक या अन्य दृष्टिकोण को प्राथमिकता मिलती रहती है। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि आदिम या जनजातीय समाजों में अधिकतर "आवश्यकता" को सामाजिक न्याय का आधार माना जाता रहा है, जबकि श्रेणीबद्ध सामंतवादी समाजों में परम्परागत सुविधाओं और अधिकारों को बनाये रखना ही सामाजिक न्याय का आधार समझा जाता था। वर्तमान औद्योगिक समाजों में योग्यताओं, क्षमताओं और निपुणताओं पर आधारित वितरण को सामाजिक न्याय का आवश्यक तत्व माना जाता है।

सामाजिक न्याय का उद्‌भवः

जैसा कि पहले उल्लेख किया ज़ा चुका है, न्याय की अवधारणा अति प्राचीन होते हुये भी सामाजिक न्याय की अवधारणा, पिछले लगभग 200 वर्षों में ही मुखरित हुई है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि सामाजिक न्याय का सिद्धान्त राष्ट्रीय और राष्ट्रीय नागरिकता के सिद्धान्तों के साथ ही विकसित हुआ है। वास्तव में राष्ट्रीय नागरिकता और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रियाओं के आवश्यक और अविभाज्य अंग के रूप में सामाजिक न्याय के आदर्श का भी उद्‌भव और विकास हुआ है।[3] सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय नागरिकता के पारस्परिक संबंध तथा उनके ऐतिहासिक विकास का अत्यन्त विशद व व्यवस्थित विवेचन प्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक मार्शल[4] ने किया है। जो यहाँ उल्लेखनीय है। मार्शल के अनुसार पिछले 200 वर्षों में आधुनिक (पूँजीवादी) समाजों में दो प्रकार के प्रभाव महत्वपूर्ण रहे हैं। प्रथम, ऐसे वर्गगत विभाजन, जो समाज में मूलभूत असमानताओं के प्रमुख श्रोत बने, और द्वितीय, राष्ट्रीय नागरिकता की अवधारणा, जिसके अन्तर्गत राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को एक नागरिक के रूप में विविध अधिकार प्राप्त हुये। इन्हीं अधिकारों के माध्यम से सामाजिक न्याय के आदर्श की क्रियान्विति किसी राष्ट्र में होती है। इनकी व्याख्या करते हुये मार्शल ने तीन प्रकार के अधिकारों का उल्लेख किया है जो नागरिकों को सामाजिक न्याय के आदर्श के समीप ले जाते हैं। प्रथम, नागरिक अधिकार, जिनके अन्तर्गत मुख्य रूप से वैधानिक

अधिकार सम्मिलित है जो प्रत्येक व्यक्ति को एक राष्ट्र के नागरिक होने के नाते स्वत: प्राप्त हो जाते हैं। अन्य अधिकारों के अलावा इसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता, विचार, विश्वास तथा बोलने का अधिकार, संपत्ति रखने का अधिकार, कानून के सम्मुख बराबरी तथा इसी प्रकार के अन्य अधिकार सम्मिलित हैं। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार कुछ इस प्रकार के हैं। द्वितीय वर्ग में राजनीतिक अधिकार सम्मिलित हैं, जिनमें प्रत्येक नागरिक को चुनाव में भाग लेने व मतदान करने तथा राजनीतिक सत्ता व सार्वजनिक पदों में भागीदारी प्राप्त करने का अधिकार आता है। तृतीय वर्ग में सामाजिक अधिकार, जिनमें प्रत्येक नागरिक को न्यूनतम सामाजिक-आर्थिक स्तर उपलब्ध कराने, आर्थिक विकास और कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, तथा राष्ट्र और समाज की विरासत में भागीदारी के अधिकार सम्मिलित हैं। भारतीय संविधान में दिये गये मौलिक अधिकार व राज्य के नीति निर्देशक तत्व इसी के अनुरूप कहे जा सकते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकार के अधिकारों की पूर्ति सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने में सहायक होती है। इन अधिकारों के क्रियान्वयन के लिये तीन प्रकार की संस्थायें भी पाई जाती है। न्यायालय, जिनके द्वारा नागरिक अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित की जाती है, विशेष रूप से समाजके कमजोर व शोषित वर्गों व व्यक्तियों के अधिकारों के हनन को रोकने का उत्तरदायित्व न्यायिक संस्थाओं का हो जाता है। दूसरी, राजनैतिक संस्थायें जैसे संसद और स्थानीय प्रतिनिधि संस्थायें जिनके माध्यम से राष्ट्र के नागरिक सत्ता में अपनी भागीदारी प्राप्त करते हैं व उनकी आवाज मुखरित होती है। तीसरे, सामाजिक-आर्थिक नियोजन और विकास की नीतियों का निर्माण कर समाज के विभिन्न वर्गों के आर्थिक सामाजिक कल्याण, कार्यक्रमों का संचालन करते हैं।

मार्शल के अनुसार इन तीनों प्रकार के अधिकारों का उद्भव और विकास असमान रूप से पिछले 200 वर्षों में ही हुआ हैं। प्राचीन सामन्तवादी समाज में किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं थे। उस समाज में केवल परम्परागत सुविधासम्पन्न वर्गों व व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा ही सामाजिक न्याय माना जाता था। परन्तु पिछले 200 वर्षों में और विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी में उपर्युक्त तीनों अधिकार समन्वित रूप से स्थापित एवं मान्य हुये। ऐसा विशेष रूप से कल्याणकारी राज्य के प्रादुर्भाव से ही हुआ क्योंकि इस प्रकार के राज्य का प्रमुख दायित्व राष्ट्र के सभी नागरिकों का कल्याण व उन्हें सामाजिक न्याय उपलब्ध कराना बन गया। विस्तृत रूप में यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी में नागरिक और कानूनी अधिकारों को मान्यता प्राप्त हुई जिसके अन्तर्गत विचार, विश्वास, व्यवसाय, आवागमन इत्यादि की स्वतंत्रता तथा कानून के सम्मुख बराबरी जैसे अधिकार प्राप्त हुये। इसके पश्चात् उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक अधिकार (वयस्क मताधिकार इत्यादि) स्थापित होने लगे। इसकी स्वाभाविक परिणति सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति में हुई जिसमें सामाजिक कल्याण, समानता और सामाजिक न्याय के अधिकार प्रमुख हैं। सामाजिक अधिकारों की स्थापना राष्ट्रीय जीवन में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी क्योंकि इनके द्वारा समाज में व्याप्त असमानता, शोषण और अन्याय को दूर करने में सहायता मिली।

जैसे-जैसे विभिन्न देश औपनिवेशिक चंगुल से मुक्त होते गये, उनमें सामाजिक अधिकारों और न्याय प्राप्त करने की मांग दृढ़ होती गयी। वास्तव में नव स्वतंत्र देशों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का अविभाज्य तत्व सामाजिक अधिकार एवं न्याय बन गया। इस आदर्श को पूरा किये बिना कोई भी राष्ट्र समग्र रूप से विकास पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। यद्यपि सामाजिक असमानताओं को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जा सकता परन्तु सामाजिक अधिकार एवं न्याय के द्वारा इन्हें कम करके इनके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले तनावों को अवश्य कम किया जा सकता है।

भारतीय संदर्भः

परम्परागत भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संस्तरण और पदानुक्रम व्यवस्था प्रचलित रही है। विभिन्न जातीय समूहों के पारस्परिक संबंध, अधिकार और निर्योग्यतायें जाति आधारित नियमों एवं विचारों से संचालित होते रहे।[5] इसके सिवा व्यक्ति के स्थान पर समूह जैसे परिवार, जाति, ग्राम इत्यादि को प्राथमिकता दी जाती रही। इस प्रकार, कुछ अपवादों को छोड़कर, भारतीय समाज में सामाजिक असमानता ही एक सामान्य नियम के रूप में बनी रही। कुछ अन्य देशों की तुलना में भारत में सामाजिक न्याय और समता जैसे मूल्य काफी पहले ही प्रतिष्ठापित हो चुके थे। इसका प्रमुख श्रेय हमारे स्वतंत्रता के लिये किये गये राष्ट्रीय आन्दोलन को जाता है। महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने वैविध्य से परिपूर्ण इस देश को एक संगठित राष्ट्र के रूप में परिणत करने के लिये स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से ही सभी वर्गों को आन्दोलन में भाग लेने के लिये प्रेरित किया। यह केवल स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये किया गया राजनीतिक आन्दोलन ही नहीं था, बल्कि न्याय और समानता जैसे आदर्शो पर आधारित एक नवीन समाज की स्थापना का आमंत्रण भी था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत का जो नया संविधान बना उसमें इन आदर्शों का उल्लेख तथा स्वतंत्रता आन्दोलन के समय किये गये वायदों को पूरा करानें की इच्छा की झलक भी देखने को मिलती है। राष्ट्रीय नेता और संविधांन निर्माता इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि वैविध्यता वाले इस देश को एक राष्ट्र में तभी बांधा जा सकता है जब समाज के सभी वर्ग, जाति, धर्म क्षेत्र, भाषा इत्यादि से संबंधित व्यक्तियों को समान अधिकार, न्याय और विकास के लाभ प्राप्त हो सकें। इसी कारण भारतीय संविधान में भारतीय और पश्चिमी समाजों के उत्कृष्ट मूल्यों का समावेश देखने को मिलता है। यदि इन मूल्यों द्वारा बताये गये दिशानिर्देशों का ईमानदारी से पालन किया जाता तो भारतीय समाज का आज कुछ दूसरा ही चित्र होता। परन्तु सामाजिक अन्याय, आर्थिक असमानता और शोषण के रहते समाज के इन विभिन्न वर्गों से राष्ट्र निर्माण में योगदान और राष्ट्रीय एकता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। भारत की सामाजिक और ऐतिहासिक यथार्थता को ध्यान में रखते हुये ही संविधान में सदियों से व्याप्त अन्याय और असमानता को दूर करने के लक्ष्य निर्धारित किये गये। संविधान की प्रस्तावना में ही सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्रदान करके प्रत्येक नागरिक को आत्म सम्मान से जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त किया गया। केवल इसी मार्ग पर चलकर ही राष्ट्र को एकता

के सूत्र में जोड़ा जा सकता था। संविधान की प्रस्तावना, नीतिनिर्देशक सिद्धान्त, और मौलिक अधिकार वे आदर्श व दिशायें हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुये राष्ट्रीय विकास की यात्रा प्रारम्भ की गई। यह विश्लेषण का विषय है कि विकास के क्रम में ऐसी कौनसी विसंगतियाँ या बाधायें उपस्थित हुयीं जिनकी परिणति आज के सामाजिक तनाव तथा संघर्ष में देखी जा सकती है।

यह एक विरोधाभास परन्तु तथ्य है कि वर्तमान समय में बहुत से तनावों और लोभ की जड़ कुछ मूल्यों के टकराव और विकास की विकृतता में निहित है। समानता का सिद्धान्त किसी न किसी धरातल पर सामाजिक न्याय के सिद्धान्त से टकराता है, यद्यपि सतही तौर पर वे दोनों एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। सामाजिक न्याय सामूहिकता पर बल देता है, अर्थात् समूह के आधार पर न्याय व समानता का मूल्यांकन किया जाता है। जबकि समानता के सिद्धान्त में प्रत्येक व्यक्ति को "व्यक्ति" के रूप में समान अवसर और अधिकार देने की बात उठती है। आरक्षण के प्रश्न पर जो समर्थक और विरोधी तर्क दिये जाते हैं, उनमें से एक प्रमुख यही है कि क्या आरक्षण का आधार सम्पूर्ण जाति या वर्ग हो अथवा व्यक्ति की अपनी वैयक्तिक या पारिवारिक स्थिति। इसी प्रकार धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की महती आवश्यकता हमारे देश में अनुभव की जाती है, परन्तु इसकी स्पष्ट व्याख्या का अभाव तथा विभिन्न संदर्भो में इसके सुविधानुसार उपयोग के कारण विभिन्न समुदाय और राजनीतिक दल इसे अपने सामुदायिक उद्देश्यों और क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति के लिये करने लगते हैं। परिणाम स्वरूप हमारे देश में बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक जैसी अवधारणायें उत्पन्न हुई है जिनके विभाजन को पाटना दिनों-दिन कठिन होता जा रहा है। जहां बहुसंख्यक समुदाय के लिये धर्मनिरपेक्षता "तुष्टीकरण" मात्र है वहाँ अल्पसंख्यक समुदाय इसे अपने विशेषाधिकारों की सुरक्षा और उन्हें बनाये रखने की गारंटी के रूप में उपयोग करता है। दोनों ही प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय एकता में बाधक होती हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में जिन आधुनिक मूल्यों (जिनमें अधिकतर पश्चिमी देशों से लिये गये थे जहाँ उनका विकास विभिन्न संदर्भों में विभिन्न गति से हुआ था) का समावेश किया गया था वे भारत के परम्परागत मूल्यों और जाति, धर्म, क्षेत्रीय विविधता इत्यादि पर आधारित समाज व्यवस्था से मेल नहीं खाते थे।

यूरोपीय देशों में न्याय और समानता जैसे मूल्य वहाँ पर्याप्त आर्थिक विकास हो जाने तथा एक निश्चित आर्थिक आधार निर्मित हो जाने के पश्चात स्थापित हुये। हमारे देश में सामाजिक न्याय और समानता की अवधारणा स्वतंत्रता के पूर्व ही सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गई थी। जैसा कि कहा जा चुका है, राष्ट्रीय आन्दोलन में इन आदर्शों को समाविष्ट किया गया था। इसके सिवा 19 वीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुये अनेक सामाजिक आन्दोलनों और सुधार कार्यक्रमों ने भी इन मूल्यों को भारतीय समाज में स्थापित करने में योगदान दिया। ब्रिटिश कालीन कतिपय वैधानिक प्रावधानों और नीतियों ने भी इस दिशा में योगदान किया। स्वतंत्रता के पश्चात् संवैधानिक प्रावधानों और प्रजातांत्रीकरण की प्रक्रिया से इन मूल्यों को अत्यधिक बल मिला। परन्तु जहाँ एक ओर इन नवीन मूल्यों का परम्परागत मूल्य और समाज व्यवस्था से टकराव प्रारंभ हुआ,

वहीं दूसरी ओर आदर्श और यथार्थ के बीच इतनी चौड़ी खाई रही कि अधिकतर परिस्थितियों में ये मूल्य मात्र दिवास्वप्न बनकर रह गये।

इस संदर्भ में हमें आर्थिक विकास की प्रक्रिया और उसकी कुछ विसंगतियों का विश्लेषण करना आवश्यक है। क्योंकि उपर्युक्त मूल्यों और आदर्शों (सामाजिक न्याय, समानता इत्यादि) को व्यवहार में लागू करने के लिये एक पर्याप्त और सुदृढ़ आर्थिक विकास के कारण अनेक समस्यायें उत्पन्न हुई हैं। जब आर्थिक अवसर और साधन सीमित होते हैं तब समाज का प्रत्येक वर्ग अधिकाधिक सुविधायें और अवसर हथियानें का प्रयास करता है जिनसे तनाव उत्पन्न होते हैं। सीमित अवसरों के कारण ही आरक्षण एक प्रमुख गंभीर प्रश्न बन गया है। केवल जातिगत आरक्षण ही नहीं, बल्कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही अनेक प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व क्षेत्रीय आन्दोलन होते रहे हैं, जिनके पीछे राष्ट्रीय विकास योजनाओं और उनके लाभों को प्राप्त करने अथवा उनसे वंचित रह जाने की आशंका प्रमुख रही। अलग राज्यों की मांग, धर्म, भाषा, जाति, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर सुविधाओं और अधिकारों की माँग और आन्दोलनों के पीछे यही भय एवं आशंका पाई जाती है। असंतुलित आर्थिक विकास और कुछ क्षेत्रों या वर्गों द्वारा विकास के लाभों के हथिया लेने से इन आशंकाओं में और वृद्धि हुई। ऐसा नहीं है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने कोई प्रगति नहीं की। वास्तव में कुछ क्षेत्रों में हमारी सफलतायें अत्यन्त उल्लेखनीय है। शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है, और कृषि और औद्योगिक उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। परन्तु सामाजिक न्याय की दिशा में अभी काफी कुछ किया जाना शेष है।[6] जब तक इस दिशा में पर्याप्त प्रगति नहीं हो जाती तब तक आर्थिक विकास, राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीय एकता मृग-मारीचिका मात्र बनकर रह जायेंगे।

◆

---

1. बेरी, नार्मन, **एन इन्ट्रोडक्शन टू मार्डन पोलीटिकल थ्यौरी**, लंदनः मैकमिलन प्रेस, 1981, पृष्ठ-110.
2. मिलर, डेविड, **सोशल जस्टिस**, **आक्सफोर्डः** क्लेरेग्न प्रेस, 1976, पृष्ठ-27.
3. बेंडिक्स, राइनहार्ड, **नेशन-बिल्डिंग एण्ड सिटिजनशिप**, नई दिल्ली वाइली ईस्टर्न, 1969, पृष्ठ 74-75.
4. मार्शल, टी. एच., **क्लास, सिटिजनशिप एण्ड सोशल डेवलपमेंट**, न्यूयार्क, : डबलेड एण्ड कम्पनी, 1964, पृष्ठ 71-72.
5. कर्वे, इरावती **हिन्दू समाज और जाति व्यवस्था**, नई दिल्ली : ओरिएण्ट लॉगमैन, 1975 (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ 16-50.
6. दुबे, श्यामाचरण, "रिफ्लेक्शन्स ऑन रूरल ट्रॉसफारमेशन : द इंडियन कॉटेक्स्ट", सिल्वर जुबली व्याख्यान, समाजशास्त्र विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, 1989, पृष्ठ 10-14.

राजनीतिशास्त्र और श्रेयशास्त्र

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

(क) श्रेयों का तात्विक विवेचन

श्रेय का अन्वेषण मानव के सांस्कृतिक विकास और नैतिक अभ्युत्थान का महान् मन्त्र रहा है। कठोपनिषद् में बताया है कि श्रेय और प्रेय के बीच विवेचन करना आवश्यक है। धीर आत्मतत्ववेत्ता श्रेयानुसंधान करता है। प्रमादयुक्त, योगसोममन्द मानव श्रेय की ओर अग्रसर होता है।[1] मानव जीवन की सफलता सामयिक आकस्मिक भोगों के तोंषण में नहीं है। किन्तु विचारपूर्ण किसी व्यापक आदर्श को प्राप्त करने में ही अपनी शक्तियों का उपयोग करना यही ज्ञानान्वेषी नैतिक मानव का आदर्श हो सकता है। आदर्श ही श्रेय है। जिस मार्ग से आत्मिक और सामाजिक कल्याण की समन्वयात्मिका प्राप्ति हो सके वही श्रेय का मार्ग है। श्रेयों की उत्पत्ति कहाँ से होती है यह एक अत्यन्त गहन प्रश्न है। मुख्यतः अब तक यही विचार प्रचलित रहा है कि श्रेयों की उत्पत्ति धार्मिक चेतना में होती है। धर्मशास्त्रों से ही श्रेय का बोध हो सकता है। कार्याकार्य की स्थिति में शास्त्र विधानोक्त मार्ग का पालन ही भगवद्गीता में श्रेयस्कर प्रतिपादित किया गया है। यहूदी धर्मशास्त्र या ईसाइयों के बायविल में जो धार्मिक और नैतिक नियम प्रतिपादित किये गये हैं उनके आधार पर ही पश्चिम में मानववाद, अधिकारवाद, प्रजातंत्र, साम्यवाद आदि महान् आदर्शों की रचना हुई है। सत्पुरुषों के द्वारा अनुमोदित मार्ग का सेवन महाभारत और मनुस्मृति में विहित है और इसीलिये मनु ने बृद्धोपसेवन को संगत और कल्याणकारी कहा है। आज की विश्रृंखलता को देखते हुये प्राचीन और मध्यकालीन मार्ग की ओर प्रत्यावर्तन की आवाज उठाई गई है। कुछ लोग वैदिक कर्मयोग, कुछ वेदान्तोक्त अभय, कुछ लोग टामस अक्वायनास तथा फ्लौरिस के त्राण के लिये आवश्यक मानते हैं। किन्तु धर्मशास्त्र की दुहाई या सदाचार का सार्वकालिकत्व और सार्वभौमत्व, या ईसाई संतों का मार्ग, धर्मावलम्बियों के लिये मान्य होते हुये भी अन्यों के लिये इष्ट नहीं हो सकते हैं। कन्फ्यूसियस, बुद्ध, ईसा, पतंजलि, व्यास, कृष्ण आदि के नामोद्धरण से ही आधुनिक दुनियाँ नहीं समझाई जा सकती है। आज का मुख्य प्रश्न है कि क्या प्रजातंत्र, समाजवाद, अधिकारवाद, सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता आदि आदर्शों के लिये कोई ठोस दृढ़ दार्शनिक भित्ति स्थापित की जा सकती है, या ये मूलतः कार्यान्वयन की प्रणालियाँ हैं जिनका मुख्य आधार है उनकी व्यावहारिकता।

अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान की सर्वविध उन्नति से मापात्मकता, भौतिकवादिता, यांत्रिकता आदि पर बल दिया गया। यूरोपीय पुनरुत्थान के समय से ही ज्ञानात्मक मानव के असीम नैतिक और कलात्मक कर्तृत्ववाद के प्रतिपादन की जो परम्परा चली थी वह कम हो गई। मानव के बदले में सृष्टि, ज्ञान का विषय बन गई। जैसे जैसे मापात्मकवाद की वृद्धि हुई वैसे-वैसे गुणात्मक आवर्तों से विशिष्ट मानव का विचार मन्द होता गया। गुणात्मक विषयों का भी मापात्मक वर्णन प्रारम्भ हुआ और इस प्रवृत्ति की चरमकाष्ठा हम आज उन विचारधाराओं में देखते हैं जो समस्त मानव को अणु-परमाणु या इलेक्टन-प्रोटन का संगठन और संघात मानकर पूर्णतः उसकी गणनात्मक और मापात्मक व्याख्या करती हैं। मध्ययुग में धर्मशास्त्रों और ईश्वरवाद की प्रधानता थी। भारत में शंकर, रामानुज, मध्व, कबीर आदि तथा यूरोप में संत फ्रांसिस, संत डोमिनिक, अक्वायनास आदि के ग्रन्थों और उपदेशों में ईश्वर को ही ज्ञान का विषय बताया गया और ईश्वरानुसंधान ही मानव का प्रकृष्ट पुरुषार्थ माना गया। यूरोपीय पुनरुत्थान ने ईश्वरवाद के स्थान पर मानववाद और भौतिक-विज्ञान को प्रतिष्ठित किया। अट्ठारहवीं, उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकतावाद के विकास से मानववाद दब गया। रूसो और काण्ट ने मानववाद की दुहाई दी थी। किन्तु पीछे चलकर मानव के स्थान पर अतिमानव, या एक अज्ञात समष्टि को बैठाया गया जिसका भयंकर रूप जर्मन और इटालियन अधिनायकवाद में व्यक्त हुआ जिसमें मानव को तिरस्करणीय और नेता के संकल्प का वाहनमात्र माना गया। वैज्ञानिक पद्धति शुष्क है और मानव हृदय की रागात्मकता की अभिव्यंजना के लिये इसमें स्थान नहीं है।[2] यों कह सकते हैं कि मानव हृदय की वृत्तियाँ इसका क्षेत्र नहीं है। किन्तु यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अतिशय वैज्ञानिकता, यांत्रिकता आदि की प्रतिक्रिया में श्रेयशास्त्र पर फिर ध्यान दिया जाने लगा। श्रेयविज्ञान बहुत प्राचीन है तथापि इस युग की समस्याओं को देखते हुये पुनरपि इसका अनुशीलन आवश्यक है।[3] यह भी देखना है कि राजनीतिक श्रेय क्या हैं, किस प्रकार उनकी उत्पत्ति होती है और किस प्रकार वे क्रियान्वित हो सकते हैं।

श्रेयों को पूर्णतः मनोवैज्ञानिक मानने का प्रस्ताव कुछ विचारकों ने रखा है।[4] इनके अनुसार मानव भावना ही श्रेयों का आधार है। किन्तु मनुष्य की प्रवृत्तियों और संकल्पों को ही श्रेयों का मूल मानना समाज और मानवता की दृष्टि से ठीक नहीं है। प्रवृत्तियाँ सतत परिवर्तनशील हैं और श्रेयों को प्रवृत्तिनिष्ठ मानने पर मानव चेतना या सामाजिक चेतना, कहीं भी उनका निश्चित आश्रय बताना कठिन हो जायगा। श्रेय की प्राप्ति भी संभव है जब किसी विशिष्ट आदर्श का बहुत समय तक अनुवर्तन किया जाय। उदाहरणार्थ, सत्य–सत्य की प्राप्ति धार्मिक साधना, सामाजिक शास्त्र और भौतिक विज्ञान, इन सबों का लक्ष्य है। यदि सत्य को एक सार्वकालिक आदर्श न मानकर व्यक्तिसापेक्ष या प्रवृत्तिसापेक्ष माना जाय तो दीर्घकालीन अध्ययवसाय इसके अनुसंधान में संभव नहीं होगा। क्या विज्ञान और राज् को केवल प्रवृत्तिसंश्रित मानने से काम चलेगा ? मनुष्य के क्रियात्मक और भावनात्मक जीवन से प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं किन्तु क्षणस्थायी आकस्मिक

प्रवृत्तियों को संगठित सामाजिक व्यवस्था का आधार नहीं माना जा सकता। सदियों के मानव इतिहास के क्रम में श्रेयों की उत्पत्ति हुई है और उनका समर्थन हुआ है। सत्य, अहिंसा, करुणा, मानव की नैतिकता आदि महान् विचार क्षणिक प्रवृत्तियों पर आश्रित नहीं है। मानव संस्कृति के विकास का रहस्य इनमें छिपा हुआ है। प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष में इन्होंने मानव समाज को अविश्रृंखलित रखा है। अतः अभिरुचि को ही श्रेयों का स्रोत मानना जैसा पेरी और एहरेन्फ़ेल्स ने किया है, मैं सामाजिक हित के लिये घातक मानता हूँ।[5] वासनात्मक बुद्धि से निमंत्रित अभिरुचि मानव जीवन में तार्किकता और सामान्य हित के बदले स्वेच्छाचारिता को प्रतिष्ठित कर देगी। श्रेय कार्य करने की ओर प्रेरित करता है और श्रेय की संस्थिति इस बात को सिद्ध करती है कि उसके समक्ष वस्तुओं और उनके संगठन की एक दुनियां वर्तमान है क्योंकि जागतिक वस्तुओं और अन्य मनुष्यों के सन्निकर्ष में ही श्रेयों का प्रकटन हो सकता है। वस्तुतः जिसको मानव अपनी प्रवृत्ति या अभिरुचि से उत्पन्न मानता है वह श्रेय मानव इतिहास में व्याप्त संगठन, निर्वाचन प्रक्रिया, प्रतियोगिता तथा धार्मिक शिक्षकों के अनुभव और प्रचार से प्रकाशित हुआ है। मानव की स्वाभाविक समूहशीलता के कारण, इतिहास की परम्परा द्वारा उद्घोषित मानवसमाज के कल्याण प्रसाधक श्रेय, मानव के मस्तिष्क में अन्तश्चेतनीकृत हो उसकी अभिरुचियों के रूप में प्रकटित होते हैं। मानव, बहुत दूर तक सामाजिक शक्तियों और वृत्तियों के घातप्रतिघात का एक विलक्षण एकीकरण और विशेषीकरण है। उसकी अभिरुचियाँ और प्रवृत्तियाँ मूलतः नवीन और तद्विलक्षण नहीं है। सामाजिक और ऐतिहासिक सर्वसामान्य वृत्तियाँ केवल एक विलक्षण माध्यम से प्रकाशित होती है। अतः व्यक्ति का उत्कर्ष इसी में है कि उसकी वर्तमान देशकाल कार्यकारणोपाधि विशिष्ट रूप में पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। अतः दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव के नैतिक और आध्यात्मिक महत्व को स्वीकार करते हुये उसके अधिकारों का पोषक है। मानव के नैतिक और आध्यात्मिक महत्व का प्रकाशन इसी में है कि वह विराट् आदर्शों की प्राप्ति में कर्मयोगमय जीवन यापन करे न कि आकस्मिक अभिरुचियों और कृत्रिम वृत्तियों को ही जीवन का श्रेय समझे। श्रेय की साधना हमारे केवलमात्र प्राणात्मक प्रवर्तन और अविवेकपूर्णता की कदापि सूचिका नहीं है। मानव अन्तरात्मा में व्याप्त महत्ता, विराट् साध्यशीलता, सर्वकल्याणकामिता में ही श्रेय की उत्पत्ति होती है।

श्रेय का लक्ष्य है किसी विशिष्ट साध्य की प्राप्ति या यों कहें कि श्रेय स्वयं ही लक्ष्य है। मानव के अनेक व्यापारों का निश्चित ही कुछ प्राप्तव्य साध्य रहता है। अपनी अभिरुचियों, इच्छाओं और प्रवृत्तियों से वह उन साध्यों को क्रियान्वित करना चाहता है। प्रारम्भिक अवस्था में ये साध्य सामाजिक वातावरण के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। मानव या तो कोई पद या धन चाहता है या अपना परिवार बनाना चाहता है। सामाजिक वातावरण ही उसे इन वस्तुओं की प्राप्ति करा सकता है। इनकी प्राप्ति के निमित्त जो व्यापार किये जाते हैं उनसे ही श्रेयों की अभिव्यक्ति होती है। अतः श्रेय हमारे व्यापारों को गतिमान और हमारी वृत्तियों को चेतन करते हैं। श्रेयों की प्राप्ति में हमारी

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील रहना होता है। श्रेय निश्चित ही साध्य है, साधन नहीं। अन्य सभी व्यापार और सभी क्रियायें इसी की प्राप्ति में पर्यवसान प्राप्त करती हैं। साध्य साधन नियम से संक्रान्त समस्त वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध में श्रेय का प्रकाशन होता है। साधन, साध्य के द्वारा नियंत्रित होता है। साध्य को ध्यान में रखकर ही उपादानों और साधनों का निर्वाचन होता है। पहले कुछ साधनों को काम ले लाया जाता है, यदि वे विफल हो जाते हैं तब अन्य साधन व्यवहार में लाये जाते हैं। प्रवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ, जीवनसंघर्ष में, उतनी ही दूर तक टिक पाती हैं, जहाँ तक प्राकृतिक और सांसारिक वातावरण के घातप्रतिघात में वे हमारी सहायता करती हैं। अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ और नानाविध अभिरुचियाँ मानव हृदय और मस्तिष्क में उपस्थित होती हैं किन्तु कालक्रम में वे विलीन हो जाती हैं। जिनसे जीवन धारण संभव होता है वे टिकती है और शनैः शनैः ऐसी प्रवृत्तियों का एक संगठन और संध्वनि बनती है और उसी से हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रवृत्तियों और अभिरुचियों का उदय आकस्मिक और निराधार नहीं होता है। जगत् में जो सतत शक्तिप्रवाह और शक्तिसंचलन हो रहा है उसमें वैयक्तिक मानव के स्वतंत्र अवस्थान को बनाये रखने के लिये ही प्रवृत्तियाँ उद्भूत होती हैं। मानव एक जीवनधारी प्राणी है और प्राकृतिक शक्तियों के साथ प्रचण्ड संघर्ष करके भी "आत्मानं सततं रक्षेत्" की नीति का वह समर्थन करना चाहता है। जीवनधारण, जैविकीय मौलिक सत्य है। कृमिकीटों से लेकर उच्चतम मानव के भीतर यह भावना वर्तमान है। श्रेयों का महत्व इसी में है कि इस जैविकीय आवश्यकता को वे ज्ञानात्मक रूप प्रदान करते हैं। जो जीवन संघर्ष सर्वत्र चल रहा है, मानव उसका ज्ञान प्राप्त करता है और इस संघर्ष में विजयरूपी श्रेय की सिद्धि के लिये अनेक सांस्कृतिक उपकरणों का उपयोग करता है। मानव सभ्यता का इतिहास उन उद्योगों का इतिहास है जो मानवतनधारियों ने जीवन संघर्ष के निमित्त किये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह संघर्ष अनेकवार अनैतिक तथा अचेतन वृत्तियों से परिव्याप्त रहा है और इस धराधाम पर अनेक संघर्ष और कुकृत्य ऐसे हुये हैं जो मानव की नराधमता के द्योतक हैं। किन्तु कुकृत्यों, हत्याओं, हाहाकारों के बावजूद भी मानव संस्कृति टिकी हुई है, यह प्रमाणित करता है कि आंशिक रूप से ही सही, श्रेय की संसिद्धि हो रही है या यों कहे कि मानव संस्कृति श्रेयों का परिवहन कर रही है। केवल अभिरुचियों में श्रेयों की उत्पत्ति मानना संस्कृति और धर्म के उस व्यापक देन की उपेक्षा करना है जो इन्होंने मानव के सामाजिक उत्थान के लिये दिये हैं। बौद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म तथा संसार के अन्य धर्मों ने मानव वृत्तियों को सुसंस्कृत, समूहीकृत और नैतिक बनाने में अवश्य ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। एशिया की अनेक बर्बर जातियों की बौद्धभिक्षुओं ने अपने जान की जोखिम उठाकर नैतिक रक्षा की थी। यूरोप की बर्बर ट्यूटन, स्लाम, आदि जातियों को ईसाई धर्म ने दीक्षित किया और उन्हें श्रेय का महत्व बताया है। अतः केवल मानव प्रवृत्तियों और अभिरुचियों को श्रेय का स्रोत मानना या श्रेयों को केवल प्राणसंवर्तन का प्रकाशन मानना मानव संस्कृति और मानव के धार्मिक इतिहास

की उपेक्षा करना है। श्रेयों के अभिरक्षण में मानव समाज का इतिहास छिपा हुआ है। श्रेयों के तुलनात्मक अध्ययन से सामाजिक और धार्मिक उत्थान का स्तर और रहस्य मालूम पड़ता है।

मानव व्यक्तित्व के संगठन में हमने श्रेयों का महत्व स्वीकार किया है। किसी वस्तु के प्रति रागात्मक अभिरुचि प्रकट करना, एक संकल्पात्मक कार्य है। अनेक संकल्पों और तत्पूरक क्रियाओं के संस्कार से ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वस्तुओं को श्रेयान् या अश्रेयस्कर मानकर हम अपने व्यक्तित्व का परिचय और अभिज्ञापन करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व वस्तुओं के द्वारा प्रभावित और वस्तुयें उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होती हैं। चार हजार वर्ष पहले जो दुनियां का स्वरूप था, वह आज से भिन्न था। जहाँ पहले घने जंगल थे वहाँ अब लहलहाते हुये नगर बसे हैं। यांत्रिक साधनों का आश्रय लेकर नदियों और पहाड़ों और घाटियों के रूप को मानव ने बदल डाला है। श्रेय की प्राप्ति में, मानव ने बर्बरता के स्थान पर सभ्यता को जन्म दिया और फिर सभ्यता की उत्पत्ति ने उसके श्रेय निर्वाचन का एक नया क्षेत्र प्रस्तुत किया। श्रेयात्मक दृष्टि से वस्तुओं का निर्वाचन और उनकी प्राप्ति का प्रयत्न ही मानव इतिहास का स्वरूप है। जीवन संघर्ष में आवश्यक आदर्श ही श्रेय का रूप धारण करते हैं। किन्तु इससे श्रेयों को निरा वैयक्तिक मानना ठीक नहीं होगा। निश्चित ही, कार्य विशेष और अवसरविशेष पर श्रेयों का प्रकाशन होता है किन्तु इस प्रकार श्रेयों का अनुभवात्मक आधार होने पर भी उसके निरा वैयक्तिक अवस्थान मानने से मानव संस्कृति खतरे में पड़ जायगी। मानव की अपरिमार्जित स्वेच्छाचारिता में श्रेयों का बीज नहीं है। अवसर विशेष पर श्रेयों का प्रकाशन होता है तथापि इन क्षणों में इनकी नूतन उत्पत्ति नहीं हो रही है। इन क्षणों में इनका प्रकासन मात्र होता है। मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य रचनात्मक कार्यों से श्रेयों का ज्ञापन होता है। इतिहास की धारा के प्रवाह में निरन्तर श्रेयों का क्रियात्मक रूप प्रकटित होता है। कभी दासप्रथा को श्रेयस्कर सिद्ध करने का प्रयास मिलता है तो कभी सर्वमानव समानतावाद का उद्घोषण प्राप्त होता है। कभी दूसरे कबीले के आदमी को मारने में कोई पाप नहीं समझा जाता तो कभी "सर्वे भवन्तु सुखिनः" का उपदेश स्मरण करते हुये मानव दूसरे की रक्षा के लिये अपना जीवन भी बलिदान कर देता है। अतः केवल वैयक्तिक तथा मनोवैज्ञानिक स्रोत श्रेय का नहीं माना जा सकता। इसका एक वस्तुनिष्ठ स्वरूप भी है।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह स्थापना है कि श्रेय न तो मानव अभिरुचिजनित है और न केवल सांसारिक संघर्षों से ही उसकी उत्पत्ति होती है। जीवन की समग्रता की जिससे संसिद्धि हो तथा मानव कल्याण जिससे परिपुष्ट हो वही श्रेय है। साधारण स्तर के श्रेय अनेक समाजों और अनेक श्रेणियों के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, श्रमिक संघों तथा वणिक्संघों का श्रेय भिन्न-भिन्न होगा। किन्तु जब मानवकल्याण को ध्यान में रखकर व्यापक आदर्शों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न होता है तभी मानव प्रयत्नों की कृतार्थता होती है। मानव के नैतिक और ज्ञानात्मक विकास का यही लक्षण है कि वह निरन्तर अनासक्त कर्मयोग का पालन करे। जिन आवश्यक श्रेयों का समर्थन वह अविकसित अवस्था में केवल सामाजिक भय के कारण करता था उन्हें सर्वसामान्य

कर्तव्य का रूप मानना श्रेयात्मक अभ्युदय का माार्ग है। सर्वसामान्य की परमार्थ भावना जब मानवसंकल्पों को संचालित करती है तभी श्रेय की परमसिद्धि होती है। किन्तु इस प्रकार की उदात्त भावना का विराट् दिव्यरूप मानव चेतना को संचालित करे, इसके लिये कर्मयोग का पालन आवश्यक है। संतत मनन और चिंतन से समग्रदर्शिनी प्रज्ञा का उदय होता है। क्षुद्रता, स्वार्थपरता, पाशवद्धता, सीमितता आदि से ऊपर उठकर जब मानव, समष्टि की भावना और सर्वभूत की कल्पना से ओतप्रोत होता है तब निसर्गतः उसके आचरण से कल्याण और हित का प्रसवन होता है। तब उसकी क्रियायें न तो वैयक्तिक अभिरुचि से उद्भूत होती हैं और न अपनी वैयक्तिक सत्ता के निमित्त वह संघर्ष करता है। वह समष्टि के कल्याण में निरत होता है। जीवनधारण का तात्पर्य इस प्रकार की प्रज्ञा का दर्शन ही है। इस प्रज्ञा के क्रियान्वयन में जो बिघ्नबाधायें उपस्थित होती हैं उनका वह अनासक्त होकर प्रतिरोध करता है। संसार के कल्याणसाधक मनुष्यों का जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि श्रेय सत्य हैं। नचिकेता की ज्ञानाभीप्सा शंकर का ज्ञान प्रचार और कपिलवस्तु के कुमार का समस्त जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि श्रेय वास्तविक है। मानव कल्याण की पोषिका सामाजिक संस्थायें भी आंशिक रूप में श्रेय का अनुवर्तन करती हैं। ज्ञानात्मक विकास से सद् और असद् का विवेचन करना, व्यवसायात्मिका बुद्धि का विकास करना और वासनात्मक वृत्तियों के संशोधन का उद्यम करना ही श्रेय का मार्ग है। अनेक तत्वचिंतकों और विशिष्ट मानवों ने इस प्रकार की संसिद्धि की है। यह संसिद्धि श्रेय की सत्ता का बोधक है। श्रेय केवल मानव बुद्धि और कल्पना के विकासमात्र नहीं हैं, उनकी स्वयं सत्ता है और उनकी तात्विक सत्ता का प्रमाण उनके, विशिष्ट साधनों के प्रयोग से, अवश्यंसाध्यत्व में है। यदि कुछ निश्चित साधनों का उपयोग करके कोई व्यक्ति आत्मलाभ और सामान्यहित का साक्षात्कार कर सकता है तो, अन्य मानव भी कर सकते हैं। सब मनुष्यों के लिये साधनगम्य होना ही श्रेयों की तात्विकता का सूचक है। काल्पनिकता और भावनात्मकता ही यदि श्रेयों की उत्पत्ति का केन्द्र होती तो किसी भी प्रकार से उनकी सर्वसामान्य प्राप्तव्यता नहीं स्थापित हो सकती थी। सभ्यता और संस्कृति के विकास का यही तात्पर्य है कि जो सन्मार्ग किसी एक मानव के लिये कल्याण का साधन बन सकता है उसे अन्य लोगों के लिये भी सुलभ बनाया जाय। वैज्ञानिक उन्नति का यही मार्ग है कि उदाहरणतः यदि किसी एक बड़े औषध से एक रोग को हटाना आसान है तो यांत्रिक साधनों से अधिक से अधिक मात्रा में उस औषध को प्रस्तुत कर उसे जनसुलभ बनाया जाय। उसी प्रकार यदि नैतिक और ज्ञानात्मक कल्याण का कोई मार्ग मानव समाज को श्रेयपथ का अनुसरण करानेवाला है तो कोई कारण नहीं कि उसका व्यापक प्रयोग क्यों नहीं किया जाय।

यूनान में जब आध्यात्मिक और राजनीतिक श्रेयों को कल्पनाप्रसूत तथा अनुबन्ध प्रसूत माना गया तब प्लेटो ने 'शिव प्रत्यय" का दर्शन उपस्थित कर श्रेयों की वस्तुनिष्ठता या स्वयंसंस्थिति का समर्थन किया।[6] अरस्तू के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक अनुगत संप्रयोजन का क्रियान्वयन, निमित्त और उपादान कारणों से होता है।[7] परमशिव का प्रत्यय या अनुगत संप्रयोजनतावाद, श्रेयों को

अतिशय महत्वपूर्ण सिद्ध करता है। मानव जीवन की कृतार्थता भोगवाद में नहीं है किन्तु राजनीतिक कर्मयोग और विचिन्तनात्मक जीवन में है। यद्यपि भौतिक शास्त्रों की उन्नति ने प्लेटो और अरस्तू के भौतिक प्रक्रिया सम्बन्धी विचारों को जिसे उन्होंने, "टायमियान" और "फीजिक्स" नामक ग्रंथ में क्रमशः व्यक्त किया है, असंगत बताया है तथापि मानव जीवन और सामाजिक राजनीतिक जीवन को शीलवान् बनाने का जो उन्होंने सन्देश दिया है वह अभी भी ठीक है। शील का परित्याग करने से राजकीय जीवन का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। शील का मतलब है ज्ञानात्मक और नैतिक अभ्युदय। व्यापक शील की परिसाधना मानव सामूहिक जीवन को व्यवस्थित और संगठित बनाती है। केवल जिस किसी प्रकार जीना मानव का उद्देश्य नहीं अपितु तर्कसंगत नैतिकता का अवबोध ही उसका लक्ष्य है।[8] आधुनिक विज्ञान के उदय के कारण यूनानी दर्शन प्रोक्त श्रेयों की वस्तुनिष्ठता का तिरस्कार होने लगा। विज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अन्तर्हित प्रयोजनतावाद का खंडन हुआ तथा यांत्रिकता का पोषण। विज्ञान के उदय के कारण ऐसा प्रस्ताव सामने आया कि सौन्दर्य, सत्य आदि गुण मानव भावनाओं पर आश्रित हैं, वे वस्तुओं के धर्म नहीं हैं। अग्नि का उष्णत्व या जल का शीतलत्व उनके अन्तर्हित गुण हैं। किन्तु परीक्षणाश्रित विज्ञान की दृष्टि में वस्तुओं का श्रेय कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। आधुनिक विज्ञान की इस प्रवर्तना के विरोध में काण्ट ने प्रतिक्रिया की। उसके अनुसार यद्यपि विशुद्ध बुद्धि के आधार पर श्रेयों को सिद्ध नहीं किया जा सकता तथापि व्यावहारिक बुद्धि के क्षेत्र में नैतिक आदर्शों का प्रकृष्ट महत्व है। काण्ट ने नैतिक आदर्शों को सार्वजनीन रूप देने की चेष्टा की। व्यावहारिक बुद्धि का यह तकाजा है कि श्रेयों को स्थापित कर मनुष्य की नैतिकता की अभिव्यंजना की जाय। इसी नैतिकता की घोषणा कर काण्ट ने विशुद्ध संकल्प और मानवतावाद का समर्थन किया।

श्रेयों का स्रोत मूलतः मानव की वैयक्तिक अभिरुचि या प्रवृत्ति में नहीं है। श्रेय केवल संघर्षों से उत्पन्न भी नहीं है। उदाहरणतः सत्य। किसी भी मानव संघर्ष से पूर्ण सत्य की भावना का उदय नहीं हो सकता। सत्य की कल्पना व्यवसायात्मिका बुद्धि और विराट् नैतिक भावना से उदय होती है। जगत् के व्यापार को देखते हुये, मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि ने सत्य का सिद्धान्त घोषित किया। यह सत्य, समग्र का दर्शन कराता है। मानव जीवन की सफलता के लिये या प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष करने के लिये जो व्यावहारिक नियम प्रक्रियात्मक रूप से निर्मित होते हैं, सत्य वैसा नियम नहीं है। आंशिक रूप से मानव व्यवहारों द्वारा व्यक्त होते हुये भी, विशुद्ध बुद्धि की आदर्शवादिता का ही यह परिणाम है। जब ज्ञान और साधना के सहारे मनुष्य संकल्पशुद्धि प्राप्त करता है, जब प्रज्ञास्थित होती है, निष्काम त्रिगुणातीतत्व का जब वह अनुमान करता है तब व्यापक आदर्शों का उसे बोध होता है। इस प्रकार आदर्शों की उद्भावना का सिद्धान्त श्रेयों के वैयक्तिकता–प्रजनितत्ववाद का खंडन करता है। वैयक्तिक प्रवृत्ति या सद्यः समुत्थित अभिरुचि में सत्य का उद्भव नहीं होता है। अनेक देशों में, प्रायः सब काल में, जैसे विचारक और महात्मा उत्पन्न होते हैं, जो सत्य का महत्व प्रकाशन करते हैं। अपनी बुद्धि से वे बताते हैं कि असत्य सार्वकालिक

सार्वभौम आदर्श नहीं हो सकता क्योंकि इसके व्यवहार से सार्वत्रिक अशान्ति छा जायगी तथा अव्यवस्था का साम्राज्य हो जायगा। केवल सामाजिक संघर्ष और सामंजस्य स्थापन की प्रक्रिया में श्रेयों की उत्पत्ति होती है, यह विचार इस दृष्टि से असंगत है कि महान् श्रेय संघर्ष में विजय प्रदान करने की दृष्टि से नहीं बने हैं। उदाहरणार्थ, बलिदान या अहिंसा। जब एक कुत्ते की रक्षा करने के लिये एक बौद्धभिक्षु अपना जीवन बलिदान करता है तब क्या वह जीवनसंघर्ष में विजय प्राप्त करना चाहता है ? जब धर्म के प्रचार में संत पीतर या तेगबहादुर या लेखराम मृत्यु का आलिंगन करते हैं तब क्या वे जीवनसंघर्ष कर रहे हैं ? क्या भगतसिंह, लाजपतराय आदि अपने शहादत के द्वारा जीवनसंघर्ष कर रहे थे ? महान् आदर्शों को सिद्ध करना, जीवन संघर्ष और अधिकारवाद से मनुष्य को ऊपर ले जाता है। जब माता, पुत्र की रक्षा के लिये लोकोत्तर स्नेह से आविष्ट हो, अपने जीवन की भी आवश्यकता आने पर बलिदान कर देती है तब क्या वह जीवन संघर्ष करती है ? अतः श्रेयों को न तो अभिरुचिजनित, जैसा पेरी, मायनोंग, एहरेन्फेल्स आदि की स्थापना है और न जीवनसंघर्ष और सामंजस्य प्रजनित ही जैसा शीलर, डिवी, आदि की स्थापना है, हम मान सकते हैं। इन दो विचारधाराओं के विपरीत, श्रेयों को मानव व्यवसायात्मिका बुद्धि जो उच्चाशय मानवों में प्रायः सामान्यतः व्याप्त रहती है, से उत्पन्न मानना ही ठीक होगा।

श्रेय की स्थापना विशालता की संसिद्धि करने में होती है। इस प्रकार श्रेय का मार्ग वही है जो ज्ञान का मार्ग है। जब कोई बच्चा स्कूलों में इतिहास पढ़ता है तो अकबर, शिवाजी, क्लाइब आदि के बारे में कुछ बातों को जान लेता है। पीछे उसे अकबर, शिवाजी, क्लाइब भारतीय इतिहास की समष्टि के एक अंग मालूम पड़ते हैं। और अधिक ज्ञान के बढ़ने पर भारतीय इतिहास ही उसे विश्व इतिहास का एक अविभाज्य अंगभूत मालूम पड़ता है। पुनश्च, दार्शनिक दृष्टि के विकास होने पर वह इतिहास में प्रकाशित सर्वसामान्य नियमों का अवबोध करना चाहता है और इन नियमों की खोज करने के समय इतिहास, दर्शन और विज्ञान, अपनी अलग-अलग सत्ता छोड़कर एकाकार हो जाते हैं। इस प्रकार प्रथम महासमर का मूल खोजते-खोजते स्पेंगलर को विश्वधर्म दर्शन, कला, गणित, आदि की पूरी छानबीन करनी पड़ी और रोम के पतन को देखते हुये संत अगस्तन "दिव्यनगर" नामक महान् ग्रंथ लिख बैठा।[9] विज्ञान के क्षेत्र में यही बात होती है। आकर्षण शक्ति के महान् सिद्धान्त का बीज, अंगूर के फल को नीचे गिरते हुये देखकर न्यूटन के हृदय में प्रजनित कुतूहल में था। वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान का विश्लेषण बताता है कि किसी एक घटना या एक विषय को समझने के निमित्त उसे व्यापक नियम का एक उदाहरणमात्र बनाने के लिये ही शास्त्रीय ज्ञान का उद्‌भव और प्रयोजन संभव होता है। अब तक संसार के दार्शनिकों, तत्ववेत्ताओं, महात्माओं ने श्रेय की उद्‌भावना करने में महान् प्रयास किया है। अनेक कुरीतियों के आगमन के बावजूद भी धार्मिक आन्दोलनों का जन्म किसी व्यापक नैतिक नियम के समर्थन या प्रवर्तन के लिये होता है। व्यावहारिक क्षेत्र में मानव अज्ञानता और एषणा के प्रभाव के

कारण वह नैतिक नियम तथाकथित अनुयायी अपने आचरण में उसका अनुवर्तन न करें तथापि यह निर्विवाद है कि प्रत्येक धार्मिक और नैतिक आन्दोलन के पीछे कोई विराट् श्रेय अवश्य रहता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि और विराट् नैतिक चैतन्य के समन्वय से ही श्रेयों की उत्पत्ति होती है। श्रेयों को सर्वव्यापक मानना ही, मानव इतिहास में एक अभूतपूर्व उन्नति की घोषणा है। जिस दिन बुद्ध ने कहा कि वैर से वैर नहीं शांत होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है, यही सनातन धर्म है, उस दिन एक विशाल अगला कदम मानव विकास में उठाया गया। इस प्रकार का श्रेयोद्घोष न तो अभिरुचि प्रजनित था और न सामाजिक संघर्ष में सफलता निमित्तक। बुद्ध को बोधि में इसका ज्ञान हुआ था। बोधि का तात्पर्य है बौद्धिक केन्द्रीकरण। किन्तु विराट् श्रेयों का ही उद्भव इस प्रकार की व्यवसायात्मिका बुद्धि और स्थितप्रज्ञता में होता है। जब विराट् श्रेय इस प्रकार उद्घोषित होते हैं तब फिर उनसे तार्किक उपपत्ति के सहारे साधारण श्रेय निकलते हैं। इस प्रकार श्रेयों का दो विभाग करना होगा। (क) परम श्रेय या विराट् श्रेय (ख) पृथक् श्रेय या साधारण श्रेय। परम श्रेय का उदाहरण है सत्य, करुणा, स्वतंत्रता, समानता आदि। पृथक् श्रेय का उदाहरण है, भारत में अछूतपन को हटाना, या अमरीका में शराबखोरी को हटाना।

श्रेयों को वस्तुनिष्ठ या व्यवसायात्मिका बुद्धि प्रजनित मानना विरोधग्रस्त प्रस्ताव नहीं है। श्रेयों की वस्तुनिष्ठता से यह तात्पर्य नहीं है कि वे प्लेटो के प्रत्यय की भाँति किसी निराले लोक में विचरण करते हैं। दूसरी और वस्तुनिष्ठता से यह भी तात्पर्य नहीं है कि वे अव्यक्त निर्विशेष तथा लोकोत्तर हैं। भारत में वेदांत के अत्यधिक प्रभाव के कारण लोकोत्तरवाद का बड़ा जोर रहा है। और किसी भी विषय के वास्तविक परीक्षण से मुखमोड़ पर बात बात में ब्रह्मवाद की दुहाई देना एक बड़ी अच्छी कला हो गई है जिससे पार्थिव जगत् के विषय में अपने अज्ञान को छिपाया जा सके। व्यवसायात्मिका बुद्धि से मैं कोई लोकोत्तरवाद का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। व्यवसायात्मिका बुद्धि इस लोक में साध्य है और अनेक दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के पास वह है। मठाधीश और चर्चशाहों के पास व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं है। मेरी दृष्टि में, मार्क्स, डार्विन, फ्रायड, प्लांक आदि भी व्यवसायात्मिका बुद्धि सम्पन्न और स्थितप्रज्ञ थे। अनावश्यक प्राचीनतावाद का पोषण और लोकोत्तरवाद का ढकोसला हमें इष्ट नहीं है। बुद्धि को अत्यधिक परिमार्जित कर ही विशुद्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतिहास राजनीतिशास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि में सर्वत्र ज्ञान प्राप्ति की यही प्रक्रिया है कि हम बुद्धि के यथाशक्ति अतिशय प्रयोग से सत्य सिद्धान्त को प्राप्त करें तथा फिर अन्य विचारक उन सिद्धान्तों का खंडन-मंडन करें। इस प्रकार के संगठित आलोचन-प्रत्यालोचन से ही शास्त्रों और विज्ञानतत्वों का विकास हुआ है। श्रेयों की वस्तुनिष्ठता से हमारा तात्पर्य यह है कि श्रेय अपरिमार्जित वैयक्तिक मन और बुद्धि से नहीं उत्पन्न होते हैं। उनकी वस्तुनिष्ठता का यही लक्षण है कि अनेक सदियों और अनेक देशों में विभिन्न विचारक उदाहरणार्थ उपनिषद् के मुण्डक ऋषि, ईसा, अरस्तू, न्यूटन आदि सभी सत्य का महत्व स्वीकार करते हैं। अतः श्रेय वस्तुनिष्ठ इसी कारण हैं कि वैयक्तिक संकल्प से ऊपर विशिष्ट मानवों की बुद्धि में उनकी प्रवर्तनक्रिया हम देखते

हैं। ये विशिष्ट मानव श्रेय की घोषणा करते हैं। सामाजिक परम्परा और क्रिया में इनकी व्यवहारिकता सुरक्षित की जाती है। सामाजिक परम्परा और मानव इतिहास में इन श्रेयों को क्रियान्वित करने के प्रयास का इतिहांस छिपा है। वैज्ञानिकों का विचार द्वारा सत्य को प्राप्त करना तथा मानसिक, वाचिक और कार्मिक एकता के सहारे नीतिमान् का सत्य को प्राप्त करना, मानव इतिहास में व्याप्त समग्रता, पूर्णता को प्राप्त करने के महान् प्रयास को अभिव्यक्त करते हैं।[10]

(ख) सामाजिक शास्त्र और श्रेय

श्रेय को आदर्शात्मक मानकर पश्चिमी विचारकों ने श्रेय और वस्तु में व्यवधान की स्थापना की है।[11] अलब्रेख्ट रित्शल ने वस्तु सम्बन्धी निर्णय और श्रेय या अर्थ सम्बन्धी निर्णय के अन्तर को उपस्थित किया। रित्शल के अनुसार धर्मशास्त्रों के द्वारा वेदितव्य विषयों का सम्बन्ध श्रेय से है। किन्तु इससे उनकी प्रामाणिकता और निश्चयात्मकता में अन्तर नहीं होता। विन्डेलवाण्ड ने भी निर्णयकरण और श्रेयीकरण में पार्थक्य बताया। उसके अनुसार प्रत्येक निर्णयकरण या तो समर्थन करता है या खंडन, अतः प्रत्येक निर्णय सम्बन्धी प्रस्ताव में श्रेय का सन्निवेश रहता है। डिलथाई, विन्डेलवाण्ड, रिकर्ट, आदि ने सामाजिक और सांस्कृतिक शास्त्रों तथा दूसरी ओर प्राकृतिक शास्त्रों में अन्तर बताया। प्राकृतिक शास्त्र भावना निरपेक्ष होते हैं। श्रेय और अश्रेय का प्रश्न ही वहां नहीं रहता है। दूसरी ओर सामाजिक और सांस्कृतिक शास्त्रों में मानव जीवन के दर्शन की अभिव्यंजना होती है। मानव जीवन सम्बन्धी तत्वज्ञान श्रेयों के विभिन्न स्तर सम्बन्धी मीमांसा पर आश्रित है। माक्सबेवर ने श्रेयनिरपेक्ष समाजशास्त्र के निर्माण का प्रयास किया। वेबर के अनुसार समाजशास्त्रीय का यह कार्य नहीं है कि वह अपनी शास्त्रीय प्रख्याति का आश्रय लेकर लक्ष्यों और श्रेयों का प्रवर्तन और प्रचार करे। वेबर के विचार में शास्त्रीय चिंतन, प्रचारकार्य से भिन्न है। निरपेक्ष भाव से वस्तुओं का स्वरूपनिर्णय करना शास्त्र का कार्य है। जर्मनी के कुछ अध्यापक अपने सामाजिक सम्मान का फायदा उठाकर कुछ सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन कक्षाओं में करते थे। वेबर इसे असंगत मानता है। साध्यसाधन सूत्र के अनुसार अपेक्षित साध्यों की संसिद्धि में कौन से साधन उपयुक्त होंगे, उनका निर्णय करना और उनके खर्च का व्यौरा बताना ही उसके मत में सामाजिक शास्त्रों का कार्य है। दूसरी ओर, प्रचलित श्रेयों की मीमांसा करना वेबर को इष्ट था। इसी पद्धति का आश्रय लेकर यदि "अर्थव्यवस्था और समाज" नामक दो बड़े जिल्दों में संसार के महान् धर्मों का उसने समाजशास्त्रीय विश्लेषण उपस्थित किया।[12] वेबर इस प्रकार श्रेयतत्वों को सामाजिक विचिंतन का विषय बनना चाहता था किन्तु उसकी जैसी मान्यता थी कि समाजशास्त्री को स्वयं अपने श्रेयों का प्रवर्तन और प्रचार नहीं करना चाहिये अन्यथा विज्ञानोचित शास्त्रीय गाम्भीर्य और उच्चता को वह नहीं प्राप्त कर सकेगा। वेबर वैज्ञानिक व्याख्या पद्धति का अनुमोदन करने का पक्षपाती होते हुये भी सामाजिक शास्त्रों में तदाकारवृत्तिमूलक पद्धति का समर्थक था। अर्थात् किसी भी श्रेय की मीमांसा में प्रयोक्ता के साथ रागात्मक सम्बन्ध बनाये विना उसकी बातों को समझना कठिन है।[13]

किन्तु जिस श्रेयनिरपेक्ष अनुशीलन का समर्थन वेबर ने किया वह वास्तविकता में निरपेक्षता का समर्थन नहीं, कायरता का समर्थन है। जब कोई अध्यापक या शास्त्रान्वेष्टा निरपेक्षता का दावा भरता है तब वह दम्भ का प्रचार करता है। क्या वेबर के अनुयायी इतना साहस रखते हैं कि अमरीका में रुपया प्राप्त करते हुये 'निरपेक्ष होकर मार्क्सवाद का अनुशीलन करें ? सामाजिक और राजनीतिक प्रश्न इतने संजटिल हैं, उनके साथ भावनायें इतनी संश्रित हैं कि निरपेक्षता असंभव है। अधिकारवाद और सत्तावाद, स्वतंत्रता और परतंत्रता, आदि प्रश्नों के उपस्थित होने पर जिस किसी व्यकित का एक अपना व्यक्तित्व है वह अवश्य ही पक्ष ग्रहण करेगा। जब निरपेक्ष होकर मनुष्य अनुशीलन करता है तब वह अवश्य ही अपनी चुप्पी द्वारा प्रचलित श्रेयों का समर्थन करता है। कौरव-पाण्डव युद्ध के समय धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि को भीष्म और द्रोणाचार्य ने युद्ध करने से न रोककर, अपने मौन द्वारा कौरवों का पक्ष समर्थन ही किया। निरपेक्षता, इतने अर्थ में अवश्य ग्राह्य है कि अध्ययन और लेखन के समय हमारी भावनायें हमारे विचार को आक्रान्त न कर दे। आवश्यक है कि हिन्दुस्तान का इतिहास लिखते समय हम झूठी देशभक्ति में आकर यह न सिद्ध करने का प्रयास करें कि पानीपत की पहली लड़ाई में बाबर हार गया। अपनी भूलों तथा पराजयों को व्यक्त करनेवाली घटनाओं को इतिहास से हटाना आत्मघात करना है। यदि हमें अपने विरोधी देशों की आर्थिक शक्ति का विवेचन करना है तो आवश्यक है कि हम भावुकता को छोड़कर विचार करें। किन्तु निरपेक्षता का यह तात्पर्य नहीं है कि हम कहें कि राजनीतिशास्त्र या अन्य समाजशास्त्र के अध्यापक अपनी रचनाओं के द्वारा संदेशाभिज्ञापन न करें। इस प्रकार का मन्तव्य आज की सभ्यता और संस्कृति के लिये खतरे से पूर्ण है। विज्ञान अत्यन्त निरपेक्षता का दावा करते हुये भी सत्य को आदर्श मानता है। प्रामाणिकता और तर्कसंगतता की खोज में, सत्य ही विज्ञान के लिये परम श्रेय का रूप धारण करता है। पुनश्च, समस्त सामाजिक शास्त्रों की एकता कम से कम इस बात से प्रमाणित होती है वे सब स्वतंत्र नैतिक मानव की उत्तरदायित्वपूर्ण कार्मिकता का समर्थन करते हैं। इस प्रकार शास्त्रानुचिंतन में श्रेय अनुगत हैं। भारतीय संस्कृति में शास्त्र का प्रणयन इसीलिये होता है कि सत्य-असत्य, कर्माकर्मविकर्म, या श्रेयप्रेय आदि का सम्यक् बोध हो। निरपेक्षता, वस्तुनिष्ठता, विधेयात्मकता आदि के नाम पर सामाजिक शास्त्रों को नीति और श्रेय से अलग रखना हानिकर है। सामाजिक शास्त्रों की श्रेयनिरपेक्षता का प्रतिपादन बौद्धिक और आत्मिक दिवालियेपन का सूचक है।

अध्ययन करनेवाले मनुष्य को और शास्त्रप्रणेता को चाहिये कि वह भावनाग्रस्त हो ठोस विचार से अलग न टूट जाय। उदाहरणार्थ, स्वतंत्रता का समर्थक होते हुये भी अरस्तू, अत्याचारकारी शासनतंत्र (टिरैनी) का गहरा अध्ययन प्रस्तुत करता है। मार्क्स के कैपिटल ग्रंथ में अनेक स्थानों पर–जैसे जहाँ उसने मिल, बेंथम आदि का मखौल उड़ाया है–हमें यह अनुभव होता है कि शास्त्रीय मार्ग को छोड़कर मार्क्स एक जनप्रचारक का रूप धारण कर लेता है। प्रजातंत्र का जो वर्णन लेनिन के "राज्य और क्रान्ति" नामक ग्रंथ में मिलता है, उसे हम कह सकते हैं कि वह प्रचारक का कथन

है, शास्त्रदर्शी का नहीं ।[14] भावुकता हमें शास्त्रान्ध बनाती है और किसी प्रकार वह ग्राह्य नहीं हो सकती है । शास्त्रानुचिंतन के समय, हमें प्राचीनकालीन और अर्वाचीन, अपनी और दूसरी संस्कृति के, श्रेय के अध्ययन का अवसर पड़ सकता है ।[15] इस प्रकार का अध्ययन सामाजिक शास्त्रों में अभिवांछित है । उदाहरणार्थ मैडागास्कर, न्यूजीलैण्ड और प्रशान्तमहासागर द्वीपवासी आदिम मनुष्यों के पारिवारिक श्रेय का हम अध्ययन कर सकते हैं । प्राचीन फिलीस्तीनवासी यहूदियों के नैतिक श्रेय तथा आधुनिक ब्रिटिश समाज के नैतिक श्रेय क्या हैं, इसका भी तुलनात्मक अध्ययन करना, समाजशास्त्र का एक आवश्यक अंग है । इस प्रकार श्रेयों का अध्ययन अवश्य अभिवांछित है । किन्तु सामाजिक शास्त्रों की शास्त्रीयता और सैद्धान्तिकता की इसी में रक्षा है कि वे भावनाग्रस्तता और संकल्पाक्रान्तता के ऊपर उठकर ज्ञानप्राप्ति की एकान्त अभिलाषा से कार्य करें । लियोपौल्ड फौनभीज का यह प्रस्ताव कि समाजशास्त्र से श्रेयप्रतिपादक निर्णयवाक्यों को पूर्णतः निष्काषित करना चाहिये, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से असंगत है ।[16] वैयक्तिक अभिनति को हटाना चाहिये; उदहरणार्थ, अमरीका की प्रजातांत्रिकता किसी भी दृष्टि में अपूर्ण हो सकती है, किन्तु केवल उसका भद्दा खंडन करना, जैसा ऐंगल्स ने किया है अनभिवांछित है । किन्तु वैयक्तिक अभिनति और शास्त्रीय अनुचिंतन प्रजनित श्रेयप्रतिपादक वाक्य दोनों एक नहीं है । जो ग्रंथ वैयक्तिक अभिनति और रागद्वेष से प्रभावित हो लिखे जाते हैं, उनका "मदर इन्डिया" ग्रंथ के समान ही भाग्य होता है । दूसरी ओर मेगास्थनीज, इब्नबतूता, टैर्भानियर आदि के ऐतिहासिक यात्रा वर्णनों की आज भी कीमत है ।

शास्त्र का प्रणयन इसीलिये होता है कि मानव समाज के सुधार के साधनों का प्रकाशन किया जाय । साधनों का लेखाजोखा इसीलिये किया जाता है कि उनसे साध्य की सम्प्राप्ति हो । मानवता के जो महान् साध्य हैं—उदाहरणार्थ जनएकता या सांस्कृतिक सातत्य,—किस प्रकार बौद्धिक और तर्कसंगत साधनों से इनका परिरक्षण और संवर्धन किया जाय, इस व्यापक आदर्श को सामने रखना और उनके व्यवहारीकरण का मार्ग बताना, शास्त्रीय विवेचना का आधारभूत है । अमेरिका के समाजशास्त्रियों, डूवी, मेरियम, मीड, डनिंग, हाकिंग आदि ने इसी प्रकार विचिंतन के सहारे प्रजातान्त्रिक श्रेयों के क्रियान्वित करने का उपदेश किया है । अभी हाल में जो नीग्रो रंगभेदनीति का महान् विश्लेषण मियरडल ने अपने विशालकाय ग्रंथ "अमेरिकन डायलेमा" में प्रस्तुत किया है अथवा मैकिवरने "दी मोर पर्फेक्ट यूनियन" में उपस्थित किया है, उसमें एक व्यापक मानववादी श्रेय का दर्शन मिलता है ।[17] इस मानववादी श्रेय के क्रियान्वयन का मार्ग भी इन ग्रंथों में बताया गया है । सामाजिक शास्त्रों की समर्थता इसी में है कि नीति के जो विशालरूप धर्मग्रंथों और दर्शनग्रंथों में उपस्थित किये गये हैं उनके सामाजिक क्रियात्मक रूप प्रसतुत करने का वे मार्ग बतावें । काण्ट के नीतिशास्त्र में विशाल दार्शनिक आधारशिला पर यह महती कल्पना उपस्थित की गई कि मानव साधन नहीं साध्य है । इस आदर्श को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय इसे बताना राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र का काम है । आल्वियन स्माल, हावहाउस, हेज, लेस्टरवार्ड आदि समाजशास्त्रियों का

यही प्रस्ताव था कि तर्कसंगतता के आधार पर राजकीय व्यवस्था का आश्रय लेकर एक स्वस्थ, सबल समाज का निर्माण होना चाहिये ।[18] अतिप्राकृतिकवाद, कल्पनावाद और शास्त्रीयवाग्जाल के कारागार से नीतिशास्त्रों को हटाकर, समूह का किस प्रकार व्यापक उन्नयन हो सकता है तथा सामाजिक न्याय और आर्थिक कल्याण का किस प्रकार व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया जा सकता है इसे बताना समाजशास्त्र का कार्य है । कितनी दूर तक राजकीय व्यवस्था इस कार्य में सहायता प्रदान कर सकती है उसे बताना राजनीतिशास्त्र का कार्य है । दुर्खीम के मतानुसार व्यावहारिक या प्रायोगिक समाजशास्त्र का यह कार्य है कि सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय वह बतावे और समाजोचित लक्ष्यों का चुनाव करे । यह लक्ष्यनिर्वाचन शब्दविन्यासात्मक दार्शनिक तत्वज्ञान पर आश्रित न होकर इतिहास और अनुभव द्वारा प्रस्तुत सामग्री के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित होना चाहिये ।

केवल राजनीतिक व्यवहार और व्यापार का वर्णन करना ही राजनीतिशास्त्र का अभीष्ट नहीं है ।[19] राजनीतिक दर्शन का ही लक्ष्य है कि मानव, समाज और राज्य किस प्रकार विशिष्ट कल्याणकारी जीवन की सिद्धि कर सकते हैं, इसे बतावे । जीवन और शास्त्र में कृत्रिम व्यवधान ठीक नहीं है । राज्य को भी मानवजीवन के व्यापक लक्ष्यों से दूर नहीं हटाया जा सकता ।[20] राज्य की व्यवस्था जीवन को आनन्दपूर्ण बनाने के लिये ही है । अतः राजकीय नीति किस प्रकार नैतिक और कल्याणसंगत बन सकती है, इसे बताना राजनीतिशास्त्र का कर्तव्य है । केवल नौकरशाही और वेतनभोगी अफसरों के आधार पर जनकल्याणवादी राज्य नहीं चल सकता । मानव मशीन नहीं है । आवश्यकता है कि मानववाद का ध्यान रखते हुये व्यापक जनसमूह का सहयोग प्राप्त कर, किस प्रकार सुखी और कल्याणकारी समाज की स्थापना हो, इस कार्य में शास्त्रज्ञान सम्पन्न राजनीतिशास्त्रियों की सहायता प्राप्त की जाय । प्लेटो का यही कहना था कि विशुद्ध ज्ञान ही शासन का अधिकारी है । जब किसी विषय पर हम शास्त्रीय अध्ययन आरम्भ करते हैं, तब किसी न किसी प्रकार हमारे श्रेय अपना प्रभाव व्यक्त करते हैं । जब कोई विद्वान बौद्धधर्म और दर्शन का वर्षों अध्ययन करता है तब इस साधना को चलानेवाला कोई महान श्रेय अवश्य चाहिये । मैक्समूलर ने अपना सारा जीवन प्राचीन भारतीय आर्यों की संस्कृति के अनुशीलन में बिताया । इस प्रकार की साधना इसी कारण सफल हुई कि शास्त्र विचार ही उसका श्रेय था । अतः शास्त्रीय विषयों के निर्वाचन में कुछ महान् श्रेय अवश्य कार्य करते रहते हैं । संभव है कि निर्वाचन के समय वे विस्पष्ट न हों और कालक्रम में ही उनका स्पष्टरूप निखरित हो । सामाजिक शासत्रानुचिंतन की महत्ता इसी में है कि सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों के समाधान में निष्णात बुद्धि की क्या देन होनी चाहिये और किस प्रकार संसर्जनात्मिका नागरिकता का विकास हो सकता है, इसे हमारे सामने स्पष्ट करें ।

राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से नितान्त अलग रखने का प्रस्ताव जार्ज कैटलिन ने रखा है ।[21] राजनीतिशास्त्र को वह साधन या पद्धति का विज्ञान बनाना चाहता है और उसका कहना है कि श्रेयों के विषय में समझौता प्राप्त किये बिना भी पद्धति विज्ञान का जबर्दस्त विकास सम्भव है ।

केटलिन के अनुसार मूर्तिकला का शिक्षक, बलात्मिका अभिव्यक्ति के आदर्शों और तत्वों का ज्ञापन नहीं कराता। वह पद्धतियों का शिक्षक है और उपस्थित उपकरणों से क्या निर्मित हो सकता है और क्या नहीं, यह बताना उसका काम है। उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र वेत्ता भी राजनैतिक श्रेयों का विज्ञापन नहीं करता है। यूनानी राजनीतिशास्त्र की यही कमजोरी कैटलिन के मत में है, कि जननीतिशास्त्र के क्षेत्र और राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र का पार्थक्य उसमें नहीं मिलता है। पूर्ण राज्य के स्वरूप के नैतिक आधार और विशुद्ध और निर्वाच्य जीवनशैली के संबंध में विवेचन उपस्थित कर, यूनानी राजनीतिशास्त्र विचारक राजनीति को एक अनभिवांछित अभिनति प्रदान करते हैं। राजनीतिशास्त्र मानव के समूहात्मक अन्तस्सम्बन्धों का शास्त्र है। यह नीतिशास्त्र का विरोधी नहीं अपितु नीतिशास्त्र निरपेक्ष है और मानव को सन्मार्गानुयायी बनाना इसका तात्पर्य नहीं है। जिस प्रकार भेषजविद्या में नीतिनिरपेक्ष होकर मानवशरीर का अध्ययन और विवेचन किया जाता है उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र को नीतिनिरपेक्ष होकर अध्ययन करना चाहिये। आचारशास्त्र श्रेयसम्बन्धी निर्णयों का क्षेत्र है, और राजनीतिशास्त्र अनुभवात्मक साधनों का। आचारशास्त्र सिद्धान्तों का शास्त्र है, राजनीतिशास्त्र पद्धतियों और साधन का शास्त्र है। दोनों शास्त्रों को पृथक् रखने से दोनों का महत्वविज्ञापन होता है और स्पष्टता फैलती है।

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र को पृथक्-पृथक् रखने का प्रस्ताव कैटलिन ने रखा। जिस जमाने में कैटलिन ने अप्रयोजनमूलक राजनीतिशास्त्र का प्रस्ताव रखा था उस समय वह टामस हाब्स से प्रभावित था। उस काल में भी उसका विश्वास था कि नीतिशास्त्र और राजनीति विज्ञान के अन्तिम निष्कर्षों में तात्विक अन्तर नहीं रह सकता। आज जब कैटलिन ने "महात्मा गांधी के मार्ग में" नामक पुस्तक लिखी है तब आशा की जाती है वह अपने विचार को सायद परिवर्तित करेगा क्योंकि गांधी के पक्ष में तो राजनीति, आचारशास्त्र को क्रियान्वित करने का मार्ग बताती है।[22] मैं मानता हूँ कि रजनीतिशास्त्र को प्रयोजन या अन्तिम प्रस्तावों से पृथक् रखने का उपदेश शून्यवादी प्रस्ताव है। विभिन्न राजनीतिशास्त्रज्ञों के विचारों में तुलनात्मक अध्ययन के सहारे तारतम्य बताने के लिये, तथा उचित आदर्शों की प्राप्ति के लिये नीतिशास्त्र का अवलम्बन आवश्यक है। यदि आज मैकियावेली के उग्र शक्तिवाद या नीत्शे के उग्रमानव असमानतावाद का त्याग कर मानव एकता और शान्ति का हम प्रस्ताव रखते हैं तब निश्चित ही हम श्रेय का प्रतिपादन करते हैं। अन्य वर्ग श्रेयों का निर्वाचन करें और राजनीतिशास्त्र या तो केवल उनके क्रियान्वित करने का साधन बतावे या मानव के राजनीतिक व्यपारों का नीति निरपेक्ष अनुशीलन करे, जैसा विचार राजनीतिशास्त्र को इसके महान् पद से स्खलित कराने वाला है। राजनीतिशास्त्र का जो विशाल रूप प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो अक्वायनास, ग्रीन, भीष्म, मनु आदि ने बताया है उससे अत्यन्त निम्न स्तर इसका हो जायगा जब श्रेय प्रतिपादन के उत्कृष्ट कर्म से संन्यास लेकर केवल साधन, पद्धति या व्यापार की ही यह मीमांसा करेगा। राजनीतिक नीति और प्रस्ताव के आलोचन के सम्बन्ध में सर्वदा ही शिव और अशिव, कल्याण साधक या स्वार्थसाधक, इनका विचार करना

होता है। इस प्रकार का निर्णय जब हम देते हैं तो श्रेय के क्षेत्र में हम पदार्पण करते हैं। कालिंगविजय के बाद अशोक का नीतिपरिवर्तन भारत के लिये हितकर हुआ या अहितकर, इसके सम्बन्ध में विचार प्रकाशित नहीं करना, एक महान् उत्तरदायित्व से मुख मोड़ना होगा। अवश्य ही, अध्ययन के सिलसिले में समस्त प्राप्तव्य सामग्री का उपयोग करना, तथा भावनानिरपेक्ष होकर उनका विचार करना इष्ट है किन्तु इस अध्ययन की परिणति निष्कर्ष के उपस्थित करने में ही होती है। निष्कर्ष उपस्थित करना कभी-कभी जोखिम को उत्पन्न कर सकता है। किन्तु जिसने सत्य की साधना को ही विराट् आदर्श में गृहीत किया है वह कदापि इससे विमुख न होगा। उपनिषद् और बौद्ध धर्मराज्यों में बताया है कि सत्य की साधना तेजस्विता को प्रदान करती है। ज्ञान का तेज एक प्रकार की दाहिका शक्ति से सम्पन्न होता है। जो उत्साह, जो शक्ति और स्फूर्ति हमें रूसो का "सामाजिक अनुबन्ध" या मार्क्स का "कैपिटल" पढ़ने से प्राप्त होती है वह आज के अमरीकी और यूरोपीय तथाकथित सामाजिक शास्त्रियों के ग्रन्थों में कदापि नहीं मिलती। दुनियाँ को हिलानेवाली पुस्तकों में एक तेजस्वी सन्देश रहता है। धम्मपद, गीता, गांधी के "मंगलप्रभात" और मार्क्स-ऐंगलस के "कम्युनिष्ट घोषणापत्र" में एक महान मंत्र का दर्शन होता है। क्या भावना निरपेक्ष, श्रेयनिरपेक्ष साधनशास्त्र का प्रणयन मार्क्स करता तो उसे कोई विशेष सफलता मिलती। अस्तु, पीड़ित जनता के त्राण का साधन खोजने का श्रेय ही आज के सामाजिक शास्त्रों को जीवनतत्व प्रदान कर सकता है। अब हम विराट् श्रेयों से मुख मोड़ लेते हैं तो राजनीतिशास्त्र चैतन्यहीन पंगु और सडांधपूर्ण हो जाता है। अमेरिका के "फेडरलिस्ट" ग्रंथ के प्रणयन में जो उत्साह कैमिल्टन और मैडिसन ने दिखाया है उसका रहस्य उनका एक शक्तिशाली सांघिक राज्यस्थापन का श्रेय ही है। अतः राजनीतिशास्त्र को सर्वदा श्रेय प्रतिपादक और श्रेयनिष्ठ रहना होगा। श्रेय की भावना को भुलाना, नारों और प्रचारों के हाथ अपने को सौंपना होगा। राजनीतिक बल और शक्ति का मानवकल्याण के श्रेयसाधन में प्रयोग ही, इसके सम्बन्ध में शास्त्रज्ञान और साधन बताना ही राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य होना चाहिये।

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में समग्रज्ञान और सम्यक् विज्ञान का आदर्श उपस्थित किया गया था। उस समय मनोविज्ञान, आचारशास्त्र और संवित्शास्त्र का पृथक्करण नहीं हुआ था। प्रत्येक आवश्यक प्रश्न पर अनेक प्रकार के दृष्टिबिन्दु का आश्रय लेकर मीमांसा करना उस समय संगत माना जाता था। राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र के सम्बन्ध में भीष्म, बृहस्पति, मनु आदि का विचार था कि उनके द्वारा स्वधर्म स्थापन होना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक कर्म का एक विराट् आदर्श से सम्बन्ध ज्ञापन करना उस समय इष्ट था। कौटिल्य के अनुसार राजा का स्वधर्म भी स्वर्ग और आनन्त्य के लिये है। इस प्रकार की विशालता का आश्रयण इस प्रकार की सीमित दृष्टि, कि केवल साधन और प्रक्रिया का अनुशीलन करना चाहिये, का खंडन करता है। घोर युद्धकाल उपस्थित होने पर भी हिंसात्मक स्वकर्म का समर्थन करने के लिये वेदान्त के अद्वैतवाद और सांख्य के प्रकृति-पुरुषपृथक्तावाद का आश्रय लेना यह बताता है कि गीतोक्त दृष्टि राजनीतिशास्त्र को दर्शनसम्मत

और श्रेयसम्मत बनाना चाहती है। शांतिपर्व में राजनीतिशास्त्र को श्रेयानुमोदित बनाने का प्रयास पाया जाता है। प्राचीन भारतीय दर्शनों में प्रज्ञा अन्तर्ज्ञान और ऋत्-चित् का आश्रय लिया जाता था और अंशतः सामाजिक विवेचन पर भी उनका प्रभाव मालूम पड़ता है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में श्रेय का वर्णन मिलता है। अर्थात् विशुद्ध साधनात्मकता, अर्थशास्त्र को श्रेयप्रतिपादक मानने का यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि उनके निष्कर्ष हमें अभीष्ट हैं। सिर्फ, इस एक बात में अर्थात् पद्धति के विषय में यहाँ पर सादृश्य बताना हमें अभीष्ट है। प्रस्तुत पुस्तक में हमने मार्क्सवादी समाजशास्त्र को भी श्रेयप्रतिपादक कहा है किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित श्रेय हमें इष्ट हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के क्या श्रेय हैं, इसका वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में आगे हुआ है। जहाँ तक राजनीतिशास्त्र के स्वरूप का सम्बन्ध है वहाँ तक प्राचीन भारतीय दण्डविधान तथा मार्क्सवाद नितान्त भिन्न श्रेय रखते हुये भी पद्धतितः इतनी दूर तक सदृश हैं कि दोनों मानते हैं कि सामाजिक शास्त्रों में श्रेयतत्व, चाहे वह जो कुछ भी क्यों न हो, का वर्णन अवश्य होना चाहिये। घोर, चातुरन्त राज्य का पोषक कौटिल्य और ब्राह्मण धर्म के हामी मनु दोनों राजकीय श्रेयों का विन्यास करते हैं। वस्तु सम्बन्धी निर्णय और अभिरुचि तथा श्रेय सम्बन्धी निर्णय में जो अन्तर नवकाष्टीय दर्शन में पाया जाता है वैसा पृथक्करण भारतीय शास्त्रों में नहीं हुआ है। जब विज्ञान, तांत्रिकता तथा यांत्रिकता की अभूतपूर्व उन्नति पश्चिमी सभ्यता में हुई तब वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग सामाजिक शास्त्रों में भी होने लगा। जो धर्मशास्त्र से निराशा और अनभिरुचि आज के वैज्ञानिक युग में संभव है वही प्राचीन भारतीय सभ्यता में नहीं पाई जाती है और इसलिये राजनीतिशास्त्र को प्रयोजन निरपेक्ष बनाने का कोई प्रस्ताव उस समय उत्पन्न नहीं हो सकता था।

यह ठीक है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र और दण्डविज्ञान ब्राह्मवाद से अतिशय आक्रान्त है। कौटिल्य, मनु, कामन्दक, शुक्र आदि में ब्राह्मणवाद प्रचलित है। आजकल की प्रजातंत्रीय व्यवस्था और मानव समानतावाद के युग में इस प्रकार का वर्णवाद नितान्त असंगत है। तथापि स्वधर्म पर बल देकर भारतीय अर्थशास्त्र ने उस कर्मयोग की पुष्टि की है जो दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की भी स्थापना है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में अनुभव, इतिहास, पुराण, अनुश्रुति तथा दर्शनशास्त्र का उपयोग किया गया है।[23] किन्तु वैज्ञानिक विधेयात्मकता तथा परीक्षण उस समय उपलब्ध नहीं थे। अपने अनुशीलन में भारतीय अर्थशास्त्र ने शील, विनय, इन्द्रियजय और स्वधर्म के श्रेय का समर्थन किया है। निरा कोरा विश्लेषण उनका अभीष्ट नहीं है अपितु लोकव्यवस्था का सुरक्षण उनका इष्ट है। अर्थशास्त्र निश्चितरूप से श्रेयप्रतिपादन करे, यही उस समय का आदर्श था। कौटिल्य ने कहा है कि जिससे लोकयात्रा सम्पन्न हो सके यही करना चाहिये। लोकपोषण और सम्बर्धन उस समय का आदर्श माना जाता था। किन्तु श्रेय के प्रतिपादन करने का यह तात्पर्य नहीं था कि अनुशीलन अतर्कसंगत हो जाय। जो गाम्भीर्यपूर्ण और ठोस विचिंतन करने का संदेश भारतीय न्यायशास्त्र ने

दिया है वह सर्वथा उपादेय है। इस प्रकार श्रेयवाद और गम्भीर तार्किक उपपत्ति का समन्वय भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता है।

भारतीय विचिंतन में सत्य का सर्वथा प्रकृष्ट महत्व स्वीकृत किया गया है। सत्य की अनवरत साधना करना यह एक महत्तम श्रेय है और अनेकों श्रेय इससे उत्पन्न होते हैं। यदि बूनो, गेलिलियो आदि सत्य की विराट् कल्पना से ओतप्रोत न होते तो कदापि वे अपने जीवन को जोखिम में डालकर अपने अन्तरात्मा की आवाज को अभिव्यक्त नहीं करते। सत्य की साधना को आदर्श मानकर सामाजिक शास्त्रों का अनुशीलन संस्कृति के उन्नयन का प्रशस्त पथ है। भारतीय संस्कृति सर्वदा मानती है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[24] सत्य ही परम कल्याण का मार्ग है। सत्य की साधना एक श्रेयप्रतिपादक नैतिक व्यापार है। सत्य की साधना के निमित्त आर्जव, दाक्ष्य और ज्ञान पूर्णतः अपेक्षित हैं। इस प्रकार देखने से मालूम पड़ता है कि सामाजिक और तात्विक प्रश्नों का समाधान, विज्ञान के आश्रयण के सहारे, मानव को सामाजिक कल्याण और बौद्धिक स्वातंत्र्य का दर्शन कराता है। बौद्धिक स्वातंत्र्य की सम्यक् प्राप्ति राजनीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान और आचारशास्त्र तीनों का समन्वित लक्ष्य है। अतः राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र और श्रेयशास्त्र से कदापि अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं कर सकता। विनयनिष्ठ राजनीति की जो महती परम्परा भारतीय इतिहास और संस्कृति में प्रचलित रही है उस विराट आदर्श को ध्यान में रखते हुये पश्चिमी सामाजिक शास्त्रों ने जो सामग्री हमारे सामने उपस्थित की है उसका विश्लेषण और अनुशीलन होना चाहिये। राजनीतिक दर्शन की एक नूतन परम्परा इस प्रकार कायम हो सकती है।

(ग) राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र

आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र, श्रेयशास्त्र की अपेक्षा कम व्यंजक है। श्रेयशास्त्र के अन्तर्गत समस्त श्रेयों का ग्रहण होता है। आर्थिक श्रेय, सामाजिक और राजनीतिक श्रेय, कलात्मक श्रेय, तार्किक और सैद्धान्तिक श्रेय, नैतिक श्रेय तथा धार्मिक श्रेय सभी इसके अन्तर्गत हैं। ऊपर विराट श्रेय या परम श्रेय तथा साधारण श्रेय या पृथक् श्रेय में अन्तर बताया गया है। जो श्रेय मानव जीवन से पूर्णतः सम्बद्ध तथा सर्वसामान्यहित प्रसाधक है उन्हें विराट श्रेय और जो कुछ समय या कुछ लोगों के निमित्त अपेक्षित हों उन्हें साधारण श्रेय कहा गया है। नैतिक श्रेय विराट श्रेय के अन्तर्गत हैं।

बहुत से समाजशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि नैतिक आदर्श सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं है। वेस्टरमार्क के अनुसार नैतिक निर्णयकारी वाक्यों का आधार वैयक्तिक तथा भवनामूलक है।[25] मानव हृदय में वर्तमान भावनाओं का साधारणीकरण नैतिक मूल शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। देश, काल, मानव स्वभाव और श्रेणी-परम्परा से अनवच्छिन्न नैतिक आदर्शों की स्वीकृति समाजशास्त्रियों के लिये कठिन प्रतीत होती है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह मान्यता है कि विराट् श्रेयों की उत्पत्ति व्यवसायात्मिका बुद्धि में होती है। सामाजिक परम्पराओं और ऐतिहासिक प्रथाओं से उनका उद्वहन होता है। व्यवसायात्मिक बुद्धि के द्वारा नैतिक विराट् श्रेयों के प्रणयन का सबसे बड़ा प्रमाण बौद्धधर्म के द्वारा प्राप्त होता है। यदि तत्कालीन ब्राह्मणधर्म के इतिहास पर

ध्यान दिया जाय तो मालूम पड़ता है कि कर्मकाण्ड देवोपासन, यज्ञयाग आदि ही उस समय नैतिक और धार्मिक कर्म की इतिश्री थे। मुण्डकोपनिषद् में इसका वर्णन किया गया है। गीता में भी कामात्मा, स्वर्गपर, वेदवादरत पुरुषों का वर्णन किया गया है। किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि के प्रयोग द्वारा ब्राह्मण कर्मकाण्ड से उदात्ततर नैतिक आदर्श का प्रणयन बुद्ध ने किया था। ईसा और संतपाल ने भी इसी व्यवसायात्मिका बुद्धि का आश्रय लेकर तत्कालीन यहूदी नैतिक व्यवहारों से उच्च स्तर का नीतिमार्ग प्रदर्शित किया। व्यवसायात्मिका बुद्धि, वैयक्तिक अभिरुचि और संकल्प से भिन्न है। व्यवसायात्मिका बुद्धि सम्यक्‌दर्शिनी और समग्रविज्ञापिनी है। मानव अन्तरात्मा के संकल्पन मनन और निदिध्यासन की समस्त वृत्तियों का पूर्णतः एकीकरण ही व्यवसायात्मिका बुद्धि का जनिता है। इस प्रकार का एकीकरण समग्र का दर्शन कराता है। योगदर्शन में इसे तत्प्रत्यैकतानताध्यानम् कहा है। निरन्तर सम्यक्‌दर्शन और सतत वृत्तिकेन्द्रीकरण से वस्तुओं के आंशिक प्रविभक्तरूप से विशालतर उनके तात्विक रूप का अवबोध होता है। यही व्यवसायात्मिका बुद्धि श्रेयों का प्रजनन करती है। सामाजिक परम्पराओं पर ऐतिहासिक प्रथाओं से ऊँचे स्तर पर यह व्यवसायात्मिका बुद्धि कार्य करती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि के निदर्शित मार्ग का प्रायः पूर्ण पालन समाज के सर्वसामान्य जनद्वारा सम्भव नहीं है। किन्तु सामाजिक उन्नयन के निमित्त यह अतीव आवश्यक है कि व्यवसायात्मिका बुद्धिसम्पन्न प्रकृष्ट मानव युग युग में धराधाम पर अवतीर्ण हो मानव चेतना को विशालतर पथ का दर्शन करावें। अनेक देशों में इस प्रकार के दैवी सम्यद्विभूषित, त्रिगुणातीत, स्थितप्रज्ञ व्यवसायात्मिका बुद्धिसम्पन्न मानव उत्पन्न होते हैं। व्यवसायात्मिका बुद्धि का उल्लेख अनेक प्रकार से किया जाता है। रूसो, दयानंद आदि ने "अन्तरात्मा" इसे कहा है। सुकरात इसे "डेयमन" कहता था। गांधी इसे "आन्तरिक आवाज" कहते थे। काण्ट इसे अवश्यंकर्तव्य नैतिक नियम का प्रदाता विशुद्ध संकल्प मानता था। व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा प्रवर्तित नियमों का अनेक वर्गों ने तथा अनेक स्वार्थी मनुष्यों ने अपने निजी स्वार्थ की अभिपूर्ति में प्रयोग किया है। किन्तु इस प्रकार का उनका प्रयोग उनकी तात्विक सत्ता का खंडन नहीं करता है।

नैतिक तत्वों का राजनीति में अनुप्रवेश बड़ा ही कल्याणकारी है। सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों का नैतिकीकरण मानव संस्कृति की रक्षा का एक मूलसूत्र है, अन्यथा पाशविकता, शक्तिवाद और एषणावाद का अतिरंजित रूप हमारे सामने आ जायगा। प्रजातंत्र, समाजवाद, शांतिवाद और विश्वमानवएकतावाद आदि सिद्धान्तों के अभ्युदय में नैतिक भावनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यह ठीक है किसी नैतिक आदर्श के क्रियान्वयन के लिये वातावरण और अन्य भौतिक आधारों की आवश्यकता है किन्तु आदर्शों के ग्रहण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव को नैतिक तथा आध्यात्मिक मानता है अतः भोगवाद या शक्तिवाद को ही वह मानवजीवन का आदर्श नहीं मानता। भोगवाद और शक्तिवाद ही मानव की पाशविकता के प्रतीक है न कि उसकी नैतिकता के संदेशवाहक। नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य से सम्पन्न मानव की कल्पना, मनुष्य को एक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति मानती है। मनुष्य का उत्तरदायित्व समष्टि के प्रति भी है तथा अपने

आत्मिक कल्याण के प्रति भी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अन्तश्चेतनाभिमुखी नीतिशास्त्र और उत्तरदायित्वभिमुखी नीतिशास्त्र में अन्तर या पृथक्करण करना भ्रामक है।[26] जब तक उत्तरदायित्व की भावना का विकास नहीं होता तब तक नैतिकता का प्रारम्भ नहीं होता है। किसी बालक या पशु में उत्तरदायित्व न होने से उसकी नैतिकता का प्रश्न नहीं उठता है। जब कोई दास, भृत्य या वेतनभोगी अफसर, अपने मालिक की आज्ञा का अनुवर्तन करता है तब कानूनी दृष्टि से भी हम मालिक को ही उत्तरदायी ठहराते हैं न कि दास, भृत्य या वेतनभोगी अफसर को। अतः उत्तरदायित्व की भावना का विकास नैतिकता का प्रारम्भ है। जो उत्तरदायी नहीं उसकी नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। मनुष्य अपने आत्मा के प्रति उत्तरदायी है और आत्मोद्धार उसका परम कर्तव्य है। दूसरी ओर अपनी स्थिति और रक्षा के लिये वह समाज का ऋणी होकर समाज के प्रति भी उत्तरदायी है।

मनुष्य के नैतिक चैतन्य के लिये ज्ञान आवश्यक है। सुकरात और बुद्ध दोनों ने नैतिकता को ज्ञान पर आधारित करने का प्रयास किया। वास्तविक ज्ञान होने पर मनुष्य अनैतिक आचरण नहीं कर सकता है। जब हमें ज्ञान हो जाय कि अग्नि सें हाथ जलता है तब कदापि उसमें अपना हाथ नहीं डालते हैं। अचेतनावस्था में ही हम अग्नि में हाथ डालते हैं। अतः अग्नि का ज्ञान, अग्नि के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, यह हमें बताता है। जब हमें ज्ञान हो जाय कि इस कमरे में भयानक विषधर सर्प है तब हम उसमें कदापि निवास नहीं करेंगे। अतः सत्यज्ञानवान् मनुष्य कभी असत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है, यदि होता है तो उसमें ज्ञान का अभाव है। इसीलिये ज्ञान की प्रचण्ड शक्ति को देखते हुये, ज्ञानाग्नि शब्द का प्रयोग गीता में किया गया है। विभ्रम, विकल्प, मिथ्याज्ञान के वशीभूत हो आत्महनन या समष्टिघात करनेवाले मनुष्य को कुछ शाब्दिक वाग्जाल से भले सम्बन्ध हो, रूपान्तरित करनेवाले ज्ञान से उसका तात्पर्य नहीं है। अतः आर्य आष्टांगिक मार्ग का अनुशीलन करने के निमित्त दुख, दुख समुदय और दुखनिरोध सम्बन्धी आर्य सत्यों का साक्षात्कार बुद्ध ने अपेक्षित बताया है। प्लेटो के मतानुसार जब साहसिक राजसिक तथा भोगात्मिका वृत्तियों का सात्विक तर्क से समीकरण होता है तभी सम्यक् न्याय की अवस्था उत्पन्न होती है।

रूसो का ऐसा विचार था कि कला और विज्ञान की उन्नति से नैतिकता का पतन होता है।[27] उसका कहना है कि जिस-जिस देश में कला और विज्ञान की उन्नति हुई, मनुष्य विलासी, विषयभोगी और कमजोर होते गये। किन्तु सभ्यता और विज्ञान के विपरीत रूसो का जिहाद अनावश्यक है। कुछ दूर तक स्वयं उसने अपना विचार बदल डाला। उसके कथन में अनेक असंगतियाँ भी हैं। सुकरात को "मूर्खता का प्रशंसक" मानना सरासर गलत है।[28] जहाँ तक विज्ञान और कला से विलासिता फैलती है और मनुष्य कर्मयोग का प्रशस्त पथ छोड़कर मौज और आराम चाहते हैं वहाँ तक अवश्य ही नाशकारी हैं। किन्तु दूसरी ओर यह न भूलना चाहिये कि एशिया की अध्यात्म मदमस्त सभ्यताओं को विज्ञान की शक्ति से समन्वित यूरोपीय साम्राज्यवाद के सामने सर झुकाना पड़ा। दोष विज्ञान का नहीं है, मनुष्य के अपूर्ण नैतिक उन्नयन का है। विज्ञान एक साधन है।

साधन की गुलामी साध्य की कमजोरी का सूचक है। मानव अपना साध्य का स्वरूप भूलकर साधन की ही आराधना में अपना आत्मिक स्वरूप यदि भूल जाता है तब इसका मतलब है कि उसका आत्मिक विकास हुआ ही नहीं है।

आज नैतिक आदर्शों की जागतिक राजनीति में बड़ी आवश्यकता है। केवल सांसारिक सफलता मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं है। जर्मन अर्थशास्त्री सोम्बार्ट कर्म की व्याख्या करने में वातावरणात्मिका अवस्थिति की अपेक्षा श्रेयतत्वों को अधिक महत्वपूर्ण मानता था। उसके अनुसार पूंजीवाद के विकास में कर्ताओं के समूह का श्रेय बड़ा प्रभावशाली था। किन्तु उद्योग, कला और विज्ञान की उन्नति में आज जिन श्रेयों की अभिव्यक्ति हो रही है वे मुख्यतया वैयक्तिक लाभ और परिग्रह से संबंध रखते हैं। आज वस्तुनिष्ठता का साम्राज्य छाया हुआ है। विज्ञान, यंत्रवाद, पूंजीवाद और तानाशाही अधिकारवाद वस्तुओं की पूजा सिखाते हैं। दार्शनिक राजनीतिशासत्र का ऐसा प्रस्ताव है कि पुनरपि व्यक्तिनिष्ठता के उद्घोषण की आवश्यकता है। मनुष्य की स्वतंत्रता, मानसिक शक्ति, बौद्धिक विकास तथा उसके सम्मान और चरित्र की गरिमा पर ध्यान देना आवश्यक है। केवल संस्थाओं की निर्माणक्रिया में परिवर्तन करने से काम नहीं चलेगा। लीग ऑफ नेशन्स, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि संस्थायें जहाँ तक थीं और हैं, वहाँ तक ठीक है किन्तु सच्चा कल्याण तब सिद्ध होगा जब व्यक्तिनिष्ठ स्वतंत्रता का व्यावहारिक रूप सामने आयगा। राजनीतिक समस्याओं का समाधान केवल राजनीतिक स्तर पर नहीं हो सकता। उसके लिये संस्थाओं से ऊपर हटकर मानव का रूपान्तरण करना होगा। संस्थापरिवर्तन आवश्यक है, परम आवश्यक है किन्तु सम्पूर्ण कार्य इतना ही नहीं है। सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि के लिये संस्थाओं को और व्यक्तियों को नैतिक आदर्शों से आप्लावित करना होगा। जर्मन दार्शनिक हेगेल, राज्य को स्वतंत्रता का मूर्तिमान् रूप मानते हुये भी कुछ दूर तक शक्तिवाद का समर्थक साबित हो गया। राज्य को नैतिकतत्व का घनीभाव मानते हुये भी हेगेल का यह कहना था कि वैयक्तिक नैतिक आदर्शों से महामानव व्यवच्छिन्न नहीं है। इस प्रकार की स्थापना दार्शनिकता नहीं, शक्तिवाद की चाटुकारिता है। ठीक है कि सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन आदि ने नैतिक नियमों की पर्वाह न की। शक्ति के प्रचारक और वाहक वे अवश्य थे किन्तु उनका भयंकर पतन बताता है कि नैतिकता का हनन इतिहास के रंगमंच पर सफलता पाने के लिये भी अनपेक्षित है। नैतिक नियमों का यदि कुछ शक्तिसम्पन्न मानवों ने उल्लंघन किया है तब इससे नीतिनियम का ही महत्व कम नहीं हो जाता है। यदि नियम की अवमानना कर भी कोई मानव सांसारिक सफलता प्राप्त कर सका है तब इसका तात्पर्य है कि अन्य प्रकार की शक्तियाँ उसके पास थीं जिनसे नैतिक नियम के अपमर्दन का उचित दण्ड उसे प्राप्त नहीं हो सका। मदान्ध हिटलर और मुसोलिनी ने भी नेपोलियन और सीजर का अनुकरण किया और कितना भयावह उनका पतन हुआ ? स्टालिन भी शक्तिवाद का पुजारी था। कहा जाता है कि शक्ति को अपने हाथ में बनाये रखने के लिये हिटलर आदि की अपेक्षा भी क्रूरतर और नृशंसतर कर्म उसने किये। तब क्यों नहीं कहा जाय कि राजनीति में नैतिकता की आवश्यकता नहीं है ? यहाँ पर भी यह ध्यान में

रखना चाहिये कि स्टालिन, अनेक प्रकार की क्रूरताओं और अमानवोचित हत्याओं का विधाता होते हुये भी बहुत दूर तक साम्यवाद की नैतिक शिक्षाओं का समर्थक था। देशभक्ति उसकी जबर्दस्त थी। धैर्य, साहस, अभय आदि नैतिक गुण उसमें भरपूर थे। लड़कपन से ही किसी आदर्श के साथ अपना तादात्म्य का उसके लिये प्राणों की भी बाजी लगाना उसका स्वभाव हो गया था। लेनिन के मरने के बाद स्टालिन ही जैसा व्यक्ति था जो रूसी साम्यवाद को विछिन्न होने से बचा सकता था। अतः स्टालिन के जीवन से यह सिद्ध करना कि इतिहास अनियंत्रित बलवाद का क्रीड़ा क्षेत्र है और नीतिशास्त्र कल्पनाशील दार्शनिकों का वाग्जाल है, सर्वथा निराधार है। मानव का वैयक्तिक और सामूहिक जीवन चल सके, इसीलिये नीतितत्व की स्थापना हुई है। निश्चित ही मैकियावेली, नित्थे ने ईसाइयत की निन्दा की है क्योंकि यह क्षमा, शान्ति और दया आदि इतिहासानप्रयुक्त गुणों का प्रचार करता है। स्पेंगलर भी शक्तिवाद का उत्कृष्ट पोषक था और अपनी प्रतिभा का अतिरंजित बलवाद के समर्थन में उसने दुरुपयोग किया। जर्मन लेखकों के अतिरंजित शक्तिवाद का समर्थन, जर्मनी में असभ्यतापूर्ण पाशविकतापूर्ण बलवाद के आधार पर इतिहास की व्याख्या करने का कुप्रयत्न किया गया। शक्ति का रहस्य बौद्धिक विकास, संयम, विनय आदि में है, यह बात जर्मन समाजशास्त्री नहीं समझ सके।

अतः शक्ति को दीर्घकालीन बनाने के लिये पूर्ण बलवत्ता अपेक्षित नहीं है। शक्ति का आधार, जनता की आशा, अभिलाषा, ऐतिहासिक परम्परा, सामाजिक प्रथा आदि की समन्वित राशि है जिसे संक्षेप में जनकल्याणकामिता कह सकते हैं। बल, शक्ति का एक कारक है, सर्वस्व कदापि नहीं। राजनीतिक शक्ति को आचारनिष्ठ कहना उसकी सुरक्षा के लिये आवश्यक है। असीरिया और जापान के साम्राज्यवाद की तुलना में, रोम और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद अधिक दिनों तक टिक सके, इसका एक बड़ा कारण यह था कि इन दो पिछले उदाहरणों में जनहित का अपेक्षाकृत अधिक महत्व था। नीतिशीलता वैयक्तिक विकास के ही लिये नहीं अपितु सामाजिक संस्थापन और राजनीतिक संघटन के लिये भी नितान्त आवश्यक है।[29] वेदान्त दर्शन, प्लेटो और फिक्ट आदि का यही कहना है कि राजनीतिक बल का नैतिक आदर्शों के आधार पर परिमार्जन होना चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित जनक का राजष्वृित्त प्रायः सर्वदा के लिये भारत में एक बड़ा आदर्श उपस्थित कर गया। यूनानी दार्शनिक अरस्तू के अनुसर भी आचारशास्त्र के जो महान् तत्व है– न्याय, मैत्री, जीवन-दर्शन आदि, उन्हीं के आधार पर राजनीतिशास्त्र का निर्माण हुआ है।

जब हम सामाजिक संसार के स्वरूप पर विचार करते हैं तब हमें सर्वत्र प्रक्रिया और अन्तः-सम्बन्ध का दर्शन होता है। मानव की इन प्रक्रियाओं और अन्तःसम्बन्धों का ही नाम समाज है। किन्तु समाज की प्रक्रियाओं में हमें प्रयोजनीयता का भी दर्शन होता है।

हम देखते हैं कि ये प्रक्रियायें स्वयंसापेक्ष न होकर किसी प्रयोजन को सिद्ध करती हैं। अरस्तू आदि का विचार था कि समस्त पदार्थों में अनुगत शक्तिशाली प्रयोजनशीलता है जिसका वे क्रमशः साक्षात्कार करती हैं। आधुनिक विज्ञान, वस्तुओं की अनुगत प्रयोजनशीलता का खंडन कर

यांत्रिकता का समर्थन करता है। व्यापारवादी मनोविज्ञान (विहेभियरिज्म) भी मन की प्रक्रियाओं का रूप खड़ाकर किसी विशिष्ट लक्ष्यवाद का अनुमोदन नहीं करता। किन्तु भले ही लक्ष्य किसी तात्विक स्वयंसिद्ध सत्ता के रूप में वर्तमान न हो, किन्तु मानव क्रिया और प्रक्रिया से कोई न कोई लक्ष्य अवश्य सिद्ध होता है। नैतिक आदर्श इस रूप में तात्विक हैं कि वैयक्तिक और सामाजिक क्रियाओं से उनकी पूर्ति का यत्न किया जाता है तथा वैयक्तिक और सामाजिक स्मृति में उनका परिरक्षण होता है। अतः प्लेटो के प्रत्यय और स्पायनोजा के वस्तुतत्व के समान स्वयंसापेक्ष सत्ताधारी न होते हुये भी, नैतिक आदर्श सत्य है। उनकी भौतिक इन्द्रियगम्य सत्ता नहीं होते हुये भी अभौतिक वास्तविकता ठीक है। कह सकते हैं कि राजनीतिक दर्शन में इन दो विषयों का अनुशीलन होना चाहिये– (क) राजनीतिक क्रिया, व्यापार आदि और (ख) नैतिक आदर्श। राजनीतिशास्त्र वर्णित पदार्थों और वस्तुओं की एक देशकालकार्यकारणभावबद्ध सत्ता है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान विशेष और किसी समय विशेष में ही कोई राजनीतिक दल रह सकता है। व्योमवर्त्ती और कालातीत उसकी सत्ता नहीं हो सकती है। किन्तु देश और काल में एक भौतिक सत्ता अर्थात् कुछ मनुष्यों का एक कमरे और एक मैदान में इकट्ठा होना, इतने से ही एक राजनीतिक दल की सृष्टि नहीं हो जाती है। उसके लिये कुछ नियामक आदर्श अपेक्षित हैं। जब तक कोई राजनीतिक दल कुछ ऐसे आदर्शों को सामने नहीं रखता जिनसे जनहित की वह सिद्धि करना चाहता है और इन आदर्शों से अपने कार्यक्रम को नियंत्रित नहीं करता तब तक दल का निर्माण अपूर्ण कहा जायगा। अतः कह सकते हैं कि राजनीतिक सत्ता या वास्तविकता एक परस्परसम्बन्ध सावयव वास्तविकता है। एक ओर इसके यांत्रिक या भौतिक देशकालव्यापी रूप और कारक हैं तथा दूसरी ओर इसके अभौतिक प्रजनीयमूलक आदर्श हैं जिनका आंशिक क्रियान्वयन कर जनहित की पूर्ति होती है।

नैतिक आदर्श या नियामक लक्ष्य चेतन मानवों के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। आदर्श वैयक्तिक हो या सामाजिक, दोनों व्यक्ति के द्वारा ही घटित होते हैं। समाज का एक अविभाज्य ईकाई होकर व्यक्ति, सामाजिक दृष्टि से, नैतिक आदर्शों की अभिव्यक्ति करता है। राजकीय व्यवस्था की प्रकृष्टता तभी सिद्ध हो सकती है जब अधिकतम मात्रा में विराट् श्रेयों को क्रियान्वित किया जाय। जो राज्य श्रेयों का उल्लंघन कर शक्ति और वित्त की एषणा का एकमात्र उपासक बन जाता है उसका शीघ्र पतन हो जाता है। राज्य का लक्ष्य है समस्त नागरिकों के लिये एक सम्पूर्ण शक्ति विकासकर्ती सशक्त सबल व्यवस्था को उत्पन्न करना। जब तक विराट् श्रेयों को व्यवहारिक बनाने का लक्ष्य राज्य की क्रियाओं को संचालित नहीं करता तब तक राज्य आन्तरिक असंगतियों और वैयक्तिक संघर्षों को हटा नहीं सकता। जितने ऊँचे स्तर पर राज्य के साथ आत्मीयता का विकास प्रत्येक मानव कर सकेगा उतनी ही दूर तक राज्य नैतिक श्रेयों को चरितार्थ करेगा। श्रेय ही सत्ता का संबर्धक है। वेदान्त और प्लेटो के मतानुसार श्रेय और सत्ता में तादात्म्य है। अतः जब पारस्परिक सहयोग से सामाजिक मनुष्य नैतिक आदर्शों की सिद्धि करते हैं तब उच्च स्तर के जीवन

का विकास होता है और राज्य श्रेयों का वाहक बन जाता है । नैतिक श्रेय और विराट् संप्रयोजनशीलता का यही तकाजा है कि राजनीतिक जीवन के समस्त अंश, सामाजिक न्यायमूलक अभ्युन्नति को प्राप्त करें । अध्यात्म केवल हिमालय की कन्दराओं में नहीं रहा करता, अपितु सामाजिक और राजनीतिक कल्याण के आदर्शों को क्रियान्वित करना ही परम पुरुषार्थ है । राजनीतिक कर्मयोग की सिद्धि में वैयक्तिक कर्मशीलता और आत्मसाक्षात्कार के साथ-साथ अन्य मानवों तथा समाज के लिये अपेक्षित आनन्द की वृद्धि होती है । अब तक जो समाज हम देख रहे हैं वह नागरिक समाज है, विनिमय, आर्थिक लक्ष्यसिद्धि आदि पर वह आधारित है । दार्शनिक राजनीतिशास्त्र, मानवता और सर्वविध सामाजिक और आर्थिक न्याय और हितसाधन के विराट् श्रेय से प्रभावित हो, वैयक्तिक कर्मयोग को आदर्श मानता है । श्रेय संसिद्धि के लिये कर्मयोग अत्यन्त आवश्यक है । कर्मयोग वह महती सन्धिवेला है जहाँ वैयक्तिक आत्मदर्शन और सामाजिक कल्याण का महान् समन्वय प्राप्त होता है । इसके सहारे वैयक्तिक कर्म तथा राजनीतिक कर्म का सामंजस्य प्राप्त किया जाता है ।

नैतिक आदर्शानुमोदित कर्मयोग की सिद्धि के लिये आवश्यक है कि लाभप्रदत्ता और उपयोगिता के विचार से मानव ऊपर उठ सके । उपयोगिता एक मापात्मक और प्रतिसंख्यानात्मक विचारधारा है । इसमें आर्थिक विचारों का प्राधान्य रहता है । उपयोगिता के अनुसंधान में स्वार्थ की साधना अभिप्रेत हो जाती है । किन्तु हित का श्रेय एक विराट् आदर्श उपस्थित करता है । हित की विचारधारा का सम्बन्ध उस व्यवसायात्मिका बुद्धि से है जिसके चरम उत्कर्ष से श्रेयों की सिद्धि होती है । नैतिक आदर्श, हितसाधन या विराट् श्रेय साक्षात्कार इनका पर्यवसान आत्मिक कल्याण और जनकल्याण में होता है । इस कल्याण की साधना के फलस्वरूप ही सर्वतोभावेन उत्कृष्ट सर्वभूतात्मभूतत्व का उदय होता है । वैयक्तिक भावना, संवेग, संकल्प आदि का जब विराट् श्रेय के बौद्धिक चैतन्य से नियंत्रण होता है तभी वैयक्तिक कल्याण सिद्ध होता है । इस प्रकार के निष्णात चैतन्य का जनकल्याणात्मक उपयोग ही सच्चा कर्मयोग है । मानव की समस्त वृत्तियों का विकास इसके निमित्त आवश्यक है । केवलमात्र वृत्तियों का निरोधात्मक दमन और उन्मूलन अभिप्रेत नहीं है किन्तु उनका विराट् श्रेयों की साधना में प्रयोग ही सम्यक् प्रयोग है । यदि एक ओर वृत्तियों का उन्मूलन अपेक्षित नहीं है तो दूसरी ओर उनका अराजकतापूर्ण, विनियंत्रित विलासिकता और भोगवादिता में अतिरेक भी नितान्त असंगत है । मानव की वृत्तियाँ, उसके संकल्प, उसकी निष्पन्न क्रियायें आत्मसाक्षात्कार के विराट् श्रेय से नियंत्रित हों यही उन्मूलन और अराजकता की मध्यवर्तिनी मध्यमप्रतिपदा है ।[30] जब समस्त भावना, कर्म और अनुभूति को एकीकृत कर मानव समग्र शक्ति से आत्मिक कल्याण की साधना करेगा तब कोई प्रतिबन्ध उसके मार्ग में नहीं टिक सकता । उसके आतिशयपूर्ण संकल्पशक्ति के सामने समस्त विघ्न बाधाओं को हटना पड़ेगा । दयानन्द, नेपोलियन, बुकरही बाशिंगटन आदि का जीवन इस सत्य का समर्थक है । फिर, आत्मिक कल्याण साधना से परिनिष्पन्नबुद्धि और परिमार्जित वृत्ति जब सामाजिक और राजनीतिक कल्याण और चैतन्य की

साधना करेगी तब निश्चय ही सामाजिक परमार्थ सिद्ध होकर रहेगा ।[31] आत्म कल्याण साधना का यह मतलब नहीं है ऐसा मनुष्य अकेलापन का ही नैष्ठिकव्रती हो जायगा । समाज के व्यक्तियों को सहयोग या सहायता प्रदान करना भी उसका कार्य होगा क्योंकि आत्मकल्याण और सामाजिक कल्याण दोनों अलग-अलग रहनेवाली वस्तुयें तो है नहीं । सामाजिक साहाय्य के विना जीवन धारण असंभव है,[32] आत्मकल्याणसाधन तो दूर रहे । दूसरी ओर समाज या राज्य की सत्ता व्यक्तियों से ही बनती है । अतः आत्मकल्याणसाधक मनुष्य विराट् श्रेय की निष्पन्नता इसी में समझता है कि राजकीय सामंजस्य स्थापित हो । किसी वर्गविशेष या गिरोहविशेष का निजी स्वार्थ नहीं, अपितु समष्टि का कल्याण उसका परम व्रत हो जाता है । व्यक्तित्व के सम्यक् विकास की परिणति आत्मकल्याणकारिता के साथ सामाजिक करुणा में भी होती है । सामाजिक करुणा मनुष्य को वाध्य करती है कि वह अन्यलोगों के सुखदुख में हिस्सा ले । प्लेटो ने कहा है कि आत्मज्ञानान्वेषी मानव, स्वभावतः ही परम शिव के ज्ञानार्णव में निमज्जित रहना चाहता है । राजनीतिक कल्याण के लिये उसकी शक्तियों को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । किन्तु एक सरल तरीका है और वह है कि यदि वह स्वयं शासनकार्य में भाग न लेगा तो अन्य अधम मनुष्यों से शासित होने की दुरवस्था का त्याग करने के लिये उसे स्वयं राजकार्य में भाग लेना पड़ेगा । यह एक अच्छी बात है नहीं तो ज्ञानी और महात्मा पुरुष राजनीतिक दलदल में कदापि नहीं फँसते । किन्तु दुख का विषय यही रहा कि बुद्ध, शंकर, दयानन्द आदि ने अपने जीवन में इस आदर्श को क्रियान्वित न किया । अरविन्द भी 1910 में यह घोषणा कर पांडिचेरी गये थे कि वे योगशक्ति का विकास कर देश का कार्य करेंगे किन्तु परमविज्ञान के अवरोहण के महान् श्रम ने उनको फिर क्रियात्मक राजनीति में भाग लेने का अवसर नहीं दिया । आदर्श यही है कि राज्य व्यवस्था के सुधार के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ से अप्रभावित, श्रेयसाधक न्यायप्रेमी मनुष्यों की आवश्यकता है । अतः राजनीतिक कल्याण और आर्थिक सामाजिक न्याय तभी प्रकृष्ट रूप से सिद्ध हो सकेंगे जब मानव की वृत्तियों का नैतिक संशोधन और उनका सामाजिक उपभोग किया जायगा । निरा व्यक्तिवाद अकृत्रिम है क्योंकि समाजनिरपेक्ष मानव एक असंभव कल्पना है । निरा समूहवाद संस्कृतिविरोध है क्योंकि समाज के अवयवभूत व्यकित का कल्याण भूलकर मानव को साधन के रूप में यह परिवर्तित कर देता है । वैयक्तिक संकल्प का विकास अत्यन्त अनिवार्य है । किन्तु आत्मविनिर्णय का केवलमात्र आत्माभिमुख प्रयोग निरी भावनात्मकता में परिणत हो जायगा । सामाजिक श्रेय को वस्तुनिष्ठ करने का प्रयास ही आत्मविनिर्णय को मूर्तिमान् और साधार बनाता है । केवलमात्र आत्मनैष्ठिक निशचयात्मकता सावयव कल्याण का एक अंश है । इसका दूसरा रूप होगा सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के निमित्त स्वकर्तव्यपूर्ति से नैतिक चेतना का घनीभाव । इन दोनों का व्यापक समीकरण और समन्वय ही आत्मकल्याण तथा परमार्थ का साधक है । किन्तु सामाजिक हितसाधना का पर्यवसान व्यक्ति के उन्मूलन में कदापि नहीं हो सकता । मानववाद के विरोधी अतिरेकपूर्ण समूहवादी राज्य की सावयवता के नाम पर व्यक्तित्वहानि का संदेश देते हैं । दार्शनिक राजनीतिशास्त्र, इस प्रकार के

समूहवाद का, चाहे वह समूहवाद नगरराज्य या साम्यवाद या राष्ट्रवादात्मक राज्य के नाम पर प्रचारित किया जाय, घोर विरोधी है। व्यक्ति का वैलक्ष्यण्य एक आवश्यक परम सत्य है। मरणधर्मा होते हुये भी व्यक्ति विराट आदर्शों के क्रियान्वयन का एक अपुनरावर्तनीय विलक्षण केन्द्र है और आवश्यकता पड़ने पर व्यवसायात्मिका बुद्धि का आश्रय लेकर सामाजिक प्रतिबन्धों और राजकीय कानूनी व्यवस्था का विरोध करने का अधिकार इस मानव का है। किन्तु राजकीय कानूनी व्यवस्था का विरोध एक अन्तिम अस्त्र है। सतत् रूप से प्रवाहित क्रियात्मक नागरिकता का यह तकाजा है कि मानव अपना कल्याणसाधन करे और अपनी संसर्जनात्मिका शक्तियों का सम्यक् उपयोग करता हुआ अपना वृत्तियों को समाजाभिमुखी प्रवाहित करे। इस प्रकार से ही परमार्थ परमहित का प्रकृष्ट साधन सम्भव है। इस प्रकार मानव वृत्तियों को एक ठोस सामाजिक धरातल प्राप्त होता है। परिवार, संस्थायें, राज्य आदि इस प्रकार के बाह्य ठोस् धरातल हैं। दूसरी ओर इन बाह्य ठोस धरातलों को संचालित करनेवाले समग्रदर्शी चैतन्य का भी उदय होता है। इस प्रकार यह ठीक है कि राज्य विना नैतिक आदर्शों के लंगड़ा है और नैतिक पदार्थ विना राज्य के धरातलहीन है। मानव की सर्वसामान्य सुरक्षा का प्रश्न राज्य हल करेगा। नैतिक कल्याणसाधक आदर्शों को परिनिष्पन्न करने के आवश्यक बाह्य समस्त उपकरणों को राज्य प्रस्तुत करेगा। नीतिमान मानव आत्मिक चैतन्य के सहारे राज्य को निर्देशन, मार्गाभिज्ञापन और उसकी शक्तियों का स्वस्थ स्रोतों में सर्जनात्मक प्रवाहण करेगा।

नैतिक आदर्श और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिमान् चैतन्य मानव को दृष्टिगत कर इन दोनों को अलग-अलग रखना असंगत है। नैतिक विकास की दो अवस्थायें हैं। पहली अवस्था में मानव पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था से निर्दिष्ट कर्मों का पालन करता है। इस प्रकार की नैतिकता सर्वत्र और मानव विकास की सारी अवस्थाओं में पायी जाती है। इस अवस्था को हम साधारणशील कह सकते हैं। किन्तु नैतिक विकास की प्रकृष्ट अवस्था में ज्ञानाधारित कर्मयोग का पालन किया जाता है। कर्मयोग की चरितार्थता इसी में है कि अनासक्त परमार्थसाधक नैतिक चैतन्य का सतत् यादृच्छिक प्रभाव उसमें हो। इस अवस्था को उच्चस्तरीय परमशील कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में नैतिक विकास की इन दो अवस्थाओं को कर्मकाण्ड और कर्मयोग की अवस्था कह सकते हैं। जो मनुष्य नीतिशात्र और राजनीति को अलग-अलग रखने का प्रस्ताव करते हैं उन्हें राजनीतिक व्यापार के पीछे वर्तमान नैतिकता का पूरा पता नहीं है। राज्य का आधार क्या है, राज्य की आज्ञा का अनुवर्तित्व क्यों होता है, प्रजातंत्रीय जनसम्मति क्या वस्तु है, ये सब प्रश्न मूलतः नैतिक हैं। हाब्स की यह विचार कि भय ही राज्य की आज्ञा को मानने के लिये विवश करता है, दासयुग के लिये भले ही ठीक हो, किन्तु एक स्वस्थ चेतन समाज के लिये नहीं। थ्रौसिमाक्स का यह प्रस्ताव कि शक्तिशालियों की निजस्वार्थप्रेरित व्यवस्था ही न्याय है, एक असंगत बात है। नीतिमान चेतन मानव, राज्य की आज्ञा का अनुमोदन इसीलिये करता है कि उससे कोई भूतहित सिद्ध होता है। कल्याणकामिता की भावना

से अननुमोदित राज्यवर्त्मानुवर्तन की व्यवस्था क्षणस्थायी भले ही हो, दीर्घकालव्यापिनी नहीं बन सकती। राज्य की शक्ति और उसकी व्यवस्था, यह राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय है। दूसरी ओर व्यक्ति का मदाचार नैतिकशास्त्र का मुख्य विषय है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में दोनों के प्रश्न परस्पर मिले जुले हैं। जैसे-जैसे कर्मकाण्ड से कर्मयोग के आदर्श की ओर मानव अग्रसर होता है वैसे-वैसे वह नागरिकता के आधार पर विचार करता है, और शनैःशनैः समाज और राज्य के प्रति उसका अनुराग बौद्धिक आधार से युक्त बनता है और इनका उचित महत्व अपने नैतिक विकास में वह स्वीकार करता है। प्रत्येक मनुष्य को राज्यकार्य में भाग लेने का अधिकार है, उसको सब प्रकर की स्वतंत्रता है; विशाल मानवहित को ध्यानं में रखना चाहिये; इस प्रकार की स्थापनायें नैतिक आधार से ही संचालित होती हैं। नैतिकता का विकास उस अभय का विकास है जिसके सहारे अपना नैतिक कर्तव्य और राजकीय कर्तव्य भय से नहीं, प्रत्युत उन्हें जनकल्याण के निमित्त आवश्यक समझ कर करता है। इस प्रकार विदित है कि नैतिकता और राजकीय कर्मयोग का तात्विक स्रोत मानव की सर्वभूतहितग्राहिणी संकलपशीलता में है।

नैतिकता की शक्तिशालिता को ध्यान में रखते हुये ही यूरोपीय राजनीतिशास्त्र में नैसर्गिक नियम की और भारतीय राजनीतिशास्त्र में ऋत और धर्म का उदात्त महत्व स्वीकार किया गया था। वर्तमान् राजनीतिक वास्तविकता का, नैसर्गिक नियम, आलोचनसूत्र प्रदान करता था। यह ठीक है ह्यूम के अनुभववाद, हेगेल के द्वन्द्ववाद तथा आधुनिक विज्ञान के परीक्षणवाद ने नैसर्गिक नियम का खंडन किया है। दूसरी ओर स्टैमलर तथा मैरिटान आदि ने उसके आंशिक पुनरुद्धार का भी सन्देश दिया है।[33] प्रकृति में वर्तमान किसी विराट् नियम या ऋत या धर्म की कल्पना जो बाह्य होते हुये भी जागतिक व्यापारों को मार्गनिर्देश करती है, आधुनिक विज्ञान को सम्मत नहीं है। किन्तु भले ही बाह्यस्थित या जगदातीत विराट् ऋत आज की वैज्ञानिक दुनियां के लिये असंगत है तथापि सांसारिक व्यवहार को व्यवस्थित रखने के लिये कुछ विश्वव्यापक आदर्शों की आवश्यकता प्रायः सभी स्वीकार करेंगे। प्रजातंत्र के समर्थन में आदर्शों की आवश्यकता है। प्रजातंत्रीय प्रणाली निर्णय केन्द्रों का बाहुल्य उपस्थित करती है और इसलिये आवश्यक है कि इन केन्द्रों पर निर्देशक नीतिसम्पन्न मानव हों, अन्यथा केवल संस्थापरिवर्तन नितान्त अपूर्ण होगा। प्रजातंत्र एक अतिशय विशाल प्रयोग है। प्रत्येक वयस्क नागरिक को राजनीतिक आत्मनिर्णय का अधिकार देना मानव इतिहास में एक अपूर्व घटना है। अनेक कमियों के होते हुये भी, आदर्शवाद का यह एक निर्मल उदाहरण है। अन्य राज्यतंत्रों की अपेक्षा प्रजातंत्र का सम्यक् निर्वाह बड़ा कठिन है। इसके निमित्त आवश्यक है कि नैतिक आदर्शों पर बल दिया जाय। अन्धविश्वासरहित, मानवसाध्यवाद प्रचारक नैतिक आदर्शों की आज बड़ी आवश्यकता है। दूसरी ओर अनेक देशों में आर्थिक और राजनीतिक योजनायें बन रही हैं और नागरिकों के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने का व्यापक प्रयास हो रहा है। यह एक बड़ा जबर्दस्त कार्य है। इसकी सफलता के लिये त्याग, कर्मशीलता तथा समाजानुराग आदि गुणों की आवश्यकता है। अतः प्रजातंत्रीय योजनाओं को पूर्ण करने के लिये नैतिक पुनरुद्धार आवश्यक है।

व्यक्तिवादी समाज प्रतियोगिता, स्वार्थ और संस्पधा पर आश्रित है । किन्तु योजनामूलक प्रजातंत्रीय समाज, जनकल्याणवाद पर आश्रित है । जनकल्याणवाद मूलतः एक नैतिक आदर्श है और गीताप्रोक्त "सर्वभूत हितेरताः" का ही राजनीतिक रूपान्तर है ।[34] जनकल्याणवाद तभी क्रियान्वित हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक आंशिक रूप से अपने स्वार्थ को छोड़कर सामाजिक और राजकीय आदर्शों को सिद्ध करे । इस प्रकार पूर्णतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार प्राचीन धार्मिक और नैतिक सम्प्रदायों में स्वार्थ को छोड़ने का उपदेश दिया जाता था, उसी प्रकार आज प्रजातंत्रीय योजनाओं को सफल बनाने के लिये स्वार्थत्याग अपेक्षित है । पिछले विश्वमहासमर में भी, देश के विजय के नाम पर, सम्मिलित स्वार्थत्याग के अनेकों उदाहरण देखे गये । पुरुषों और स्त्रियों ने समानरूप से इस यज्ञ में भाग लिया । स्वार्थत्याग वह मूल शब्द है जो नैतिक कल्याण और राजनीतिक कल्याण दोनों का साधक है ।

राज्य का क्या लक्ष्य होना चाहिये इस पर प्राचीनकाल से लेकर आज तक विचार हो रहा है । समष्टि में शीलवादी आदर्शों का पूर्णतम अनुप्रवेश हो जैसी मान्यता प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो, अक्वायनास आदि की फिक्ट आदि भी राजकीय शक्ति पर दार्शनिकों का नियंत्रण चाहते थे । जब तक विश्वराज्य का निर्माण नहीं होता तबतक बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना राज्य का प्रथम उद्देश्य होना चाहिये ।[35] जबतक बाह्य आक्रमणों से रक्षा नहीं होगी तबतक नागरिक अपना नैतिक व्यवहार नहीं संचालित कर सकते । सुरक्षा अतः अत्यन्त आवश्यक है । जो राज्य नागरिकों की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा नहीं कर सकता, उसका शीघ्र नाश कर दूसरे राज्य की स्थापना करनी चाहिये । आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के बिना किसी प्रकार का नैतिक और सामाजिक जीवन संभव नहीं है । जो सरकार योजना, जनहित आदि के नाम पर सुरक्षा के प्रश्न की अवहेलना करती हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र पदच्युत् करना नीतिमान नागरिक का पहला कर्तव्य होना चहिये । सुरक्षा के आधार पर ही अन्य श्रेय–स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि की स्थापना हो सकती है । जीवन को उन्नत और तेजस्वी बनाना तभी संभव है जब देश स्वतंत्र हो, गुलाम जाति का कोई स्वतंत्र आदर्श नहीं हो सकता । अतः सुरक्षा और व्यवस्था तो राजकीय आदर्श का प्रारम्भ सूत्र है । एशिया के देश अभी गुलामी से मुक्त हुये हैं । एशियाई राज्यों को सर्वप्रथम ऐसी व्यवस्था करनी है कि इनकी स्वतंत्रता किसी भी साम्राज्यवाद के खतरे में न पड़े । दूसरी ओर मैं पाँच विराट् श्रेयों को भी जीवन के लिये आवशयक मानता हूँ । स्वतंत्रता एक महान आदर्श है और इसकी पूर्णप्राप्ति अभीष्ट है । समानता, मानवता का तकाजा है । आज वर्णद्वेष और तानाशाही से काम नहीं चल सकता । प्रत्येक नागरिक के लिये सामाजिक और आर्थिक न्याय भी अपेक्षित है । आज मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास की यह मांग है कि मानवता के अधिकार को समझा जाय । जाति, रंग और देश से ऊपर उठकर भातृत्व और मानववाद का प्रचार हो । राजनीतिशास्त्र दार्शनिक दृष्टि से संगत हो, इसके निमित्त मानव के नीतिमान् चैतन्य का बोध परम वांछित है । स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक और आर्थिक न्याय तथा भ्रातृत्व या मानवता, ये चार विराट् श्रेय प्रायः आजकी सभ्य

दुनिया में सर्वत्र घोषित किये जा रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भी इनका पूर्णतः स्वीकार हुआ है। परन्तु आज की दुनियां की गति को देखते हुये मैं अभय को भी एक पांचवा विराट् श्रेय मानता हूँ। अभय का अर्थ है सम्पूर्ण रूप से भय का त्याग। गीता में अभय को दैवी सम्पत्ति में माना गया है। स्वामी रामतीर्थ का कहना कि वेदान्त और अभय ये समानार्थक हैं। वेद में अभय का बड़ा उत्कृष्ट वर्णन है। आज मानव अनेक भयों से आक्रान्त होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता खो बैठा है। आज आवश्यकता है कि अभय का संदेश उद्घोषित हो। अभय का त्याग कर कर्मयोग का पालन कैसे हो सकता है ?[36] अनावश्यक भय से युक्त व्यक्ति सन्मार्ग का पालन कैसे करेगा ? स्वतंत्रता की रक्षा में वह कैसे उठ खड़ा होगा ? सामाजिक अन्याय होने पर अभयहीन व्यक्ति कैसे प्रतिरोध करेगा ? अनुचित राजकीय कानून का विरोध करने के लिये अभय की आवशयकता है। कर्मयोग की तो आधारशिला ही अभय है। मानव के नीतिमान् चेतन आध्यात्मिक रूप का सार्वत्रिक प्रकटीकरण अभय से ही संभव है।[37] सम्पूर्ण अभय का पालन तो वही मनुष्य कर सकता है जो पूर्ण वीतराग हो। एषणाओं से भय उत्पन्न होता है। किन्तु परम अभय न सही तो मानव जीवन में शनैः शनैः अभय का प्रवेश अवश्य होना चाहिये। तभी पशुत्व के जीवन से ऊँचे मानव जीवन का लाभ हो सकता है। जिस राजकीय व्यवस्था में आन्तरिक और बाह्यपूर्ण सुरक्षा के अतिरिक्त, नागरिकों की सवतंत्रता, समानता, सामाजिक और आर्थिक न्याय, भ्रातृभावना और अभय को व्यवहारिक रूप प्रदान करने का अवसर मिल सके, उसी को दार्शनिक राजनीतिशास्त्र अपना लक्ष्य मानता है।

◆

---

1. अन्यच्छेयो न्यदुतैव प्रेयस्ते उमे नानाथें पुरुषं सिनीतः।
ततो श्रेयआददानस्य साधु भवति हीयते र्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरो भि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो घोगक्षेमादृणीते ॥
(कठ, 1|2|1-2)

तुलनीय–अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बाणगामिनी।
(धम्मपद 5|15)

2. A.J. Ayer, *Language, Truth ad Logic* पृष्ठ 158-161
3. (Axiologyor Philosophy of Values) के निमित्त द्रष्टव्य, W.M. Brban, *Valuation, Its Nature and Laws,* W.R. Sorley, Moral *Values and the Idea of God;* C.T.H. Walker, The of *the construction of the world in terms of fact and value;* Joim Laira, *The Idea of Value;* John Reid, *A Theory of value;* Znaniecki, *The Social Role of the Man of knowledge;* W. Koenler, *The Place of Value in a World or Facts;* G.E. Moore, *Philosophical Studies;* M. Picard, Values, *Immediate and contreoutory;* J.F. Dashiell, *The Philosophical Status of Value;* John Dewey, *A Theory of Valuation.*
4. Bertrand Russell, *Religion and Science* पृष्ठ 23-25
5. Ehrenfels, *System der Werttheorie;* Meinong, *Zur Grundlegung der allgem einen Wert theorie,* R.B. Perry, *General Theory of Value;* Howard O. *The Austrian Philosophy of Values.*

6. Republic VI, 505-506.
7. Aristotle, Metaphysics, V, 4.
8. द्रष्टव्य, Bernard Bosenquet, *Some Suggestions in Ethics* "Living for Others", U The Social Gred", "Value and goodness" नामक अध्याय।
9. Saint Augustine, *The City of God.*
10. सत्येन लभूयस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
    अन्तःशरीरे ज्योर्तिमयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
    सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
    येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं विधानम्॥
    (मुण्डकोपनिषत् 3।1।5-6)
11. E. Cassirer, Zor Logik der Kultennissemschaften (1942)
12. Max Weber, *Wirtschaft and Gesellschaft.* इसके कुछ अंशों का अनुवाद Parson ने किया है, जिसका नाम है *The Theory* of Social and Economic Organization. द्रष्टव्य Max Weber, *Essays in Sociology* .
13. *Verstehen Sociologic.*
14. Lenin, *State and Revolution.*
15. L.T. Hobhouse, Moralsin Evolution; Westarmarck, *The Origin and Development of the Moral Ideas;* Kropatkin, *Ethics: Origin and Development* Wundt, *Philosophische Studien* (खण्ड 4); John Dewey, "Antaropology and Ethics", Ogburn Goldenweiser (सम्पादित), *The Social Sciences and their Interrelations.*
16. Leopold von Wiese, *Systematic Sociology.*
17. G. Myrdal, *An American Dilemma;* R.M. MacIver, *The More Perfect Union.*
18. A small, *The Significance of Sociology for Ethics-;* E.C. Hayes, *Sociology and Ethics;* L.T. Hobhouse, *The Rational Good, The Elements of Social Justice.* पुनश्च द्रष्टव्य H. Hoffding, "On the Relation between Sociology and Ethics" A.J.S.X; H. Sidgwick, "The Relation of Ethics to Sociology", International Journal of Ethics (1899).
19. राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र की सम्बन्ध-मीमांसा के लिये द्रष्टव्य, Norman Wilde, *The Ethical Basis of the State* (1924); W.W. Willonghby, *The Ethical Basis of Polotical Authority* (1930); Jack Levin, *Power Ethics;* T.D. Weldon, *States and* Morals; B. Crocs, *Politics and Morals; American Political Science Review* खण्ड 38, अगस्त 1944 तथा खण्ड 40; Carritt, *Politics and Morals.*
20. तुलनीय, Aristotle, *Politics* VII : "He who would duly inquire about the best form of a state ought first to determine which is th mosst eligible life,.... for in the natural order of things these may be expected to lead the best life who are governed in the best manner of which their circumstnaces admit....Thus the courage, justice and wisdom of a state have the same form and nature as the qualities which give the individual who possesses them the name of just, wise of temperate."
21. George Catlin, *The Science and Method of Politics, Principles of Politics.*
22. G. Catlin, *In the Path of Mahatma Gandhi.*

23. आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः ।.....चतस्र एक विद्या इति कौटिल्यः । ताभिर्धर्माथौं यद्विद्यस्तद्विद्यानां विद्यात्वम् ।....सामर्ग्यजुर्वेद स्त्रयस्त्रयी । अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः । शिक्षा कल्यो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो विचितिर्ज्योतिषमिति चांगनि । एष त्रयी धर्मश्चतुर्णों वर्गानामा श्रमाणां च स्वधर्म स्थापनादौपकरिकः ।.......स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च ।

तस्मात्स्वधर्म भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् ।
स्वधर्म संदधानो हि प्रेत्य येह च नन्दति ॥
व्यवस्तिर्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्र्यया हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥ अर्थशास्त्र, 1|2-3

24. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इदहमनृतात् सत्यमुपैमि । (यजुर्वेद 1|5)

25. Westermarck, *The Origin and Development of the Moral Ideas, Christianity and Morals.*

26. इस प्रकार के अन्तर के लिये, Karl Maunheim, *Ideology an Utopia* पृष्ठ 170-171 "The world of social relations is no longer inscrutable or in the lap of fate but, on the contrary, some social relations are potentially predictable. At this point the ethical principle of responsibility begins to dawn. Its chief imperatives are, first, that action should not only be in accord with the dictates of conscience, but should take into consideration the possible consequences of the action in so far as they are calculable, and, second....that conscience itself should be subjected to critical self-examination to order to eliminate all the blindly and compulsively operating factors" दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह स्थापना है कि उत्तरदायित्व की भावना का आरम्भ ही आचारशास्त्र की आधारशिला है । परिवार, जनपद, समाज, राज्य और आत्मा के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान ही मानव को नीतिमान बनाता है । मानहायम के अनुसार आचारशास्त्र की तीन अवस्थायें हैं : (क) भाग्यवाद का नीतिशास्त्र (ख) अन्तश्चेतनाभिमुखी नीतिशास्त्र और (ग) उत्तरदायित्वाभिमुखी नीतिशास्त्र । अगले पृष्ठों में आचार- शास्त्र, श्रेयशास्त्र और धर्मशास्त्र के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के मन्तव्यों का स्पष्टीकरण किया गया है ।

27. Rousseau, *A Discurse on the Arts and Sciences* (Everyman edition) p. 123 "Our minds have been corrupted in proportion as the arts and sciences have improved. Will it be said that this is a misfortune peculiar to the present age ? No, gentlemen, the evils resulting from our vain curiosity are as old as the world. The daily able and flow of the tides are not more regularly influenced by the moon than the morals of a people by the progress of the arts and the sciences. As their light has risen above our horizon, virtue has taken flight, and the same phenomenon has been constantly observed in all times and places."

28. Rousseau, *A Discourse on the Arts and Sciences.* पृष्ठ 120 ।

29. तुलनीयः–

तेभ्यो धिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥
वहवो विनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्याश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥
वेनो विनष्टो विनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनोश्चैव सुमुखो निमिखे च ॥
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥
इन्द्रियाणां जये योगं संमातिष्ठेद्विवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ।

(मनुस्मृति 7|39-42, 44)

30. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(भगवद्गीता, 6।16-17)

31. Max Weber, *Essays in Sociology*, पृष्ठ 128 Politics is a strong an slow boring of hard boards. It takes both passion and perspective. Certainly all historical experience confirms the truth.....at man would not have attained the possible unless time and again he had reached out for the impossible.....Only he has the calling for politics who is sure that he shall not crumble when the world from his point of view is too stupid or too base for what he wants to offer. Only he who in the face of all this can say "In spite of all, has the calling for politics."

32. St. Thomas Aquinas, *De Regimine Principum I*, : "But it is the nature of man to be a social and political animal, living in a multitude,....more so than other animals, as natural necessity makes manifest. For other animals nature has prepared food, coverings of air, and means of defense....such as teeth, horns and clams; or at least they have speed for flight. Man was created with none of these things prepared for him by nature; in place of them all reason was given him by which he might provide them for himself with the work of his hands. But to obtain such things one man is not sufficient; for one man alone could no live an adequate life. It is, therefore, natural to man to live in the society of many."

33. Rudolf Stammler, *The Theory of Justice, Wirtschaft Und Rechtnach der materialisticchen Gescatichtsauffasung, Lehrbuchder Rechtsphilosophic;* Jacques Maritain, *The Right of Man and Matural Law;* Ebeustein (ed), *Man and the State* (पृष्ठ 71-74) !

34. Pigou, *Economics of Welfare*

35. तुलनीय, ऋग्वेद 1।80।1-2 :–
इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वाज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननुस्वराज्यम् ॥
सत्वामददृषा मदः सोम श्येनाभृतः सुतः ।
येना वृत्रं निरद्मयो जघन्थ वज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

36. एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।
क्षमावन्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥ (महाभारत 1, 132)
न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा । (महाभारत, वन, 28।6)

37. अथर्ववेद के समय से ही "अभय" भारतीय संस्कृति का एक निर्मल आदर्श रहा है :–
यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघबंछग्धितव त्वं न अतिभिविद्विषो वि मृधो जहि ॥
अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इभे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधराद भयं नो अस्तु ॥
अभयं मित्रादभयमित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तभमयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
(अथर्ववेद, 19।15।1, 5-6)

लोक-साधन

श्री यश देव शल्य

संभवतः किसी दूसरे युग में कोई इस शीर्षक से लेख लिखने नहीं बैठता । ऐसे प्रसंग में वह लेखक अपने लेख का शीर्षक परलोक-साधन या परमार्थ-साधन जैसा कुछ रखता । क्योंकि वह मानता कि लोक सिद्ध हो या नहीं हो, किन्तु इसे सिद्ध करने में तो हम सहज में ही प्रवृत्त रहते हैं । और यदि हम बहुत प्रयत्न से अपने को इससे नहीं रोकें तब और कोई साधन हमारे लिए रह ही नहीं जायेगा । प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् । किन्तु आज यदि कोई परलोक-साधन या परमार्थ-साधन पर लिखना चाहे तो आज का "प्रबुद्ध" वर्ग न केवल उसका लिखा हुआ ही नहीं पढ़ेगा, वह उसके साथ हुक्का-पानी भी बंद कर सकता है । इसलिए आज परलोक-साधन पर कोई सूरमा ही लिखने की हिम्मत कर सकता है और मैं वह नहीं हूँ । हमारे आज के युग का लक्ष्य लोक को सिद्ध करना है और मैं यहाँ उसी पर विचार करने का प्रयत्न करूंगा ।

किन्तु यह लोक-साधन क्या है, इस पर प्रत्यक्ष विचार बहुत कम हुआ है, परोक्षतः तो अवश्य विचार होता रहा है । उदाहरण के लिए आज की विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएं, नीति-दर्शन और तत्त्व-दर्शन परोक्षरूप से इस साधन का ही निरूपण करते हैं । इन सब में जो बात उभर कर आती है वह यह है कि इस युग ने लोक-साधन का अर्थ ऐन्द्रिक सुख-साधन ही समझा है । वेल्फेयर स्टेट, साम्यवाद और प्रजातंत्रवाद सब इस एक प्रश्न के उत्तर हैं कि ऐन्द्रिक सुखों को किस प्रकार बढ़ाया और वितरित किया जाय कि संघर्ष और कलह उत्पन्न नहीं हो और इस प्रकार ये सुख सभी को उपलब्ध हो जाँय । यह कहते समय हमें इस बात का पूरा ध्यान है कि इस पर आक्षेप किया जायेगा कि ये सब सिद्धान्त सामाजिक न्याय को स्थापित करने के लिए हैं, ऐन्द्रिक सुख संबर्धन के लिए नहीं । किन्तु वास्तव में सामाजिक न्याय आदि इनका केवल ऊपरी या गौण रूप है, केवल एक ओप है, क्योंकि इस न्याय को साधने का माध्यम और लक्ष्य ये ऐन्द्रिक सुख को ही मानते हैं कुछ और नहीं ऐसा नहीं है कि ये व्यवस्थाएं धर्म, कला, और शिक्षा आदि को प्रभावित नहीं करती, अवश्य करती है–इन व्यवस्थाओं से शिक्षा और धर्माचरण आदि के लिए समानाधिकार भी सबको प्राप्त होता है, किन्तु इसका आधार-बिन्दु अर्थ ही है । सामाजिक न्याय, जिसकी आज इतनी चर्चा है का लक्ष्यार्थ वास्तव में आर्थिक न्याय ही है । साम्यवाद (कम्यूनिज्म) इस अभिनिवेश को स्पष्ट रूप से ही स्वीकार कर लेता है जब वह सामाजिक न्याय की बात छोड़कर स्पष्टतः केवल

आर्थिक न्याय की ही बात करता है और मनुष्य के लिए अतिलौकिक अभिनिवेशों या अन्वेषणों को अनावश्यक या अवांछनीय घोषित कर देता है।

इसके विरोध में कहा जा सकता है कि पश्चिम, जो कि आज के युग का नेता और आदर्श है, शास्त्र, कला और विज्ञान सब में उन देशों से आगे हैं जिनका आदर्श धर्म या अध्यात्म रहा है। अब, इसके दो कारण माने जा सकते हैं। या तो यह कि आर्थिक या ऐन्द्रिय साधन मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सब साधनों के लिए पूर्वापेक्षित हैं, या यह कि आर्थिक साधन ही एक मात्र साधन हैं, शेष सब इसके अनुषंगी हैं। यह द्रष्टव्य है कि इन दो विकल्पों में मौलिक अन्तर है—पहले का आशय यह है कि ऐन्द्रिय या आर्थिक साधन अन्य साधनों के लिए अनिवार्य प्रथम सोपान हैं और इस प्रकार स्वयं साध्य नहीं हैं, किन्तु दूसरे का आशय है कि न केवल यही एक साध्य है बल्कि अन्य कुछ साध्य हो भी नहीं सकता। वास्तव में ह्यूम और कांट के पश्चात् पाश्चात्य दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति यही रही है, यद्यपि कुछ और क्षीण धाराएं भी उसमें हैं जो उसकी अनुषंगी या पोषक नहीं हैं। ये हेगल, किर्केगार्ड, नीत्शे, हुसर्ल और हाइडेगर आदि के माध्यम से प्रवाहित हुई हैं, किन्तु हेगल द्वारा अपने आदर्श ऐतिहासिक प्रत्यय का नैपोलियन में प्रतिफलन देखना और हुसर्ल तथा सार्त्र आदि द्वारा चेतना को स्वरूपतः विषयोन्मुख देखना इस ओर संकेत करते हैं कि यह भिन्न धारा भी अपने को ऐन्द्रिय से उस सीमा तक मुक्त नहीं कर पायी जितना प्रतीत होता है। यदि किसी को इस धारा के लिए "ऐन्द्रियं" विशेषण का प्रयोग अयुक्त लगे तो हमें इसे "विषय-वृत्तिक" या "जगद्वृत्तिक" शब्द से स्थानान्तरित करने में आपत्ति नहीं होगी। किन्तु मोर्ल्यूपोंती नामक एक फ्रांसीय दार्शनिक ने जिस प्रकार हुसर्लीय दार्शनिक सिद्धान्त और गवेषणा-विधि को देहात्मवादी मोड़ दिया है[1] उससे कम से कम यह स्पष्ट है कि इस दर्शन-प्रणाली (फिनामिनलोजी) के लिए देहात्मवाद नितान्त विदेशी सिद्धान्त नहीं है। जो भी हो, पाश्चात्य मानस ने जिस दर्शन को आज वास्तव में अपनाया है वह यही है कि एकमात्र सत्य देहात्म है। आत्मा, बुद्धि मनस् आदि केवल इस आत्म के विकार हैं। पिछले 35-40 वर्षों से, जब से एशिया और अफ्रीका को राजनीतिक स्वतंत्रता मिली है, इन देशों में भी यही दर्शन प्रतिष्ठित हो रहा है—राजनीतिक आदर्श के रूप में मार्क्सवाद और प्रजातंत्रवाद, तथा समग्र आदर्श के रूप में आर्थिक समृद्धि और दैहिक सुखों की खोज।

वास्तव में जब हम "लोक" की बात करते हैं तब हमारा अभिप्राय देश-काल-विस्तार में व्याप्त वस्तु-जगत् से और इसके माध्यम से अभिव्यक्त मानव-सम्बन्धों से ही होता है। निश्चय ही यह लोक देहात्म का ही बाह्य प्रसार है। इसलिए लोक-साधन देहात्म का ही साधन हो सकता है और यह दूसरा कुछ हो भी क्या सकता है?

यह सही है, किन्तु देहात्म-साधन में कुछ ऐसा अन्तर्विरोध है कि यह कभी अपनी उद्देश्य-सिद्धि नहीं कर सकता। परिणाम में यह व्यर्थता, खेद और आत्म-ग्लानि को ही पा सकता है। यह साधन वास्तव में तो अपने को प्रत्येक चरण पर ही निरस्त और बाधित करता है—इसमें आत्म-ह्रास या

आत्म-बाध दो स्तरों पर होता है, भीतर से और बाहर से भीतरी या आन्तर बोध इसके प्रत्येक अन्वेषण के अन्वेषण-कर्म के साथ ही पर्यवसित होने या चुक जाने में है: क्षुधा, काम या अधिकार का अन्वेषण और इसी प्रकार के अन्य सब अन्वेषण अपनी सिद्धि के साथ ही चुक जाते हैं, बल्कि अधिकांश में इनकी अतिशय सन्तुष्टि इनसे वितृष्णा उत्पन्न करती है। वास्तव में इनके उपभोग का कौशल इनमें संयत आचरण में है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि अतिशय सन्तुष्टि से वितृष्णा उत्पन्न होने की बात सर्वत्र देखने में नहीं आती। क्षुधा का शमन सुख देता है और हम स्वाद भोजन नित्य खाते रहना चाहते हैं यही काम अधिकार या प्रभुता के सम्बन्ध में भी है। इसका उत्तर है कि अतिशयता इन सब सन्तुष्टियों को खेदजनक बनाती है, किन्तु यह भी सही है कि जहां तक चेतना के पाशव स्तर का प्रश्न है, इस पर इनसे निवृत्ति का भाव उत्पन्न नहीं होता। किन्तु हम ऊपर केवल इतना ही कह रहे थे कि इनमें प्रत्येक अन्वेषण अपनी सन्तुष्टि के साथ पर्यवसायी होता है और इसका अर्थ है कि प्रत्येक सन्तुष्टि अन्वेष्य के आकर्षण और मूल्य को समाप्त कर देती है, दूसरे यह अन्वेषण मात्रात्मक आधिक्य की ओर तो अग्रसर हो सकता है, गुणात्मक आधिक्य-उत्कर्ष, गहराई की ओर नहीं, इसमें ये आयाम ही नहीं होते। किन्तु इस प्रकार के अन्वेषण मात्र की मूल्य-हीनता का बोध मनन से ही उत्पन्न होता है, जो एक दूसरी बात है।

देहात्म-साधन का बाहरी स्तर पर विकास अन्य व्यक्तियों के साथ संघर्ष के प्रसंगों में उपस्थित होता है। हमारे इस स्तर के अन्वेषण निरन्तर षड्यंत्र, कलह और युद्धों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार आपको प्रत्येक चरण पर तनाव के बीच आगे बढ़ना होता है और प्रत्येक सफलता असफलता की असंख्य संभावनाओं के बीच एक आकस्मिक घटना मात्र होती है। इन परिणामों से बचने के लिए आपको समायोजन और सहाचरण की व्यवस्थाओं का आविष्कार करना पड़ता है। किन्तु यह प्रयत्न इस अन्वेषण के अन्तर्गत सफल नहीं हो सकता, इसे सिद्ध करने के लिए चेतना को अन्वेषण के इस स्तर से ऊपर उठना होता है। इस स्तर पर रहकर ही समायोजन के प्रयत्नों के क्या परिणाम हो सकते हैं इसके उदाहरण हम आज चाहे जितने भी पा सकते हैं। अमरीका और रूस ने "शान्ति की रक्षा के लिए" पौराणिक कल्पना के लिए भी अगम्य शस्त्रास्त्रों का आविष्कार किया है, स्तालिन ने इस समायोजना की सिद्धि के लिए प्रपीड़न की दानवीय कल्पनाओं को भी मात दी थी। कहा जा सकता है कि उदाहरणों से कुछ सिद्ध नहीं होता, इनमें सैद्धान्तिक अनिवार्यता क्या है ? इनमें सैद्धान्तिक अनिवार्यता यह है कि यदि समायोजन का आधार प्रभुता, काम और क्षुधा आदि की तृप्ति को यथासंभव निर्बाध बनाने का प्रयत्न ही हो : "जीने दो, जिससे तुम भी जी सको" यही हो, तब दूसरे को जीने देना मेरे जी सकने की स्फीत वासना के पोषक के रूप में ही स्वीकार्य हो सकता है, स्वतंत्र या मुख्य मूल्य के रूप में नहीं। इस प्रकार, प्रयत्न स्वयं जी सकने की संभावनाओं को बढ़ाने का ही हो सकता है, अन्य को जीने देने की संभावनाओं को बढ़ाने का नहीं। "शक्ति-संतुलन" या "शान्ति के लिए शस्त्र-संग्रह" या "शांति के लिए युद्ध" की आत्म-बाधक वस्तुस्थिति या आत्मघातक मनःस्थिति के मूल में यही सैद्धान्तिक अनिवार्यता है।

लोकोन्मुख अन्वेषणों की दूसरी कठिनाई इनका अर्थ-दारिद्रय है । निश्चिय ही शिल्प और यंत्र-कौशल का समावेश इसी के अर्थ-विस्तर में किया जा सकता है और इस प्रकार अन्यान्य ग्रहों की यात्रा और सुविधाओं के असंख्य उपकरण इसी के अर्थ-विस्तार माने जा सकते हैं, किन्तु देखना यह है कि इनमें क्या अर्थ निहत है । अर्थ की दृष्टि से इन सब उपलब्धियों के दो पक्ष हैं: ज्ञान-वृद्धि और सुविधा-वृद्धि । पहला चेतना के बौद्धिक पक्ष का विस्तार है और दूसरा शारीरिक पक्ष का । किन्तु यह द्रष्टव्य है कि बौद्धिक पक्ष के विस्तार की दृष्टि से वैज्ञानिक निकृष्टतम कोटि में आता है क्योंकि विज्ञान में बुद्धि शुद्ध रूप से आकार-ग्राही होती है और इन आकारों की सम्पूर्ण अन्तर्वस्तु सांवेदनिक (ऐन्द्रिक) होती है ।[2] इस ज्ञान का संभवतः सबसे उपर्युक्त निरूपण कांट द्वारा हुआ, यद्यपि आधुनिक आंग्ल-अमरीकी दर्शन ह्यूम को अधिक स्वीकृति दे रहा है जो बुद्धि को वस्तु-शून्य स्वकल्पित आकारों (फोर्क्स) की सर्जक मानकर उसके बचे-खुचे गौरव को भी उससे छीन लेता है।

यहाँ इन दर्शनों का विवेचन संभव नहीं है । यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि स्वयं संवेद में विस्तार और गांभीर्य की कोई संभावनाएं नहीं हैं केवल बौद्धिक आकारों के क्षेत्र में ही इसके विस्तार की संभावनाएं हैं—सिद्धान्त की व्यापकता कितनी भी हो सकती है—किन्तु ये आकारिक संभावनाएं (जैसे गणित और शुद्ध तर्क में) वैज्ञानिक ज्ञान के संदर्भ में संवेद का अतिक्रमण नहीं कर सकती । ऐसी अवस्था में विज्ञान में अर्थ-वैभव की संभावनाएं बहुत सीमित हो जाती हैं[3] । इस तथ्य को देखने के लिए इसकी तुलना चित्रकला से करना उपयोगी होगा: चित्र-कला भी संवेदाश्रित है किन्तु यह संवेद का उपयोग अपने स्वतंत्र सर्जन-मूलक अर्थ की सिद्धि के लिए करती है, यह अपनी अलौकिक सत्ता की लौकिक अभिव्यक्ति के लिये चाक्षुष संवेद को अपना माध्यम बनाती है, अपना प्रामाण्य संवेद में नहीं खोजती, जैसा कि विज्ञान खोजता है । इसमें संवेद का पूर्ण रूपान्तरण हो जाता है, यहाँ तक कि इसमें संवेद भौतिक देश-काल के नियत संदर्भ से निकल कर कला के स्वायत्त देश-काल के संदर्भ में निर्बन्ध हो जाता है ।

जहां तक उपयोगिता-मूलक अर्थों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि मानवीय अर्थों का अन्वेषण सदैव इस स्तर का अतिक्रमण करके ही आरंभ होता है । उदाहरण के लिए मेज़ बनाने में लकड़ी से उसे गढ़ने के अतिरिक्त उसमें सौन्दर्य का आधान करना एक गहनतर मानवीय अर्थ को उसमें सन्निहित कर देता है ।

ऐसा नहीं है कि आज कलात्मक अर्थों का अन्वेषण नहीं हो रहा है, या यांत्रिक रचनाओं में सुरुचि और सौष्ठव का ध्यान नहीं रखा जाता, हमारा यहां केवल इतना ही कहना है कि इसमें ये सब अर्थ अनुषंगी हैं ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होना चाहिए कि देहात्ममूलक दर्शन लोक-साधन के लिए एक अत्यन्त अनुपयुक्त दर्शन है । निश्चय ही लोक-साधन के लिये केवल देह ही माध्यम हो सकती है । कालिदास की यह उक्ति बड़ी सार्थक है कि धर्म का प्रथम साधन शरीर ही है । "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्",

किन्तु इसमें शरीर क़ी अनिवार्यता के साथ इसकी साधनभूतता, और वह भी आरंभिक या प्रथम स्तरीय साधन भूतता, का प्रतिपादन है, यह बात ध्यातव्य है।

मुझे लगता है कि हमने आज यह दृष्टि पूरी तरह खो दी है। पश्चिम के पीछे हम भी आज सर्वत्र ऐन्द्रिय मूल्यों को ही सिद्ध करने में निरत हैं। उदाहरण के लिए आज आर्थिक वितरण सामाजिक न्याय का एकमात्र मानदंड है, इसके बावजूद कि हमारे यहाँ सामाजिक न्याय को कर्तव्य के माध्यम से चरितार्थ करने का व्यवहार-सिद्ध आदर्श रहा है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण के लिए धन और अधिकार, यहां तक प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा भी त्याज्य थे और क्षत्रिय के लिए धन और विलास हेय थे। मनुष्य मात्र के लिए भोग यज्ञपूर्वक ग्राह्य थे। किसी का धन नहीं छीनने का विधान या छीनने का निषेध इसलिए नहीं था कि इससे वह हमारा नहीं छीनेगा और इस प्रकार छीना झपटी में सबको हानि नहीं होगी, बल्कि इसलिए निषिद्ध था क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ईशावास्य है। इस प्रकार जीवन, समाज, और लोक-साधन की यह संपूर्ण अवधारणा ही मौलिक रूप से भिन्न थी।

यहाँ हमारे कहने का यह अभिप्रायः नहीं है कि हम आज फिर से वर्ण-व्यवस्था को अपनायें या हवन करें। ऐसा समझना गौण को मुख्य बनाना होगा। वर्ण-व्यवस्था केवल एक वैकल्पिक व्यवस्था है जो देश, काल और रुचिभेद से ग्राह्य-अग्राह्य हो सकती है। यही बात हवन आदि अनुष्ठानों की है। मुख्य बात तो उस भाव या अभिनिवेश की है, जिसको ये प्रकट करते हैं। वह भाव या अभिनिवेश अन्य अनेक प्रकार से भी प्रकट किया जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था के पीछे यह भाव है कि सामाजिक सम्बन्धों का मेरुदंड कर्त्तव्य और त्यागपूर्वक वैश्व व्यवस्था में योगदान करने में है। यही भाव जगत को ईशावास्य देखने में, और किसी का धन नहीं छीनने के वैदिक अनुदेश में है। लोक-साधन का यह दूसरा मूलतः भिन्न और अर्थ-विपुल मार्ग है। यह मार्ग आधुनिक सन्दर्भ में गांधी जी ने प्रशस्त किया था जिसका दुर्भाग्यवश हमने अनुसरण नहीं किया। ऐसा नहीं है कि यह दृष्टि केवल भारतीय संस्कृति तक ही सीमित थी। अधिकांश प्राचीन संस्कृतियों ने न्यूनाधिक स्पष्ट रूप से और भिन्न स्तरों पर और भिन्न रूपों में इस दृष्टि को पाया था।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि प्राचीन व्यवस्थाओं में सामाजिक न्याय का स्पष्ट बोध नहीं मिलता। यहां इसका अपेक्षित विस्तार से उत्तर देने के लिए स्थान नहीं है, किन्तु हम संक्षेप में कहना चाहेंगे कि इस प्रकार की वस्तुस्थिति के तीन पक्ष होते हैं–बोध, बोध-प्रकार और उसका क्रियान्वयन। अब यह कहना कि प्राचीनों को सामाजिक न्याय की अवधारणा या बोध नहीं था, भ्रामक है। जहां अधिकार के विपरीत कर्तव्य को सामाजिक अस्तित्व का मेरुदंड माना गया हो वहां न्याय तो उसमें पूर्वापेक्षित ही होगा। अन्तर इस दृष्टि के प्रकार या रूप तथा उसके क्रियान्वयन में है। यहाँ संकेत रूप में प्लेटो का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसने न्याय के स्वरूप का उत्कृष्टतम विवेचन किया है और जिसने **रिपब्लिक** नामक संवाद में न्याय तथा कर्तव्य पर आधारित समाज-व्यवस्था का विस्तृत निरूपण किया है, किन्तु जो दास-प्रथा में कुछ अनुचित नहीं देखता। जो

भी हो, हमारा प्रयोजन यहां किसी सभ्यता का समर्थन या दोष-निरूपण नहीं है, हमारा प्रयोजन केवल यह दिखाना है कि लोक-साधन की सही विधि ऐन्द्रिक सुखों का अन्वेषण नहीं है, क्योंकि यह विधि आत्मघाती और अर्थ-दरिद्र है और इस प्रकार आधुनिक पश्चिम की सावेदनिक संस्कृति (सेंसेट कल्चर) सदोष प्रत्ययमूलक है। यह तो सही है कि आज हिटलर, मुसोलिनी, और स्टालिन आदि हुए या हैं तो पहले भी असंख्य आततायी राजा हुए, किन्तु हिटलरवाद और "शांति के लिए" युद्ध अभुतपूर्व विचार हैं। यदि यह कहें कि पहले आततायित्व, शस्त्र-संग्रह आदि दृष्टि के अभाव अथवा उसकी असफलता के वाचक माने जाते थे और आज ये विशाल समुदायों की दृष्टि के रूप में प्रथित हैं तो कुछ अनुचित नहीं होगा। अवश्य इनका विरोध भी बहुत व्यापक है, किन्तु यह विरोध कितना थोथा है। यह यूरोप के तथाकथित प्रमुख प्रजातंत्र समर्थक देशों द्वारा दक्षिण अफ्रीका और संसार के अन्य तानाशाहों के समर्थन से देखा जा सकता है।[4] यहाँ कहा जा सकता है कि, किन्तु यह उनकी दृष्टि नहीं है, उनकी "दृष्टि" प्रजातंत्रवाद ही है और प्रजातंत्रवाद उदारता, आत्मवत् सर्वमानवेषु मूलक विचार में ही प्रतिष्ठित है। यह सही है, किन्तु इस दृष्टि की मूल धारणा ऐहिकवाद है जो अर्थ-दारिद्र्य और इस प्रकार जीवन की दरिद्रता में प्रतिफलित होती है।[5]

यहाँ दो शब्द भोगान्वेषी पश्चिम के शास्त्र, कला और नैतिक आचरण में अग्रणी होने के सम्बन्ध में कहना भी सही होगा। इसका विस्तृत उत्तर यहां देना संभव नहीं होगा। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि एशियाई देशों, विशेषतः भारत का इनमें पिछड़ापन अध्यात्म दृष्टि के कारण नहीं है। वास्तव में इस समय हम पश्चिम की उपर्युक्त लोक-दृष्टियों और लौकिक उपलब्धियों के बिना उनके समान ही भोगान्वेषण में प्रवृत्त हैं। जब हम अध्यात्मान्वेषण में वास्तव में प्रवृत्त थे तब कला, शास्त्र आदि में हमारे द्वारा छुए गए शिखर किसी भी भोगान्वेषी सभ्यता द्वारा आज तक छुए गए शिखरों से कम उन्नत नहीं थे। और वास्तव में यही बात अभोगान्वेषी मिश्र, ग्रीस और ईसाई सभ्यताओं के लिए भी सत्य है। दूसरी ओर भोगान्वेषी मुस्लिम सभ्यता किसी भी ओर अधिक आगे नहीं बढ़ पायी। इसलिए संस्कृति का भोगान्वेषी होना शास्त्र, कला आदि के विकास में अपने आपसे उपकारक नहीं है, केवल विज्ञान के विकास में उपकारक इसे कहा जा सकता है, किन्तु वह भी अनिवार्य रूप से नहीं।

पी-51, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर-302015.

●

---

1. मोर्ल्यू पोंती-फिनॉमिनलोजी ऑफ पर्सेप्शन,
   अनु. कोलिनस्मिथ, रूटलज एंड केगन पॉल, लंडन, 1962
2. द्रष्टव्य यशदेव शल्य-संस्कृतिः मानव कर्तृत्व की व्याख्या पुस्तक में "प्राकृतिक विज्ञान" अध्याय/प्रकाशक-राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1969।

3. द्रष्टव्य उपर्युक्त पुस्तक में ही "धर्म का स्वरूप" अध्याय का अंतिम अनुच्छेद।
4. इधर दक्षिण अफ्रीका का समर्थन पश्चिम के भी प्रायः सभी देशों ने बंद कर दिया है और स्वयं अफ्रीका ने भी रंग-भेद की अपनी कठिनता कम की है। यह लेख उससे पहले लिखा गया था।
5. द्रष्टव्य हमारी पुस्तक **विषय और आत्म** में "प्रजातंत्रवादः पुनर्विचार की आवश्यकता" तथा प्रकाशनाधीन **समाज का स्वरूपः दार्शनिक विमर्श** में "न्याय" तथा "राज्य" अध्याय।

समाज, समाजवाद और अनात्मवाद

डॉ. पारसनाथ द्विवेदी

समाज मानव-जाति का एक संघटन है जिसमें लोग मिलकर एक साथ एक गति से चलें वही समाज है (**समम् अजन्ति जना अस्मिन्निति समाजः**)। समाज शब्द से मिलता-जुलता शब्द समुदाय है। 'जो लोग एक जगह रहते हैं, एक ही प्रकार के नियमों के अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं और समान बातों में रुचि रखते हैं तथा एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिए काम करते हैं जिसमें सब के हित का भाव निहित होता है उनके समुच्चय को 'समुदाय' कहते हैं और इस प्रकार का समुदाय समाज कहा जाता है। वस्तुतः जिस समुदाय में सबका एक उद्देश्य न हो, एक लक्ष्य न हो, एक भाव न हो, सबके हित का विचार न हो, उसे भीड़ भले ही कह लें किन्तु उसे समाज नहीं कह सकते। पशुओं का समूह भी तो मिल जुल कर एक साथ रहता है, एक साथ चलता है, एक साथ घूमता है, किन्तु उनके समूह को समाज नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनका कोई एक उद्देश्य नहीं होता, उनमें सबके हित का भाव नहीं होता, उनमें बुद्धिसंगत संघटन का अभाव रहता है। इस प्रकार के पशु-समूह को 'समज' कहा जाता है। 'समाज' और 'समज' दोनों एक ही धातु से निष्पन्न होने से समान हैं किन्तु दोनों के अर्थ में महान् अन्तर है। 'समाज' शब्द मानव-समुदाय अर्थ को अभिव्यञ्जित करता है और 'समज' शब्द पशु-निवह अर्थ को द्योतित करता है (**समाजशब्दो मानव-समूहे समजशब्दश्च पशुनिवहे सम्पाद्य मानवस्य सामाजिकता स्वत एव समुद्घोषिता महर्षिणा पाणिनिना**) इस प्रकार पशु-निवह समाज नहीं हो सकता। मानव-समुदाय को समाज कहा जा सकता है।

बाबू सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'चिद्विलास' में लिखा है कि "मानव एक सामाजिक प्राणी है। कुछ विशेष व्यक्ति कुछ विशेष अवस्थाओं में कुछ समय के लिए भले ही दूर चले जाँय, किन्तु सामान्यतः उन्हें समाज में रहना अच्छा लगता है"[1]। मानव जन्म से लेकर मरण पर्यन्त समाज में ही रहता है। समाज में रहकर ही वह अपने हित का साधन करता है। समाज से पृथक् होकर मानव नहीं हो सकता। वह तो समाज का एक अङ्ग है, अवयव है, यही नहीं बल्कि वे सभी प्राणी समाज के अङ्ग हैं, जिनके सहयोग से हमारी जीवन-यात्रा हो रही है और हमारे अर्थ और काम की सिद्धि हो रही है। कृषक, श्रमिक, वणिक् आदि समाज के अङ्ग के रूप में समाज के हित के लिए कार्य करते हैं। उनमें मैत्री, उदारता, आत्मसंयम, परार्थसाधन आदि गुण हैं। गुणों का समुदय ही मानव को धर्म और मोक्ष की ओर ले जाता है। मानव में जब सहयोग की भावना होगी तभी समाज

समुन्नत होगा और जब समाज समुन्नत होगा तो व्यक्ति भी समुन्नत होगा। क्योंकि समाज व्यक्ति के लिए होता है और व्यक्ति से भी अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के हित के लिए काम करे।

बाबू जी का कहना है कि आज मनुष्य तो है किन्तु मनुष्य समाज नहीं है। समाज तो एक कल्पनामात्र है। विशेष उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए एक अस्थायी गुट बन जाता है जिनका उद्देश्य स्वार्थ-साधन है। इनका न कोई लक्ष्य होता है और न कोई उद्देश्य। ऐसा संघटन समाज नहीं कहला सकता है, इसमें 'सम् अजन' का भाव नहीं होता। ऐसे गुट बनते हैं और बात की बात में टूट जाते हैं, इनमें तीव्र प्रतिस्पर्द्धा होती है। व्यक्ति व्यक्ति में, वर्ग वर्ग में संघर्ष है, विद्रोह है और एक वर्ग दूसरे वर्ग को नीचा दिखाने के लिए तत्पर रहता है। यह संघर्ष अपने स्वार्थो की लड़ाई है। इसमें कूटनीति, चालाकी, तिकड़म आदि अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। स्वार्थ की ज्वाला में मानव अपना मूल्यवान् से मूल्यवान् वस्तु भस्मसात् कर दे रहा है। एक आगे बढ़ता है। उसके दस शत्रु हो जाते हैं जो आपस में मिलकर उसे नीचा दिखाते हैं।

इसका परिणाम यह निकला कि जन-समुदाय में एक ध्येय को सामने रखकर संघटित रूप से उस ध्येय की प्राप्ति के लिए एक साथ मिलकर काम करने की प्रवृत्ति नहीं रही। आज सभी आचार्य चाहे वह विज्ञानाचार्य हो अथवा साहित्याचार्य अपनी विद्वत्ता का उपयोग दूसरे का अहित करने में करते हैं। इस वर्ग के लोगों का न कोई लक्ष्य होता है, न कोई संघटन। उनमें स्वार्थ होता है, तृष्णा होती है, मत्सरता होती है, उनका किसी दूसरे व्यक्ति, किसी दूसरे समुदाय, किसी दूसरे वर्ग के लोगों पर विश्वास नहीं रहता। इसी अविश्वास और अशान्ति का यह परिणाम है कि जगत् का वातावरण कलहमय हो रहा है। उत्पादन अधिक होने पर भी सर्वत्र भुखमरी, बेकारी बढ़ रही है। इस प्रकार का कोई संघटन या समाज नहीं है कि जो मनुष्य को मनुष्य बना सके और समाज की सेवा कर सके। वाकुनिन ने ठीक कहा है कि–"........मनुष्य तभी मनुष्य होता है और उसकी विवेकबुद्धि तभी जागरित होती है जब वह समाज में अपने मनुष्यत्व का अनुभव करता है। उस दशा में भी वह समाज के सामूहिक कार्यों द्वारा ही अपने को व्यक्त कर सकता है।"[2]

बाबूजी ने 'समाजवाद' नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है कि "........कहा जाता है कि ईश्वर के सामने सब बराबर है।" 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' किन्तु व्यवहार में हिन्दुओं का ईश्वर करोड़ों हिन्दुओं को अपने सामने आने ही नहीं देता। उनको मन्दिर में जाने का अधिकार नहीं है। जब किसी बड़े आदमी या अधिकारी को दर्शन की सुविधा देने के लिए लोग धल्के देकर हटाये जाते हैं उस समय समदर्शिता अपनी आंखे बन्द कर लेती है।[3] यह है समाज की समदर्शिता, जिसमें गरीब का ईश्वर दूसरा होता है और अमीर का दूसरा। गरीब को तो सन्तोष का पाठ पढ़ाया जाता है कि उसे सन्तोष का फल स्वर्ग में मिलेगा, किन्तु अमीर के लिए सन्तोष की शिक्षा नहीं है। बाबूजी ने आगे कहा है कि गरीब शोषण की चक्की में पिस रहा है, किन्तु उसके लिए भगवान् खम्भे को फाड़कर नहीं निकल रहे हैं वे तो अनन्तशयन का सुख भोग रहे हैं। अन्न-संकट के समय लाखों प्राणी भूख से तड़प-तड़प कर दिन काटते हैं किन्तु धर्मप्राण व्यापारी चोर बाजारी से करोड़ों

रूपया कमा लेता है। प्रजा की बहू-बेटियों की इज्जत का अपहरण करने वाला नरेश अथवा महाजन धर्मावतार कहलाता है। कोई ब्राह्मण पुरोहित उससे नहीं कहता कि तुम अधर्मी हो, तुम्हारें यहाँ मैं भोजन नहीं करूँगा। एक अधिकारी अपनी चालबाजी से लाखों रुपया एकत्र कर लेता है तो कानून उसकी रक्षा करता है और एक भूखा कर्मचारी यदि चार पैसा भी ले लेता है तो उसे जेल की सजा भुगतनी पड़ती है।[4] यह है हमारे समाज की समदर्शिता जहाँ गरीब और अमीर के लिए अलग-अलग नियम है, अलग-अलग कानून है, दोनों का अलग-अलग मजहब है। आज कोई भी ऐसा कानून या मजहब नहीं है जो गरीब और अमीर को एक सूत्र में बांध सके एक समाज में परिणत कर सके। एक प्रसिद्ध समाजवादी ने ठीक कहा था—"मजहब लोगों को बेहोश करने की दवा है और समृद्ध लोग इसी काम के लिए धर्माचार्यों द्वारा इसका उपयोग कराते हैं।"[5] इस समय कोई भी मजहब ऐसा नहीं है जो जन-समुदाय को एक सूत्र में बांध सके सबका हित कर सके।

इतिहास पर दृष्टिक्षेप करने पर ज्ञात होता हैं कि मानव-समाज के जितने भी संघटन थे उनमें वर्णाश्रम धर्म ही एक ऐसा संघटन था जो बहुत दिनों तक करोड़ों मनुष्यों को संघटित रूप में जोड़े रखा था। सामूहिक जीवन को नियन्त्रित रखने का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ साधन वर्णाश्रम धर्म ही था। हमारे प्राचीन ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों ने देखा कि लक्ष्मी, सरस्वती और काली, धन, विद्या और शक्ति तीनों का एक जगह एक व्यक्ति में रहना समाज के लिए अहितकर होगा। इस दृष्टि से उन्होंने समाज को गुण और कर्म के अनुसार चार भागों में विभाजित कर दिया। जो लोग ज्ञानवान्, तपस्वी, विद्वान् एवं स्वार्थहीन होते थे तथा जन-समुदाय के शिक्षक थे, वे ब्राह्मण कहलाये। इनके पास न अधिकार था, न सम्पत्ति। किन्तु वे अपनी विद्या, ज्ञान एवं बुद्धि के बल से मानव के समस्त जीवन पर नियन्त्रण रखते थे। समाज में सभी वर्ग इन ब्राह्मणों से शासित होकर अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। दूसरे वर्ग में वे रखे गये जिनके पास अधिकार था, शक्ति थी, बाहुबल था और समस्त समुदाय के रक्षण एवं शासन करने का सामर्थ्य था। इनके अतिरिक्त जो खेती, पशुपालन तथा समाजोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा समस्त समुदाय का पोषण करते थे, वे वैश्य कहलाये। प्राचीन काल में इसी वर्ग के लोगों का आधिक्य था। जो इन तीनों प्रकार की श्रेणियों से भिन्न थे और जो शारीरिक श्रम से समुदाय की सेवा करते थे उनका एक अलग वर्ग (समुदाय) बन गया। उनकी संज्ञा शूद्र कहलाई। ये चारों समुदाय सदा एक दूसरे के हित एवं अभ्युदय के लिए कार्य करते थे। इनमें परस्पर सहयोग की भावना थी। ब्राह्मण समाज के लिए तप, पूजा-पाठ, अनुष्ठान करके तथा देवताओं की स्तुति करके प्रजा के कल्याण की कामना रखता था। क्षत्रिय के ऊपर प्रजारक्षण का भार था। वह अपने बाहुबल से शासन करते हुए समुदाय की रक्षा करता था। वैश्य उपार्जन करके सबका पोषण करता था और शूद्र तीनों समुदायों की सेवा करता था। उस समय समाज का यह विभाजन गुण और कर्म के अनुसार था। जाति से कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं होता था (जात्या ब्राह्मणादिवर्णा न भवन्ति)। शूद्र भी गुण और कर्म से ब्राह्मण हो सकता था और ब्राह्मण शूद्र हो सकता था। पृषधु गोबध करने के कारण शूद्र हो गया था।

विश्वामित्र का ब्राह्मण होना सबको ज्ञात है। किन्तु जब यह व्यवस्था बनी थी उस समय की स्थिति कुछ और थी। उस समय मुख्य सम्पत्ति भूमि थी और प्रमुख व्यवसाय कृषि था। जनसंख्या थोड़ी थी। कृषक का शोषण नहीं होता था। सब में एक दूसरे के सहयोग की भावना थी। किन्तु आज वह स्थिति बदल गई है। ऊँच-नीच तथा छुआछूत के भेदाभाव ने घुन की तरह वर्ण-व्यवस्था को भीतर-भीतर खोखला बना दिया। लोगों में स्वार्थलिप्सा इतनी बढ़ गई कि एक दूसरे के जान लेने में भी नहीं हिचकते हैं। वे अपने कर्त्तव्यों को भूलकर परस्पर एक दूसरे के शत्रु हो गये। तिकड़म, चालबाजी से अपना ही काम बनाने में लगे रहते हैं। परहित और सहयोग की भावना नष्ट हो गई। आज हमें फिर से वर्णाश्रम व्यवस्था को सुव्यवस्थित करना होगा। नये युग के परिप्रेक्ष्य में उनके विभाजन की नई रूपरेखा नया शास्त्र तैयार करना होगा और उनके कर्त्तव्य निर्धारित करने होंगे। यदि नये शास्त्रों के आधारों पर मानव समुदाय के समूचे जीवन का संव्यूहन करके नये ढंग से समाज को संघाटित किया जाय तो अवश्य ही अच्छा समाज बन सकता है।

बाबू सम्पूर्णानन्द का कहना है कि समाजवाद को अच्छी तरह समझना है तो उसके आधार-स्वरूप दर्शन को जानना अत्यन्त आवश्यक है। बिना दर्शन को समझे समाजवाद को समझना कठिन है। किन्तु दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यदि दर्शन के सभी अङ्गों पर यहाँ विचार करते हैं जो आवश्यक भी है, तो निबन्ध का कलेवर एक पुस्तक का रूप धारण कर लेगा। अतः उसके एक अङ्ग जगत् को ही हम यहाँ अपना आलोच्य विषय बनाते हैं। क्योंकि जगत् का मानव-जीवन से समीपतर सम्बन्ध है। प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् सभी अलग-अलग दृष्टिकोणों से दर्शन का अध्ययन करते हैं किन्तु समाजवादी का उद्देश्य उन दोनों से भिन्न है, उनका उद्देश्य यह है कि वह जगत् के रहस्य को समझकर उसे परिवर्त्तित कर सके। वह जगत् के परिवर्त्तन का कार्य प्रकृत्ति या ईश्वर पर नहीं छोड़ना चाहता।[6] बाबूजी का कथन है कि "अध्यात्मशास्त्र वह प्रकाश है जिसकी सहायता से अज्ञान का अन्धकार दूर किया जा सकता है, और जगत् के स्वरूप को पहचाना जा सकता है।" इस प्रकार जगत् के स्वरूप को जानने के लिए अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है। बाबूजी ने अपनी पुस्तक 'चिद्विलास' में लिखा है–

"जो शास्त्र सम्पूर्ण विश्व को, समूचे जगत् को एक मानकर उसके स्वरूप को, उसके अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध और कुल में उसके स्थान को और उसके विकास और संकोच को अपना विषय बनाता है उसे अध्यात्मशास्त्र या दर्शनशास्त्र कहते हैं।"[7]

"दार्शनिक ज्ञान-विश्व के स्वरूप का ज्ञान-धर्मज्ञान का साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत् में हमारा क्या स्थान हैं ? किस किसके साथ कैसा सम्बन्ध हैं। इस सम्बन्ध से हमारे कैसे कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं और इन कर्त्तव्यों का किस प्रकार पालन किया जा सकता है।" ....पूर्णज्ञान की नीव पर समाज का जो संघटन होगा वह निर्दोष होगा। काल की गति से जगत् के विस्तार के सम्बन्ध में ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग के नये प्रकार आविष्कृत हो सकते हैं, इसलिए समुदाय के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की नई व्यवस्थाएँ आवश्यक प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु पूर्णप्रज्ञ के बताये हुए सिद्धान्त सदैव श्रेयस्कर रहेंगे।"[८]

यहाँ पर एक प्रश्न और विचारणीय है कि समाज का व्यक्ति से क्या और कैसा सम्बन्ध है ? बाबूजी ने कहा है कि व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है, समाज के विकास का केन्द्रबिन्दु है। व्यक्ति से पृथक् समाज का अस्तित्व नहीं है, व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है। व्यक्ति की उन्नति-अवनति समाज की उन्नति और अवनति है। व्यक्ति के हित से पृथक् समाज का कोई हित नहीं हो सकता। व्यक्ति का हित ही समाज का हित है। अतः समाज को चाहिए कि वह व्यक्ति के हित एवं लक्ष्य-सिद्धि के लिए संसाधन जुटाये। व्यक्ति का भी कर्त्तव्य है कि वह स्वार्थ का परित्याग कर समाज के लिए काम करे। यहाँ पर कर्त्तव्य की चर्चा से एक प्रश्न और खड़ा हो गया कि कर्त्तव्य है क्या ? जब तक कर्त्तव्य की पहचान नहीं तब तक वह कौन सा कैसा कर्त्तव्य करेगा। अतः कर्त्तव्य पालन के लिए कर्त्तव्य को पहचानना आवश्यक है। एक दार्शनिक का कहना है कि 'जो हमें दूसरों के साथ करना है और जो दूसरों को हमसे पाना है वह कर्त्तव्य है और जो दूसरों को हमारे साथ करना है और जो हमें दूसरों से पाना है वह हमारा अधिकार हैं।' वे सब जिनसे हमारे लक्ष्य की पूर्त्ति हो रही है, जिनसे हमारी जीवन यात्रा चल रही है, समाज के अङ्ग हैं। उन सबके प्रति हमारा कर्त्तव्य है और हमारे प्रति उन सबका अधिकार है। यह प्रश्न विषयान्तर हो रहा है अतः हम इसे यहीं छोड़ देते हैं। यदि कर्त्तव्य को अच्छी तरह से पहचान कर सम्यक् रूप से उसका पालन किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति का अभ्युदय हो सकता है और जगत् में सुख-समृद्धि का विस्तार हो सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जगत् है क्या ? भारतीय चिन्तन-परम्परा में इसके सम्बन्ध में दो प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित हैं। प्रथम के अनुसार इस जगत् का मूल स्वरूप ब्रह्म है जो अद्वय, सत्, चिन्मात्र है। इसे अध्यात्मवादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है। दूसरे के अनुसार पदार्थ जगत् का मूल कारण माना गया है। अद्वयवादी ब्रह्म से जगत् का विकास मानते हैं। उनका कहना है कि वह परमतत्त्व ब्रह्म ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यह जगत् उस परमतत्त्व का रूपान्तरण है। वैदिक धारणा के अनुसार पहिले न सत् था न असत्, न अन्तरिक्ष था न व्योम, केवल शून्य ही शून्य था और चारों ओर निस्तब्धता एवं अन्धकार था। उस समय परमतत्त्व ने एक दिव्यरूप उत्पन्न किया जो आग के गोले के समान देदीप्यमान था। वह हिरण्यगर्भ था। (**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**)। उसी में समस्त ब्रह्माण्ड अवस्थित है। उसके उत्पन्न होते ही उसके प्रकाश से सारा अन्धकार नष्ट हो गया, निस्तब्धता दूर हो गई और प्रकृति में एक विचित्र प्रकार का कम्पन हुआ, जिससे एक दिव्यलोक की उत्पत्ति हुई जो आकाश एवं द्यावापृथिवी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मार्क्सवादी जगत् के विकास का मूल कारण तत्त्व या पदार्थ (मेटर) मानता है। उनका वह पदार्थ जिससे जगत् का विकास हुआ है, जड़ पदार्थ है। वे आदर्शवादियों के अनुसार मूलपदार्थ को चेतन नहीं मानते। सांख्यदर्शन प्रकृतिवादी या भौतिकवादी है। उसके अनुसार प्रकृति मूलतत्त्व है। उससे जो पदार्थ निकले हैं उन्हें विकृति कहते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिन्हें प्रकृतिविकृति दोनों कहते हैं। प्रकृति जड़ है उसकी सत्ता है किन्तु उसमें चेतना नहीं है। यही प्रकृति ही पाश्चात्यदर्शन का मेटर (तत्त्व) है। इसी जड़तत्त्व (मेटर) को 'अनात्मतत्त्व' भी कहते हैं। यह अनात्मतत्त्व परिवर्त्तनशील है।

न्यायवैशेषिक भी जगत् को पदार्थों का समवाय मानता है। उनके अनुसार जगत् का निर्णायक तत्त्व परमाणु है और वही परमाणु तत्त्व अनादि सत्ता है। इन परमाणुओं में क्रियाशीलता अन्तर्निहित है। ये स्वतः परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं। उसके लिए किसी अन्य उपकरण की आवश्यकता नहीं है। जैनदर्शन भी जगत् का विकास अणुओं से मानता है। उनके मतानुसार दो अणुओं के संयोग से द्व्यणुक और द्व्यणुकादि के संयोग से संघात उत्पन्न होता है। यह संघात ही जगत् है। इस संघात का विभाजन करते-करते अन्त में अणु शेष बचता है। उसका विभाजन नहीं हो सकता। वह अविभाज्य और सूक्ष्म नित्य एवं शाश्वत है। जैन दर्शन के अनुसार इन परमाणुओं के स्पन्दन के लिए किसी चेतन तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार न्यायवैशेषिक और जैन-दर्शन का सिद्धान्त परस्पर मिलता-जुलता है।

इस प्रकार पदार्थ से समूचे जगत् का विकास होता है। एक पदार्थ से दूसरा पदार्थ और दूसरे से तीसरा पदार्थ इस प्रकार क्रमशः विकास होता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थ सभी इसी तत्त्व (पदार्थ) से विकसित होते हैं। सांख्यदर्शन परिणामवादी है। उसके अनुसार यह जगत् प्रकृति का परिणाम है। परिणाम का अर्थ है पदार्थ या वस्तु का रूपान्तरण होना। प्रकृति जड़ है किन्तु पुरुष का बिम्ब पड़ने से उसमें क्षोभ होता है तब वह विकृति के रूप में परिणमित होने लगती है। प्रकृति का यह परिणाम अन्त में जगत् का स्वरूप धारण कर लेता है। इस परिणमन सिद्धान्त के अनुसार मूल अवस्था प्रकृति में परिणाम होता है उसे विकृति या विपरिणाम कहते हैं और उस विकृति से जो परिणाम होता है उसे विकृति का विकृति अथवा विपरिणाम का विपरिणाम कहते हैं। इसी को शास्त्रार्थ की भाषा में वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद कहते हैं। शास्त्रार्थ में पूर्वपक्ष के रूप में जो कुछ कहा जाता है उसे 'वाद' कहते हैं। उत्तरपक्षी द्वारा उस वाद के उत्तर में जो कुछ कहा जाता है उसे प्रतिवाद कहते हैं। बाद में निर्णायक रूप में जो कुछ कहा जाता है वह युक्तिवाद है। जैसे मूल प्रकृति वाद है। उससे महत् अभिव्यक्त होता है अतः महत् प्रतिवाद या विपरिणाम है और वह महत् अहङ्कार (अहम्) को अभिव्यक्त करता है अतः 'अहम्' युक्तिवाद है। वेदान्त में इसे क्रमशः ब्रह्म माया और परमात्मा कहा गया है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म वाद है—और माया प्रतिवाद तथा परमात्मा युक्तवाद है। यह विकासक्रम इसी प्रकार आगे भी चलता है और भिन्न-भिन्न रूपों में रूपान्तरित होता रहता है।

सांख्य से मिलता-जुलता मत हीगेल का है। हीगेल के अनुसार जगत् का मूल पदार्थ सत् और चेतन है। उनके अनुसार जगत् के मूल में अहम् और अनहम् दो पदार्थ थे। अहम्' वाद और 'अनहम्' प्रतिवाद था, 'अहम्' चेतन और 'अनहम्' अचेतन या जड़ था। यह अचेतन चेतन से भिन्न नहीं है किन्तु भिन्न सा प्रतीत होता है। इसी 'अहम्' और 'अनहम्' के योग से युक्तवाद स्वरूप जगत् का सूत्रपात होता है। इस प्रकार अहम् और अनहम् की समष्टि ही जगत् हैं। हीगेल के अनुसार जगत् के विकास के लिए किसी चेतन की आवश्यकता नहीं है। मार्क्सवादी भी जगत् का मूल अचेतन अनात्मतत्त्व मानता है। इस प्रकार अनात्मवादी जगत् का मूल अचेतन प्रकृति मानता है।

अनात्मवाद के अनुसार जब जगत् का मूल अचेतन (जड़) प्रकृति है तो उसमें चेतना की अभिव्यक्ति कैसे होगी ? इस पर वैज्ञानिक कहता है कि 'जिस प्रकार विशेष मात्राओं में गन्धक, हाइड्रोजन और आक्सिजन के परमाणुओं के मिलने से तेजाब नामक द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विशेष मात्राओं में कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन, गन्धक और फ़ास्फ़ोरस के परमाणुओं के मिलने से एक अपूर्व धर्म की अनुभूति होती है जिसे चेतना कहते हैं ।[9] यह चेतना सत्त्वमूलक है। जहाँ चेतना होगी वहाँ सत्त्वमूल अवश्य होगा और जहाँ सत्त्वमूल होगा वहाँ चेतना अवश्य होगी। किन्तु यह सिद्धान्त भी हमारी समस्त कठिनाइयों को दूर नहीं करता, क्योंकि कार्बन आदि के परमाणु एक से होते हैं, अतः सत्त्वमूल में भी एक ही प्रकार का धर्म होना चाहिए और सभी शरीरों का विकास भी एक सा होना चाहिए, सब में एक सी चेतना भी होनी चाहिए; किन्तु ऐसा होता नहीं । सब में एक सा धर्म तथा चेतनांश नहीं होता, सबकी प्रवृत्ति अलग-अलग होती है । सभी सत्त्वमूलों में अन्तर है । अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कठिनाइयाँ हैं ।

अनात्मवादी का कहना है कि यह जगत् 'परिवर्त्तनशील' हैं । परिस्थिति के अनुसार सभी पदार्थ परिवर्त्तित होते रहते हैं । जिन परिस्थितियों से भौतिक जगत् और व्यक्ति-मानस में परिवर्त्तन होता है उन्हीं परिस्थितियों के अनुसार व्यक्तियों के समूह में भी परिवर्त्तन होता है । यह परिवर्त्तन स्वाभाविक हैं । इसमें किसी प्रेरक तत्त्व की आवश्यकता नहीं है । सभी पदार्थ स्वतः परिवर्त्तित होकर विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं । अनात्मवादी वैज्ञानिक पद्धति से चलता है । जिस प्रकार वैज्ञानिक प्राकृतिक विषयों को समझ कर तदनुसार काम करता है, उसी प्रकार अनात्मवादी परिस्थिति को समझकर तदनुसार प्रयत्न करता है । अनात्मवादी परिस्थिति के अध्ययन के लिए भौतिक तत्त्वों के साथ अन्तःकरण के द्वारा ही भौतिक जगत् को परिवर्त्तित किया जा सकता है । परिस्थिति के अनुसार अन्तःकरण के गुणों का अभिव्यञ्जन होता है । परिस्थिति ही यह निश्चय करती है कि अन्तःकरण कब और कौनसा रूप धारण करेगा । यदि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसके अपने स्वतन्त्र नियम होते, अतः आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है । इसीलिए अनात्मतत्त्व को स्वीकार किया गया । यह अनात्मवाद चार्वाक तथा अन्य अनात्मवादियों से सर्वथा भिन्न है । चार्वाक के अनुसार यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज और वायु के चतुर्विध परमाणुओं का संघात है और आत्मा हस्तपादादि के समान शरीर का अवयव है । शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा नष्ट हो जाती है । अतः इन्हीं चार तत्त्वों का संघात यह जगत् है और जगत् की यह भिन्नता स्वाभाविक है । चार्वाक का यह आदेश है कि 'खाओं, पिओ, मौज उड़ाओ' जब तक जिओ सुख से जिओ, ऋण लेकर सुख भोग करो, क्योंकि शरीर के जला दिये जाने पर ऋण चुकाने के लिए लौटकर कहाँ आना पड़ता है ।[10] अनात्मवादी शरीर के जल जाने पर पुनः आगमन नहीं होता' इस सिद्धान्त को मानते हुए भी 'जब तक जिओ सुख से जिओ, ऋण लेकर घी खाओ' इस बात को मानने से इनकार करता है । अनात्मवादी जगत् को सत्य मानता है । वह अब भी है, पहिले भी था और आगे भी रहेगा ।

जगत् के सम्बन्ध में तीन विचारधाराएँ प्रवाहित है–पहिली विचारधारा के अनुसार जगत् मिथ्या है उसका अस्तित्व है ही नहीं। दूसरी विचारधारा के लोग ईश्वर के अन्तःकरण में उठने वाले संकल्प-विकल्प ही जगत् के रूप में प्रतीत होते हैं ऐसा मानते हैं। तीसरे अनात्मवादी हैं जो जगत् को सत्य मानते हैं। अद्वैत विचारक भले ही जगत् को मिथ्या कहते है किन्तु वे भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार परमतत्त्व ही जगत् के रूप में रूपान्तरित होता है और आवश्यकतानुसार उसे अपने में समेट लेता है। जब जगत् उस परमतत्त्व का विकसित रूप हैं और परमतत्त्व का यथार्थ अस्तित्व है तो परमतत्त्व रूप जगत् का भी अस्तित्व है, परमतत्त्व नित्य और अनश्वर है अतः जगत् भी नित्य और अनश्वर है। परमत्तत्व अपनी इच्छा से विभिन्न रूपों में रूपान्तरित होता रहता है। विविध रूपों में रूपान्तरण उसका स्वभाव है। रूपान्तरण के पूर्व वह अव्यक्त रहता है और व्यक्त रूप में वह जगत् है। इस प्रकार परमतत्त्व के दो रूप हैं-अव्यक्त और व्यक्त। अव्यक्त रूप में वह परमतत्त्व है और व्यक्तरूप में जगत् है।

किन्तु अनात्मवादी की स्थिति उससे भिन्न है। अनात्मवादी परमतत्त्व जैसे किसी चेतन पदार्थ को विपरिणाम का मूल कारण नहीं मानता। उसके अनुसार अचेतन जड़तत्त्व से ही जगत् का विकास होता है। और उसके लिए किसी चेतन प्रेरक तत्त्व को भी स्वीकार नहीं करता। निरन्तर विकास एवं रूपान्तरण उसका स्वभाव है। स्वभावतः वह रूपान्तरित एवं विकसित होता रहता है। धीरे-धीरे विकसित होता हुआ वह एक दिन वह ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ उसका नया स्वरूप दिखाई देता है। यह नई अवस्था प्रथम अवस्था के विपरीत होती है, इसलिए उसे विपरिणाम या रूपान्तरण कहते हैं। किन्तु रूपान्तरण के पूर्व द्वितीय अवस्था पहली अवस्था में बीज रूप में निहित थी। इसी प्रकार द्वितीय अवस्था में तृतीय और तृतीय अवस्था से चतुर्थ अवस्था इसी प्रकार आगे भी विकास-क्रम चलता रहता है। प्रत्येक विकास की अवस्था में वह अपने पूर्ववर्त्ती अवस्था में विद्यमान रहता है और पूर्व अवस्था के कुछ अंश उस अवस्था में भी विद्यमान रहता है। यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है। अवस्था से अवस्थान्तरण, पदार्थ से पदार्थान्तर, वस्तु से वस्त्वन्तर बनता रहता है। यही जगत् का विकास-क्रम है। सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल, कीटाणु से मनुष्य तक, बुद्धि से चेतना तक सभी तत्त्व इसी जड़ पदार्थ (मेटर) या प्रकृति से अभिव्यक्त हुए हैं, सभी उसी के रूपान्तरण हैं, उसी के विकसित रूप हैं।

●

---

1. सम्पूर्णानन्द-चिद्विलास, अध्याय-1।
2. सम्पूर्णानन्द–समाजवाद।
3. वही।
4. वही

5. वही ।
6. वही ।
7. सम्पूर्णानन्द-चिद्विलास-आधारखण्ड, प्रथम अध्याय ।
8. सम्पूर्णानन्द-चिद्विलास-आधार खण्ड, अध्याय-5 ।
9. चिद्विलास-सम्पूर्णानन्द, तृतीय अध्याय ।
10. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥
(सर्वदर्शनसंग्रह)

समाजवाद

डॉ. युगेश्वर

श्री सम्पूर्णानंद जी का यह ऐतिहासिक ग्रंथ प्रथमबार विक्रम संवत् 1993 तदनुसार ई. सन् 1936 में काशीविद्यापीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ । ग्यारह वर्षों में इसके पाँच संस्करण हुए तीसरा संस्करण इतना शीघ्र खत्म हो गया कि नौ महीने में ही चौथा संस्करण निकालना पड़ा । इसे 1200 रू. का मंगलाप्रसाद तथा 500 रू. का मुरारका पुरस्कार प्राप्त हुआ । मंगलाप्रसाद पुरस्कार उस समय हिंदी का सबसे प्रतिष्ठित पुरस्कार माना जाता था । इसके प्रकाशक श्री विश्वनाथ शर्मा, प्रकाशन मंत्री श्री काशी विद्यापीठ हैं । पुस्तक संस्करणों के साथ संशोधित और परिवर्धित होती रही । इस दृष्टि से इसके विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण होगा किंतु सभी संस्करणों का मिलना कठिन है । इस समय तो पंचम संस्करण है ।

पंचम संस्करण की कोई भूमिका नहीं है । चौथे संस्करण की जो भूमिका यहाँ छपी है उससे पता लगता है कि 'तृतीय संस्करण में कई नये विषयों का समावेश किया गया था । इस बार उन विषयों पर तो विस्तृत विचार हुआ ही है, समयानुकूल कुछ नये विषय भी सम्मिलित किये गये हैं ।' इस आधार पर कहा जा सकता है कि यह पुस्तक उस समय की सक्रिय राजनीतिक चिंतन और उसकी आवश्यकताओं का दस्तावेज है । क्योंकि लेखक न केवल कि शैक्षणिक चिंतक है बल्कि एक सक्रिय राजनेता है । जो देश में आनेवाले विचारों और समस्याओं से नित्य जूझ रहा है । लेखक के ही शब्दों में 'ज्यों ज्यों हम स्वराज्य के निकट पहुँच रहे हैं त्यों त्यों हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम इस बात का निश्चय कर लें कि राष्ट्रीय जीवन की भावी स्वरूप क्या रखना चाहते हैं । इस निश्चय के लिए समाजवाद का शास्त्रीय स्वरूप और दूसरे देशों के, जहाँ समाजवाद का प्रयोग हो रहा है, अनुभव को जान और समझ लेना अनिवार्य है ।' (चतुर्थ संस्करण की भूमिका) । इस उद्धरण से दो तीन बातें स्पष्ट होती हैं । पहली यह कि स्वराज्य निकट है । दूसरी यह समाजवाद अनिवार्य है । तीसरी यह कि भारत का समाजवाद दूसरे देशों के समाजवाद से किस माने में भिन्न होगा । या भारत के समाजवाद का स्वरूप क्या होगा ?

प्रस्तुत पुस्तक यह मानकर चलती है कि समाजवाद के अनेक पंथों के बावजूद समाजवाद नाम एक प्रकार से मार्क्सवाद के लिये रूढ़ि हो गया है । फिर भी लेखक का मार्क्सवाद के कई पक्षों से गंभीर मतभेद है । लेखक के शब्दों में 'मैं स्वयं उन लेखकों में हूँ जो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते । बाद की लिखी अपनी दो पुस्तकों "व्यक्ति और राज" तथा

'जीवन और दर्शन' में मैंने तत्तत् प्रसंग में मार्क्सवाद की आलोचना भी की है और 'चिद्विलास' में अपने दार्शनिक विचारों को, जिनका आधार शांकर अद्वैतवाद है, विस्तार से प्रगट भी किया है। फिर भी मैं मसझता हूँ कि यदि साम्राज्यशाही और शोषण का अंत करके विश्वशांति स्थापित करना मनुष्य को अभीष्ट हो तो उसे किसी न किसी रूप में समाजवादमूलक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करनी ही होगी। मार्क्सवाद से किंचित् अस्वारस्य दिखलाते हुए भी मैंने 'व्यक्ति और राज' में इसी मत को व्यक्त किया है।' (तृतीय संस्करण की भूमिका)। संपूर्णानंद जी अपना समर्थन और विरोध दृढता पूर्वक और स्पष्ट ढंग से व्यक्त करते हैं। यह उनकी चिंतन शक्ति भी है और निर्भयता भी। मार्क्सवाद की विचारधारा साधारण नहीं थी। सारी दुनिया विशेषकर पराधीन देशों पर उसका गहरा आकर्षण और दबदबा था। अक्सर उसके विरुद्ध कुछ भी कहना अपराध माना जाता था। इसके प्रचारकों का दावा था कि मनुष्य ने अंतिम सत्य पा लिया है। आगे किसी चिंतन की आवश्यकता नहीं है। इसे यथावत् स्वीकार करना ही एक मात्र रास्ता है। इसके विरोधी और संशोधन सुझानेवाले शोषण और साम्राज्यवाद समर्थक पापी हैं।

लेखक ने कहीं भी मार्क्सवाद के स्वरूप को विकृत करने की कोशिश नहीं की। उसके स्वरूप को यथावत् रखकर अलग से उसकी आलोचना की। किसी को उसकी आलोचना के बिना भी मार्क्स के समाजवाद को जानने की इच्छा हो तो यह पुस्तक बाधक नहीं साधक है। यह एक अध्यापक ढंग है। अध्यापक विचारों का घालमेल न कर उसे यथावत् प्रस्तुत करता है। किंतु संपूर्णानंद जी केवल अध्यापक ही नहीं चिंतक भी हैं। अतः वे मार्क्स के समाजवाद की आलोचना भी प्रस्तुत करते हैं। मार्क्सवाद से उनका मतभेद पुस्तक के समर्पण से ही प्रारंभ हो जाता है। समाजवाद पर लिखी यह प्रथम और अंतिम प्रसिद्ध पुस्तक है जिसका समर्पण संस्कृत भाषाभाव पर लिखा गया है। भाषा का संस्कृत होना तो समझ में आता है। किंतु भाव संस्कृत क्या होगा ? हाँ, यह भाव संस्कृत में आम है। किंतु दूसरी भाषाओं में दुर्लभ है। क्योंकि प्रत्येक भाषा के सोचने का ढंग भी अलग होता है। समर्पण देखें–

'जगद्भर्ताऽपि यो भिक्षुः भूतावासोऽनिकेतनः।
विश्वगोप्ताऽपि दिग्वासा तस्मै कस्मै नमो नमः।

जो जगत् का भरण करता है पर आप भिखारी है, जो सब प्राणियों को निवास देता है पर आप बे-घर का है, जो विश्व को ढंकता है पर आप नंगा रहता है, उसको बारम्बार प्रणाम है।' समाजवाद की दृष्टि से यह चित्र मजदूरों का है जिसे मार्क्स ने सर्वहारा कहा है। अतः यह नमस्कार उसे ही है। लेखक भी यही कहना चाहते हैं। किंतु लेखक के इस प्रणाम में आदर्शात्मकता की ध्वनि है। ऐसा भिखारी, बेघर और नंगा होना सौभाग्य की बात है। जबकि मार्क्स की दृष्टि में यह दुर्भाग्य है। यह भी कहा जा सकता है कि संपूर्णानंद जी का चित्र संन्यासी या शंकर के लिये तो ठीक है। इसे रहना चाहिए। किंतु सामूहिक और समाजवादी दृष्टि से इसे बदलना चाहिए। भीख, बेघर एवं नंगेपन को समाप्त करना ही तो समाजवाद है। यह दो परंपराओं के भेद का भी संकेत

है। संपूर्णानंद जी की इस पुस्तक में पश्चिम का मार्क्सवादी समाजवाद के साथ ही भारत के अद्वैत का भी मेल है। पश्चिमी समाजवाद भीख, बेघर और नंगेपन को हर हालत में अस्वीकार करता है वहीं अद्वैत इन्हें वैयक्तिक गरिमा की दृष्टि से देखता है। वह स्वैच्छिक एवं लादी गयी गरीबी में भेद करता है। लादी या मजबूरी की गरीबी मिटाना ही समाजवाद का लक्ष्य है। इस संदर्भ में समाजवाद और अद्वैत में मतभेद नहीं है।

पुस्तक में कुल बाईस अध्याय हैं। मानवजगत्/धर्म, सदाचार, राज़ और सभ्यता (सनातन प्रश्न) कुछ उत्तर। एक और उत्तर। द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद। उत्पादन के साधनों पर निजी स्वत्व (1) भूमि। (2) पूँजी और श्रम। विनिमय और वितरण के साधनों पर निजी स्वत्व। वर्ग संघर्ष। पूँजीवाद साम्राज्य शाही। निजी संपत्ति। राज का स्वरूप। राजसत्ता का अंत। समाजवादी व्यवस्था-प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान आदि। अंत में है पर्याय सूची और पुस्तकों की नामावली।

संपूर्णानंद जी ने इस पुस्तक के चार अध्यायों में उस भयावह स्थिति का वर्णन किया है जिससे मनुष्य जाति परेशान है। जिसकी समाप्ति की अनेक कोशिशें हुई हैं। पंचम अध्याय से मार्क्सवादी समाजवाद की चर्चा होती है, अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक।

वे मार्क्स के हिस्टारिकल या डाइलेक्टिकल मैटर लिज्म को भौतिकवाद न कहकर अनात्मवाद कहना पसंद करते हैं। क्योंकि मार्क्स का भौतिकवाद चार्वाक के मौज उड़ाओ वाले भौतिकवाद से भिन्न है। इसलिये उन्होंने इसका नाम द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद रखा। चूंकि संपूर्णानंद पूर्व और पश्चिम के दर्शनों के अच्छे जानकार थे इसलिये उन्होंने द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद का केवल अनुवाद मात्र नहीं किया। जैसा कि दूसरे लेखकों ने किया है। वे मार्क्स के दर्शनों को दूसरे दर्शनों के संदर्भ में समझाते हैं। उदाहरण के लिये वे कहते हैं। 'मार्क्स इन दोनों सिद्धान्तों को नहीं मानते। उनका कहना है कि जगत् सत्य है अर्थात् जब कोई अनुभव करनेवाला अंतःकरण नहीं था, तब भी था और जब कोई अनुभव करनेवाला अंतःकरण न होगा तब भी रहेगा (पृ. 76)'। स्पष्ट है कि लेखक ने पहले जगत संबंधी दो विचारों का उल्लेख किया है। तब वे मार्क्स दर्शन को रखते हैं। इससे मार्क्स दर्शन को समझने में और सुविधा हुई है। साथ ही यह पुस्तक दूसरे दर्शनों को भी समझाती है। लेखक ने पूरी सहानुभूति किंतु तटस्थ विश्लेषण द्वारा द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद को समझाया है। साथ ही यह भी कहा है कि यह एक नैतिक विचार दर्शन है। इसीलिये यह चार्वाक् के दर्शन से भिन्न है। चूँकि मार्क्स का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन था इसलिये इस परिवर्तन के लिये उसने किसी बाह्य शक्ति में विश्वास नहीं किया। समाज परिवर्तन सामाजिक द्वन्द्व में हैं। प्रत्येक वस्तु या व्यवस्था में द्वन्द्व कार्यरत है। इसलिये परिवर्त्तन तो अनिवार्य है। होगा ही। द्वन्द्व के कारण कोई भी व्यवस्था एक जैसी नहीं रह सकती है। प्रत्येक वाद को प्रतिवाद की चुनौती है। यह चुनौती युक्तिवाद को जन्म देती है। व्यक्ति का काम है। प्रतिवाद अर्थात् परिवर्त्तन की शक्तियों को पहचानना। पहचानकर शीघ्रता और सहायता करना। इससे अधिक व्यक्ति की शक्ति नहीं है। यह एक प्रकार का नियतिवाद है। परिवर्त्तन की नियति रोकी नहीं जा सकती। मोड़ी भी

नहीं जा सकती । संपूर्णानंद जी मार्क्सवाद को समझाना चाहते हैं । आलोचना उनका उद्देश्य नहीं है । वरना पूर्व निर्धारण या नियतिवाद की विचारधारा एक प्रकार कर्मफलभोगवाद नहीं है ?

दार्शनिक अध्याय के बाद है उत्पादन के साधनों पर मालिकाना का सवाल । सर्वप्रथम भूमि पर निजी स्वत्व की चर्चा की गयी । लेखक यह मान कर चलता है कि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार बुराइयों के मूल में है । अतः समाजवाद का उद्देश्य है सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को समाप्त करना । इनमें सर्व प्रथम भूमि है । क्योंकि भारत जैसे देश में भूमि उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है । उस समय यहाँ जमींदारी प्रथा थी । अतः लेखक ने जमींदारी प्रथा का विरोध किया । जमीन जोतनेवालों का हो इसका समर्थन किया । जमीन की समस्या समाजवादी तो है । किंतु मार्क्सवादी भी है यह कहना कठिन है । क्योंकि मार्क्सवाद मूलतः औद्योगिक मजदूरों की समस्याओं पर विचार करता है । किंतु इसे मार्क्सवाद विरोधी भी नहीं कहा जा सकता है । लेखक नहीं चाहते कि जमीन पर व्यक्ति का अधिाकर हो । 'भूमि का स्वत्व व्यक्तियों को न देकर समाज को दिया जाए (पृ. 115) ।' यहीं सामूहिक, यांत्रिक और सहयोगी खेतीका सवाल उठता है । लेखक ने समाज के स्वत्व वाले खेतों की व्यवस्था पर विचार नहीं किया है । जिस युग में यह पुस्तक लिखी गयी उस युग में व्यक्ति के अन्याय के मुकाबले समाज को एकमात्र विकल्पमाना गया था । समाज को सब कुछ सौंप देने की कल्पना से मन प्रसन्न रहता था । व्यक्ति से छीन कर सारी संपत्ति समाज को देकर निश्चिंतता की साँस लेते हैं । जैसे किसी के शव को जलाकर गंगा में बहा दिया । समाज भी अन्यायी हो सकता है, सामाजिक संपत्ति में भी बुराइयाँ हैं, इन पर विचार करने का अवकाश नहीं था । इसलिये कि हमारे पास सामाजिक संपत्ति के अधिकार का अनुभव नहीं था । अथवा लोग वैयक्तिक संपत्ति पर अधिकार से बिल्कुल ऊबे हुए थे । इसीलिये जिन्होंने इस ओर विचार भी किया उनकी बातें अनसुनी कर दी गयीं ।

आठवें खंड में पूँजी की परिभाषा प्रजनकधन के रूप में की गयी है । इसके बाद पण्य की परिभाषा है । पण्य के बाद अर्घ और फिर विनिमयार्घ । ऐसी ही जाने कितनी परिभाषाओं को सरल ढंग से समझाकर लिखा गया है । समाजवादियों की मुख्य चोट थी अतिरिक्त मूल्य पर । अतिरिक्त मूल्य ही मुनाफे का स्रोत है । पूँजीपति मजदूर का अतिरिक्त श्रम खाकर मोटा होता था । किंतु समाजवादी व्यवस्था में मजदूर ने अतिरिक्त श्रम बंद प्राय कर दिया । उचित श्रम भी कम करने लगा । जबकि सुविधाएँ उसे सरकारी दर पर मिलने लगी । फलतः उत्पादन, विनिमय, मुनाफा तथा मजदूरी का संतुलन बिगड़ गया । समाजवादी देश आर्थिक ह्रास की ओर जाने लगे । फिर एक कार्य के कई कारण होते हैं । समाजवादियों ने सभी कारणों पर विचार नहीं किया यह संभव भी न था ।

संपूर्णानंद जी पारिभाषिक शब्दों के प्रति अत्यंत सचेत हैं। इसीलिये वे सभी अशांति को वर्ग युद्ध नहीं, समुदाय की अशांति कहते हैं । वर्ग एक सीमित पारिभाषिक शब्द है 'जिन व्यक्तियों के आर्थिक हित एक से होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं ।' बिना परिश्रम किये दूसरों के श्रम से लाभ उठाने को

शोषण कहते हैं । यद्यपि ये परिभाषाएँ भी काम चलाऊ है । उदाहरण के लिये इस परिभाषा के अनुसार पूँजीपति एक वर्ग है क्योंकि उसके आर्थिक हित एक से हैं । किंतु मजदूर वर्ग और पूंजीपतिवर्ग में मौलिक अंतर है । मजदूरों में परस्पर विरोध नहीं हैं । किंतु पूंजीपति एक दूसरे को नष्ट करने में लगा रहता है । उसके लिये मजदूरों का शोषण जितना आवश्यक है उससें अधिक आवश्यकता है प्रतियोगिता रहित मुक्त व्यापर की । इसीलिये वह अपने वर्ग में भी युद्धरत रहता है। ऐसे में पूंजीपति 'वर्ग' में वर्ग शब्द अपना अलग अस्तित्व रखता है । इसी प्रकार बिना परिश्रम किये दूसरों के श्रम का लाभ उठाया नहीं जा सकता । 'बिनाश्रम' वाली बात जमींदारों पर बहुत हद तक लागू होती है किंतु पूंजीपति तो श्रम करता है । श्रम न करे तो प्रतिस्पर्धा में टिकना कठिन है । यह बात अलग है कि उसका श्रम व्यवस्था संबंधी होता है । वह श्रम का मूल्य भी अधिकतम पाता है । सच्चाई यह है कि पूंजीपति का चिंताश्रम श्रमजीवी की अपेक्षा अधिक है । इसलिये वह श्रम भी किसी भी श्रमिक से अधिक करता है ।

बारहवाँ खंड साम्राज्यशाही का है । इस खंड में लेखक ने अत्यंत विस्तार से पूंजीपतियों द्वारा होने वाली प्रतियोगिता और देशों को गुलाम बनाने की स्थिति का वर्णन किया है । साम्राज्यवाद पूंजीपति की स्पर्धा और बाजार पर एकाधिकार का परिणाम है । पूंजीपति एक ओर तो बाजार के लिये देशों को गुलाम बनाता है दूसरी ओर उन्हें दूसरे पूंजीपतियों से छीन कर स्वतंत्रता के अभिनय द्वारा अपना बाजार भी बनाता है । इसलिये देशों की स्वीधनता भी पूंजीवाद के स्वार्थ से जुड़ी है । भारत के विकाशशील पूंजीपतिवर्ग ने भारत की आजादी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इसी संदर्भ में वह वहाँ के नागरिकों को कुछ रियायतें भी देता है । रियायतें देना भी उसकी विस्तार नीति का एक महत्वपूर्ण भाग है । इसी से पूंजीवाद एक अंतर्राष्ट्रीय शक्ति बन गया है। सरकारें उसके इशारों पर नाचती हैं ।

बीसवें अध्याय में लेखक ने मार्क्स से भिन्न फेबिअन, सिंडिकेट, पूग (गिल्ड) जैसे समाजवादी व्यवस्थाओं की चर्चा की है । इक्कीसवें में मार्क्सवाद के संशोधनों की चर्चा कर उनकी आलोचना की है । यह अत्यंत ही विचारोत्तेजक अध्याय है । भारत और समाजवाद शीर्षक निबंध में लेखक ने बहुत सुंदर ढंग से समाजवादी रूस की आलोचना द्वारा भारत के समाजवाद को नसीहत दी है । यह भी बताया है कि रूस की त्रुटियों से भारत क्या सीख सकता है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह पुस्तक जितनी सैद्धांतिक है उतनी है व्यावहारिक भी । उस समय यह भारत में समाजवाद के विचारों की पूर्ण पुस्तक थी । आज भी इसका बना है । आलोचनाओं के साथ ही इसके सैद्धांतिक स्वरूप भी महत्वपूर्ण है । यह दूसरी बात है कि आज संपत्ति के राष्ट्रीकरण का उत्साह मंद पड़ गया है । क्योंकि राष्ट्रीकरण से जिस लाभ की आशा की गयी थी वह न हो सकी । उलटा वह बंधन बन गया ।

पुस्तक के कई पारिभाषिक शब्दों में अब पवित्तन आ गया है । अनेक शब्द लेखक ने स्वयं गढ़े थे वे अब स्वीकार्य नहीं है । उनके स्थान पर दूसरे शब्द चल रहे हैं । किंतु एक नवीन और कठिन

विषय को अत्यंत ही सरल ढंग से रखने का श्रेय संपूर्णानंदजी को है। इसकी भाषा पर तब भी संस्कृत का प्रभाव था। आज संस्कृत के वे रूप अप्रचलित हो गये हैं। अस्वीकार्य है। पुरस्कारों और संस्करणों से स्पष्ट है कि उस जमाने में इस पुस्तक का गहरा स्वागत हुआ। शायद इसलिये भी कि यह न केवल कि एक प्रामाणिक दस्तावेज था बल्कि उत्तेजक घोषणा पत्र भी था। जो लोग हिंदी के माध्यम से समाजवाद को जानना चाहते थे उन्हें एक अच्छी पुस्तक हाथ लगी थी। यह समाजवाद की अच्छी पुस्तक है। हिंदी गद्य लेकख की अच्छी किताब है। यह स्वतंत्रता की लड़ाई को भी प्रखर करती है। क्योंकि स्वतंत्र के अर्थ और उद्देश्य को विस्तार देती है। राजनीतिक स्वतंत्रता को अर्थ का आधार देती है। इस प्रकार इस पुस्तक का स्वागत स्वतंत्रता का शक्तिशाली सहयोग था। स्वतंत्रता आन्दोलन का अर्थ अगर मात्र देशी शासन था तो समाजवाद ने उसमें लोकशक्ति की स्थापना की। इसके अभाव में स्वतंत्रता आन्दोलन केवल विशिष्टों तक सीमित था। गांधी के समान इस पुस्तक ने भी स्वतंत्रता को जनाधार दिया। उसकी गति तेज की। कल को आज बनाया। आज को अभी रूप दिया।

●

भारतीय राज्य : विकास, स्वरूप और संभावनाएँ

डॉ. महेन्द्रप्रसाद सिंह*

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में राज्य के विकास की प्रक्रिया को तीन प्रमुख परिवर्तनों से गुजरते हुये देखा जा सकता है : (1) वैदिक काल की राज्य-रहित, वंश-आधारित, आदिम राजनीतिक व्यवस्था से उत्तर-वैदिक काल में राज्य की संस्था के उदय तक; (2) समस्त भारतीय ऐतिहासिक काल में क्षेत्रीय राज्यों से महादेशिक साम्राज्यों का विकास, जिसकी शुरुआत ईशा-पूर्व चौथी से दूसरी शती में विकसित मगध साम्राज्य से होकर परिणति उन्नीसवीं और बीसबीं सदी में ब्रितानी औपनिवेशिक राज्य में हुई; (3) 1947 में राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ साम्राज्य से राष्ट्र-राज्य के विकास की प्रक्रिया के एक महत्वपूर्ण मील-स्तंभ का स्थापन। इनमें से तीसरे परिवर्तन के दौरान एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया प्रतिफलित हुई: स्वाधीनता से पहले की शताब्दियों जो केन्द्रीभूत नौकरशाही राज्य का ढ़ाँचा था वह सामंती अथवा औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था पर आधारित था; 1947 के बाद जो उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य का नया ढांचा खड़ा किया गया उसकी जड़ें एक "मिश्रित" अर्थव्यवस्था में अवस्थित हैं—"मिश्रित" इस अर्थ में कि यह अर्थव्यवस्था एक ओर तो कृषि में अर्धसामंती और पूंजीवादी पद्धतियों के सहगमन पर चल रही है, और दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में सार्वजनिक या राजकीय और निजी पूँजीवादी उपांगों का इस अर्थव्यवस्था में मिश्रण किया गया है।

राज्य के बारे में चिंतन और संस्थाओं की चर्चा के संदर्भ में हम भारतीय इतिहास और राजनीति में दो प्रमुख दृष्टिकोणों का उल्लेख कर सकते हैं : (1) समाज-केंद्रित दृष्टि और (2) राज्य-केंद्रित दृष्टि। समाज-केंद्रित दृष्टि का आरंभ ऋग्वैदिक और उत्तरवैदिक राजनीतिक व्यवस्थाओं से हुआ जो प्रमुखतः संकुलता पर आधारित व्यवस्था भी जिसमें राज्य की संस्था का तब तक विकास नहीं हो पाया था। उक्त संकुलता में विभेद के प्रमुख आधार में उम्र, परिवार, आवासीय आर्थिक उत्पादन (जिसमें गोधन, के स्वामित्व की भावना प्रमुख थी), तथा उपहार और बलि का अनुष्ठान-पूर्वक आदान-प्रदान। उत्तर-वैदिक काल में राजतांत्रिक और गणतांत्रिक राज्यों के उदय के बाद भी समाज-केंद्रित राजनीतिक दृष्टि, मगध में एक सबल साम्राज्यवादी राज्य की स्थापना के

---

* प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007. यह लेख एशियन सर्वे (कैलिफोर्निया, अगस्त 1990) में प्रकाशित एक निबंध का स्वयं लेखक द्वारा संक्षिप्त हिन्दी रूपांतर है।

पहले तक बरकरार रही। मगध में मौर्य राज्य प्राचीन भारत में प्रथम केंद्रीभूत अधिकारि-राज्य था, जिसका आदर्श-स्वरूप कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में वर्णित है। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद प्राचीन भारत में सामंतवाद का उदय हुआ। सामंतवादी राज्यों में प्रमुख थे गुप्त साम्राज्य तथा तत्कालीन क्षेत्रीय राज्य जो प्रमुखतः उत्तर भारत में विकसित हुये। इस राज्यव्यवस्था का आदर्श स्वरूप **धर्मशास्त्रों** में वर्णित हैं। विभिन्न **धर्मशास्त्रों** में हिन्दू राज्य व्यवस्था के जिस स्वरूप का विश्लेषण है उसमें राज्य की भूमिका यह है कि वह समाज के वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था और जातीय, शिल्पसंघीय, और सामंती स्वायत्तताओं की रक्षा करेगा न कि उन्मूलन।

आरंभिक मध्ययुगीन दक्षिण भारत में चोला तथा विजयनगर साम्राज्यों में भी हम उत्तर भारत के सामंती राज्यों की तरह ही फांकदार या खण्डयुक्त राजनीतिक ढांचा पाते हैं जिसमें समाज और राज्य एक पिरामिडनुमा आकृति में सहजीवन करते हैं। लेकिन ये राज्य सामंती राज्य से इस महत्वपूर्ण मामले में भिन्न हैं कि इनमें सम्राट और खण्ड-नायकों में सामाजिक-आर्थिक विभेद अत्यंत न्यून हैं तथा राजनीतिक सत्ता के मामले में भी केंद्र की सर्वोपरिता आनुष्ठानिक है। इसके विपरीत, सामंतवादी राज्य में सामंतों की विपुल स्वायत्तता के बावजूद सम्राट की सत्ता की सर्वोपरिता में वास्तविकता का पुट होता है। राजपूत, मराठा, सिख, जाट राज्यों में भी हम खण्डयुक्त राज्य के कुछ लक्षण पाते हैं, विशेषतः उनकी उत्पत्ति के दौर में ये लक्षण और भी ज्यादा स्पष्ट दीखते हैं। लेकिन मुगल राज्य के उत्तराधिकारी अथवा उसके प्रमुख विरोधियों के रूप में ये राज्य बाद में सामंती विशेषतायें भी परिलक्षित करते हैं। दिल्ली सल्तनत और मुगल राज्य दोनों ही महादेशीय तथा सामंती राज्य थे; ये राज्य निरंतर युद्धरत भी रहे और इस कारण उन्हें केंद्रीय तौर पर शक्तिशाली राज्य की परंपरा में रखा जा सकता है। अपनी साम्राज्यवादी गरिमा के शिखर पर रहने के दिनों में विजयनगर संभवतः एकमात्र युद्धरत हिन्दू राज्य था। अपने आरंभिक चरणों में मराठा राज्य तथा अपने बाद के चरणों में सिख राज्य भी काफी हद तक केंद्रीभूत तथा शक्तिशाली थे; अगर भारत में अंग्रेजों का हस्तक्षेप नहीं होता तो संभवतः ये राज्य मुगल साम्राज्यवादी परंपरा के दावेदार होते। मध्यकालीन मुसलमान शासक तथा आधुनिक ब्रितानी औपनिवेशिक राज्य भी शक्तिशाली भारतीय राज्यों की परंपरा में आते हैं। लेकिन अपनी राज्यसत्तात्मक महत्वाकांक्षाओं के बावजूद उन्होंने सामाजिक दबावों के प्रभाव में समाज की नैगम स्वायत्तताओं का आदर किया।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में भी हम परस्पर स्पर्धी विचारधारओं क़ा दिग्ददर्शन करते हैं। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा स्वतंत्रता के उपरांत की भारतीय राजनीति में धार्मिक संप्रदायवादी नेता तथा स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के पक्षधर नेतृत्व में हम एक समाज-केंद्रित राजनीतिक व्यवस्था के प्रति रुझान पाते हैं। गांधीवादी तथा सर्वोदय विचारधारा भी मूलतः स्वैच्छिक और स्वायत्त राजनीतिक दिशा के समर्थक हैं तथा वे राज्यसत्ता की अतिशयता के विरोधी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गांधी और जयप्रकाश नारायण ने राजनीतिक सिंद्धान्त और व्यवहार के "आदि-पाप" को दृष्टिगोचर कर लिया था। जिसकी परिणति आधुनिक काल में फासीवादी और साम्यवादी

सर्वसत्तात्मक राज्य में हुई । दूसरी ओर, आधुनिक भारत में राज्यवादी परंपरा का उदारवादी अवतार हम जवाहरलाल नेहरू के विकास की रणनीति में पाते हैं जिसके लक्ष्य हैं आर्थिक विकास, समानता और राष्ट्रीय एकीकरण और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के माध्यम हैं लोकतंत्र और आर्थिक योजना । इस रणनीति के पूर्ववर्त्ती पितृतंत्रक पदचिन्ह मौर्य, मुगल तथा ब्रितानी औपनिवेशिक राज्यों में अल्पांश में खोज निकाले ज़ा सकते हैं । इसके आधुनिक समर्थक वे धर्म निरपेक्ष तथा संप्रदायवादी तत्व हैं जो राज्य को वास्तविक या काल्पनिक राष्ट्र का वाहक बनाना चाहते हैं, अथवा वे समाजवादी या साम्यवादी तत्व हैं जो आर्थिक वितरण व पुननिर्माण के यंत्र के रूप में राज्य का प्रयोग करना चाहते हैं ।

राजनैतिक प्रतिमान और विरोधाभास

विकासात्मक पक्ष

जनहितवादी नियोजित आर्थिक विकास की नेहरू की रणनीति स्वाधीन भारत में प्रभावी राजनीतिक विचारधारा रही है । इस कूर्मस्थ विचारधारात्मक प्रतिमान में चार प्रमुख पुनरभिमुखन हुये हैं : (1) इंदिरा गाँधी का जनरंजक, सत्तावादी तथा केंद्रमुखी प्रधानमंत्रित्व (1969-77), (2) जनता पार्टी का किसान-व्यापारी जनरंजक शासन-काल; (3) इंदिरा गांधी (1980-84) तथा राजीव ग़ांधी, (1984-89) के प्रधान-मंत्रित्व में उदारवादी आर्थिक नीतियों का सूत्रपात; तथा (4) 1989 के संसदीय निर्वाचन के बाद से जनता दल के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चा की अल्पमत सरकार तथा जनता दल (समाजवादी) की अलपमत सरकार के अंतर्गत गतिरोध और अस्थिरता का दौर । लेकिन इनमें से कोई भी दौर ऐसा नहीं है जिसमें नेहरू की विकासनीति को पूर्णतः तिलांजलि दे दी गयी हो । अतः इन सभी शासन कालों में भारतीय राज्य का उदारवादी-लोकतांत्रिक ढाँचा तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुखता बरकरार रही है; सिर्फ आंतरिक आपातकाल (1975-77) के दौरान राज्य के लोकतांत्रिक और उदारवादी स्वरूप को कुछ ठेस पहुँची ।

लोकतांत्रिक पक्ष

भारत में संसदीय लोकतंत्र, विशेषतः नेहरू-युग के बाद के काल में, एक द्वंद्व के सींग पर अवस्थित रहा है, जिसे सारांशतः इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि भारत समान रूप से अप्रिय दो ध्रुवों के बीच दोलित रहा है । इनमें से एक ध्रुव राजनीति की अतिशयता का रहा जिसके रोगलक्षण निम्नलिखित है : सत्तारूढ़ दलों में "मंत्रि-पक्ष" और "विक्षुब्ध" गुटों के बीच बेलगाम गुटबंदी, बालू के घरौंदों से अस्थिर संयुक्त मोर्चों की सरकारें, संसद की अवनति तथा निरंतर जनमत संग्रह की राजनीति का माहौल जिसमें सरकार और प्रतिपक्ष दोनों खुल कर खेलते हैं, स्थापित पार्टी-प्रणाली के द्वारा कमजोर हितों और वर्गों की उपेक्षा, स्थापित दलों का पूंजीपतियों, गुंडों, अपराधियों, अतिवादियों और आतंकवादियों के द्वारा अपहरण, तथा देश के एक बड़े भाग में चुनाव प्रणाली का मात्र एक स्वांग भर बन कर रह जाना । इन सारी गति-विधियों के फलस्वरूप

शासन की प्रक्रिया से प्रशासन प्रायः विदा हो चुका है। ऊपर उल्लिखित राजनीतिक द्वंद्व का दूसरा सींग पहले से भी ज्यदा भयावह हैं, अगर पहले सींग को "प्रशासन के बिना राजनीति करना" कहा जाय, तो दूसरे को "राजनीति के बिना प्रशासन करना" कहा जा सकता है, जिसके तहत एक सत्तावादी विकल्प की तलाश की जाती है। 1975 का आपातकाल तथा कुछ राज्यों में मात्र वोट बटोरने के लिये जनरंजन कर सत्तावाद का नंगा नाच करती कुछ क्षेत्रीय और राष्ट्रीय पार्टियाँ और राज्य सरकारें इसके उदाहरण हैं।

हालांकि ऊपर उल्लिखित द्वंद्व ने भारतीय लोकतांत्रिक राजनीति को एक दुर्गति की स्थिति में डाल रखा है, इस द्वंद्व के दोनों पक्षों ने कुछ बुनियादी मुद्दों को उठाया है जिनके संतोषप्रद समाधान की तलाश है। "प्रशासन के बिना राजनीति" लक्षण ने राजनीतिक अराजकता की स्थिति पैदा की है जो प्रायः राजनीति प्रेरित होती है और राजनीतिक प्रक्रिया में सत्तावादी हस्तक्षेप का कारण या बहाना बनी है—राष्ट्र या किसी प्रदेश में सामान्य स्थिति या राष्ट्रीय एकता बहाल करने के नाम पर। "राजनीति के बिना प्रशासन" लक्षण की शुरूआत भ्रष्टाचार, प्राशासनिक अक्षमता, तथा महंगाई के खिलाफ कुछ प्रभावी कदमों से हो सकती है, लेकिन लोकतांत्रिक माध्यमों के अभाव में इसका अधःपतन प्रायः दमन, राजनीतिक व प्राशासनिक भ्रष्टाचार, और अहम्-स्फीति में होता है।

स्वयं राज्य के अंतःपुर में राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं का संकट गहराता गया है, हालांकि चुनावी परिवर्तनों के फलस्वरूप राजनीतिक घोटालों की कम से कम आंशिक रूप से कुछ सफाई होती रही है। इस संकट का राजनीतिक चेहरा एक वैसे राजनीनितक कुनेतृत्व का उदय है जिसका अवैधानिकता के साथ चोली-दामन का साथ है। इसे समाचारपत्रों में "राजनीति का अपराधीकरण" तथा "राजनीति में धन और शारीरिक बल का बढ़ता प्रभाव" कहा गया है। इन तत्वों का प्रवेश प्रायः सभी राजनीतिक दलों में हो चुका है और ये समाज और सरकार पर कुकुरमुत्ते की तरह छाते जा रहे हैं। दलीय पद्धति के संस्थागत माध्यमों के प्रकार्यों का संपादन संकटग्रस्त हो गया है और उस पर भीड़ और गैर-संसदीय राजनीतिक आंदोलनों का दवाब बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के तौर पर बिहार और आंध्रप्रदेश में नक्सलवादियों के द्वारा की गयी हिंसक वारदातें, तथा पंजाब, कश्मीर, और कुछ अन्य राज्यों में धार्मिक व जातीय अतिवाद पेश किये जा सकते हैं। सत्तारूढ़ दल और प्रतिपक्ष दोनों के नेता राज्य के संसाधनों का निर्मम और अनैतिक शोषण करते हैं और चुनाव के जुए पर सब कुछ न्योछावर कर देते हैं। भारतीय राज्य का दुर्भाग्य यह है कि पूर्ण लोककल्याणकारी राज्य बनने के पहले ही यह अतिभारित हो गया है, और समुचित शासन करने लगने के पहले ही यह अशासनीयता की स्थिति में फिसल गया है।

प्रमुख अंतर्विरोध

यहां मेरा प्रमुख तर्क राज्य के नेतृत्व में पूँजीवादी विकास के उस समस्या ग्रस्त लक्ष्य के इर्द गिर्द बुना गया है जिसका निर्धारण आरंभ में ब्रितानी औपनिवेशिक शासकों ने और स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व ने किया। भारत में अंग्रेजी राज ने साम्राज्यवादी पूंजीवाद की नींव रखी, जबकि

स्वतंत्र राष्ट्रीय नेतृत्व ने निजी पूँजीवाद के साथ मिश्रित राजकीय पूँजीवाद के प्राधान्य की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का नियोजन किया। हालाँकि इसे "भारतीय समाजवाद" का नाम दिया गया, परंतु मूलतः यह प्रणाली राजकीय पूंजीवाद की ही है। ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारत में लोकतांत्रिक व विकासात्मक राज्य संकट की स्थिति से गुजर रहा है। "संकट" एक अतिउच्चरित शब्द हो गया है; इस शब्द से हमारा यहाँ क्या मंतव्य है ? क्या भारतीय राज्य सर्वनाश के कगार पर है ? या सिर्फ ह्रास या अवनति की स्थिति में हैं ? अथवा एक मोड़ या चौराहे पर है जहां विकल्पों और गतियों के सम्मिलित परिणाम-स्वरूप दिशा-परिवर्तन का संकेत हैं ? सत्यानाश और क्रांतिकारी परिवर्तन की भविष्यवाणी अब भारतीय राजनीति में उतनी ही पुरानी पड़ गयी है जितना मध्ययुगीन रसायन। ऐसा प्रतीत होता है कि, अंल्पकालिक मूल्यांकन में, भारतीय राज्य राजनीतिक अधोगति और आर्थिक अकर्मण्यता का शिकार है। दूरगामी गणना में भारतीय राज्य उस चौहारे पर भी पहुंचता दीखता है जहां उसे मौजूदा "विकासवादी" राज्य और पूंजीवादी राज्य के बीच चयन करना होगा पूर्ण कल्याणकारी राज्य के उपांग के साथ पूंजीवाद अथवा उसके बिना, लेकिन ज्यादा संभावना है कि उसके साथ।

मेरा अभिमत है कि आज भारतीय राज्य में प्रमुख अंतर्विरोधिता का तत्व निम्नलिखित है : एक ओर लोकतंत्र के "राजनीतिक मार्केट" की निर्नैतिक युक्तियुक्तता (अधिक से अधिक वोट बटोरना) और दूसरी ओर पूंजीवाद को मार्केट की सदाचार-निरपेक्ष युक्तियुक्तता (अधिक से अधिक लाभ) के बीच विरोधाभास। इन दो प्रकारों के भावशून्य, मतलबी युक्तियुक्तिताओं ने, समाजवादी और सांततिक नैतिकताओं से च्युत होकर, प्रायः किसी भी पूंजीवादी राज्य में अर्थनीति, राजनीति और पर्यावरण का विनाश किया है। भारत का मामला कुछ ज्यादा ही पेचीदा है क्योंकि यहां निकट ऐतिहासिक काल तथा वर्तमान राजनीति में राज्य, समाज की तुलना में अति-विकसित रहा है। अन्य मुद्दों पर मतभेद के बावजूद, अपेक्षाकृत परस्पर-विरोधी राजनीतिक सिद्धान्तों के बीच भी ऊपर उल्लिखित बिन्दु पर काफी हद तक सहमति है : उदाहरणार्थ प्राच्य तानाशाही तथा एशियाई उत्पादन-प्रणाली, आधुनिक राजनीतिक विकास, परंपरागत मार्क्सवाद, नव-मार्क्सवाद, साम्राज्यवाद, आर्थिक परावलंबन, तथा उदारवाद और नव-उदारवाद आदि सिद्धांतों के नाम गिनाये जा सकते हैं। और, अब यदि परंपरागत मार्क्सवादियों को छोड़ दें, तो उदारवादी तथा मार्क्सवादी चिंतक और विश्लेषक इस स्थापना में एकमत हैं कि स्वतंत्र भारतीय राज्य कुछेक प्रभावशाली वर्गों व नेतृत्वों के अतिक्रमण से अपेक्षाकृत स्वायत्त रहा है, हालांकि राज्य पर इस प्रकार के दवाब कभी-कभी प्रकट होते तथा बढ़ते रहे हैं।

तथापि विश्लेषकों ने अब, हल्की या गंभीर, चिंता व्यक्त करनी शुरू कर दी है कि अब क्या होगा—क्या भारतीय राज्य अभिजात्य और शासक वर्गों के इन्द्रजाल में अपनी स्वायत्तता खो बैठेगा अथवा भीड़ के अपतंत्रक दबाव में अशासनीयता की अराजक स्थिति में पहुंच जायगा ? और, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में व्याप्त आर्थिक अक्षमता और राजनीतिक घोटालों की स्थिति यहां

तक पहुँच गयी है कि उनके उत्साही समर्थक भी अब आलोचक बन बैठे हैं। फिर भी, कुछ प्रमुख उद्योगपतियों द्वारा सरकारी उद्योगों के निजीकरण का प्रस्ताव रखने के बावजूद राजनीतिक दलों का नेतृत्व आम तौर से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के विघटन के खिलाफ है।

भारतीय राज्य, विशेषतः केंद्रीय सरकार, आज अर्थतंत्र और राजनीतिक तंत्र की कमानी ऊंचाइयों पर विराजमान जरूर है, लेकिन इसका प्रभुत्व कई कारणों से खोखला होता जा रहा है। इसके कई प्रमुख कारण हैं : योजनाओं की असफलता, दफ्तरशाही की अतिशयता तथा भ्रष्टाचार, गांधी-नेहरू युग की राजनीतिक सर्वसम्मति के प्राधान्य का बिखराव, संस्थागत राजनीति के माध्यमों की असफलता, तथा उग्रवादी जातीय और धार्मिक राजनीति का विस्फोट। कई सरकारों की असफलतायें तेजी से पूरी राज्य व्यवस्था की मूलभूत असफलताओं में परिणत होती जा रही हैं।

तथापि, भारतीय राज्य के आर्थिक और राजनीतिक संकट के निराकरण के उपाय न तो सार्वजनिक या राज्य-क्षेत्र के उद्योगों का संपूर्णतया निजीकरण में निहित हैं और न खर्चीले लोकतांत्रिक चुनावों का ताम-झाम उखाड़ फेंकने में। उद्योगों का पूर्ण निजीकरण भारतीय अर्थतंत्र को उतना ही अराजक और शोषक बना देगा जितना व्यापक राजनीतिक भ्रष्टाचार ने भारतीय निर्वाचन और राजनीति प्रक्रिया को विषाक्त और जन-ताड़क बना दिया है। पूर्वी यूरोप में समाजवाद साम्यवाद की असफलता राज्य मात्र की असफलता उतनी नहीं है जितनी राज्य के उस सुरसा-विस्तार की जिसने विनिमय-बाजार की सारी संस्थाओं को आत्मसात कर लिया था। राज्य के हाथ में सारी राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का केंद्रीकरण पूर्वी यूरोप में असफल रहा। 1989 की पूर्वी यूरोपीय क्रांति का यही केंद्रीय सार-संवाद है। भारतीय राज्य के संकट के निवारण का मार्ग भी उपयुक्त राजनीतिक यांत्रिकी और विचारधारात्मक मज्जन में ढूँढा जा सकता है।

अभी यह पर्याप्ततः अनुभव होना शायद शेष है कि भारतीय राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं का मैट्रिक्स अवरोधों और संतुलनों की एक जटिल श्रृंखला पर आधारित है : संसद, मंत्रिमंडल, और सर्वोच्च न्यायालय के बीच; संघीय और राज्य सरकारों के बीच; उदारवादी मौलिक अधिकारों तथा समाजवाद से प्रभावित राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के बीच; संविधान, परंपराओं, तथा न्यायिक व्याख्याओं के बीच; सार्वजनिक और निजी उद्योगों के बीच; राजनीति, लोक प्राशासनिक, सैनिक, तथा अर्थ प्रबंधक नेतृत्वों के बीच; इत्यादि। संविधान-निर्माताओं और मौजूदा मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीव डालने वाले राष्ट्र निर्माताओं ने उपर्युक्त ध्रुवत्त्रों में से किन्हीं ध्रुव-विशेष को विशेषाधिकार से युक्त करने का प्रयास अवश्य किया था जो कि पद्धति को गति व दिशा देने के लिये आवश्यक भी था। लेकिन पिछले चार दशकों में आरंभिक ढाँचे और मौजूदा विकसित ढाँचे में कुछ परिवर्तन भी आ गये हैं। उदाहरण के तौर पर, आरंभिक अभिकल्पना में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों पर संसद का राज्यों पर तथा राजकीय उद्योगों को निजी उद्योगों पर प्राथमिकता या प्रधानता प्रदान की गयी थी। लेकिन पिछले चालीस वर्षों में आरंभिक महत्व के बिन्दुओं में पूर्ण परिवर्तन तो नहीं पर कुछ परिवर्तन अवश्य आ गये हैं। इन परिवर्तनों के प्रमुख

कारण निम्नलिखित रहे हैं : नीति-निर्देशक तत्वों के कार्यान्वयन के लिये संवैधानिक संशोधन, सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के कुछ सूक्ष्मतर संरचनात्मक आकृतियों की असंशोधनीयता के सिद्धांत का प्रतिपादन, राज्यों की स्वायत्तता के लिये आंदोलन और एक-दलीय प्रधानता की पार्टी-प्रणाली की जगह पर अब बहु-दलीय पार्टी-प्रणाली का उदय तथा पिछले दशक में उदारवादी आर्थिक नीतियों का अपनाया जाना ।

अब तक भारतीय शासनपद्धति में अलोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के अवरोधक तत्वों में सबल राजनीतिक संस्थाओं और राजनीतिक नेतृत्व की सक्षमता की तुलना में लोक आंदोलनों, सुधारवादी चुनाव परिणामों तथा खोजी और सबल राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पत्रकारिता की भूमिका ज्यादा अहम् रही है । या तो आर्थिक व राजनीतिक ढांचों के सम्मिलित परिणाम स्वरूप अथवा "ओवर डिटर्निमेशन" (लुई अल्थुजर) के कारण, या कि फिर दैव-योग से, भारत अब तक दक्षिणपंथी अथवा वामपंथी सर्वसत्तात्मक विकल्पों के दुर्नियोग से बचता आया है । इस प्रकार, भारतीय राजनीति की केन्द्रीय समस्या दक्षिणी अथवा पूर्वी यूरोप से भिन्न है जहां पाश्चात्य उद्योगवाद के दो चेहरे पूँजीवादी और समाजवादी मिल कर एक हो रहे हैं और उदारवादी राजनीतिक और आर्थिक नीतियों का सर्वमान्य प्रतिमान प्रस्तुत कर रहे हैं । जब तक कि भारत सामाजिक आर्थिक विकास की वह देहली पार नहीं कर जाता जहां लोकतांत्रिक गत्यात्मकता की संभावना अत्यंत प्रबल हो जाती है, भारत राजनीतिक पद्धति की नैतिक नियति यह है कि लोकतांत्रिक शोर-शराबे की खींच निकाले चले, एक सबल औद्योगिक आधार का निर्माण करे, और बीसवीं सदी के सबसे जटिल पारंपरिक समाज को स्वतंत्रता और समानता की दिशा में परिवर्तित करे ।

●

डॉ. सम्पूर्णानन्द और समाजवाद

श्री श्याम शंकर सिंह

"श्री काशीविद्यापीठ राष्ट्रभक्ति का प्रतीक है। इसने अनेक विद्वानों एवं जननेताओं को अपने साथ जोड़ा और उन्हें आजादी की लड़ाई में एक शक्ति के रूप में खड़ा किया। इन्हीं विद्वानों एवं जन-नेताओं में एक थे बाबू सम्पूर्णानन्द। वे विद्वान्, चिंतक, शिक्षक, गम्भीर समाजवादी थे। वे हिन्दी भाषा एवं देवनागरी लिपि के अनन्य उपासक एवं समर्थक थे। वे हिन्दी भाषा को देश की राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किए जाने के पक्षधर थे। इस महापुरुष को शिक्षकों, हिन्दी भाषा-भाषियों एवं समाजवादियों ने वह महत्त्व तथा सम्मान नहीं दिया जिसके वे अधिकारी थे। इसके पीछे क्या कारण हो सकता है ? और जो भी कारण रहेंगे, किंतु एक कारण तो स्पष्ट है कि वे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने अपने पाण्डित्य के किसी भी क्षेत्र में अपनी अलग पहचान बनाने का कभी यत्न नहीं किया। वे विचित्र स्वभाव के व्यक्ति थे। वे जो सोचते और समझते थे, उसे बेहिचक व्यक्त करते थे। उन्हें इस बात की तनिक भी चिंता नहीं रहती थी कि उनकी बातों का किसी पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व विवादास्पद रहा। उनकी सच्चरित्रता, निष्ठा और ईमानदारी बेदाग थी। अद्वितीय विद्वत्ता तथा स्पष्टवादिता के कारण वे पूज्य थे। एक दिन ऐसा आया जब यह दृढ़निश्चयी व्यक्ति जीवन से थक गया और अपना कृतित्व छोड़ इस संसार से चला गया।

सम्पूर्णानन्द जी सामान्य परिवार के थे। जालपादेवी स्थित उनका मकान उनकी अकिंचनता का रोना रोता रहता है। उनके जीवन के अंतिम क्षणों में यदि "श्री काशीविद्यापीठ" ने उन्हें परिवार का सदस्य मानकर आश्रय न दिया होता और उनकी मानवोचित सेवा न की होती तो शायद वह सड़क पर ही प्राण-त्याग करते। उनकी शवयात्रा में मैं सम्मिलित था। मुझे दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि यहाँ की जनता ने भी उस सपूत को भरपूर सम्मान नहीं दिया।

वे स्वभाव से चाटुकार नहीं थे, न ही चाटुकारों को प्रश्रय देते थे। यदि उनमें यह गुण होता तो शायद वे मरणोपरान्त ससम्मान याद किए जाते।

मैं उनका छात्र नहीं था, सहकर्मी नहीं था, मुझे उनका सामीप्य एवं सान्निध्य भी नहीं प्राप्त था; किंतु उन्हें जानता था, देखा था, उनकी बातों को सुना था और उनकी कुछ पुस्तकों का अध्ययन किया है। उनकी विद्वत्ता अद्वितीय थी। मैं सोचता हूँ कि यदि उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें न लिखी होतीं और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना न की होती तो शायद अब तक

लोग उन्हें भूल गए होते । "श्री काशीविद्यापीठ" एवं "सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय" का यह दायित्व है कि वे उनकी स्मृति में कुछ ऐसी निशानी खड़ी करें जिससे वे सदैव याद किए जाँय ।

मैं समाजवादी हूँ, इसलिए समाजवाद के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्णानन्द जी के व्यक्तित्व की चर्चा करनी अधिक युक्तिसंगत होगी । इस प्रसंग में उनके अनन्य भक्त, वयोवृद्ध गुरु, समाजशास्त्री, समाजवाद के जाने माने विद्वान् प्रो. राजाराम शास्त्री से मैं मिलने गया । मैंने सपाट प्रश्न किया कि क्या सम्पूर्णानन्द समाजवादी थे ? उत्तर में उन्होंने बताया कि वे वास्तव में आस्थावान् एवं समर्पित समाजवादी थे । उनके विषय में अन्यथा सोचना भूल है । उन्होंने बताया कि उनकी चर्चित पुस्तक "समाजवाद" ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है । आगे उन्होंने बताया कि आजादी की लड़ाई के जमाने में कांग्रेस के अन्दर इस बात पर गम्भीर चिंतन हो रहा था कि आजादी के पश्चात् देश में कौन सी "व्यवस्था" लागू की जाय, जिसमें देश के सर्वाधिक लोगों की भागीदारी हो और सभी लोग लाभान्वित हों । इस बात पर चिंतन हेतु एक बैठक काशी के ठठेरी बाजार स्थित किन्हीं गण्यमान व्यक्ति के निवास पर आयोजित थी, जिसमें पं. जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्रीप्रकाश जी, बाबू सम्पूर्णानन्द तथा अन्य कई विद्वान् एवं देशभक्त उपस्थित थे । इस बैठक में यह निश्चय किया गया कि देश के लिए समाजवादी व्यवस्था ही सर्वाधिक उपयुक्त एवं उपयोगी होगी । बताया गया कि इस निश्चय के पीछे बाबू सम्पूर्णानन्द की विशेष भूमिका थी । प्रो. राजा रामशास्त्री ने यह बात कदाचित् इसीलिए कही कि लोगों का यह भ्रम समाप्त हो जाय कि बाबू सम्पूर्णानन्द समाजवादी नहीं थे । उन्होंने बताया कि सम्पूर्णानन्द जी समाजवादी दर्शन के विद्वान् ही नहीं थे, वरन् उनको उसमें गहरी आस्था एवं रुचि थी ।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने अंग्रेजी-राज की समाप्ति के पश्चात् देश में "समाजवादी व्यवस्था" स्वीकार्य होने के सम्बन्ध में कोई नीति निर्धारित नहीं की थी । काँग्रेस के भीतर अलग एवं सामूहिक रूप से भी यह चर्चित था कि इसे काँग्रेस द्वारा सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए । गाँधी जी व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ न कुछ कहते और लिखते थे; किंतु उसमें बहुत स्पष्टता नहीं थी । आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश बाबू, डॉ. राम मनोहर लोहिया सरीखे नेताओं का मानना था कि यदि व्यवस्था सम्बन्धी नीति तय नहीं की जायगी और उससे जनता को शुरू में ही अवगत नहीं करा दिया जायगा तो आजादी के पश्चात् देश में आर्थिक अव्यवस्था फैल जायगी, जिससे उबरना कठिन होगा । इन लोगों का तर्क था कि जिस प्रकार आजादी की लड़ायी और जन-राज की स्थापना पर आम सहमति हो गयी है, उसी प्रकार "व्यवस्था" पर भी सहमति आवश्यक है ।

काँग्रेस का अधिसंख्याक वर्ग इस प्रश्न पर मौन था; किंतु कुछेक विरोधी थे । विरोधी कोई विकल्प तो प्रस्तुत नहीं करते थे; किंतु यह अवश्य कहते थे कि इस प्रश्न पर उलझने से आजादी की लड़ायी में शिथिलता आ सकती है और अन्तर्विरोध होने से गोरे लोग अनुचित लाभ उठा सकते हैं । सबसे आश्चर्य की बात यह है कि गाँधी जी भी इस प्रश्न पर मुखर नहीं थे । वे अन्त तक

अपने अस्फुट विचारों तक ही सीमित रहे। क्या वे समाजवादी व्यवस्था के विरोधी थे ? यदि हाँ, तो चुप क्यों थे ? यदि नहीं थे तो मुखर क्यों नहीं थे ? गाँधी जी मार्क्सवाद से असहमत रहे हों किंतु भारतीय परिवेश में समाजवाद की जो व्याख्या हुई, उस पर भी तो उनकी सहमति अथवा असहमति स्पष्ट नहीं थी। "व्यवस्था" सम्बन्धी नीति-निर्धारण एवं समाजवादी व्यवस्था के प्रति अन्य कांग्रेसजनों की जो भी राय रही हो, किंतु सरदार पटेल इसके प्रबल विरोध को और प्रखर बना चुका था। धीरे-धीरे समाजवादी विचार वालों को अपना एक अलग रास्ता चुनने के लिये बााध्य होना पड़ा। अन्ततोगत्वा सन्1934 ई. में समाजवादियों ने काँग्रेस के भीतर ही काँग्रेस सोशलिस्ट ग्रूप की नींव डाली। कुछ समय पश्चात् यह ग्रुप नौजवानों को आकर्षित करने लगा और एक शक्ति के रूप में सामने आ गया। क्या समाजवादियों के इस प्रयास से आजादी की लड़ायी में कहीं शिथिलता आयी ? नहीं, बल्कि समाजवादी नौजवानों ने आजादी की लड़ायी में निरंतर गति दी। सरदार पटेल सरीखे नेताओं की इस सम्बन्ध में दी गयी दलील बेदम थी। सरदार पटेल काँग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप से नफरत करते थे। यही कारण था कि सन् 1947 में आजादी मिलने के पश्चात् उन्होंने काँग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप की उपेक्षा करनी शुरू की और ऐसा माहौल बना दिया कि काँग्रेस के भीतर काँग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप का अधिक दिनों टिकना कठिन हो गया। फिर सन् 1948 में काँग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप को काँग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद करने का दुःखद निर्णय लेना पड़ा। प्रो. राजाराम शास्त्री ने ही बताया कि आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रभाव के कारण पं. कमलापतित्रिपाठी ने भी काँग्रेस से बाहर आने का मन बना लिया था; किंतु आचार्य जी के यह कहने पर कि वे इस जोखिमभरे रास्ते को न अपनाएँ, उन्हें अपना निर्णय बदलना पड़ा। सत्य यह है कि स्वयं आचार्य जी भी काँग्रेस से पूर्ण सम्बन्धविच्छेद पसन्द नहीं करते थे, किंतु नौजवान समाजवादियों के आग्रह को वे टाल नहीं सके और काँग्रेस से बाहर आ गए। काँग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप ने काँग्रेस से बाहर आकर अपना एक अलग संगठन "अखिल भारतीय सोशलिस्ट पार्टी" के रूप में खड़ा किया।

जिस प्रकार आजादी की लड़ायी के स्वरूप पर काँग्रेस में मतभेद था, उसी प्रकार समाजवादियों में भी मार्क्सवाद को लेकर अन्तर्विरोध था। लड़ायी के स्वरूप पर लगभग आम सहमति थी कि इसे गाँधी जी के असहयोग एवं अहिंसा के सिद्धान्त के तहत लड़ा जाय; किंतु नेता जी सुभाषचन्द्र बोस, सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद सरीखे नौजवानों की कुछ और इच्छा थी और उनका रास्ता भी भिन्न था। सभी देशभक्त थे। आजादी की ललक सभी में समान रूप से थी। गाँधी जी का असहयोग एवं अहिंसा का रास्ता व्यापक रूप से सफल तो रहा; किंतु उससे सहमत लोगों ने भी यत्र तत्र हिंसा का सहारा लिया। यह एक प्रकार से अपरिहार्य था। मतभेदों के बावजूद आजादी की लड़ायी में न कहीं शिथिलता आयी, न ही अँग्रेजी-राज को उससे अनुचित लाभ उठाने का अवसर ही मिला। गाँधी जी का विरोध नेता जी सुभाषचन्द्र बोस, सरदार भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद सरीखे नौजवानों ने किया जरूर, किन्तु उन सभी ने देश की आजदी के लिए किया। उनके इस कृत्य में दुर्भावना की गंध तक नहीं थी। यही कारण है कि गाँधी जी की भाँति वे भी हर साल

श्रद्धापूर्वक याद किए जाते हैं। कतिपय पश्चिमी देशों ने समाजवाद की जो व्याख्या की और उससे समाजवाद का जो स्वरूप सामने आया, वह जनतांत्रिक समाजवाद के रूप में विख्यात हुआ। अपने देश के लिए भी यह अधिक उपयुक्त एवं आकर्षक लगा। इसे मूलरूप में तो स्वीकार नहीं किया गया; किंतु भारतीय परिवेश में कुछ रद्दोबदल के साथ इसे स्वीकारा गया। मार्क्सवाद का "सर्वहारा की तानाशाही" और "सम्पत्ति का अधिकार" विषयक मुख्य अंश बिल्कुल नकारा गया। इसीलिए यहाँ का समाजवाद मार्क्सवाद से भिन्न रूप में सामने आया और वह कभी भी मार्क्सवाद का पिछलग्गू नहीं बना। कितने समाजवादी जो मार्क्सवाद के स्वरूप में कोई फेरबदल पसन्द नहीं करते थे, समाजवादी ग्रुप से नाता तोड़कर कम्युनिस्ट पार्टी में चले गए। आज मार्क्सवादी या कम्युनिस्ट देशों में जनतांत्रिक शासन एवं व्यक्ति को सम्पत्ति पर अधिकार देने की जोरदार मुहिम चल रही है। कितनों की जानें गयी हैं और अन्ततोगत्वा वहाँ की कम्युनिस्ट सरकारों को झुकना पड़ा है। चीन अभी अकेला देश है जहाँ मार्क्सवाद का स्वरूप बना हुआ है; किन्तु वहाँ भी आन्दोलन भड़का था, हजारों की जानें गयीं और यह आग बुझी नहीं है। वहाँ भी किसी क्षण विप्लव हो सकता है। यह मानना पड़ेगा कि विश्व में आज के परिवेश में मार्क्सवाद मृतप्राय हो चुका है। उसकी ग्रहणीयता एवं सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लग गया है। मार्क्सवाद की "सर्वहारा की तानाशाही", "सम्पत्ति पर सरकारी अधिकार" आज बेमानी हो गया है। "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" की नाव ही मझधार में फँस गयी है और उसके डूब जाने के पूरे आसार हैं। मार्क्सवादी देशों में जनतांत्रिक पद्धति वाली सरकारें बनाने, व्यक्तियों को मौलिक अधिकार देने, सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार पाने के लिए हठीले प्रयास हो रहे हैं। अभी जो फेरबदल हुए हैं, वे इन सबकी प्राप्यता के लिए पर्याप्त नहीं हैं; किन्तु बदलाव के लिए उद्वेलित जनभावना से पता चलता है कि कुछेक वर्षों में मार्क्सवाद का लोप हो जायगा।

भारतीय समाजवाद भी अन्तर्विरोधों का शिकार था। उसमें कितनों के विचार मार्क्सवाद से, कितनों के विचार गाँधीवाद से और कितनों के विचार अध्यात्मवाद से उत्प्रेरित थे। सम्पूर्णानन्द जी का चिंतन अध्यात्मवाद से उत्प्रेरित था। यह उनका मौलिक चिंतन था। इसे अन्य समाजवादियों ने नकार दिया। सम्पूर्णानन्द जी के विचारों में मौलिकता जरूर थी, किंतु उन्होंने उसके लिए आगे कुछ किया नहीं। उसकी सार्थकता एवं व्यावहारिकता पर एक व्यापक आन्दोलन की आवश्यकता थी, उसे वह नहीं कर पाये। शायद यह उनके स्वभाव का दोष था। उनके अनुयायियों नें भी दलीय राजनीति के चक्कर में चुप रहा ही उचित समझा। जैसा मैंने ऊपर कहा है कि सम्पूर्णानन्द जी सिद्धान्तों पर कोई समझौता नहीं करते थे, अतएव वे और उनकी पुस्कत "समाजवाद" अकेले पड़ गया। सम्पूर्णानन्द जी ने सन् 1948 में अन्य समाजवादियों की भाँति काँग्रेस से बाहर आना पसन्द नहीं किया, उसके पीछे मुख्यतः दो कारण रहे होंगे, काँग्रेस से लगाव और समाजवदियों से दार्शनिक अन्तर्विरोध। ऐसे बहुत से समाजवादी थे जिन्होंने काँग्रेस नहीं छोड़ा। इस सिलसिले में सर्वश्री मोहनलाल गौतम, अलगू राय शास्त्री आदि अनेक नाम लिए जा सकते हैं।

मेरी समझ में कांग्रेस न छोड़ने से यह अवधारणा कि वे समाजवादी नहीं थे, उचित नहीं है। आज जो समाजवादी दूसरे दलों में जा चुके हैं; किंतु समाजवाद, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, डॉ. लोहिया का डंका पीट कर राजनीति में जी रहे हैं, क्या उन्हें भी समाजवादी नहीं कहा जायगा ? वे सभी समाजवादी हैं। सन् 1948 में काँग्रेस न छोड़ने या समाजवादी आन्दोलन में न कूदने से सम्पूर्णानन्द जी के विषय में यह अवधारणा कि ये समाजवादी नहीं थे, सर्वथा अनुचित है। व्यक्ति कहीं भी रहे यदि उसके विचार और कृतित्व समाजवादी विचारों से उत्प्रेरित हैं तो वह सदैव समाजवादी रहेगा और यह मान्यता उसे दी जानी आवश्यक है। इस परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्णानन्द जी को यदि देखा जाय तो उनका सही मूल्यांकन किया जा सकेगा।

काँग्रेस ने सबसे बड़ी भूल यही की कि उसने आजादी की लड़ायी के दिनों "आर्थिक व्यवस्था" सम्बन्धी कोई स्पष्ट नीति नहीं तय की, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश आर्थिक रूप से पिछले तैंतालिस वर्षों से भी उतना समुन्नत नहीं हो पाया जितना उसे होना चाहिए था। अन्य समाजवादियों की भाँति सम्पूर्णानन्द जी भी इस राय के थे कि इस प्रश्न पर स्पष्ट नीति-निर्धारण हो जाना चाहिए; किंतु गाँधी जी का मौन, जवाहरलाल जी को निष्क्रियता या अनदेखी कुछ ऐसा कर बैठी कि यह प्रश्न खटायी में पड़ा रह गया। जवाहरलाल जी पर पाश्चात्त्य औद्योगीकरण का स्पष्ट प्रभाव था। उनका समाजवाद के प्रति प्रेम इसी हद तक सीमित था। उन्हें अपनी औद्योगीकरण नीति में रद्दोबदल पसन्द नहीं था। उन्होंने देश को औद्योगीकरण के जाल में इस तरह फँसा दिया कि अब उससे पीछे हटना मुश्किल हो गया है।

भारत कृषि-प्रधान देश है; किंतु उसे औद्योगिक सूची में प्रधानता आज तक नहीं दी जा सकी है, अथवा यह कह लें कि उसे उद्योग माना ही नहीं गया है। भारत आर्थिक दृष्टि से उतना समुन्नत नहीं हो पाया जितना उसे पिछले चार दशक में होना चाहिए था। आर्थिक नीतियाँ नीचे से ऊपर जाने के बजाय ऊपर से नीचे लाई जाने का प्रयास ही देश की आर्थिक-हीनता का मुख्य कारण है। इस देश ने जमींदारी-विनाश और भूमि-सुधार के क्षेत्र में जो क्रान्ति की, वह अद्वितीय है; किंतु कृषि को जो प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी वह नहीं दी गयी और आज भी नहीं दी जा रही है। इसलिए देश आर्थिक रूप से पिछड़ा रह गया। इस देश के कर्णधारों ने जापान से भी नसीहत नहीं ली। वहाँ की अर्थव्यवस्था का अध्ययन नहीं किया गया। यदि उसे स्वीकारा गया होता तो देश गरीबी की पीड़ा से मुक्त होता, विदेशी क़र्जे से मुक्ति मिलती और देश आर्थिक क्षेत्र में नई क्रान्ति का यश प्राप्त करता। समाजवादियों ने भी इस दिशा में कोई स्पष्ट नीति सामने नहीं रखी और न इस विषय पर कभी सशक्त आन्दोलन ही खड़ा किया। यदि पूछा जाय कि देश में कौन सी आर्थिक नीति का अवलम्बन हो रहा है, तो शायद निरुत्तर हो जाना पड़ेगा। आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण एवं डॉ. लोहिया ही मुखर समाजवादी थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् समाजवादी आन्दोलन डूब गया। अब

केवल नाम लेकर वर्तमान राजनेता अपना काम चला रहे हैं। आज समाजवादी आदर्श एवं दर्शन नहीं रहा है; बल्कि राजनेता अपने-अपने राह पर उसे चला रहे हैं; जिसमें न कोई ताल-मेल है, न ही सामर्थ्य। आरक्षण पर बहुत होहल्ला मचा। उसमें डॉ. लोहिया का नाम अधिक लिया गया। मगर लोग यह भूल गए कि डॉ. लोहिया ने सभी जातियों एवं सम्प्रदायों की स्त्रियों को पिछड़ा माना और उन्हें आरक्षण की माँग की; मगर इस सरकार ने उसे नहीं स्वीकारा। डॉ. लोहिया ने अमीरी के कैलाश को ढहाने और गरीबी की खाँई को पाटने की बात कहीं, इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। डॉ. लोहिया की इस बात को मान लिया जाय तो सभी, गरीब स्त्री एवं पुरुष चाहे जिस भी जाति एवं सम्प्रदाय के हों लाभान्वित होंगे और जात-पाँत, सम्प्रदाय की अग्नि जो धधक रही है, उसका अन्त हो जाय। आज जहाँ जिसका राजनीतिक लाभ है, वहाँ समाजवाद और उसके मुखर नेताओं की दुहायी देकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। इस प्रकार समाजवाद एवं उसके मुखर नेता, जो अब इस दुनिया में नहीं हैं, को मात्र बदनाम ही किया जा रहा है। आरक्षण के प्रश्न पर आज जो कुछ हुआ है, जानें गयी हैं, जन-धन का नुकसान हुआ है और जातिगत प्रश्न उठे हैं, जिसमें ईर्ष्या एवं घृणा का वातावरण बना है, वह देश को कहाँ ले जायगा, विचारणीय है। मेरी दृष्टि में यदि आज समाजवाद के मुखर नेता होते तो आरक्षण के प्रश्न को अधकचरे राजनीतिज्ञों की भाँति न उठने देते। मैं अब भी इस मत का हूँ कि सामाजिक गिरावट एवं उत्थान की जड़ में आर्थिक स्थिति की ही प्रधानता है। यदि आर्थिक स्थिति में सुधार की कल्पना की जाय और उसे मूर्तिमान् किया जाय तो आरक्षण का मामला उठे ही नहीं और न उसकी आवश्यकता ही रह जाय।

वास्तव में आर्थिक उत्थान जटिल कार्य है और इसके लिए धन की आवश्यकता है, इसलिए इससे बचने के लिए सरकार ने आरक्षण का प्रश्न उठा दिया, जिसमें कोई खर्चा नहीं है। यह एक प्रकार की कायरता है और सरकार की अक्षमता का स्पष्ट प्रमाण है। राजनीतिक लाभ से सरकार टिकी रह जाय या राजनीतिक अपनी-अपनी कुर्सी बचा लें; किंतु इससे आम जनता को कोई लाभ नहीं होता। इसीलिए कहा जा रहा है कि अमीरी-गरीबी के बीच एक सीमा-रेखा निश्चित की जानी चाहिए और अमीरी रेखा से नीचे वालों की आर्थिक, शैक्षणिक आदि स्थितियों में सुधार की योजनाएँ शुरू करनी चाहिए। आर्थिक स्थिति की समुन्नति की प्रक्रिया का प्रत्येक दस वर्ष में पुनरीक्षण के समय यह भी ध्यान देना चाहिए कि आर्थिक आरक्षण का किसने सदुपयोग किया और किसने दुरुपयोग किया। जिसने आरक्षण सुविद्या का दुरुपयोग किया हो उसको सुविधा से वंचित किया जाना चाहिए। उसी प्रकार अमीरी रेखा के ऊपर वाला व्यक्ति यदि दैवी आपदा के कारण रेखा के नीचे आ गया है, या किसी ऐसे कारण से रेखा के नीचे आ गया है जिसमें उसका दोष नहीं है, तो उसे आर्थिक आरक्षण दिया जाना चाहिए। यह प्रक्रिया अपनायी जाय तो देश उन्नति करेगा और व्यक्तियों में जातिगत एवं साम्प्रदायिक भावनाओं का अन्त होगा। जातिप्रथा समाप्त करने अथवा उसे निस्तेज करने का यह तरीका अधिक उपयोगी एवं आशाप्रद है। आज के समाजवादी

विचारवान् नहीं रह गए हैं। उनकी सोच का स्तर गिर गया है। वे गद्दी-लोभी हो गए हैं। केवल राजनीति की गोटी बैठाने से देश का भला नहीं होगा। व्यक्तिगत अथवा दलीय स्वार्थ से कहीं ऊपर देश-हित है। मैं आज के समाजवादियों से अपील करूँगा कि मृतप्राय समाजवादी आन्दोलन को तेजवान् एवं सशक्त बनाने हेतु वे उसी प्रकार सड़कों पर आ जाँय, जैसे पहले समय-समय पर आया करते थे। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो इतिहास उन्हें क्षमा नहीं करेगा।

मैंने इस प्रश्न को यूँ ही नहीं उठाया बल्कि जानबूझ कर उठाया है; क्योंकि "समाजवाद" की महिमा पर संकट आ गया है। इस परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्णानन्द जी यदि जीवित होते तो शायद उनकी भी राय जातिगत आरक्षण के विरुद्ध होती। सम्पूर्णानन्द जी अद्वितीय समाजवादी थे। देश की आजादी के पश्चात् उत्तर-प्रदेश सरकार ने सबसे क्रांतिकारी कदम उठाया "जमींदारी-विनाश" एवं "भूमि-सुधार" का। इस कदम के लिए यदि सारा श्रेय सम्पूर्णानन्द जी को दिया जाय तो अतिरंजना नहीं होगी। "जमींदारी-विनाश" एवं "भूमि-सुधार" के सम्बन्ध में, जो टिप्पणी सम्पूर्णानन्द जी ने राजकीय फाइल में लिखी है और जो आज भी सुरक्षित है, उसके अध्ययन से पता चलता है कि वे कितने बड़े समाजवादी थे। उनके मन में किसानों, मजदूरों और गरीबों के प्रति मोह था। वे किसान, मजदूर आन्दोलनों के हामी थे। इस प्रसंग में एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिससे मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। सन् 1956 में काशी में डीजल लोको मोटिब कारखाने का शिलान्यास होना था और राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के करकमलों द्वारा शिलान्यास होना था। इसके लिए नगर के समीप की अति उपजाऊ भूमि अवाप्त की जा रही थी। कुल 8-9 गाँव इस चपेट में थे। मुआविज-राशि बहुत कम दी जा रही थी। इसके विरुद्ध मैंने एवं स्वर्गीय पं. रमाकान्त मिश्र ने वहाँ के किसानों को संगठित किया और एक बड़ा किसान आन्दोलन खड़ा किया। उसमें शर्त थी कि यह कारखाना कहीं अन्यत्र बैठाया जाय; क्योंकि नगर के इतने समीप इतना बड़ा कारखाना बैठाना उचित नहीं है और किसी भी कारखाने के लिए तीन फसली जमीन की अवाप्ति अनुचित है। नगर से करीब हरहुआ के आस-पास की बंजर जमीन लेने का सुझाव भी दिया गया था; किंतु रेलवे को राज्य सरकार ने यही भूमि देने का निश्चय किया था। हम लोगों ने भी आन्दोलन की गति तेज करने का फैसला कर रखा था। राज्य सरकार की ओर से मुख्यमंत्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपील की थी कि इस विषय में पं. कमलापति जी से किसान नेता बात करें। बात तो हुई किंतु कुछ काम बनता नजर नहीं आया। उस समय स्वयं सम्पूर्णानन्द जी ने हम लोगों को बुलाया और बातचीत की। उन्होंने कहा कि बड़ी मुश्किल से उत्तर-प्रदेश के लिए यह कारखाना बनाने की अनुमति केन्द्र सरकार ने दी है और उसे वे वाराणसी में ही स्थापित करने का फैसला कर चुके हैं। इसका स्थानान्तरण सम्भव नहीं है और अपने ही उन्होंने कहा कि किसानों के प्रति उनके मन में मोह है। उनको विस्थापित करने में सरकार हर सम्भव सहायता देगी और रेलवे से उन्हें लगभग बाजार रेट पर मुआविजा भी दिलाने का प्रयास होगा। राजकीय आश्वासन से किसानों की चिंता कम नहीं हुई

और तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जब इस सम्बन्ध में काशी पधारे तो उनसे भी हम लोग नदेसरी पैलेस में मिले। राजेन्द्र बाबू ने जब यह बताया कि सम्पूर्णानन्द जी ने स्वयं अच्छा मुआविजा के लिए पहल की है तो किसानों में उनके समाजवादी चरित्र का ख्याल आया और कुछ विश्वास जगा। शिलान्यास के दिन पुलिस ने हम लोगों को गिरफ्तार भी किया और किसानों पर हल्का डंडा भी बरसाया किंतु यह नहीं भुलाया जा सकता कि सम्पूर्णानन्द जी ने रेलवे से वहाँ के किसानों को बाजार दर पर मुआविजा दिलवाया और कुछेक को नौकरी भी वहाँ मिली। आज वहाँ के किसान न केवल खुशहाल हैं, वे सम्पूर्णानन्द जी के ऋणी भी हैं।

सम्पूर्णानन्द जी का व्यक्तित्व कुछ विवादास्पद भी था। एक प्रसंग ऐसा भी आया जिसमें उनके ऊपर भी कीचड़ उछाला गया। स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने काशी में कुछेक ब्राह्मणों का पदप्रक्षालन किया और उन्हें उपहार बाँटा, जिसको लेकर बड़ा हंगामा खड़ा किया गया। समाजवादियों और कम्यूनिस्टों ने इसकी सख्त खिलाफत की और जानबूझ कर उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री सम्पूर्णानन्द जी का नाम भी घसीटा गया और कहा गया कि वे भी राजेन्द्र बाबू के इस कार्य में सहयोगी थे और उनकी भी सहमति थी। सम्पूर्णानन्द जी के विषय में यह अवधारणा गलत थी। न उनकी इस पर सहमति थी, न ही उनका इससे कोई लगाव था। वह मुख्यमंत्री थे और राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति थे, अतएव उन्होंने या उनके शासनाधिकारियों ने जो भी सम्भव सहायता रही हो किए हों, यह बात अलग है; किंतु उससे सम्पूर्णानन्द जी की नियति पर चोट पहुँचाना उचित नहीं था। सम्पूर्णानन्द जी कुछेक बातों पर मुखर नहीं होते थे। इस पर भी वह मुखर नहीं थे। उनके मुखर न होने को लोगों ने उनकी स्वीकृति मान लिया, यह उचित नहीं है। सम्पूर्णानन्द जी ने जब "ब्राह्मण सावधान" लिखा तो भी हंगामा खड़ा हुआ; लेकिन बाद में लोगों को समझ में आया कि उनका उद्देश्य ब्राह्मणों का विरोध करना नहीं था; अपितु उन्हें उस स्थान पर पुनः ले जाने का प्रयास था जहाँ उनका स्थान समाज में पूर्व में रहा है। वे विद्वान् को ही ब्राह्मण मानते थे। वर्णव्यवस्था में उनका विश्वास था। वे मानते थे कि सम्पत्ति तो आनुवंशिक हो सकती है किंतु बुद्धि आनुवंशिक नहीं हो सकती।

सम्पूर्णानन्द जी जब मुख्यमंत्री थे तब मैंने "समाजवादी आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास" नामक एक लेख-माला तैयार की थी, जो बाद में छपी भी। इस लेख-माला को छपने के पूर्व मैंने डाक से सम्पूर्णानन्द जी के पास भेजा था, पढ़ने और अपनी सम्मति देने के लिए। कुछ दिनों पश्चात् वह डाक से मेरे पास वापस आया। मैंने देखा कि उसमें जगह-जगह लाल पेंसिल से निशान बने हैं, शुद्धियाँ की गयी हैं आदि। मतलब यह कि उन्होंने उसे ध्यान से पढ़ा और कोई सम्मति नहीं दी, बल्कि कहला भेजा कि वाराणसी आने पर मैं उनसे मिलूँ। उनसे मेरी पहली मुलाकात इस प्रकार हुई। पहुँचते ही उन्होंने कहा कि लेख तो ठीक है, किंतु कुछेक के प्रति कुछ न लिखना अन्याय है। उनकी इस बात का तत्काल मैंने अर्थ लगाया कि उनके विषय में मैंने कुछ नहीं लिखा है। कदाचित्

इसीलिए उन्होंने यह बात कही । मैं चला आया । बाद में बहुत विचार करने पर मुझे स्वयं ऐसा लगा कि सचमुच कुछ समाजवादियों, जिनमें वह भी थे, के विषय में कुछ न लिखकर मैंने उनके प्रति अन्याय किया है और वास्तव में मुझे इसका आज भी दुःख हैं । "सम्पूर्णानन्द-जन्मशती-समारोह" का आयोजन कर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और इस ग्रन्थ के सम्पादक पं. लक्ष्मी नारायण तिवारी ने मुझे एक अवसर दिया । जिससे मैं पूर्व में किए गए अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सकूँ । मैं अपनी गलतियों और गलत धारणाओं पर दुःख व्यक्त करता हूँ और उन समाजवादियों के प्रति निष्ठा और कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जो समाजवादी दर्शन के मर्मज्ञ थे, जिसके प्रति वे आस्थावान् थे, भले उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी अलग पहचान नहीं बनायी ।

◆

सम्पूर्णानन्द के समाजवाद की आधुनिक पृष्ठभूमि

डॉ. इन्दीवर

परम्परा और परिवेश के द्वन्द्व ने नूतनता को हमारे जीवन का अभिन्न अंग बना दिया है। यह फैशन भी हो सकता है, ईमानदारी भी और आत्मा की आवाज भी। कालिदास की दृष्टि में यदि हर पुरानी चीज अच्छी नहीं और हर नयी चीज बुरी नहीं होती तो प्रसाद को भी कहना पड़ता है– 'प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल।'

इधर एक बदलाव आया है। हमारे जीवन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में विद्यामान रहने वाला धर्म जिसे हमारी श्रद्धा, आस्था और विश्वास प्राप्त रहा है, उसका टैबूज टूटने लगा है। पाप-पुण्य का निर्णय करने वाला वह अदृश्य तत्त्व, जिसका नाम ईश्वर है, एक सीमा तक बेमानी हो चुका है। मार्क्स ने धर्म को अनावश्यक एवं गलत दिशा में ले जाने वाली भ्रामक वस्तु माना, तो नीत्शे ने कहा–ईश्वर मर चुका है।'

'इस 'धर्म और ईश्वर' का स्थान विज्ञान और मानव इकाई में व्याप्त 'विराट् वैश्विक आत्मा' ने ले लिया। अन्तर यह आया कि विज्ञान समाज को धारण न कर सका, उलटे विनाश की ओर ढकेलने में सहायक हुआ। हीगेल ने जिस 'विराट् वैश्विक आत्मा' का सपना देखा था, वह मानव इकाई को यंत्रों का अंग बनाने और मार्क्सवाद में फिट होने का काम करने लगी। विज्ञान ने प्रकृति की अनेक अकथनीय अविश्वसनीय शक्तियों से परिचय कराया। भौगोलिक दूरियों को समाप्त कर, मनुष्य को पास-पास लाकर खड़ा कर दिया; किन्तु आत्मा-आत्मा के तादात्म्य को समाप्त एवं छिन्न-भिन्न कर दिया। मानवीय मूल्यों और सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। दो विश्वयुद्धों ने परम्परागत मूल्यों के विघटन का हतप्रभ कार्य किया। मनुष्य ने इससे बचने के अनेकों प्रयत्न किये; किन्तु शान्ति और सुख के स्थान पर जटिलता, उलझन और पीड़ा बढ़ती गयी। साम्यवाद व्यक्तिगत मूल्यों की हत्या करने वाला बन गया तो लोकतंत्र कुछ चुने लोगों का ढकोसला। दोनों में ही मानवीयता तिरस्कृत हुई। उनका प्रयोग अपने-अपने अभिप्रायों के अनुकूल हुआ। अर्थात् क्षमा प्रदान करनें वाला ईश्वर, नैतिकता का उत्स धर्म, प्रकृति-विजय करने वाला विज्ञान, वर्गहीनता का नारा बुलन्द करने वाला साम्यवाद या ऐसे अन्य राजनीतिक मतवाद एक साथ टूट गये। मनुष्य की सांस्कृतिक जय-यात्रा का रथ-चक्र टूट-फूट कर ध्वस्त हो गया।

ऐसे में व्यक्ति क्या करे ? ध्वंस, पतन और विखराव के युग में उसका अपना जीवन किस तरह सारगर्भित बन सके ? इन्हीं प्रश्नों की एक शाब्दी संज्ञा है, आधुनिक दृष्टि !

इस दृष्टि की चैतन्य सत्ता के विकास में योग देने वाले अनेक लोग हैं। इनके अन्दर यह आधुनिक दृष्टि अपने-अपने अनुभवों एवं टकराहटों के परिणामस्वरूप अपने तरीके से उभड़ी है; क्योंकि कोई भी प्रयासपूर्वकं लाया गया हल मनुष्य की जिन्दगी को सार्थक नहीं बना सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मूर्तिमत्ता की पहचान स्वयं ही ढोनी होगी। मार्क्स या हीगेल, कीर्केगार्द या दास्तोवस्की, नीत्शे या स्पायर्श, हेडगर या सार्त्र गान्धी या अरविन्द, नेहरू या लोहिया, विनोवा या जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव या सम्पूर्णानन्द कोई भी विचारक, चिन्तक, सर्जक सबने युग सापेक्ष इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया है।

सम्पूर्णानन्द ने समाजवाद की व्याख्या करने से पूर्व ऐसे ढेर से आधुनिक प्रश्नों को उठाया है, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के अस्तित्व से है। यथा—"संसार में इतना दुःख क्यों है ? खाद्य पदार्थों की अपार राशि प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, मिलों से वस्त्रों का पहाड़ निकल रहा है, लाखों वर्ग कोस बसने योग्य भूमि पड़ी हुई है, एक देश में उत्पन्न वस्तु सुगमता से दूसरे देश में पहुँच सकती है, घातक रोगों पर चिकित्साशास्त्र विजय पाता जा रहा है, फिर भी इतने नंगे, भूखे, रोगी, निराश्रय क्यों हैं ? सुख-शान्ति के इतने साधनों के होते हुए इतनी बेचैनी, इतनी अशान्ति क्यों है ? युद्ध क्यों होते हैं ? राष्ट्रों की स्वतंत्रता का क्यों अपहरण किया जाता है ? मनुष्य जल, वायु और विद्युत् को अपने वश में कर सकता है, अरबों कोस की दूर की नीहारिकाओं को दृष्टिगत कर सकता है, पर उसकी बुद्धि अपने जीवन को संघटित क्यों नहीं कर सकती ?" आदि।

संसार के इस दुःखवाद को प्रश्न बनाना और उस पर विचार करना, जहाँ हमें जैन स्यादवाद और बुद्ध के क्षण तथा दुःखवाद में उनकी अपनी अनुभूतियों के प्रकाश को आभासित करता है, वहीं 'नथिंगनेस' से शून्यवाद के योग का भी। इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करते हुए वे इनके अब तक के सभी समाधानों पर चिन्तन करते हैं। भारतीय दर्शन में स्वीकार किया गया दुःख का अस्तित्व, उसका स्वरूप दिखाकर दिया गया वैराग्य का उपदेश, सन्तोष और आत्मसंयम सब पर उन्होंने चोट की है। यहाँ तक कि गान्धी की 'ट्रस्टीशिप' वाले सिद्धान्त को भी अस्वीकार कर दिया है। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था के सुसंगठित रूप को स्वीकार करते हुए भी, उसे 'वैयक्तिक एवं सामूहिक' जीवन के नियंत्रण का सर्वश्रेष्ठ उपाय मानते हुए भी, आधुनिक तकनीकी युग के अनुकूल आर्थिक वैषम्य दूर करने में असमर्थ होने के कारण अपूर्ण और असमीचीन माना है। इसी तरह 'लोकतंत्र शासन और व्यापक मताधिकार' भी उन्हें संघटित सम्पन्न वर्गों की इच्छा के अनुकूल ऐसा शासन लगता है जिसमें साधरण जनता अपना भी हाथ समझती है। वे लिखते हैं—"आजकल व्यावहारिक दृष्टि से लोकतंत्र शासन और मताधिकार निरर्थक से हैं। यह बात निर्धनों, अधिकारहीनों, दुर्बलों की दृष्टि से कही गयी है। मतदाता भले ही यह समझ लें कि इनको मैं चुनता हूँ, पर यह होते हैं उन धनिकों के प्रतिनिधि जो इन्हें रूपया देकर खड़ा करते हैं।"

स्वतंत्रता के संघर्ष काल में सोची गयी इस बात का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में डॉ. लोहिया को लिखना पड़ा—"प्रजातांत्रिक समाजवाद एक नारा मात्र बनकर

गूँज रहा है। 'योजना की सिद्धि' जनता की समृद्धि, आय और सम्पत्ति का समान वितरण, रंग जाति और धर्म के भेद के बिना सभी को समान अवसर की उपलब्धि जैसे नारे गलत सिद्ध हुए हैं। समृद्धि तो दूर की बात है, अभी तो मनुष्य के रूप में जीना दुर्लभ हो रहा है।"

फासिज्म को वे जहाँ अनुदार मानते हैं वहीं मशीनीकरण तथा दस्तकारी में समन्वय भी चाहते हैं। इस प्रकार 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः' के आशीर्वाद की सफलता की कामना करते हुए वे चाहते हैं, लोगों की शिक्षा और संस्कृति में, मस्तिष्क के विकास और तज्जनित भौतिक तथा बौद्धिक सुखों में कोई कमी न हो, पर दारिद्र्य, वैषम्य, उत्पीड़न एवं शोषण का नाश हो जाय।

आधुनिक समस्याओं के गर्भ से उत्पन्न इन प्रश्नों का समाधान वे वैज्ञानिक समाजवाद को मानते हैं; किन्तु उन्हें मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का सिद्धान्त स्वीकार नहीं है। इसीलिये समाजवाद की उनकी अपनी व्याख्या है, अपना दर्शन है। जिसका उत्स भारतीय अध्यात्मवाद अथवा भारतीय दर्शन में है; क्योंकि किसी झूठी चिन्तना का उधार बोझ अपनी आत्मा पर बलात् लादकर उसे ही आधुनिक दृष्टि मानकर उसकी सुखद मृगतृष्णा में खोने का भ्रम वे नहीं पाल सकते थे। यही कारण है कि उनके समाजवाद का चिन्तन सभी प्रकार के झूठे आदर्शों और आरोपित कृत्रिम मूल्यों से भिन्न परिवेश के यथार्थ की गहरी पकड़ और जीवन के प्रति अदम्य संबल के द्वारा उद्भूत होता है। उनका चिन्तन शाश्वत भारतीयता का चिन्तन है, जो कभी अनाधुनिक नहीं होती। इसीलिये मार्क्सवाद की दार्शनिक विचारधारा से उनका मतभेद है।

'मार्क्स' मानता है कि जगत् का विकास 'मैटर' (मृत या भूत या तत्त्व) के द्वारा हुआ है। इसके अनुसार 'मैटर' जड़ है। इसी जड़ पदार्थ से चेतना का विकास होता है। बाह्य परिस्थितियाँ उन गुणों का प्रादुर्भाव कराती हैं जिन्हें हम सद्गुण कहते हैं और मनुष्यता का सौन्दर्य मानते हैं। चेतना-विशिष्ट पदार्थ को ही हम आत्मा कहते हैं। मृत्यु के समय चेतना का लोप हो जाता है और आत्मा नष्ट हो जाती है। इसलिये मार्क्सवाद व्यक्ति और समाज के ऐहिक जीवन की सुव्यवस्था का लक्ष्य रखता है। वह किसी अन्य जीवन की सत्ता स्वीकार नहीं करता।

सम्पूर्णानन्द जगत् का मूल एक विभाजित न होने वाला चिन्मय पदार्थ मानते हैं। वेदान्ती इसे 'ब्रह्म' कहते हैं। यह चेतन ईश्वर से भी परे और सूक्ष्म है। माया के द्वारा वह ईश्वर और फिर क्रमशः प्रत्यगात्मा और उस जड़ पदार्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है। सांख्य के विद्वान् इसी को प्रधान कहते हैं। मार्क्स इसके स्वरूप को ठीक-ठीक न पहचानने के कारण इसे 'मैटर' कहता है। इसी से अन्तःकरण का, इन्द्रियों का और भौतिक जगत् का विकास होता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारतीय सृष्टिक्रम' तथा 'चिद्विलास' में इस विषय के सार-खण्ड पर व्यापक विचार किया है। आत्मा के नष्ट होने की बात भी उन्हें समीचीन नहीं लगती; क्योंकि भौतिक बन्धन में भी पड़ी हुई आत्मा अपने स्वरूप से पृथक् नहीं होती। वह स्वरूप चाहे कितना भी आवृत क्यों न हो, मिट नहीं सकता। उनका दृढ़ मत है–"आत्मा निरन्तर बन्धनों को तोड़कर अपने उस स्वरूप में स्थित होना चाहती है। प्रत्येक आत्मा का यही प्रयास है, इसीलिये अज्ञानतावश सब आपस में टकराते हैं। सबका लक्ष्य एक

ही है और बिना एक-दूसरे के मार्ग में बाधा डाले सब उसको प्राप्त कर सकते हैं, पर अविद्या के कारण एक-दूसरे के मार्ग के कण्टक बन जाते हैं।"

वस्तुतः हमारा प्रत्येक कार्य दो शक्तियों के संघर्ष का परिणाम है। जीव के स्वतंत्र होने का प्रयास और बाहरी परिस्थिति। जीवन के प्रयास के दो अवयव हैं। आत्मा का चैतन्य स्वरूप और उसमें पुनः स्थित होने की ओर झुकाव तथा पिछली अनुभूतियों से रंजित बुद्धि। पिछली अनुभूतियों में वह सब प्रभाव अन्तर्गत हैं जो इस शरीर में तथा शरीरान्तर में प्रकृति और दूसरे जीवों से टकराने से उस पर पड़े हैं। बाहरी परिस्थितियों के भी दो अंश है। एक है, चाक्षुष प्राकृतिक, जिसके अन्तर्गत जड़ वस्तुएँ, कल-पुर्जे आदि आते हैं। दूसरा है, जीव, उनका विचार व्यवहार। इन्हीं शक्तियों के संघर्ष से जगत् की प्रगति होती है।

'समाजवाद' की यह व्याख्या अद्वैतवेदान्त की भित्ति पर खड़ी होती है। इसके सारखण्ड का समन्वय शंकर अद्वैतवाद के साथ अच्छी तरह किया जा सकता है।

मार्क्स का 'मैटर' के विषय में कोई अपना आग्रह नहीं है। आरम्भ में जो मूल पदार्थ था, वह केवल जड़ था। इतना तो वह कहता है। किन्तु 'मैटर' सारा एक ही प्रकार का था या अनेक प्रकार का ? परमाणुओं में विभक्त था या नहीं ? उसमें क्या गुण थे ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के बजाय उसे वह विज्ञान पर छोड़ देता है। अर्थात् भौतिक विज्ञान इसका जो रूप बतायेगा, वह मार्क्सवादी को मान्य होगा।

हम तो अपने को जानने में विश्वास करते हैं–'आत्मां विद्धि'। भगवद्गीता कहती है 'आत्मज्ञान सबसे महत्त्वपूर्ण है'। अर्थात् हमें अपने होने का अर्थ और अपनी आत्मा की पहचान होनी चाहिए। विज्ञान हमारे अस्तित्व की स्थितियों को, उसके तन्त्र को जहाँ विश्लेषित करता है, वहीं मनुष्य को टुकड़ों में बाँट देता है। ताकि उसकी अन्य शाखायें उसका समूचा विश्लेषण कर सकें। यहाँ मनुष्य मात्र पदार्थ होकर रह जाता है। तमाम पदार्थों के बीच एक पदार्थ अथवा पदार्थवत् स्वीकृति। यहाँ उसका आत्मिक पक्ष तथा नैतिक पहलू उपेक्षित रह जाता है। 'विज्ञान व्यक्तियों की जगह धारणा और मतवादों का पुलिन्दा पेश करता है। आदमी विचार, अनुभवों और इच्छाओं का ढेरी बन जाता है।" हमें यह नहीं भूलना चाहिए की मनुष्य जहाँ पदार्थ है वहीं पदार्थविद् भी। इसीलिये सम्पूर्णानन्द चेतन-आत्मा की बात करते हुए व्यक्तित्व का आधार एक नित्य चेतन पदार्थ को मानते हैं, जो अपनी अनुभूतियों का संस्कार मरने पर भी ले जाता है। यह दृष्टि वस्तुपरक नहीं, आत्मपरक है, जो हमें सोचने विचारने की एक दृष्टि देती है। ऐसी ही दृष्टि अथवा इसी तरह की परिपाटी हमें अस्तित्ववाद के निकट पहुँचा देती है।

मनुष्य जब समाज की गतिविधियों का अध्ययन करता है, उसमें सुधार का प्रयास करता है, तब उसे आचार, विचार, कानून, शिक्षण, सामाजिक संगठन, शासन-पद्धति, आर्थिक व्यवस्था आदि सभी बातों पर विचार करना पड़ता है। अतः मार्क्सवाद के दर्शन के साथ ही उसकी कार्यशैली पर भी उन्होंने व्यापक विचार किया है।

सारी दुनिया जानती है कि रूस मार्क्सवादी समाजवाद की प्रथम प्रयोगशाला है; किन्तु रूस ने बहुतों को निराश किया। वर्गहीन समाज का अस्तित्व प्रयोग की सफलता की कसौटी है। 'लेनिन' ने कहा था कि "रूस में वर्गभेद नहीं है। सभी लोग स्वतंत्र और बराबर हैं। इसीलिए नये शासन विधान को लोकतंत्रात्मक रूप दिया गया है।" परन्तु लेनिन का यह दावा उस समय भी मान्य नहीं था। यह सच है कि वहाँ पूँजीपति नहीं हैं फिर भी आमदनियों में बड़ा वैषम्य है। लेनिन और स्टालिन के जमाने में यह बन्धन था कि कम्युनिस्ट दल के सदस्य बड़े वेतन नहीं ले सकते थे, पर आगे चलकर यह बन्धन भी उठा लिया गया था। उस जमाने में ही जहाँ साधारण मजदूरी अस्सी रूबल थी, वहीं बड़े अहलकारों की आय तीस हजार रूबल तक थी। सरकारी ऋण के कागज खरीदने वालों को 9% व्याज मिलता था। जो शुद्ध अनर्जित वृद्धि थी। इस प्रकार वहाँ सम्पन्नों का एक नया वर्ग बन गया। इसी को युगस्लोवाकिया के जिलास ने न्यू क्लास कहा। यही लोग शासक और कल-कारखानों के प्रबन्धक हो गये। फलतः वास्तविक अधिकार नौकरशाही के हाथ में चला गया। रूस में कोई दूसरा राजनीतिक दल नहीं रह सकता था। अतः शासन के बहुत से विरोधी, जिनमें लेनिन के पुराने साथी क्रान्तिकारी नेता भी थे, जिनके कारण क्रान्ति सफल हुई थी, झूठे-सच्चे अभियोग लगाकर मृत्यु के घाट उतार दिये गये। स्टालिन के विरुद्ध मुँह खोलना मौत का वरण करना था। यह अधिनायकत्व व्यक्ति-स्वातंत्र्य का हनन नहीं तो और क्या था ? सम्पूर्णानन्द के शब्दों में–"जहाँ व्यक्ति-स्वातंत्र्य न होगा, सरकार अपनी आलोचना सहने को तैयार न होगी, वहाँ छेड़-छाड़ होगी ही। सरकार जीवन के सभी अंगों पर कड़ी दृष्टि रखना चाहेगी और झड़ने के बदले बलवती हो जायेगी।"

जब पोलैण्ड में हस्तक्षेप करके रूस का साथ देने वाली सरकार बनवायी गयी। एस्थोनियो, लैटविया और लिथुएनिया सोवियत संघ में मिलाये गये, फिनलैण्ड से झगड़ा मोल लिया गया, तब सम्पूर्णानन्द ने इसे साम्राज्यशाही की दिशा की ओर बढ़ता कदम बताया। इसी प्रकार उसके द्वारा लिये गये विश्व में समाजवादी क्रान्ति के संकल्प की असफलता आदि पर व्यापक विचार प्रस्तुत करते हुए माना कि "मार्क्सवाद हमारे रोगों की यथार्थ औषध नहीं है। यदि हमको मानवजगत् को मनुष्य-समाज बनाना है, उत्पीड़न और शोषण की जगह समता और शान्ति को स्थापित करना है, तो वर्गभेद मिटाना होगा, समाजवादी व्यवस्था कायम करनी होगी; परन्तु उस हमारे समाजवाद को मार्क्सवाद से कुछ भिन्न आधारों पर खड़ा करना होगा।"

इसके लिये उन्होंने क्रान्ति तथा इसके द्वारा अधिकार प्राप्त करने की तैयारी की बात रही और साध्य-साधन की पवित्रता पर जोर दिया। मुझे 'ऑर्थर कोसलर' के शब्द याद आते हैं "कमिस्सार (कम्युनिस्ट) बाहर से परिवर्तन लाने में विश्वास करता है। वह मानता है कि मानवता के सभी कीटाणु, चाहे वे कब्जियत के हों या एडियस ग्रन्थि के, क्रान्ति द्वारा मारे जा सकते हैं–यानी निर्माण की एक खूब चौकस पद्धति और वस्तुओं के वितरण की सुसंगठित मशीनरी–और कहना न होगा कि परिणाम ही माध्यम के औचित्य की गारन्टी है। इसके लिये रक्तपात, फाँसी, धोखेबाजी, विष-प्रयोग

आदि करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं । इस शोर पर अन्तर्ध्वनियों की कम गुंजायश है, यह रंगदर्शक यंत्र का सबसे खुरदरा हिस्सा है, पर जरूर है कि यहाँ सबसे अधिक उत्ताप का अनुभव होता है ।" उनका कहना है कि कमिस्सार का सारा देय रूस में फेल हो चुका है ।

सर्वहारा के अधिनायकत्व की बात भी उन्होंने अस्वीकार कर दी तथा यह माना कि करोड़ों किसानों को मुठ्ठी भर सर्वहारा के पीछे चलाना उचित न होगा । व्यक्ति के नागरिक अधिकारों का अपहरण तो उन्हें कदापि श्रेयस्कर नहीं लगता । उन्हीं के शब्दों में–"भाषण और लेखन का स्वातंत्र्य होना चाहिए । सरकार की आलोचना का अधिकार होना चाहिए । सरकार को बदलने का अधिकार होना चाहिए । जो सरकार विरोध और आलोचना का मुह बन्द कर देगी, वह अपने को निरंकुश बना लेगी । यह निरंकुशता अधिनायकत्व का रूप ग्रहण कर लेगी, फिर तो कभी न कभी उसके विरुद्ध विद्रोह का विस्फोट हुए बिना नहीं रह सकता ।" स्टालिन के युग में कही गयी उनकी यह बात कितनी सच, सारगर्भित और भवितव्य द्रष्टा थी । आज 'गोर्वाचोव के युग में वहाँ जो कुछ हो रहा है,. अनुमान लगाया जा सकता है । तब कौन जानता था कि वहाँ कभी पेरस्मोइका भी अस्तित्व में आयेगा और सोवियत गणराज्य आपस में स्वतंत्र हो जायेंगे ।

वस्तुतः हम इस देश की परिस्थिति की ओर से तटस्थ नहीं रह सकते । हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बड़ा से बड़ा विचारक भी अपने देश-काल की परिस्थितियों से बँधा होता है । उसकी सोच और उसके निष्कर्षों का एक बड़ा हिस्सा इन परिस्थितियों के बाहर असंगत हो जाता है । न्यूनाधिक यही बात सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के विश्लेषण की परिकल्पनाओं पर भी लागू होती है । पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद भी इसके अपवाद नहीं हैं । सार्वभौमिकता के तमाम दावों के बाद वे देश-काल की परिस्थितियों की उपज हैं । वे मानव अनुभव के किसी खास युग और इतिहास की कतिपय दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में ही संगत हैं । यही बात मार्क्स की चिन्तन-प्रणाली और उसके निष्कर्षों के बारे में भी सत्य है ।

उनका दृढ़ विश्वास था कि पूँजीवाद मानव समाज की सुख, समृद्धि, शान्ति और संस्कृति के लिये घातक है । उसका उन्मूलन होना चाहिए । इसके साथ ही वे समाजवादी क्रान्तिकारियों को लोकतंत्रमूलक शासन-व्यवस्था कायम करने की सलाह भी देते हैं । उसी के द्वारा विचारों के क्रियान्वयन की बात कहते हैं । "जिस सरकार के रहते पूँजीशाही और जमींदारी प्रथायें रह जाँय वह समाजवादी सरकार नहीं कहला सकती । उनकी यह दृष्टि उन्नीसवीं सदी के मध्य यूरोपीय पूँजीवाद की नहीं, जिसका विश्लेषण मार्क्स ने किया है; बल्कि भारतीय सन्दर्भ में देश की तात्कालिक परिस्थितियों के अनुकूल है । उनके चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में 'भारत' रहा है, उसका अतीत रहा है, उसकी तात्कालिक परिस्थितियाँ रही हैं और इन सबसे ऊपर परिवेश का दबाव रहा है । इस परिवेश पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है । प्रारम्भ में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनके समाधान की खोज करते हुए उन्होंने मानव समाज, धर्म, सदाचार, राज्य, सभ्यता, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, उत्पादन के साधन-भूमि, पूँजी और श्रम, विनिमय और वितरण के साधनों, वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद, साम्राज्यशाही,

निजी सम्पत्ति, समाजवाद और समष्टिवाद आदि पहलुओं पर व्यापक एवं गम्भीर विचार कर उनकी आलोचना प्रस्तुत की है।

मनुष्य-समाज के बारे में उनका विचार द्रष्टव्य है–"संघटन तो थोड़ा बहुत है, पर ऐसा और इतना नहीं है कि उसके द्वारा मनुष्यों की जाति मनुष्य-समाज बन सके"। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य एक इकाई है, अतः उसका वैयक्तिक अस्तित्व भी कायम है। धर्म के बारे में वे कहते हैं–"इस समय वह वातावरण ही नहीं है जिसमें धर्म मनुष्य-जीवन को अनुप्रमाणित कर सके।" ईश्वर की अनेकों व्याख्याओं को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं–"ईश्वर है तो उनके सम्बन्ध में इतने प्रकार के विचार घोर बुद्धिभेद उत्पन्न करते हैं।" अतः ईश्वर है भी या नहीं, यह विवादास्पद है। मनुष्य के अस्तित्व को पूरी तरह स्वीकार करते हुए वे मनुष्य को अपने प्रारब्ध या किसी दैवी विधान अथवा परिस्थिति का दास नहीं मानते–"परिस्थिति और प्रयत्न के संघर्ष में सम्भव है, प्रयत्न को पूर्ण सफलता न मिलने पर कुछ तो मिलेगी ही और पूर्ण सफलता की सम्भावना है। उसकी परिस्थिति चाहे जैसे उत्पन्न हुई हो, उसको उसके बदलने की सामर्थ्य है। वह दास नहीं वरन् स्वतंत्र व्यक्तित्व है।" मनुष्य के अस्तित्व की यह मान्यता उन्हें अस्तित्ववादी चिन्तन के पास खड़ा कर देती है। फ्रांसीसी क्रान्ति से लेकर रूसी क्रान्ति तक के मनुष्य का परिवेश केन्द्र में रखकर वे लिखते हैं–"आज मनुष्य समुद्र की लहरों के नीचे टहलता है और आकाश में उड़ता है। परमाणु के भीतर प्रवेश करता है और महासूर्य समूह की नीहारिकाओं को घर बैठे तौलता है। ईश्वर की सत्ता, उसका अस्तित्व मनुष्य की विवेचक बुद्धि के सामने कातर भाव से काँप रहा है।" क्या यह काफी नहीं है, परिवेश का यह परिचय देने के लिये कि धर्म के बल पर जीवन के समय में विजय-दुन्दुभि बजाने वाले मनुष्य के रथ-चक्र के पहिये को विज्ञान ने तोड़-मरोड़ कर रख दिया है और उसमें वैज्ञानिक पहिया (वैज्ञानिक दृष्टिबोध) जोड़ दिया है।

मशीनीकरण और शहरीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों को व्याख्यायित करते हुए आर्थिक संकट, बेरोजगारी और बेकारी से संत्रस्त भारत का खाका खींचकर उन्होंने अलगाव, आत्मनिर्वासन और सम्बन्धों में टुटन को रूपायित कर दिया है। साथ ही उन्होंने यह माना है कि "भारत आधुनिक काल की विशेषताओं से अपने को नहीं बचा सकता। उसे मशीनें भी रखनी पड़ेंगी, विदेशों से सम्बन्ध भी रखना पड़ेगा। इसलिये उसे पाश्चात्त्य समाजवाद या कोई दूसरा उपाय जो उससे भी उत्तम हो, ढूँढ़ना पड़ेगा।"

अतः उन्होंने पाश्चात्त्य मार्क्स के समाजवाद को पूर्णतः स्वीकार न कर उसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में युग-सापेक्ष आधुनिकता की भित्ति पर खड़ा करने का प्रयास किया है। उनका यह समाजवाद अध्यात्ममूलक समाजवाद कहा जा सकता है।

●

सम्पूर्णानन्द-साहित्य

डॉ. विजय नारायण मिश्र

राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हुए सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का पूरा विकास किया एवं सरस्वती की यथेष्ट उपासना की। वे वास्तव में विद्याव्यसनी थे। उनकी विद्वत्ता प्रगाढ़ और प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी लेखनी में ओज, विचारों में मौलिकता, विश्लेषण विवेकपूर्ण एवं गम्भीर होता था। वैदिक धर्म, साहित्य, इतिहास, सङ्गीत, कला, मनोविज्ञान, ज्यौतिष, विज्ञान, पाश्चात्त्य एवं पौर्वात्य दर्शन आदि विषयों के वे मर्मज्ञ पण्डित थे। ऐसा कोई विषय नहीं है जिस पर उन्होंने उच्चकोटि का ग्रन्थ न लिखा हो। हिन्दी साहित्य में उनकी कृतियों का अपना उच्च स्थान है। समाजवाद पर हिन्दी में १९३६ ई. में प्रकाशित उनकी रचना इस विषय की हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के रूप में 'श्री मङ्गलाप्रसाद' एवं 'मुरारका' पारितोषिक से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा पुरस्कृत हुई। अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं प्रखर स्मृति के कारण विशाल ग्रन्थों का सहज ही पारायण करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। गणित एवं दर्शन उभय विषयों पर एक साथ समान अधिकार होने से उनकी रचनाओं में विषयों के विश्लेषण की वैज्ञानिकता की एक स्पष्ट झलक मिलती है।

सन् १९१३-१४ में प्रकाशित 'धर्मवीर गान्धी' सम्भवतः उनकी प्रथम रचना है। इसे पढ़कर महात्मा गान्धी ने सेगाँव (महाराष्ट्र) से सम्पूर्णानन्द जी को १९३७ ई. में प्रेषित अपने एक पत्र में लिखा—"दूसरी किताब जो लिखना चाहते हैं, अवश्य लिखें। मुझे तो आपकी शैली अच्छी लगती है"। सन् १९४८ में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट्. की मानद उपाधि प्रदान करते हुए श्रीमती सरोजिनी नायडू द्वारा अपने दीक्षान्त-भाषण में डॉ. सम्पूर्णानन्द जी को "विद्वानों में विद्वान्" के रूप में सम्बोधित किया गया।

राष्ट्ररत्न बाबू शिवप्रसाद गुप्त के आमन्त्रण पर आपने काशी ज्ञानमण्डल द्वारा प्रकाशित होने वाले 'मर्यादा', दैनिक आज' एवं अंग्रेजी 'टुडे' का भी बड़ी कुशलता से सम्पादन किया। आपकी 'अन्ताराष्ट्रिय विधान' पुस्तक, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं, विद्वानों में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई। नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास', 'हिन्दी विश्वकोश', 'हिन्दी शब्द सागर' एवं उसकी मासिक पत्रिका के भी वह सम्पादक रहे।

'चिद्विलास' एवं 'योगदर्शन' उनकी अमर दार्शनिक कृतियाँ हैं। प्रथमं में शाङ्कर मत की नव्य शैली में सुबोध व्याख्या है। 'चिद्विलास' की ही पूर्वपीठिका के रूप में आपने 'दर्शन एवं जीवन' ग्रन्थ की रचना की। आपकी पुस्तक 'गणेश', 'समाजवाद', 'चिद्विलास' एवं 'पृथ्वी से सप्तर्षि-मण्डल' का

अनुवाद भी किया गया है। आश्चर्य है कि राजनीतिक व्यस्तता के बीच अध्ययन और लेखन के लिए आप इतना समय कैसे निकाल पाते रहे। विविध विषयों पर पचास से अधिक ग्रन्थों, अनेक लेखों तथा उनसे अनुप्राणित एवं प्रेरित होकर अन्य लेखकों द्वारा जो लिखा एवं प्रकाशित किया गया है, उसकी एक चयनित तालिका पाठकों के सूचनार्थ यहाँ आगे प्रस्तुत की जा रही है :–

1. सम्पूर्णानन्द (1890-1969 ई.)
धर्मवीर गान्धी.
बनारस, ग्रन्थ प्रकाशन समिति, 1914.
90 पृ., अग्रचित्र, 18.5 सेमी.

2. –
महाराजा छत्रशाल.
बनारस, ग्रन्थ प्रकाशन समिति, 1916.
8, 125पृ., 18 सेमी.

3. –
भारतीय सृष्टिक्रम-विचार.
नागरी प्रचारिणी सभा, 1917.
49 पृ., 23 सेमी.

4. –
भारत के देशी राष्ट्र.
कानपुर, प्रताप पुस्तकालय, 1918.
8,234 पृ., 18.5 सेमी.

5. –
चेतसिंह और काशी का विद्रोह.
कानपुर, प्रताप कार्यालय, 1919.
4, 89 पृ., 18.5 सेमी.

6. –
महाराजा महादजी सिन्धिया.
बम्बई, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, 1920.
8,142 पृ., अग्रचित्र, परिशिष्ट, 18.5 सेमी.

7. –
सम्राट् हर्षवर्धन.
बम्बई, गान्धी हिन्दी पुस्तक भण्डार, 1920.
7,57 पृ., मानचित्र, 18.5 सेमी.

8. –

चीन की राज्य-क्रान्ति.
कानपुर, प्रताप पुस्तकालय, 1921.
4, 192 (10) पृ., 18.5 सेमी.

9. –

मिस्र की स्वाधीनता.
कलकत्ता, सुलभ ग्रन्थ-प्रचारक मण्डल, 1923.
4, 217पृ., अनुक्रमणी, 16.5 सेमी.

10. –

अन्ताराष्ट्रिय विधान.
बनारस, ज्ञानमण्डल, 1924.
28,526 पृ., अनुक्रमणी, 18 सेमी.
... तृतीय संशो. संस्करण.

11. –

सम्राट् अशोक.
कानपुर, प्रताप पुस्तकालय, 1924.
4, 163 पृ., 18.5 सेमी.
... अशोक के शासन काल की ऐतिहासिक समीक्षा.

12. –

आर्यों का आदि-देश.
इलाहाबाद, भारती भण्डार, 1997 वि. (1940 ई.)
7,266 पृ., चित्रित (ग्रन्थ सं. 80) 22.5 सेमी.

13. –

व्यक्ति और राज.
बनारस, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, 1940.
12, 135 पृ., 18.5 सेमी.

14. –

दर्शन और जीवन.
इलाहाबाद, इन्डियन प्रेस, 1941.

15. –

चिद्विलास.
वाराणसी, ज्ञानमंडल, 1941.
....प्रस्तुत पुस्तक का संस्कृत अनुवाद भी पं. रामाज्ञा पाण्डेय द्वारा काशीविद्यापीठ ; से प्रकाशित है.

16. –

कास्मोगोनी इन इन्डियन थाट.
बनारस, काशीविद्यापीठ, 1942.
13, 70 पृ., 19 सेमी.
....अंग्रेजी. द्वि. संशो. सं., फाल्गुन 1, 2005 वि. (फरवरी 13, 1949ई.)
ब्रह्मा से विराट्, तन्मात्रा एवं महाभूत, प्रलय, नासदीय सूक्त की व्याख्या. प्रस्तुत पुस्तक लेखक द्वारा फतेहगढ़ केन्द्रीय कारागार में लिखी गई.

17. –

ब्राह्मण सावधान.
बनारस, ज्ञानमंडल, 1944.
6, 45 पृ., 18.5 सेमी.

18. –

अथर्ववेद का परिचय.
बनारस, काशीविद्यापीठ, रजत जयंती-ग्रन्थ, 1947.
11-29 पृ.
वेद का प्रादुर्भाव, व्याधियों की चिकित्सा, गृहस्थ जीवन, आध्यात्मिक चिन्तन, व्रात्य एवं रुद्र.

19. –

समाजवाद.
5 संस्करण बनारस, काशीविद्यापीठ, 2004 वि. (1947 ई.).
16, 322 (8) पृ., ग्रन्थसूची, पर्यायसूची, 19.5 सेमी.
.... प्रथम संस्क. 1936. हिन्दी-साहित्यसम्मेलन, प्रयाग द्वारा "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" से सम्मानित. समाजवाद की सर्वोत्तम पुस्तक के लिये "मुरारका" पारितोषिक भी लेखक को प्रदान किया गया. इसका तृतीय एवं चतुर्थ संस्करण 1944 एवं 1945 में प्रकाशित हुआ.

20. –

उपनिषद् और कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक.
कल्याण (गोरखपुर) वर्ष 23 सं 1 (उपनिषद् अङ्क)
जनवरी, 1949, 30-35.

21. –

पृथ्वी से सप्तर्षि-मण्डल.
बनारस, प्रसाद परिषद्, 1953.
6, 73 पृ., 18.5 सेमी.
हिन्दी का प्रथम वैज्ञानिक उपन्यास.

22. –

व्रात्य-काण्डम्, "श्रुतिप्रभा" टीका सहित.
बनारस, ज्ञान मण्डल, 1955.
62 पृ.
... अथर्ववेद का 15 वाँ मण्डल, स्वोपज्ञ संस्कृत टीका तथा हिन्दी व्याख्या. इसका अंग्रेजी अनुवाद 'गणेश एण्ड कं', मद्रास, द्वारा 1956 ई. में प्रकाशित.

23. –

अथर्ववेद व्रात्यकाण्ड, अंग्रेजी व्याख्या सहित.
मद्रास, गणेश एण्ड कं., 1956.
6, 62 पृ.
.... समीक्षाः– "प्रबुद्ध भारत" (अल्मोड़ा) 62, 444; स्वामी विमलानन्द, "वेदान्तकेसरी" (मद्रास) 44, 76-77.

24. –

हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान.
द्वितीय संस्क. बनारस, भारतीय ज्ञनपीठ,, 1956.
64 पृ.
... प्रथम संस्क. 2008 वि.

25. –

इन्डियन इन्टेलेक्चुअल्स.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1957.
4,31 पृ., 20 सेमी.
... अंग्रेजी. भारतीय बुद्धिजीवियों की समस्याएँ, उनका उत्तरदायित्व, कला एवं साहित्य के क्षेत्र में हमारी सेवाएँ, भारतीय धर्म एवं संस्कृति में हमारी निष्ठा.

26. –

दि ट्रायल्स आफ आवर डिमाक्रेसी.
लखनऊ, पब्लीकेसन्स ब्यूरो, 1957.
35 पृ., 20 सेमी.
...अंग्रेजी. हमारे प्रजातन्त्र की परीक्षा; भारतीय राज्यों का स्वरूप; दलितों के हिमायती; अहिंसा एवं विश्व-व्यवस्था.

27. –

समाजवाद.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1957.
39 पृ., 20 सेमी.

28. –

भारतीय बुद्धिजीवी.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1957.
31 पृ., 20 सेमी.

29. –

कामायनी-दर्शन.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1958.
16 पृ., 15 सेमी.

30. –

साइन्टिफिक फाउन्डेशन आफ एस्ट्रोलॉजी.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1958.
4,19 पृ., 20 सेमी.
... अंग्रेजी. "एशोसिएशन आफ साइन्टिफिक वर्कर्स आफ इन्डिया" के लखनऊ शाखा के सम्मेलन (मार्च 10, 1958) में दिया गया भाषण.

31. –

स्पेस ट्रैवल.
लखनऊ, 1958.
4,25 पृ., 20 सेमी.
अंग्रेजी. 17 दिसम्बर, 1957 को एसो. आफ साइन्टिफिक वर्कर्स आफ इन्डिया, लखनऊ शाखा के सम्मेलन में दिया गया भाषयण.

32. –

हिन्दी और उर्दू दो शैलियाँ.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1958.
8 पृ., 15 सेमी.

33. –

अलकनन्दा-मन्दाकिनी के दो तीर्थ.
लखनऊ, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उ. प्र. सरकार, 1959.
44 पृ., चित्रित, 20 सेमी.

34. –

थाट्स आन एजुकेशन एण्ड सम एलाइड प्राब्लम्स.
लखनऊ, पब्लिकेसन्स ब्यूरो, 1959
6, 85 पृ., 22 सेमी.
... अंग्रेजी. शिक्षा सम्बन्धी निबन्ध.

35. –
स्फ़ुट विचार.
लखनऊ, सूचना विभाग, उ. प्र. सरकार, 1959.
172 पृ., 22 सेमी.
... विविध निबन्ध.

36. –
कालिंग द युनिवर्सिटीज.
लखनऊ, सूचना विभाग, उ. प्र. सरकार, 1960.
30 पृ. 21.5 सेमी.
... दीक्षान्त भाषण, निःशुल्क.

37. –
पृथ्वी से सप्तर्षि-मण्डल.
हिन्दी से मराठी. अनु. यस्. यस्. आप्टे.
बम्बई, वोरा एण्ड कं., 1960.
74 पृ., रेखाचित्र, 18 सेमी.

38. –
भारतीय समाजवाद, आर्थिक समायोजन और विकेन्द्रीकरण.
सम्पूर्णानन्द, श्रीमन्नारायण एवं जयप्रकाश नारायण.
लखनऊ, सूचना विभाग, उ. प्र. सरकार, 1960.
75 पृ., 23 सेमी.
... विविध निबन्ध.

39. –
इन्डियन सोसिलिज्म.
बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1961.
10, 131 पृ., 22 सेमी.
... समाजवाद का इतिहास.

40. –
कमेटी आन इमोशनल इन्टिग्रेशन, 1961-रिपोर्ट.
दिल्ली, मैनेजर पब्लिकेसन्स, भारत सरकार, 1962.
277., 16 पृ. 2 खण्ड.
... अंग्रेजी. डॉ. सम्पूर्णानन्द इस समिति के अध्यक्ष तथा इन्दिरा गान्धी, टी. यम्. अडवाणी, हीरेन मुखर्जी, यम्. यच्. सैमुअल, यम्. यन्. श्रीनिवास, भाई जोधसिंह, ए. ई. टी. बरो, अशोक मेहता, ए. ए. ए. फैजी, बी. यस्. हैकरवाल इसके सदस्य थे। कुमारी के. नैयर, सचिव. द्रष्टव्यः–"कमीटीज एण्ड कमीशन्स", 1947-73, खं. 4. दिल्ली, कन्सेप्ट पब्लिसिंग कं., 1977. पृ. 277-86.

41. –
कुछ स्मृतियाँ और कुछ स्फुट विचार.
वाराणसी, ज्ञानमंडल, 2018 वि. (1962 ई.)
256 पृ.
... आत्मचरितात्मक लेख.

42. –
मेमोरीज एण्ड रिफ्लेक्सन्स.
बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962.
6, 188 पृ.
... अंग्रेजी. आत्मचरितात्मक लेख.

43. प्रेमचन्द.
श्रीसम्पूर्णानन्द जी.
"विविध प्रसंग", भाग 1.
इलाहाबाद, हंस प्रकाशन, 1962. पृ. 169.
... चौथी बार सत्याग्रह आन्दोलन में झाँसी कारावास में बन्दी के रूप में अस्वस्थता की स्थिति में देहरादून आदि सुविधाजनक कारागार में प्रेमचन्द द्वारा तत्कालीन ब्रिटिश शासन से की गई अपील.

44. सम्पूर्णानन्द.
इवोल्यूशन आफ गि द हिन्दू पैन्थियन.
बम्बई, भारतीय विद्याभवन, 1963.
102 पृ.
... अंग्रेजी. 1962 ई. में भारतीय विद्याभवन में दिए गए तीन भाषणों का संकलन.

45. –
इन्डिविजुअल टु दि स्टेट.
इलाहाबाद, किताब महल, 1964.
221 पृ.

46. –
ग्रह-नक्षत्र.
इलाहाबाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, 1965.
8,35 पृ., सचित्र (27).

47. –

ग्रहनक्षत्राणि.

मूल हिन्दी से संस्कृत. अनु. एवं. सम्पा. कमलापति मिश्र.
वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1981.
2,7,21 पृ. चित्रित (27) अग्रचित्र (सम्पूर्णानन्द-ग्रन्थमाला 80)

48. –

ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा.

वाराणसी, "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" 70, 4, 2022 वि. (1965 ई.)
119-20 पृ.

... "ना. प्र. पत्रिका" श्रावण 2022 वि. के अंक में श्री गोपाल जी "स्वर्ण किरण" की उक्त शीर्षक से प्रकाशित लेख की समीक्षात्मक टिप्पणी. द्र.-"चरितचर्चा" पृ. 129-31.

49. –

योगदर्शन.

तृतीय संस्क. लखनऊ, निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1990.
300 पृ. (हिन्दी समिति प्रभाग ग्रन्थाङ्क-122)

... प्रथम संस्क. 1965; द्वि. सं. 1974. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा द्वारा ग्रन्थ की भूमिका में लेखक के जीवन की कुछ घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

50. –

स्फुट निबन्ध.

आगरा, श्रीराम मेहरा, 1967.
4, 274 पृ.

... पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों, दीक्षान्त भाषणों आदि का संकलन.

51. –

गगनगुफा काव्य.

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (सम्पूर्णानन्द स्मृति अङ्क)
वर्ष 17, अंक 1-4, 2025 वि. (1969 ई.) परिशिष्ट,पृ. 1-46.

... योग एवं तंत्र विषयक हिन्दी कविता.

52. चन्द्रभानु गुप्त.

डॉ. सम्पूर्णानन्द.

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (सम्पूर्णानन्द स्मृति अङ्क) 17, 1-4, 2025 वि (1969 ई.) पृ. 172-77.

53. सम्पूर्णानन्द.
तन्त्र और धर्म.
वाराणसी "ना. प्र. पत्रिका" (सं. स्मृति. अङ्क) 17, 1-4, 2025 वि. (1969 ई.)
164-168.

54. –
तंत्र और मैं.
वाराणसी, "ना. प्र. पत्रिका" (सं. स्मृति. अङ्क) 2025 वि. (1969 ई.).
परिशिष्ट पृ. 159-163.

55. –
ऐन इन्ट्रोडक्शन टु वेदिक स्टडी.
बेलगाम, एकेडेमी आफ़ कम्परेटिव फिलासफी एण्ड रिलिजिअन, 1969.
9, 73 पृ.
... अंग्रेजी. आर्य जाति के मूल स्थान, वेदों का समय एवं योग आदि विषयों पर लेखक के विचार.

56. –
गगनगुफा.
वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 2026 वि. (1969 ई.)
5, 143 पृ. अग्रचित्र (ना. प्र. ग्रन्थमाला 66)
लेखक की साधनापरक कविताओं का सङ्कलन. द्र. "ना. प्र. पत्रिका" 17, 2025 वि., परि. पृ. 1-146.

57. –
वेदार्थ-प्रवेशिका.
वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ, 1969.
8, 84 पृ. (लोकोदय-ग्रन्थमाला 277)
... वेद विषयक प्रस्तुत पुस्तक लेखक के महाप्रयाण (10 जनवरी, 1969) से 10 दिन पूर्व लिखित अन्तिम कृति है.

58. **चरित-चर्चाः जीवन-दर्शन.**
वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 2033 वि. (1976 ई.)
186 पृ.
... 20 संकलित निबंध–श्री लालबहादुर शास्त्री, पं. जवाहरलाल नेहरू, पं. गोपीनाथ कविराज, श्री सातवलेकर, पंतजी, मदनमोहन मालवीय, मीरा, कबीर, शक्तितत्त्व, पुरुषार्थ-चतुष्टय, तथागत, साम्प्रदायिकता, स्वतन्त्रतादिवस, गीता-दर्शन, विश्वविद्यालय और शासन, सोमरस, चीनी आक्रमण, भगवन्नाम तथा विद्वानों को लिखे गए पत्रों का संकलन.

59. **"नागरीप्रचारिणी पत्रिका"** (सम्पूर्णानन्द स्मृति अङ्क)
वाराणसी, वर्ष 73, 2025 वि. (1969 ई.)
528, 183पृ. अग्रचित्र.
... सम्पादकीय में सम्पूर्णानन्द जी का जीवनवृत्त (पृ. 2-4), श्रद्धाञ्जलियाँ, संस्मरण (पृ. 169-83).

60. सम्पूर्णानन्द
पुरुषार्थ-चतुष्टय.
वाराणसी, "ना. प्र. पत्रिका" (सं. स्मृति अङ्क) 73, 1-4, 2025 वि.
(1969 ई.) परिशिष्ट पृ. 147-158.

61. हरिभाऊ उपाध्याय.
भारत की सात्विक ज्योति.
वाराणसी, "ना. प्र. पत्रिका" (सं. स्मृति अंक) 73, 1-4, 2025 वि.
(1969 ई.) पृ. 178-80.

62. सम्पूर्णानन्द.
वेद-मन्त्रों के प्रकाश में.
नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, 1968.
... वैदिक ऋचाओं के आधार पर सातं कथाएँ.

63. किशोरीदास वाजपेयी.
सिद्धान्तसर्वस्व डॉ. सम्पूर्णानन्द,
वाराणसी, "ना. प्र. पत्रिका" (सं. स्मृति. अं.) 73, 1-4, 2025 वि. (1969 ई.)
पृ. 181-83.

64. सम्पूर्णानन्द.
हिन्दू देव परिवार का विकास.
इलाहाबाद, मित्र प्रकाशन, 1968.
... वैदिक देवताओं पर लेखक के विचार. द्र. "इव्युल्यूशन आफ हिन्दू पैन्थिअन", भगवद्दत्त, "गुरुकुल पत्रिका" (हरिद्वार) 17, 291-92 में ग्रन्थ की समीक्षा.

65. —
समिधा; सेलेक्टेड एण्ड ट्रान्सलेटेड फ्राम् इंगलिश.
लखनऊ, सूचना विभाग, उ. प्र. सरकार, [ ]
8, 125 पृ., 22 सेमी.

66. जगदीश शरण शर्मा, संपा.
सम्पूर्णानन्द (संक्षिप्त जीवनवृत्त) "नेशनल बायोग्राफिकल डिक्शनरी आफ इन्डिया".
नई दिल्ली, स्टर्लिंग पब्लिकेशन्स, 1972.
पृ. 210-11. अंग्रेजी.

67. मेघनाथ साहा (अध्यक्ष)
कैलेन्डर रिफार्म कमेटी, 1952-रिपोर्ट.
नई दिल्ली, काउन्सिल आफ साइन्टिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च, 1955.
280, 12 पृ.
... वर्तमान में प्रचलित समस्त भारतीय पञ्चाङ्गों का अध्ययन करके देश के लिए अपेक्षित एक शुद्ध एव मान्य राष्ट्रीय पञ्चाङ्ग की भारत सरकार को संस्तुति के लिए गठित इस समिति को डॉ. सम्पूर्णानन्द द्वारा अपना लिखित विचार प्रस्ताव के रूप प्रेषित.

68. सम्पूर्णानन्द.
गणेश.
वाराणसी, काशीविद्यापीठ, 1945.

69. –
भौतिक विज्ञान.
वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1916.
(मनोरंजन पुस्तकमाला)

70. –
ज्योतिर्विनोद.
वाराणसी, ना. प्र. सभा, 1916.
(मनोरंजन पुस्तक माला)

71. –
पुरुषसूक्त.
बनारस, शारदा प्रकाशन-मंदिर, 1947.

72. –
इथिक्स इन द उपनिषद्स.
इलाहाबाद, जर्नल आफ दि जी. यन्. झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 5,1,
23-42. अंग्रेजी.

73. –
द पार्टी एण्ड द गवर्नमेन्टः सम थाट्स आन देयर रिलेशनशिप.
"आर्गनाइजर" 17, 14, नव. 11, 23-24. अंग्रेजी.

74. —

अधूरी क्रान्ति.

सङ्कलनकर्त्ता एवं सम्पादक—भानुप्रताप शुक्ल.

लखनऊ, लोकहित प्रकाशन, 1970.

155 पृ.

.... 'पाञ्चजन्य' एवं 'राष्ट्रधर्म' में प्रकाशित 27 लेखों का संग्रह.

75. **अकालियों का आदर्श सत्याग्रह.**

76. —

घाघ और भड्डरी.

वाराणसी, आनन्द पुस्तक भवन,

77. —

ए फ्यू थाट्स आन दि रिर्पोट आफ द एजुकेशन कमीसन.

अंग्रेजी.

78. —

सत्यनामोपनिषत् (अप्रकाशित)

'गगनगुफा'' (भूमिका) पृ. 33 में उल्लिखित.

79. —नरेन्द्रदेव तथा कृष्णदेव प्रसाद गौड़, संपा.

सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ.

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, सौर 17 वैशाख

2007 वि. 16, 104, 384, 42 पृ. चित्रित (12) अग्रचित्र.

80. —

जनता का विक्रमादित्य—भारत के अतीत गौरव का प्रतीक.

ग्वालियर, विक्रम-स्मृति ग्रन्थ, विक्रम द्विसहस्राब्दी समारोह, 2001 वि. (1954 ई.).

पृ. 131-33.

81. —

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद.

वाराणसी, काशीविद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका, 3, 4 (1992 वि.).

पृ. 420-37.

82. —

पूँजीवाद.

वाराणसी, काशीविद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका, 4, 1 (आश्विन 1993 वि.)

पृ. 63-80.

83. –

Let knowledge grow from more to more, but more of reverence dwell in us.

Allahabad, Siksha (A bilingual journal of the U. P. Education Dept.) 2, Oct. 1949, p. 12-16.

English tr. of the author's Hindi article entitled "विद्याप्राप्ति तथा आदर की भावना".

84. Munshi, K. M.

Janu's death and other Kulpati's letters.

Bombay, Bharatiya Vidya Bhavan, 1954. p. 139.

Letter no. XVI-"Banares Pandits—Allahabad students-ruthless time". Mention is made of Dr. Sampurnanand in organising the meeting of Banares Pandits.

85. टण्डन, पी. डी.

मजबूत दिल, तगड़े दिमाग.

लखनऊ, पब्लिशिंग हाउस, 1971.

पृ. 163-66.

"भारत के स्वतन्त्रता सङ्ग्राम में भाग लेने वाले तीस महापुरुषों की संक्षिप्त जीवनी, संस्मरण आदि. डॉ. सम्पूर्णानन्द के विषय में लेखक द्वारा प्रस्तुत कतिपय प्रेरणादायक संस्मरण.

86. –

संस्कृतस्य प्रथमो विश्वविद्यालयः–स्वप्नो जागरिते अवतरितः

इलाहाबाद, शिक्षा (त्रैमासिक) 10, 4(अप्रैल 1958).

.........संस्कृतविश्वविद्यालयस्य उद्घाटनावसरे 22-3-1958 दिनांके गुणगणिनायक-विद्या-वारिधि-साहित्यविज्ञानचूडामणि-लोकतन्त्रकर्णधारमुख्यमन्त्रि-डॉ. सम्पूर्णानन्दमहोदयैः प्रदत्तम् अभिभाषणम्.

87. –

True university education.

Allahabad, Shiksha (Qly.) 10, (July, 1957) p. 54-58.

......Convocation Address at the Bihar University, Bhagalpur on May 25, 1957.

88. —

Wanted—a philosophy of education.

Allahabad, Shiksha, 1 (Jan; 1949) p. 9-14.

89. —

Education as initiation.

Allahabad, Shiksha, 1 (April, 1949) p. 6-15.

90. —

A Message to teachers.

Allahabad, Shiksha, 4, 2 (Oct. 1951) p. 1-2.

91. भगवानदास.

दर्शन-ज्ञान के संग्रही.

सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 2

92. नरेन्द्रदेव.

नवीन से नवीन–प्राचीन से प्राचीन.

सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 3-5.

93. कैलाशनाथ काटजू.

कठोर आवरण में कोमल हृदय.

सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 6-7.

94. श्रीप्रकाश.

सम्पूर्णानन्द जी-कुछ संस्मरण.

सं. अभि. ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 8-15.

95. गोविन्द बल्लभ पंत.

प्रान्त उनका सदैव ऋणी रहेगा.

सं. अभि. ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 16.

96. बलदेव मिश्र

सम्पूर्णानन्द जी.

सं. अभि. ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 18-20.

97. बेंकटेश नारायण तिवारी.

एक घटना.

सं. अभि. ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 21-23.

98. **शासक श्री सम्पूर्णानन्द जी : एक संस्मरण.**
सं. अभि. ग्रन्थ, संस्मरण. पृ. 24-33.

99. विश्वनाथ शर्मा
श्री सम्पूर्णानन्द.
सं. अभि. ग्रन्थ, संस्मरण, पृ. 34-42.

100. सम्पूर्णानन्द
साम्यवाद का बिगुल.
वाराणसी, काशी पुस्तक भण्डार, 1936.

101. –
भाषा की शक्ति.
बनारस, ज्ञानमंडल लि. 1945.

102. –
ह्वेन वी आर इन पावर.
वाराणसी, लेखक, 1931.

●

लेखक-परिचय

प्रो. वि. वेङ्कटाचलम्
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२

एवम्
कुलाधिपति,
श्री लाल बहादुर शास्त्री
राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
कटवारिया सराय,
नई दिल्ली–११० ०१६

प्रो. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते
(भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,
साहित्य-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी)
'श्रीनिकेतनम्'
एन. १६/४३, पत्रकारनगर, विनायका,
वाराणसी–२२१ ०१०

अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश यूनिवर्सिटी, समरहिल
शिमला–१७१ ००५
(हिमाचल-प्रदेश)

डॉ. उमारमण झा
प्राचार्य,
गुरुवायूर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
पुरनाट्टुक्करा–६८० ६५१
जिला-त्रिचूर (केरल)

डॉ. नारायण शास्त्री काङ्कर
विद्या-वैभव-भवनम्, सुमेरुकर्ण मार्ग,
धान्यमण्डी, रामगंज,
जयपुर–३०२ ००३
(राजस्थान)

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
सिद्धगिरि बाग,
वाराणसी–२२१ ०१०

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा
(भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीति-विज्ञान-विभाग
एवं भूतपूर्व डीन, समाजशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय)
रोड नं. १३, राजेन्द्र नगर,
पटना–८०० ०१६

श्री नजीर बनारसी
डी. २८/२५, पाण्डेय हवेली,
वाराणसी

श्री दिलीप नारायण सिंह
चौक, ६३/१२० बी.,
छोटी पियरी,
वाराणसी–२२१ ००१

श्री कमलापति मिश्र
४ ए, पार्क रोड,
लखनऊ–२२६ ००१

श्री हृदय नारायण सिंह
१०४०, हुसेनाबाद,
भारतीनगर, जौनपुर
(उ. प्र.)

श्री अक्षय कुमार जैन
सी–४७, गुलमोहर पार्क,
नई दिल्ली–११० ०४९

श्री यशपाल जैन
सस्ता साहित्य मण्डल
एन-७७, कनाट सर्कस,
नई दिल्ली–११० ००१

श्री ठाकुर प्रसाद सिंह
(भूतपूर्व निदेशक, सूचना विभाग,
उत्तर प्रदेश)
के. ६७/१२०, ईश्वरगंगी,
वाराणसी

श्री कृष्णचन्द्र बेरी
व्यवस्थापक,
हिन्दी प्रचारक संस्थान
सी. २१/३०, पिशाचमोचन,
वाराणसी

डॉ. रत्नाकर पाण्डेय
भूतपूर्व संसद सदस्य
१६ सी, फिरोजशाह रोड
नई दिल्ली–११० ००१

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
२३९ चक,
इलाहाबाद–२११ ००३

प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला
बी. ३६/२१ च ९, ब्रह्मानन्दपुरी,
वाराणसी–२२१ ००५

प्रो. रमापति शुक्ल
द्वारा श्री आर. के. गुप्त
डी. ५२/८६, लक्ष्मीकुण्ड,
वाराणसी

श्री कैलाशचन्द्र मिश्र
(भूतपूर्व उपनिदेशक, पर्यटन विभाग,
उत्तर प्रदेश)
१/१५, कैसरबाग आफिसर्स कालोनी,
कैसरबाग, लखनऊ

डॉ. सरोज बिसारिया
(भू. पू. प्राचार्या, वसन्त कालेज,
राजघाट फोर्ट, वाराणसी)
'आरण्यक'
एम. आई. जी. २/९०,
आवास योजना–३
झूँसी, इलाहाबाद-२२१ ५०६

डॉ. सुधाकर दीक्षित
उपाचार्य,
न्याय-वैशेषिक-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. युगल किशोर मिश्र
आचार्य एवं अध्यक्ष,
वेद-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रो. महाप्रभुलाल गोस्वामी
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,
तुलनात्मक धर्मदर्शन-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००२

प्रो. कृष्ण लाल
(आचार्य, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली–११० ००७)
'विश्वनीड'
ई–९३७, सरस्वती बिहार,
दिल्ली–११० ०३४

डॉ. जनार्दन उपाध्याय
'ऋतम्भरा'
बी. १/१२६, अस्सी,
वाराणसी–२२१ ००५

डॉ. चन्द्रकिशोर गोस्वामी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ (विश्वविद्यालय),
पो. वनस्थली
(राजस्थान)

डॉ. सत्यपाल नारंग
(रीडर, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली–११० ००७)
३१, विद्या अपार्टमेन्ट्स
(ज्वालापुरी–५ के सामने)
रोहतक रोड,
दिल्ली–११० ०४१

'पद्मभूषण' पण्डित पी. एन. पट्टाभिराम शास्त्री
वेद-मीमांसा-अनुसन्धान-केन्द्र
हनुमानघाट,
वाराणसी

प्रो. रामप्रसाद त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२

डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी
निदेशक,
बी. एम. बिड़ला शोध-केन्द्र,
(विक्रम कीर्ति मन्दिर के पास)
उज्जैन–४५६ ०१०
(मध्य-प्रदेश)

प्रो. चिन्तामणि त्र्यम्बककेंघे
आचार्य, संस्कृत-विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी
अलीगढ़–२०२ ००१

डॉ. पीयूषकान्त दीक्षित
प्राध्यापक,
नव्य-न्याय-विभाग,
श्रीरणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
जम्मूतवी–१८० ००४
(जम्मू एण्ड काश्मीर)

प्रो. रामयत्न शुक्ल
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,
व्याकरण-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००२

प्रो. पारसनाथ द्विवेदी
आचार्य, वेदान्त-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१ ००२

श्री विश्वनाथ मिश्र
रीडर,
जैन विश्वभारती,
लाडनूँ—३४१ ३०६
(राजस्थान)

प्रो. रामजी मालवीय
आचार्य एवं अध्यक्ष,
सांख्ययोग-तन्त्रागम-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१ ००२

श्री नवरङ्ग चतुर्वेदी
(भूतपूर्व प्राचार्य,
श्री रामानुज संस्कृत महाविद्यालय,
मिश्रपोखरा, वाराणसी)
बी. ३०/२४९, नगवा
वाराणसी—२२१ ००५

'पद्मभूषण' पण्डित बलदेव उपाध्याय
विद्या-विलास, ३७ बी. रवीन्द्रपुरी
लेन नं. १७, दुर्गाकुण्ड,
वाराणसी—२२१ ००५

प्रो. लल्लनजी गोपाल
रेक्टर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
९, गुरुधाम कालोनी,
वाराणसी—२२१ ०१०

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
२, स्टेट बैंक कालोनी,
देवास रोड,
उज्जैन (मध्य-प्रदेश)

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय
आचार्य, दर्शनशास्त्र-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१ ००५

डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित
(रिसर्च डायरेक्टर,
श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
शास्त्रीनगर, जम्मूतवी-१८० ००४)
९३-सी, शास्त्रीनगर,
जम्मू—१८० ००४

डॉ. नवजीवन रस्तोगी
'मधुपर्क', राजाबाजार,
लखनऊ—२२६ ००३

प्रो. सागरमल जैन
निदेशक,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान,
आई. टी. आई. रोड,
करौन्दी,
वाराणसी—२२१ ००५

डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य
(ग्रन्थालय-अध्यक्ष,
थियोसाफिकल सोसायटी)
डी. ३८/८, हौजकटोरा
वाराणसी—२२१ ००१

प्रो. लक्ष्मी सक्सेना
(भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर)
१, प्रोफेसर्स कालोनी, गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर–२७३ ००१

प्रो. शालिग्राम उपाध्याय
वि. वि. प्रोफेसर हिन्दी,
म. वि. महाविद्यालय,
बक्सर (बिहार)
(मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)

प्रो. विष्णुदत्त राकेश
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार–२४९ ४०४ (उ. प्र.)

डॉ. राजनाथ त्रिपाठी
प्राध्यापक,
सांख्ययोग-तन्त्रागम-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००२

डॉ. रामप्यारे मिश्र
C/o. डॉ. रजनीश त्रिपाठी,
ग्राम व पोस्ट–भौवापार,
गोरखपुर–२७३ ००१

डॉ. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर
दर्शन-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर–३०२ ००४

श्री डी. एन. तिवारी
दर्शनशास्त्र-विभाग,
ललित नारायण मिश्र विश्वविद्यालय,
दरभंगा–८४६ ००४

डॉ. (श्रीमती) राजकुमारी त्रिखा
(प्रवक्ता, मैत्रेयी कालेज,
नई दिल्ली)
बी. एफ. ९५, जनकपुरी,
नई दिल्ली–११० ०५८

डॉ. कैलाशनाथ तिवारी
हिन्दी-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००५

डॉ. अवध विहारी खरे
डाक्टरल फेलो,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्त्व-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००५

डॉ. राममनोहर मिश्र
C/o. डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र
२१, हीरापुरी कालोनी,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर–२७३ ००९

डॉ. लोकेश चन्द्र
(निदेशक,
इन्टरनेशनल अकादमी आफ इण्डियन कल्चर)
जे. २२, हौजखास,
नई दिल्ली–११० ०१६

डॉ. नथमल टाटिया
निदेशक, अनेकान्त शोधपीठ
जैन विश्वभारती,
लाडनूँ–३४१ ३०६ (राजस्थान)

प्रो. एस. आर. गोयल
(आचार्य एवं अध्यक्ष,
इतिहास-विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर)
४१-ए, सरदार क्लब स्कीम
जोधपुर–३४२ 00१ (राजस्थान)

पण्डित व्रजकिशोर झा
(भू. पू. अध्यक्ष, ज्योतिष-विभाग,
कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय)
प्रोफेसर्स कालोनी, क्वा. नं. ४,
श्यामाबाग, दरभंगा–८४६ 00४

श्री साम्बराजाचार्य
सह-प्राध्यापक, वाल्मीकि विद्यापीठ,
महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
प्रदर्शनीमार्ग, काठमांडो
नेपाल

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र
व्याख्याता, ज्योतिष-विभाग
सदाशिव केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
पुरी (उड़ीसा)

डॉ. राधाकान्त ठाकुर
व्याख्याता, ज्योतिष-विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
तिरुपति (आन्ध्र-प्रदेश)

पण्डित चन्द्रभानु पाण्डेय
(भू. पू. उपपुस्तकाध्यक्ष, सरस्वतीभवन पुस्तकालय)
सी. २७/१६७-२,
जगतगंज,
वाराणसी–२२१ 00२

प्रो. कृष्णा दामोदर अभ्यंकर
सेन्टर ऑफ एडवान्स्ड स्टडी इन एस्ट्रानामी,
उस्मानिया विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–५00 00७

श्री चन्द्रिका प्रसाद
७ बेली एवेन्यू
इलाहाबाद–२११ 00२

डॉ. गङ्गेश ठाकुर
प्राध्यापक,
ज्योतिष-विभाग,
कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय,
दरभंगा–८४६ 00४ (बिहार)

डॉ. महेशचन्द्र पाण्डेय
निदेशक,
उत्तर प्रदेश राजकीय वेधशाला
मनोरापीक,
नैनीताल–२६३ १२९ (उ. प्र.)

डॉ. रामकृष्ण पाराशर
प्रधान सम्पादक,
ग्रामोपयोगी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी साहित्य,
नरेन्द्रदेव कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय,
नरेन्द्रनगर,
फैजाबाद–२२४ २२९ (उ. प्र.)

श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्त-बन्धु'
बी–१५४, लोकबिहार,
पो. आ. रानीबाग
दिल्ली–११0 0३४

डॉ. रमेशदत्त शर्मा
भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्
पूसा,
नई दिल्ली–११0 0१२

डॉ. एस. वी. सोहनी
(सेवानिवृत्त आई. सी. एस.)
मनाली
प्रभात रोड–१५
पुणे–४११ ००४

म. म. नवल किशोर काङ्कर
विद्या-वैभव-भवनम्, सुमेरुकर्ण-मार्ग
धान्यमण्डी, रामगंज,
जयपुर–३०२ ००३ (राजस्थान)

श्री सत्यदेव वर्मा
सम्पादक 'हित-साधिका'
यमुनानगर
हरियाना

डॉ. नटवर झा
प्राचार्य,
केन्द्रीय विद्यालय मऊ,
मऊनाथभंजन–२७५ १०१ (उ. प्र.)

पण्डित विश्वनाथ शास्त्री 'दातार'
के. २२/८१, ब्रह्माघाट,
वाराणसी–२२१ ००१

डॉ. रामजी सिंह
कुलपति,
जैन विश्वभारती,
लाडनूँ–३४१ ३०६ (राजस्थान)

प्रो. उपेन्द्र ठाकुर
आचार्य एवं अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन-
विभाग तथा बौद्ध अध्ययन-विभाग,
मगध विश्वविद्यालय,
बोधगया (बिहार)

डॉ. कृष्ण देव
अमेरिकन इंस्ट्रीट्यूट, रामनगर, वाराणसी

प्रो. ठाकुर प्रसाद वर्मा
आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००५

डॉ. हर्षनारायण
४२/५९, रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
नरही,
लखनऊ–२२६ ००१

प्रो. पुरुषोत्तम सिंह
(आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००५)
न्यू ई/३, जोधपुर कालोनी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००५

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र
(उपाचार्य, प्राचीन इतिहास,
पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर)
२१, हीरापुरी,
विश्वविद्यालय परिसर
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर–२७३ ००९

डॉ. विभा त्रिपाठी
रीडर,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१ 00५

डॉ. पृथिवी कुमार अग्रवाल
प्राध्यापक,
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१ 00५

डॉ. माया प्रसाद त्रिपाठी
एम्—२२, विकास प्राधिकरण कालोनी,
शिवपुर,
वाराणसी

डॉ. अमिताभ तिवारी
C/o प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी
अनुसन्धान संस्थान परिसर
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१ 00२

डॉ. कपिला वात्स्यायन
निदेशक, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
सेन्ट्रल विस्तामेस
जनपथ, नई दिल्ली—११0 00१

प्रो. के. डी. वाजपेई
एल/१५, पद्माकर नगर,
सागर—४७0 00४ (म. प्र.)

प्रो. सी. एस. उपासक
(भूतपूर्व निदेशक, नव-नालन्दा महाबिहार,
नालन्दा)
चिरईगाँव,
वाराणसी

प्रो. कृष्णशास्त्री कानिटकर
संस्कृत-विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म. प्र.)

श्री सिद्धिनाथ गौतम
प्राध्यापक, वाल्मीकि विद्यापीठ,
महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
प्रदर्शनीमार्ग, काठमांडो,
नेपाल

डॉ. के. रा. जोशी
२/२ एम. आई. जी. कालोनी,
वनजारीनगर,
नागपुर—४४0 00३ (महाराष्ट्र)

श्री कुमारनाथ भट्टाचार्य
सम्पादक 'सत्यानन्दम्'
श्री सत्यानन्द देवायतन
१, इब्राहिमपुर रोड,
कलकत्ता—७00 0३२

डॉ. चित्तरंजन दयाल सिंह 'कौशल'
संचालक,
कौशल संस्कृत केन्द्र
शारदोद्यान, कुरुक्षेत्र—१३२ ११८

डॉ. मण्डन मिश्र
कुलपति,
श्री लाल बहादुर शास्त्री
राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
कटवारिया सराय,
शहीद जीतसिंह मार्ग,
नई दिल्ली–११० ०१६

डॉ. सरयू प्रसाद चौबे
'कर्मभूमि'
बी. ९५५, सेक्टर-ए,
(नई रेलवे क्रासिंग के पास)
महानगर, लखनऊ–२२६ ००६

प्रो. बिन्देश्वरी प्रसाद सिन्हा
(भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
पटना विश्वविद्यालय)
६८, पाटलिपुत्र कालोनी,
पटना–८०० ०१३

श्री कलानाथ शास्त्री
निदेशक, भाषा-विभाग, राजस्थान शासन
'मंजु-निकुंज'
सी. ८, पृथ्वीराज रोड
जयपुर–३०२ ००१

पण्डित कुबेरनाथ शुक्ल
(भू. पू. कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय)
जे. १२/८१ ए, धूपचण्डी,
वाराणसी

प्रो. ऋषिराम पोखरैल
आचार्य, वेद-विभाग, वाल्मीकि विद्यापीठ,
महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय,
प्रदर्शनीमार्ग, काठमांडो
नेपाल

डॉ. रेवाशरण श्रीवास्तव
(एसोसियेट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
सामाजिक विज्ञान विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर)
१०, सेन्ट्रल स्कूल स्कीम,
जोधपुर–३४२ ००१ (राजस्थान)

श्री यशदेव शल्य
पी–५१, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड,
जयपुर–३०२ ०१५ (राजस्थान)

प्रो. पारसनाथ द्विवेदी
भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष,
पुराणेतिहास एवं संस्कृति विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१ ००२

डॉ. युगेश्वर
उपाचार्य, हिन्दी-विभाग
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

प्रो. महेन्द्र प्रसाद सिंह
आचार्य,
राजनीति विज्ञान-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली–११० ००७

श्री श्याम शंकर सिंह (एडवोकेट)
सी. २७/९५ ए., प्लाट-नं. ५०४
जगतगंज,
वाराणसी–२२१ ००२

डॉ. इन्दीवर
C/o डॉ. युगेश्वर
हिन्दी-विभाग,
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

डॉ. विजय नारायण मिश्र
पुस्तकाध्यक्ष,
सरस्वतीभवन-पुस्तकालय,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००२

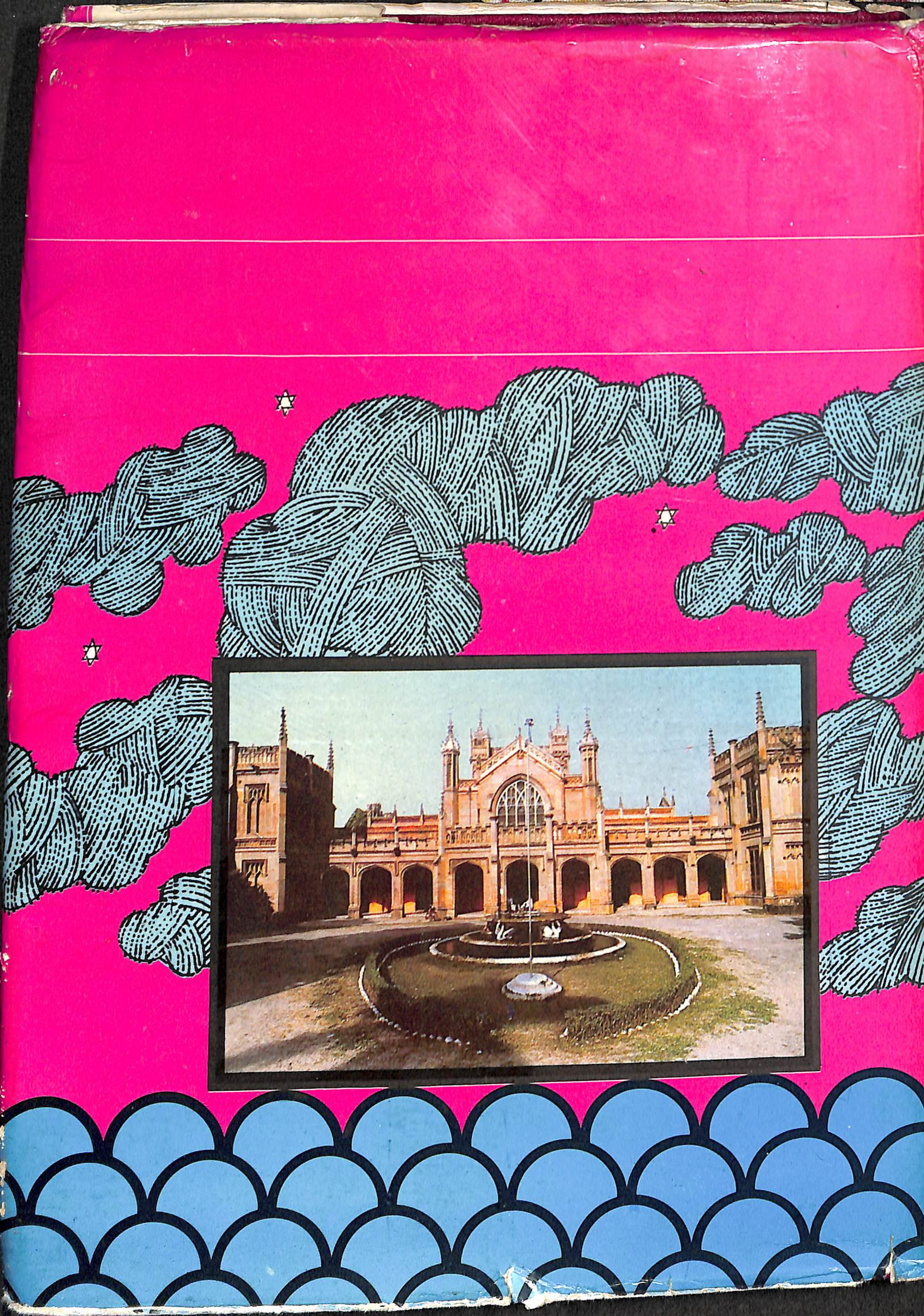●